भारत के प्रख्यात नास्तिक

भारत के प्रख्यात नास्तिक

सम्पादक
डॉ. रणजीत

प्रकाशन संस्थान
नयी दिल्ली-110002

प्रकाशक
प्रकाशन संस्थान
4268-B/3, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110 002

प्रथम संस्करण : सन् 2015
ISBN : 978-81-7714-496-3
आवरण : जगमोहन सिंह रावत

शब्द-संयोजन : कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110032
मुद्रक : बी. के. ऑफसेट, दिल्ली-110032

हमारी आँखों के सामने के भगतसिंह
साथी सुनील
की स्मृति को समर्पित

कितना अच्छा है कि कोई ईश्वर नहीं है यहाँ
सिर्फ़ है उसका सेमल के फल सा
खरगोश के सींग सा
बाँझ के बेटे सा
भुस-भरे जर्जर बाघ सा
एक अर्थहीन, खोखला, भुरभुराता हुआ नाम
जो आता रहता है वक्त-बेवक्त
धूर्त सत्ताधारियों, शोषक व्यापारियों
और पाखंडी पुजारियों के काम।
और जिसे भोलेभाले बोधहीन दीन-दुःखी लोग
लगाते रहते हैं अपने दुःख-दर्दों पर
समझ कर बाम।

–रणजीत

प्रस्तावना

मैं जब कभी सैकड़ों-हजारों लोगों को मन्दिरों, मस्जिदों, गिरिजाघरों में, जो है, एकदम प्रत्यक्ष सामने है—यह प्रकृति, यह पृथ्वी, उसका पर्यावरण, यह मानव-समाज, ये अपने सहजन, प्रियजन-परिजन; इनके सुख-दुख, रोग-शोक—इस सारे धड़कते हुए, जीवन्त संसार से आँखें मूँदकर, जो कहीं नहीं है, उस ईश्वर, अल्ला, गॉड या वाहेगुरु की पूजा-अर्चना-प्रार्थना में लगे देखता हूँ; शोर-शराबे, धूम-धड़ाकेभरे गणेशोत्सव, दुर्गापूजा आदि के धार्मिक जुलूसों के जुनून में झूमते-गाते पाता हूँ, तो मेरे हृदय में उनके प्रति तरस और करुणा की लहरें उठने लगती हैं। काश! धर्म की धन्धेबाजी करने वाले कुछ धूर्त व्यवसायियों के बहकावे में आये हुए इन भोलेभाले बेवकूफ लोगों का यह सैलाब इस निरर्थक काम को छोड़कर अपने देश और समाज को, उसकी मूलभूत समस्याओं—अशिक्षा, कूपमण्डूकता, रोग-शोक और सामाजिक-आर्थिक विषमताओं से मुक्त करने के उद्योग में लग सकता; वैसी स्थिति में इस संसार को अपनी कल्पना का स्वर्ग बनाने में हमें कितनी देर लगती?

मेरा ख़याल है कि आस्तिकता ने मानवसमाज को जो बड़े-बड़े नुकसान पहुँचाये हैं, उनमें से एक, मानवीय श्रमदिवसों की यह बेहिसाब बर्बादी भी है। धर्मग्रन्थों के अध्ययन-मनन, अनुसंधान और विभिन्न मतों के बीच शास्त्रार्थ में लगे रहे और आज भी लगे हुए धर्माचार्यों के निरुत्पादक और निरर्थक श्रम को भी इसी बर्बादी में जोड़ना चाहिए। शायद ही मानवजाति ने, युद्धों को छोड़कर और किसी काम में, अपने समय, श्रम और संसाधनों की ऐसी भयंकर बर्बादी की हो। आस्तिकता से मानवजाति को जो दूसरा बड़ा नुकसान हुआ है, वह यह कि उसने मनुष्य का आत्मविश्वास छीनकर उसे डरपोक और कायर बना दिया है। रास्ते में किसी लाल कपड़े में लिपटी हुई कोई चीज़ दिख जाय तो उसकी रूह काँप उठती है—जरूर किसी ने कोई टोना किया है, आज मेरा कोई न कोई अनिष्ट होकर रहेगा। आस्तिकता ने उससे अपनी क्षमता पर, अपने कर्म पर से आत्मविश्वास छीन लिया है, वह अपने आप को दैवीय शक्तियों का गुलाम समझने लगा है। भय अतिरिक्त क्रूरता को जन्म देता है। डरा हुआ आदमी

दूसरों के प्रति ज्यादा क्रूर हो जाता है। अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली स्त्रियों को सभी देशों में डायनें या चुड़ैलें घोषित कर बड़ी क्रूरता से मारा गया; स्वतन्त्र विचारकों, नये अप्रत्याशित तथ्य खोजने वाले वैज्ञानिकों और नास्तिकों को ज़हर पिलाने या जिन्दा जलाने के काम भी तत्कालीन भयभीत सत्ताधारी आस्तिकों की क्रूरता के ही कारनामे थे।

मनुष्य और अन्य पशुओं में मुख्य अन्तर यह माना जाता है कि मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। पर ईश्वर पर अस्था ने हमेशा उसके विवेक को बाधित किया है। उसे भूतों-प्रेतों से डरना सिखाया है, शुभ-अशुभ दिन, घड़ी, संख्या और शकुन-अपशकुन के तर्कहीन अन्धविश्वासों में डाला है। उसे इन्सान से काठ का उल्लू बना दिया है। ईश्वर के विश्वास ने उसे अप्राकृतिक शक्तियों और घटनाओं में विश्वास करना सिखाया है, अज्ञानियों और बुद्धिहीनों की तरह व्यवहार करना सिखाया है।

आस्तिकता बच्चों का खेल है। यह सबसे सरल काम है। यह एक परिवारप्रदत्त संस्कार है, जिसे लगभग सभी बच्चे सहज ही सीख लेते हैं। ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए किसी विद्या-बुद्धि, किसी चिन्तन-मनन, किसी काम में कुशलता की आवश्यकता नहीं है। मन्दिरों-मस्जिदों में प्रार्थना-नमाज अदा करते अपने-अपने माँ-बाप को देखते हुए बच्चे सहज ही आस्तिक हो जाते हैं। पर नास्तिक बनने के लिए अच्छी-खासी तर्क-बुद्धि, अच्छे-खासे जागृत विवेक और अच्छे-खासे साहस की जरूरत होती है। परम्परा और संस्कार के बोझ को हटाकर सत्य को सत्य कहने में गज़ब का साहस चाहिए। यह साहस गम्भीर अध्ययन-मनन और आत्म-चिन्तन से ही आ सकता है।

ईश्वर में विश्वास का एक नुकसान यह भी है कि मनुष्य ईश्वर के बहाने अपने उत्तरदायित्व से मुक्ति पा लेता है। गलत काम करेगा खुद और उसके अनिच्छित परिणाम सामने आने पर कहेगा—क्या कर सकते हैं, जैसी प्रभु की इच्छा! एक ही वाक्य में वह अपने कार्य-व्यवहार या निर्णय की जिम्मेदारी से भी मुक्त हो गया और ईश्वर के आदेश को नम्रतापूर्वक स्वीकार करने वाले उसके भक्त होने की भूमिका भी उसने अदा कर ली। पर वह यह नहीं सोचता कि इस प्रक्रिया में उसकी मनुष्यता कितनी क्षरित हुई? एक मनुष्य के रूप में उसका कितना अवमूल्यन हुआ, एक जिम्मेदार इन्सान के रूप में वह कितना दयनीय, कितना नाचीज़ साबित हुआ। एक आदमकद इन्सान की जगह एक बौना अवमानव!

ईश्वर की अवधारणा के साथ ही जुड़ी हुई है, स्वर्ग-नरक या परलोक की धारणा। और देहान्त के बाद आत्मा के इन लोकों में जाने की कल्पना। हिन्दुओं में परलोक की यह कल्पना वैदिक काल के वाङ्मय में नहीं मिलती। इसका कारण सम्भवतः यह है कि वैदिक सभ्यता विजेता आर्यों की सभ्यता थी। जमीनों की इफरात थी, नये-नये क्षेत्र जीते जा रहे थे, इहलोक धन-धान्य से परिपूर्ण था, इस लोक में दुःख-दर्दों की क्षतिपूर्ति के लिए परलोक के लम्बे-चौड़े दर्शनशास्त्र की आवश्यकता नहीं थी।

वैदिक ऋषियों ने जिन देवताओं की कल्पना की—इन्द्र, वरुण, यम आदि—वे भी उनके अपने पूर्वज ही थे, या प्रकृति की ऐसी शक्तियाँ जैसे अग्नि, वायु, वर्षा आदि, जिनका रहस्य समझ में नहीं आता था।

पर आगे चलकर इस सरल धर्म में भी ओझाओं और पुरोहितों तथा उनके जटिल अनुष्ठानों के कारण संश्लिष्टता और जटिलता आयी। और धर्म शासक-वर्ग के स्वार्थों का साधक बन गया। उपनिषदों में हमें अनेक स्थलों पर धर्म के इस शासक-समर्थक रूप के प्रति विरोध के स्वर सुनाई पड़ते हैं। विरोध की इसी प्रक्रिया में से चार्वाक, बौद्ध और जैन जैसे नास्तिक दर्शनों का विकास हुआ।

ईश्वर और परलोक की अवधारणाओं ने कैसे अब तक के मानवजाति के एक क्रूरतम यथार्थ—वर्गविभाजन या मनुष्य और मनुष्य के बीच की भयंकर समाजार्थिक विषमता—को सहज बनाकर शासक-शोषक वर्ग के हितों की रक्षा की, उनके विरुद्ध शासित-शोषित वर्गों के विद्रोह की सम्भावनाओं को टाला, इसकी एक सहज स्वीकृति आधुनिक युग के एक नामी तानाशाह नेपोलियन बोनापार्ट के श्री मन्मथनाथ गुप्त द्वारा उद्धृत इस कथन में दिखाई देती है—''बिना धर्म के भला किसी राष्ट्र में सुव्यवस्था कैसे कायम रह सकती है? समाज व्यक्तियों के भाग्यों की विषमता के बिना चल नहीं सकता और धर्म के बिना ये विषमताएँ टिक नहीं सकतीं। जिस समय एक व्यक्ति भूख से मरा जा रहा हो और दूसरा जरूरत से ज्यादा खा-खाकर बीमार हो रहा हो, उस समय पहला व्यक्ति तब तक अपनी स्थिति को सहने के लिए तैयार नहीं होगा, जब तक कि कोई धर्माधिकारी व्यक्ति उसे यह न कहे कि यही प्रभु की इच्छा है। संसार में अमीर और गरीब ईश्वर के ही बनाये हुए हैं। पर परलोक में यह बँटवारा पूरी तरह बदल जाएगा।''

इस सन्दर्भ में गरीबों को झूठी दिलासा देने वाला ईसा का यह प्रसिद्ध वाक्य बरबस याद आ जाता है कि सूई के छेद में से ऊँट निकल सकता है, पर धनी व्यक्ति स्वर्ग में नहीं जा सकता। यानी मेरी प्यारी भेड़ों, शान्ति से इस लोक में भेड़ियों के अत्याचार सहो, क्योंकि परलोक में तो स्वर्ग तुम्हारे ही लिए सुरक्षित है।

ईश्वर और उसके विभिन्न अवतारों और देवी-देवताओं को प्रसन्न करने और उनकी कृपा प्राप्त करने के नाम पर धर्म के सारे कर्मकाण्ड और उन्हें सम्पन्न करवाने वाले पंडे-पुजारी, ओझा और सयाने अर्थात् एक पूरा पुरोहित वर्ग विकसित हुआ, जिसकी जीविका ही इन कर्मकांडों, टोने-टोटकों से मिलने वाली दक्षिणा थी। धर्म का सारा तामझाम, पूरा व्यापार ईश्वर आदि की अवधारणा पर ही आधारित है। इस तरह आस्तिकता ने ही भारतीय सन्दर्भ में केवल पुरोहितों या ब्राह्मणों के एक परजीवी वर्ग को जन्म दिया और उसके माध्यम से वर्ण-व्यवस्था स्थापित करके पूरे समाज को वर्ण विभाजित कर शूद्रों के साथ अमानवीय अत्याचार किये। यह वर्ण व्यवस्था ही कालक्रम में जाति-व्यवस्था में परिवर्तित हुई; पूरा हिन्दू समाज सैकड़ों

श्रेणीबद्ध ऊँची-नीची जातियों में बँट गया। इस जातिवादी कोढ़ से हमारा देश आजादी के पैंसठ साल बाद भी मुक्त नहीं हो सका है।

अभिप्राय यह है कि ईश्वर मनुष्य की एक बचकानी कपोल-कल्पना मात्र नहीं है, वह उसका आदिम, अबोध, अन्धविश्वास मात्र नहीं है, वह मानव समाज के लिए एक हानिकारक अवधारणा है, जो न केवल मनुष्य और मनुष्य के बीच की विषमताओं को स्वीकार्य बनाती है, मनुष्य द्वारा अन्य मनुष्यों को गुलाम बनाये जाने की अमानुषिकता को भी उचित ठहराने में मदद करती है। अपने समय के क्रूर से क्रूर और स्वेच्छाचारी से स्वेच्छाचारी शासकों ने अपने आपको ईश्वर के अवतार घोषित करवाकर ही अपनी भोली प्रजा को अपने अत्याचार निर्विरोध सहने की प्रेरणा दी। ईश्वर मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को जायज ठहराने वाली एजेन्सी है, विषमता का प्रहरी है; मानवीय स्वतन्त्रता, समानता और भाईचारे का दुश्मन है। वह मनुष्य के अज्ञान और अन्धविश्वास की सन्तान तो है ही एक बार अवधारणात्मक पुष्टि पा लेने के बाद वह मनुष्यों के अज्ञान और अन्धविश्वासों का रखवाला भी बन गया है। उसकी धारणा से छुटकारा पाये बिना मानव समाज स्वस्थ, सुखी और मानवीय हो नहीं सकता।

इन्हीं मानवीय सरोकारों से प्रेरित होकर नास्तिकता को स्वीकार्य बनाने, उसका प्रचार-प्रसार करने और उसे किंचित महिमा-मंडित करने के उद्देश्य से ही हमने यह पुस्तक सम्पादित करने का निश्चय किया। इस पुस्तक से गुजरते हुए हिन्दी का आम पाठक सहज ही यह देख सकेगा कि भारत के कितने बड़े-बड़े राजनेता, समाज-सुधारक, साहित्यकार, वैज्ञानिक और फिल्म-कर्मी, प्रबुद्धजनों ने नास्तिकता को अपना जीवनदर्शन बनाया है।

–रणजीत

आभार-अभिव्यक्ति

अजित केश कम्बल और धर्मकीर्ति पर दी गयी सामग्री राहुल जी की प्रसिद्ध पुस्तक 'दर्शन दिग्दर्शन' से ली गयी है, जिसे किताब महल, इलाहाबाद ने 1944 में प्रकाशित किया था। इनकी अनुमति के लिए हम राहुल जी की बेटी श्रीमती जया एस. पडहाक के आभारी हैं।

राधा मोहन गोकुल जी पर लेख कर्मेन्दु शिशिर द्वारा सम्पादित और सम्भावना प्रकाशन, हापुड़ द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'राधा मोहन गोकुल की प्रतिनिधि रचनाएँ' की प्रस्तावना के रूप में लिखे गये 'अपनी ओर से' का ही एक अंश है।

पेरियार रामासामी, मानवेन्द्र नाथ रॉय और ए. बी. शाह पर आलेख हमारे अनुरोध पर मित्रवर डॉ. रमेन्द्र ने इस पुस्तक के लिए ही तैयार किये हैं, रॉय वाले लेख का उत्तरांश हमने जस्टिस वी.एन. तारकुण्डे के 'विज्ञान ज्योति' के जुलाई-अगस्त 2013 के अंक में प्रकाशित आलेख से संकलित किया है।

अमर्त्यसेन पर ओमप्रकाश कश्यप का लेख हमें 'प्रवासी दुनिया' वेब साइट पर उपलब्ध हुआ। इसका संक्षेपण स्वयं हमने किया है। हम लेखक और लेख उपलब्ध कराने वाली साइट दोनों के आभारी हैं।

गोरा पर अबू अब्राहम का लेख इण्डियन एक्सप्रेस में छपा था, इसका हिन्दी अनुवाद, इस पुस्तक में संकलित अनेक अन्य लेखों की तरह हमारे सीतापुर के मित्र श्री के.जी. त्रिवेदी ने किया है। लेख का जीवनीपरक उत्तरार्द्ध हमने डॉ. सुनन्दा सेठ की नास्तिक केन्द्र, विजयवाड़ा द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'गोरा : ए सोशल रिवोल्यूशनरी' से संकलित, अनूदित और सम्पादित किया है।

लाला हरदयाल का इतिवृत्त हमने श्रीयुत् श्री कृष्ण सरल की राष्ट्रीय प्रकाशन, उज्जैन से प्रकाशित पुस्तक 'क्रान्तिकारियों की कहानियाँ' से संकलित किया है।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती के जीवन और कार्य पर लेख वर्जीनिया विश्वविद्यालय, संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास के प्रोफेसर वाल्टर हाउजर के एक लेख का संक्षेपण है, जो भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली की शोध पत्रिका 'इतिहास'

के तीसरे अंक में छपा था, इसे 1994 में राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली ने प्रकाशित किया था। लेख के अन्त में सहजानन्द जी के महत्त्व पर दी गयी राघव शरण शर्मा जी की टिप्पणी महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की वेबसाइट हिन्दी समय डॉट कॉम में संकलित 'सहजानन्द स्वामी समग्र' की उनके द्वारा लिखी भूमिका में से उद्धृत की गयी है।

भगतसिंह पर शिव वर्मा का आलेख उनकी शहीद स्मारक, लखनऊ द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'संस्मृतियाँ' से लिया गया है, और उसमें जोड़ा गया अंश मानवीय समाज प्रकाशन, पुसद की भगतसिंह पर पुस्तक 'ख़यालों की बिजलियाँ' से संकलित है।

फ़ैज़ पर अरुण देव के आलेख के अन्त में उनकी शायरी पर प्रकाश पंडित की एक सुचिन्तित टिप्पणी जोड़ने का लोभ हम छोड़ नहीं पाये हैं और इसके और सरदार जाफ़री के इतिवृत्त के लिए हम राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली द्वारा प्रकाशित उर्दू के लोकप्रिय शायर शृंखला के प्रकाश पंडित द्वारा सम्पादित पुस्तकों—फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ और सरदार जाफ़री—के प्रकाशक और सम्पादक के हृदय से आभारी हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन, यशपाल और शिवदान सिंह चौहान पर मधुरेश जी के आलेख उनकी अनुमति से हमने क्रमशः उनकी पुस्तकों 'राहुल जी का कथाकर्म', 'यशपाल : रचनात्मक पुनर्वास की एक कोशिश' तथा 'मार्क्सवादी आलोचना और शिवदान सिंह चौहान' के सम्बद्ध अध्यायों के संक्षेपीकरण से प्राप्त किये हैं। किशन पटनायक पर सुनील और अरविन्द के आलेख 'सामयिकवार्ता' के 'किशन पटनायक स्मृति अंक', जनवरी 2005 से संकलित किये गये हैं।

हम ऊपर उल्लिखित सभी पुस्तकों और पत्रिकाओं के लेखकों, सम्पादकों और प्रकाशकों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

हम अपने उन सभी मित्रों के प्रति भी कृतज्ञ हैं जिन्होंने हमारे अनुरोध पर विभिन्न राजनेताओं, विचारकों, समाज-सुधारकों और साहित्यकारों पर इस पुस्तक के लिए ही विशेष तौर पर उनके इतिवृत्त लिखे या अपने पूर्वलिखित आलेखों को इसमें सम्मिलित करने की अनुमति प्रदान की है। डॉ. जयप्रकाश कर्दम, जुगमंदिर तायल, सुनील, अरविन्द मोहन, डॉ. रमेन्द्र, ईशकुमार गंगानिया, प्रो. मधुरेश, श्री गीतेश शर्मा, डॉ. सुनन्दा सेठ, प्रो. नीरजा, श्री अरुणदेव, प्रो. शंभुनाथ, डॉ. सुभाषिनी अली, डॉ. कँवल जीत, डॉ. प्रभा दीक्षित, डॉ. गोविन्द रजनीश, डॉ चन्द्रा चक्रवर्ती, कृपाशंकर चौबे, योगेन्द्र यादव और प्रो. मोहन कृष्ण बोहरा। राही मासूम रज़ा पर प्रो. कुँवर पालसिंह का लेख हमें उनकी पतिपथ-गामिनी पत्नी लेखिका और वर्तमान साहित्य की सम्पादिका प्रो. नमिता सिंह ने उनकी राहीजी पर लिखी पुस्तक में से उपलब्ध कराया है, एतदर्थ उन्हें भी धन्यवाद।

इस पुस्तक में संकलित वे सारे इतिवृत्त, जिन पर लेखक का नाम अंकित

नहीं है—अर्थात् डेरोजियो, हालडेन, शिवराम कारन्त, ई. ॲम.ॲस. नम्बूदिरिपाद, धर्मानन्द, कौशाम्बी, बाबा आम्टे, हरकिशन सिंह सुरजीत, शिवरामन रे, सत्यजीत राय, साहिर लुधियानवी, डॉ. श्रीराम लागू, विजय तेंडुलकर, वासव प्रेमानन्द, मणिशंकर अय्यर, स्वामी नाथन अय्यर, जावेद अख़्तर, कमल हासन, अरुन्धती रॉय और रामगोपाल वर्मा—हमने मुक्त विश्वकोश विकिपीडिया के विभिन्न वेब स्थलों से संकलित किये हैं, और इनके लिए हम विकिपीडिया के अत्यन्त आभारी हैं। जावेद अख़्तर के जीवन-परिचय के कुछ अंश उनकी अपनी वेब साइट जावेद अख़्तर डाट कॉम से भी उद्धृत किये गये हैं। इसी तरह बाबा आम्टे पर आलेख की कुछ सूचनाएँ 'महारोगी सेवा समिति' की वेबसाइट से भी संकलित की गयी हैं।

वैज्ञानिक चन्द्रशेखर और शंकर गुहानियोगी के इतिवृत्त भी मुक्त विश्वकोश विकिपीडिया के ही विभिन्न बेव स्थलों से प्राप्त किये गये हैं। इन सभी आलेखों के लिए हम मुक्तकोश विकिपीडिया के स्वत्वाधिकारियों के अतिरिक्त उनके लेखन-सहयोगियों और उनके अनुवादक मित्रवर श्री के. जी. त्रिवेदी के आभारी हैं।

—रणजीत

अनुक्रम

भारतीय दर्शन में नास्तिकता की परम्परा

❑ डॉ. रमेन्द्र

परम्परागत भारतीय दर्शन के बारे में एक बहुप्रचलित भ्रामक धारणा यह है कि वह ईश्वरवाद से ओत-प्रोत है। जो लोग दर्शनशास्त्र की जानकारी नहीं रखते हैं, उनके बीच तो यह धारणा प्रचलित है ही, इसके अलावा, राधाकृष्णन जैसे भारतीय दर्शन के आधुनिक विद्वानों की भी इस भ्रामक धारणा को फैलाने में प्रमुख भूमिका रही है। उदाहरण के तौर पर, अपनी किताब इण्डियन फिलॉसफी के परिचय में राधाकृष्णन लिखते हैं, ''भारतीय चिन्तन में ईश्वर और मनुष्य के बीच एक स्नेहपूर्ण सामंजस्य है...भारत में मनुष्य ईश्वर की एक रचना है। सारा विश्व ईश्वर के त्याग के कारण है।''

राधाकृष्णन ने जो कुछ लिखा है, उससे ऐसा आभास होता है जैसे 'भारतीय चिन्तन' और 'भारत' में ईश्वर के अस्तित्व के प्रश्न पर कोई परस्पर-विरोधी धाराएँ हैं ही नहीं। सभी भारतीय चिन्तक एक स्वर में ईश्वरवाद के पक्ष में बोल रहे हैं!

लेकिन, वास्तविकता इससे बहुत अलग है। आज के समय भारतीय विश्वविद्यालयों में ''भारतीय दर्शन'' की जिन प्राचीन और मध्ययुगीन ''नौ शाखाओं'' का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है, उनमें से पाँच—लोकायत, जैन, बौद्ध, सांख्य और मीमांसा—निरीश्वरवादी हैं। न सिर्फ प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय चिन्तन में बल्कि बीसवीं सदी के भारतीय चिन्तन में भी निरीश्वरवाद काफी प्रमुख रहा है। प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय दर्शन में तो निरीश्वरवाद प्राचीन ग्रीक दर्शन और पाश्चात्य दर्शन की तुलना में भी सशक्त रहा है। पाश्चात्य दर्शन की तरह भारतीय दर्शन में भी ईश्वरवाद के पक्ष-विपक्ष में काफी चर्चाएँ हुई हैं। लोकायत दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को सीधे-सीधे इस आधार पर नकारा गया है कि ईश्वर का कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता। इसके अलावा, कई प्रमुख जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने अपनी रचनाओं में ईश्वर-समर्थक युक्तियों का खण्डन करते हुए निरीश्वरवाद के पक्ष में विस्तार से युक्तियाँ दी हैं। सांख्य और मीमांसा दर्शन में भी ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध युक्तियाँ दी गयी हैं।

''नास्तिक'' शब्द के तीन अर्थ

भारतीय विश्वविद्यालयों में ''भारतीय दर्शन'' के अन्तर्गत जिन प्राचीन एवं मध्ययुगीन ''नौ शाखाओं'' का अध्ययन-अध्यापन किया जाता है, आम तौर से उनका वर्गीकरण ''आस्तिक'' और ''नास्तिक'' के रूप में किया जाता है। ''जो वेद को प्रामाणिक माने'' उसे ''आस्तिक'', और ''जो वेद को प्रामाणिक न माने'' उसे ''नास्तिक'' कहा जाता है। इस अर्थ में लोकायत, जैन और बौद्ध ''नास्तिक हैं, जबकि बाकी छः –सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त–जिन्हें षड्दर्शन भी कहा जाता है, ''आस्तिक'' हैं।

दरअसल, ''आस्तिक'' और ''नास्तिक'' शब्द के कम-से-कम तीन अर्थ हैं। ''आस्तिक'' और ''नास्तिक'' शब्द के मौलिक अर्थ में ''आस्तिक'' वह है ''जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास रखता है'' और ''नास्तिक'' वह है ''जो परलोक के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखता है''। जैन और बौद्ध दर्शनों में इन शब्दों का इसी अर्थ में इस्तेमाल हुआ है। इस अर्थ में केवल लोकायत दर्शन ''नास्तिक'' (इहलोकवादी) दर्शन है।

''नास्तिक'' शब्द का ''वेद-निन्दक'' के अर्थ में मनु द्वारा इस्तेमाल किया गया है। ब्राह्मणवादी लेखकों द्वारा इस अर्थ को अपनाया गया। यहाँ तक कि बीसवीं सदी में अंग्रेज़ी में भारतीय दर्शन पर लिखने वाले कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी इसी अर्थ को अपनाते हुए भारतीय दर्शन का वेद-केन्द्रित वर्गीकरण किया है।

''आस्तिक'' और ''नास्तिक'' शब्द के एक तीसरे अर्थ में ''आस्तिक'' वह है, जो यह कहता है कि ''ईश्वर है'' और ''नास्तिक'' वह है, जो कहता है कि ''ईश्वर नहीं है।'' आम बोल-चाल की भाषा में यही अर्थ सर्वप्रचलित है। इस अर्थ में परम्परागत भारतीय दर्शन की दो ''आस्तिक'' शाखाएँ–सांख्य और मीमांसा–भी ''नास्तिक'' हैं। इस तरह, जैसा कि पहले भी जिक्र किया गया है, भारतीय दर्शन की नौ शाखाओं में से कम-से-कम पाँच निरीश्वरवादी या लोकप्रिय अर्थ में नास्तिक हैं। लेकिन, इनमें से एकमात्र लोकायत या चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है जो ''नास्तिक'' शब्द के तीनों अर्थों में नास्तिक है। इसलिए, इसे हम भारतीय दर्शन में नास्तिक परम्परा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मान सकते हैं।

लोकायत या चार्वाक

भारतीय दर्शन की प्राचीन और मध्ययुगीन शाखाओं में एकमात्र लोकायत या चार्वाक दर्शन ही ऐसा दर्शन है, जो ''धर्मनिरपेक्ष'' शब्द के दोनों अर्थों में धर्मनिरपेक्ष है : एक, धर्म से स्वतन्त्र, और दो, इहलोकवादी। वेदों को प्रामाणिक और अन्तिम सत्य मानना हिन्दू या ब्राह्मण धर्म की एक बुनियादी मान्यता है। जैन और बौद्ध दर्शन

वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते हैं, लेकिन, अन्तिम विश्लेषण में, ये भी धर्म हैं, और इनके अपने अलग-अलग धर्मग्रन्थ हैं। इस तरह, लोकायत दर्शन ही एकमात्र ऐसा दर्शन है, जो न तो धर्म है और न जिसका किसी धर्म से कोई सम्बन्ध है। इसी तरह, लोकायत के अलावा बाकी सभी दर्शनों में अतिप्राकृतिक या परलोकवाद के कुछ-न-कुछ तत्त्व मौजूद हैं। सांख्य, मीमांसा, जैन और बौद्ध दर्शन ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते हैं। बौद्ध दर्शन में तो आत्मा के अस्तित्व को भी नकारा गया है। लेकिन, इन सब में मृत्यु के बाद जीवन और जीवन-मरण के तथाकथित चक्र में विश्वास पाया जाता है। मीमांसा के अन्तर्गत ''स्वर्ग प्राप्ति'' को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है, जबकि बाकी तीनों ''बन्धन'' –जन्म-मरण के तथाकथित चक्र–से मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानते हैं। लोकायत दर्शन ही एकमात्र ऐसा दर्शन है जो स्पष्ट रूप में ईश्वर, आत्मा, मृत्यु के बाद जीवन और स्वर्ग या मुक्ति जैसे नैतिक लक्ष्यों को अस्वीकार करता है।

इसी तरह, प्राचीन भारतीय दर्शन की शाखाओं में लोकायत दर्शन ही एकमात्र ऐसा दर्शन है, जिसे सही अर्थों में दर्शन कहा जा सकता है। यह एक शर्मनाक स्थिति है कि भारतीय दर्शन के कुछ आधुनिक विद्वानों ने लोकायत दर्शन को अपवादस्वरूप अलग करने के बाद ''भारतीय दर्शन की सामान्य विशेषताओं'' की चर्चा की है! परिणामस्वरूप जो सामने आयी हैं, वे भारतीय दर्शन की नहीं, बल्कि भारतीय धर्मों की सामान्य विशेषताएँ हैं। जैसे, ''भारतीय दर्शन में 'बन्धन' और 'मुक्ति' की समस्या को केन्द्रीय स्थान दिया गया है।''

लोकायत दर्शन के अन्तर्गत स्वर्ग और मुक्ति जैसे काल्पनिक नैतिक लक्ष्यों को अस्वीकार किया गया है, और मानव सुख को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। लोकायत दर्शन में यह स्पष्ट तौर से कहा गया है कि न तो मृत्यु के बाद कोई जीवन है और न ही कोई पुनर्जन्म! लोकायत दर्शन के अनुसार–**यह जगत् ही एकमात्र जगत् है, यह जीवन ही एकमात्र जीवन है, और हमें इसे सर्वश्रेष्ठ तरीके से जीने का प्रयत्न करना चाहिए।** हमें इसलिए जीवन से दूर नहीं भागना चाहिए, क्योंकि जीवन में सुख के साथ दुःख भी मिले हुए हैं।

इस तरह, लोकायत दर्शन में बुद्धिवादी, मानवतावादी, सुखवादी, प्रकृतिवादी, भौतिकवादी और निरीश्वरवादी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इसके अलावा, इसमें ब्राह्मणवाद का तीखा विरोध किया गया है। लोकायत दर्शन की प्रामाणिक लोकगाथा के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

''जब तक जियो सुख से जियो;
मृत्यु की निगाहों से कोई नहीं बच सकता;

एक बार जब शरीर जल कर राख हो जाएगा,
फिर पुनर्जन्म कैसे होगा?

सुख के साथ दुःख भी मिश्रित है, इसलिए हमें सुख को त्याग देना चाहिए, ऐसा मूर्खों का विचार है; अपना भला चाहने वाला कौन इन्सान धूल और भूसी के कारण उत्कृष्ट सफेद अनाज वाले धान को फेंक देगा?

न कोई स्वर्ग है, न कोई मोक्ष, न आत्मा किसी परलोक में जाती है।

वर्णाश्रम धर्मों के पालन से भी कोई फल प्राप्त नहीं होता।

मोर को रंग किसने दिए हैं या कोयल से गीत कौन गवाता है? इसका प्रकृति के सिवा और कोई कारण नहीं है।

अग्निहोत्री यज्ञ, तीनों वेद, त्रिदण्ड धारण और शरीर में भस्म रमाना, ये सभी बुद्धि और पौरुषहीन लोगों की आजीविका के साधनमात्र हैं।

अगर श्राद्ध में अर्पित भोजन से स्वर्ग में बैठे लोग सन्तुष्ट हो जाते हैं, तो क्यों नहीं छत पर बैठे लोगों को नीचे ही भोजन दे दिया जाता?

अगर श्राद्ध करने से मरे हुए लोगों की तृप्ति हो जाती है, तो फिर किसी राहगीर को साथ में भोजन देने की क्या जरूरत है? घर पर दिए भोजन से ही उसे रास्ते में तृप्ति मिल जाएगी।

अगर कोई अपने शरीर को छोड़कर परलोक चला जाता है, तो अपने दोस्तों और अन्य लोगों के प्रेम में बँधकर वह दुबारा वापस क्यों नहीं लौट आता?

इसलिए, ब्राह्मणों ने मात्र अपनी आजीविका के लिए श्राद्धकर्म की व्यवस्था की है। इसमें इससे अधिक कुछ भी नहीं है।''

अगर सीधी-सादी भाषा में कहें तो लोकायत दर्शन के नीतिशास्त्रीय विचार इस प्रकार हैं :

सुख ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। आत्मा या मृत्यु के बाद जीवन का कोई अस्तित्व नहीं है। इस जगत् के अलावा कोई दूसरा जगत् नहीं है। स्वर्ग-प्राप्ति और जीवन-मरण के ''चक्र'' से मुक्ति काल्पनिक लक्ष्य है। हर किसी की मृत्यु निश्चित है। किसी का पुनर्जन्म नहीं होगा। इसलिए हम जब तक जीवित हैं, तब तक इस जीवन को सुख से जीना चाहिए। यह कहना कि क्योंकि जीवन में सुख के साथ दुःख भी मिश्रित है, इसलिए हमें सुखों का त्याग करना चाहिए, एक अतार्किक बात है।

लोकायत दर्शन को प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों अरिस्टपस और एपिक्युरस के दर्शन के समकक्ष रखा जा सकता है। पश्चिम में प्राचीन ग्रीक सुखवाद आधुनिक समय में बेन्थम, मिल और सिजविक के उपयोगितावाद के रूप में पुष्पित हुआ। लेकिन, भारत में कुछ ''अध्यात्मवादी'' लोग लोकायत दर्शन के पीछे इस तरह हाथ धो कर

पड़ गए जैसे ''सुख अपने-आप में एक मूल्यवान वस्तु है'', ऐसा कहकर उसने कोई घोर अपराध कर दिया हो! प्राचीन भारतीय ज्ञान को अक्सर किसी-न-किसी किस्म के ''अध्यात्मवाद'' से जोड़ा जाता है। लेकिन, वास्तविक प्राचीन भारतीय ज्ञान लोकायत दर्शन की शिक्षाओं में ही मिलता है।

—अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग,
पटना विश्वविद्यालय, पटना

महात्मा गौतम बुद्ध

❑ **आचार्य राम लाल**

563 ईसापूर्व में भारत भूमि पर ऐसे महामानव का जन्म हुआ, जो राजपरिवार का था। छठी शताब्दी पूर्व भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में बँटा था। जो राज्य किसी एक राजा के अधीन थे, उनकी संख्या 16 थी। उनके नाम हैं—अंग, मगध, काशी, कोशल, बज्जि, मल्ल, चेदि, वस्त, कुरु, पंचाल, मत्स्य, सौरसेन, अस्मक, अवन्ति, गान्धार तथा कम्बोज। जिन राज्यों में किसी एक राजा का आधिपत्य न था, वे थे कपिलवस्तु के शाक्य, पावा तथा कुशीनारा के मल्ल, वैशाली के लिच्छवि, मिथिला के विदेह, रामागाम के कोलिस आदि। जिन राज्यों पर किसी एक राजा का आधिपत्य था वे जनपद कहलाते थे। जिन राज्यों पर किसी एक राजा का आधिपत्य न था वे संघ या गण कहलाते थे। कपिलवस्तु के शाक्यों के गणतन्त्र में कई राजपरिवार थे। वे एक-दूसरे के बाद क्रमशः शासन करते थे। सिद्धार्थ गौतम के जन्म के समय शुद्धोधन राजा थे। कपिलवस्तु का नाम महान् बुद्धिवादी (पदार्थवादी) मुनि कपिल के नाम पर पड़ा। शुद्धोधन का विवाह महामाया से हुआ था। एक बार महामाया ने अपने मायके देवदह जाने की इच्छा व्यक्त की, तब शुद्धोधन ने कन्धों पर ढोयी जाने वाली पालकी से सेवक-सेवकों के साथ उन्हें मायके भिजवा दिया। देवदह के मार्ग में शाल वृक्षों का एक वन था जो लुम्बिनी वन कहलाता था। महामाया को प्रसवपीड़ा हुई, तब वह पालकी से उतरी तथा एक शालवृक्ष की शाखा को पकड़कर खड़ी हो गयी। शालवृक्ष के नीचे ही वैशाख पूर्णिमा के दिन सिद्धार्थ का जन्म हुआ। सिद्धार्थ गौतम के जन्मोत्सव की खुशियाँ अभी समाप्त भी नहीं हुई थीं कि महामाया अचानक बीमार हुईं और सात दिन के बालक को अपनी बहन प्रजापति को सौंपकर संसार से विदा हो गयीं। गौतम का पालन-पोषण प्रजापति गौतमी ने किया। उस समय के अनेक आचार्यों ने सिद्धार्थ को शिक्षा प्रदान की। उन्होंने समस्त दर्शन शास्त्रों एवं प्रचलित विद्याओं पर अपना अधिकार कर लिया।

सिद्धार्थ का स्वभाव प्रारम्भ से ही बड़ा कारुणिक था। वे पिता के राज्य में

उनके कार्य देखने जाते थे। जब कभी कृषि सम्बन्धी कोई कार्य न होता तो वे ध्यानस्थ बैठकर चिन्तन-मनन करते रहते थे। सिद्धार्थ ने खेतों में मजदूरों को कठोर परिश्रम करते देखकर अपने मित्र से कहा कि एक आदमी दूसरे आदमी की मेहनत पर गुलछर्रे उड़ाये, यह उचित नहीं। उनके मित्र के पास उसका कोई उत्तर नहीं था क्योंकि पुरानी परम्परा के अनुसार मजदूरों व मेहनतकशों का जन्म ही मालिकों की सेवा के लिए हुआ है। सिद्धार्थ अपने हाथ से भी हल चलाया करते, क्योंकि उन्हें विद्वान् होते हुए भी श्रम से नफरत नहीं थी। सिद्धार्थ अपने मित्रों को किसी एक विषय पर चित्त एकाग्र करना सिखाते थे। माँ जब कहती कि युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है, तो वह कहते कि एक आदमी दूसरे आदमी को मारे, यह धर्म नहीं हो सकता।

सिद्धार्थ की चित्तवृत्ति व कार्यों को देखकर दण्डपाणि नामक राजा की 16 वर्षीया पुत्री यशोधरा से उनकी शादी कर दी गयी, जो सुन्दर और शालीनता के लिए विख्यात थी। 28 वर्ष की आयु में उन्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई जिसका नाम राहुल रखा गया। सिद्धार्थ का मन सांसारिक भोगों में नहीं लगता था। वे सदैव मानव हित पर चिन्तन व ध्यान करते रहते थे। वे समाज में व्याप्त अज्ञान, अन्धविश्वास, नफरत, धोखा, ऊँच-नीच, जाति व वर्ण-व्यवस्था, मानवीय तृष्णा आदि विषयों पर निरन्तर विचार करते रहते थे। संसार में व्याप्त दुखों व पीड़ित मानवता के उद्धार के लिए उन्हें 29 वर्ष की आयु में कोली व शाक्यों में राहिणी नदी के पानी के विवाद पर गणराज्यों के संघ के निर्णयानुसार गृह-त्याग करना पड़ा, क्योंकि उन्होंने युद्ध का विरोध किया था। गृह-त्याग के पश्चात् योगाचार्य आलारकालम के आश्रम गये। वहाँ उन्होंने योगसाधना में 3 वर्ष व्यतीत किए। इसके पश्चात् उद्दक राम पुत्त के आश्रम गये। उद्दक राम पुत्त भी योग के सम्बन्ध में जो जानता था, सभी कुछ सिद्धार्थ को बताया। इस तरह 6 वर्ष विभिन्न आश्रमों में बिताए किन्तु आचार्यों के ज्ञान से सिद्धार्थ गौतम को सन्तोष नहीं हुआ। वास्तविक ज्ञान प्राप्त न होने की स्थिति में सिद्धार्थ घोर तपस्या करने के निश्चय के साथ उरुवेला (बोधगया) निरंजना नदी के किनारे जंगल में रहे। कठोर साधना के कारण शरीर सूख गया। शारीरिक दुर्बलता के कारण चलना-फिरना कठिन हो गया। सिद्धार्थ ने सोचा, शरीर रक्षा के लिए अन्न ग्रहण करना चाहिए। अन्न ग्रहण करते ही उनके पाँच तपस्वी साथी तपस्या भंग के दोष का आरोप लगाकर उनका साथ छोड़कर चले गये। थोड़ा-थोड़ा अन्न ग्रहण करने के कारण जब शरीर व इन्द्रियों में कुछ शक्ति आयी, तब बोधि वृक्ष के नीचे ज्ञान-प्राप्ति के संकल्प के साथ समाधिस्थ हो गये। उन्होंने पक्का संकल्प कर लिया कि चाहे शरीर सूख जाय, गल जाय, ज्ञान-प्राप्ति के बिना नहीं उठूँगा। आखिर सिद्धार्थ ने मन में उठने वाली बुरी वासनाओं, जिन्हें मार कहा जाता है, को जीतकर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर ली। उन्होंने स्पष्ट जान लिया कि दुर्विचारों का समूल नाश होने पर नये विचारों की उत्पत्ति होती है और उन नये विचारों

के द्वारा ही सम्पूर्ण मानवता का कल्याण किया जा सकता है। जिस रात्रि को सिद्धार्थ ने सम्बोधि प्राप्त की, सिद्धार्थ से बुद्ध बने, वह रात भी वैशाख पूर्णिमा ही थी। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद बुद्ध के मन में यह विचार आया कि मेरे ज्ञान का उपयुक्त पात्र कौन है? अपने पूर्व आचार्यों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने पर ज्ञात हुआ कि वे सभी अपने शरीर का त्याग कर चुके थे। फिर अपने पाँच परिव्राजकों (संन्यासियों) जो अन्न ग्रहण करने पर पथभ्रष्ट कहकर साथ छोड़ गये थे, के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ कि वे सारनाथ के मृगदाब वन में निवास कर रह हैं। बुद्ध वहाँ स्वयं गये। बुद्ध को देखते ही पाँचों में से एक ने कहा—पथभ्रष्ट श्रमण गौतम आ रहा है, उसको आसन नहीं देना चाहिए। दूसरे ने कहा कि यह तप से विमुख हो गया है, इसे भिक्षु नहीं बल्कि गौतम कहना चाहिए। लेकिन वे बुद्ध के प्रभाव से अपने को स्थिर नहीं रख सके। सभी उठ खड़े हुए और अभिवादन किया तथा मित्र गौतम कहकर पुकारा। जब वे अभिवादन कर चुके तब बुद्ध ने कहा कि मित्र कहकर मत पुकारो, क्योंकि वे बुद्ध हैं। अर्हत (वासनाओं से रहित) हैं। बुद्ध सभी जीवों पर एक-सी कृपादृष्टि रखते हैं, इसलिए पिता कहलाते हैं। पिता का अनादर व तिरस्कार अनुचित है।

बुद्ध ने कहा, ''तथागत कठोर तपों में मुक्ति नहीं खोजते, न ही सांसारिक सुखों के लोभी व सुविधाभोगी हैं। तथागत ने मध्यम मार्ग पा लिया है।''

''हे भिक्षुओ, संन्यासियों को इन दो अतियों से बचना चाहिए, एक विषयासक्ति के स्वाभाविक अभ्यास का पथ जो तुच्छ एवं निरर्थक है, सांसारिकों के योग्य है, दूसरी तरफ आत्मपीड़ा का पथ जो कष्टपूर्ण, व्यर्थ एवं अलाभकर है।''

बुद्ध ने आगे कहा, ''मांस या मछली से परहेज करना, वस्त्रों का त्याग करना, शरीर पर राख मलना, अग्नि में आहुति देना—इनमें से कुछ भी उन मनुष्यों का परिमार्जन नहीं कर सकता है, जो भ्रमों में फँसे हैं।

वेदों को पढ़ना, पुजारियों को चढ़ावा चढ़ाना, देवताओं को बलि देना, ताप या शीत में शरीर को कष्ट देना, इनसे मनुष्य का हित नहीं हो सकता है। हे भिक्षुओ! इन दोनों अतियों से परे तथागत ने मध्यम मार्ग खोज निकाला है। ऐसा मार्ग जो आँखें खोलता है और ज्ञान प्रदान करता है, जो मानसिक शक्ति, उच्चतर विवेक, पूर्ण प्रबोधन एवं निर्वाण की ओर ले जाता है।''

बुद्ध ने उन्हें अष्टांगिक मार्ग बताया—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक्वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम (परिश्रम), सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। भिक्षुओं यह है मध्यम मार्ग जिसको तथागत ने समझा। बुद्ध ने चार आर्य सत्य बताए—

1. संसार में जीवन दुःख से भरा है।
2. दुःख का कारण है।
3. दुःख को समाप्त करना सम्भव है।

4. दुःख को समाप्त करने का उपाय है।

दुःख का कारण बुद्ध ने अविद्या और तृष्णा को बताया, सदाचार एवं पवित्र जीवन को ही सर्वोपरि माना। जो दुख के अस्तित्व को, उसके कारण को, उसके निरोध को और निरोध-मार्ग को पहचानता है, वह चार आर्य सत्यों को पूर्णतः जान चुका है। वह सही पथ पर चलेगा, सच्चे विचार उसका पथ प्रदीप्त करेंगे, सच्चे संकल्प, उसके मार्ग प्रदर्शक होंगे, उसकी चाल सीधी होगी क्योंकि यही सच्चा व्यवहार है। जीविकोपार्जन का सच्चा ढंग उसका पथाहार होगा, सच्चे प्रयास उसके कदम होंगे, सच्ची स्मृति उसकी श्वास होगी। सच्ची समाधि उसे शान्ति देगी।

पाँच शिष्यों के धम्म में दीक्षित होने के बाद यथ नामक व्यापारी कुल पुत्र उनका शिष्य हुआ। बुद्ध ने भिक्षु संघ की स्थापना की तथा अपने शिष्यों को सभी दिशाओं में भेजा। बुद्ध ने भिक्षुओं को निर्देश देते हुए कहा—**''चरथ भिक्खवे बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, अत्थाय हिताय, लोकानुकम्पाय धम्मंआदि कल्यानम, मज्झिम कल्याणं, परिपोसान कल्यानम् सात्थम संव्यजनम् परिशुद्धम ब्रह्मचरियम पकाशेय**—अर्थात् भिक्षुओ! जाओ, बहुत लोगों के हित के लिए, बहुत लोगों के सुख के लिए अपने और संसार पर अनुकम्पा के लिए प्रारम्भ में, मध्य में और अन्त में कल्याणकारी परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।''

बुद्ध का दर्शन अनात्मवादी व अनीश्वरवादी दर्शन है। बुद्ध ने कहा—सभी कुछ अनित्य (नाशवान) व अनात्म है। बौद्धग्रन्थों के आधार पर मुद्गल (जीव) एक चित्त संतति (प्रवाह) है। आत्मा नाम का नित्य (न नष्ट होने वाला), ध्रुव स्वरूप से अपरिवर्तनीय कोई पदार्थ नहीं है। ईश्वर नाम की किसी सत्ता को बुद्ध ने स्वीकार नहीं किया क्योंकि बुद्ध का प्रतीत्य समुत्पाद कार्य कारण के सिद्धान्त पर आधारित है। बिना कारण के कोई कार्य सम्भव नहीं। बुद्ध ने चार महाभूतों (पृथ्वी, अग्नि, वायु एवं जल) को ही सृष्टि का कारक माना है। बुद्ध ने ईश्वर आदि अलौकिक शक्तियों को अव्याकृत माना, अर्थात् इन पर बहस करना बेकार है। बुद्ध ने बुद्धों की वन्दना की है, ईश्वर की नहीं क्योंकि बुद्ध पुरुष मार्गदाता व ज्ञानदाता हैं—

ये च बुद्ध अतीता च ये च बुद्ध अनागता।
पच्चुप्पन्ना च ये बुद्धा अहम् वन्दामि सब्बदा॥

अर्थात् जो अतीत काल में बुद्ध हुए, आने वाले समय में जो बुद्ध होंगे तथा इस संसार में जितने भी बुद्ध पुरुष हैं, मैं सभी की वन्दना करता हूँ। बुद्ध ज्ञान की धारा को आगे बढ़ाने के इच्छुक थे इसलिए उन्होंने यह नहीं कहा कि मैं ही सर्वज्ञ हूँ बल्कि यह कहा—आओ मेरे जैसे बनो। गीता में कृष्ण ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

''सर्वं धर्मम् परित्यज मामेकं शरणम् व्रज।
अहम् त्वां सर्व पापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

अर्थात् तुम सभी धर्मों को छोड़कर मेरे शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सारे पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत करो।

इसके विपरीत बुद्ध ने कहा—**हे आनन्द अन्त शरणा, अन्त दीपा बिहरथ** अर्थात् तुम अपने प्रदीप स्वयं बनो, अपनी शरण ग्रहण करो।

बुद्ध ने प्रार्थना व पूजा को निरर्थक कहा है। एक बार की घटना है—तथागत व उनके परमशिष्य आनन्द नदी के किनारे यात्रा कर रहे थे। आनन्द ने पूछा—तथागत, कुछ लोग प्रार्थना करते हैं। बुद्ध ने कहा—प्रार्थना करते होंगे लेकिन प्रार्थना करने से कोई कार्य नहीं होता और आनन्द से पूछा—आनन्द यदि तुम्हें नदी के उस पार जाना है तो क्या प्रार्थना करने से उस पार जा सकते हो या नदी का दूसरा किनारा तुम्हारे पास आ जायेगा? नहीं आयेगा। नदी पार करने के लिए नाव का सहारा लेना होगा या तैरकर जाना पड़ेगा, इसलिए प्रार्थना निरर्थक है। बुद्ध संसार के ऐसे महामानव हैं, जिन्होंने किसी चमत्कार या अलौकिक शक्तियों से किसी को भ्रमित करने का प्रयास नहीं किया जैसा कि दुनिया के अन्य धर्म-प्रचारकों ने किया। बुद्ध के जीवन की एक घटना है कि तथागत व उनके प्रधान धम्म सेनापति कहे जाने वाले सारिपुत्त जंगल में जा रहे थे। सारिपुत्त ने तथागत से कहा कि आप जैसा ज्ञानी संसार में नहीं हुआ है। तथागत ने रुककर सारिपुत्त से पूछा कि क्या आपने अपने चक्षु से यह जान लिया है कि मेरे जैसा ज्ञानी नहीं? सारिपुत्त पुनः कहते हैं कि आप जैसा ज्ञानी न तो वर्तमान, न भविष्य में होगा। तथागत ने जंगल से मुट्ठीभर पत्ते उठाये और कहा—मेरा ज्ञान मुट्ठीभर पत्तों जितना है, संसार का ज्ञान जंगल में जितने पत्ते हैं, उससे भी अधिक होगा। सारिपुत्त तथागत की बात सुनकर चुप हो गये। ऐसे महान् थे बुद्ध, जिन्होंने संसार को बुद्धिवादी वैज्ञानिक चिन्तन दिया, अन्धविश्वास, पाखण्ड व रूढ़िवाद की जड़ें काट दी।

संसार के धर्म-प्रचारकों में केवल एक ही महापुरुष दिखाई पड़ता है जिसने अपने शिष्यों को वैचारिक रूप से पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। बुद्ध के जीवन की एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगा क्योंकि वैचारिक स्वातन्त्र्य के लिए यह घटना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। श्रावस्ती के पास ही कोशल जनपद में एक केसपुत्रिय नामक गाँव था। जहाँ चारिका (भ्रमण) करते हुए बुद्ध गाँव के एक उद्यान में ठहर गये। गाँव के लोगों ने जब जाना कि तथागत हमारे गाँव के ही उद्यान में ठहरे हैं, भिक्षुसंघ के साथ आये हैं, तो कालाम लोग दर्शनार्थ आये और तथागत के सम्मुख एक समस्या रखी। कालामों ने तथागत से कहा कि हमारे गाँव में अनेक श्रमण, ब्राह्मण व आचार्य आते रहते हैं, वे अपने मत की स्थापना व दूसरे मत की निन्दा करते हैं। हम उनके मत से प्रभावित भी हो जाते हैं। हमें लगता कि वे सही कह रहे। हम किसकी बात मानें, किसकी न मानें, इसकी कसौटी क्या है?

आज इक्कीसवीं सदी में संवाद व संचार के इतने साधन हैं, यह समस्या तब

से आज ज्यादा भयावह है। तथागत ने कहा कि कालामो! तुमको उचित विषय में सन्देह हुआ है। जो व्यक्ति इन सूत्रों को ग्रहण कर ले, वह कभी दिग्भ्रमित नहीं हो सकता। क्योंकि बुद्ध ने अनुभव को विश्वास के ऊपर स्थान दिया है। पहली बात बुद्ध ने कही हे कालामो! कोई बात इसलिए न मान लो कि उसको बहुत लोग मानते हैं।

हे कालामो! कोई बात इसलिए मत मानो! कि वह परम्पराओं से चली आ रही है। हे कालामो! कोई बात इसलिए मत मानो कि वह पुराणों, धर्मग्रन्थों में लिखी है।

कालामो! किसी बात को इसलिए न मान लो कि वह बात तुम्हें सुनने में अच्छी लगती है।

कालामो! किसी बात को इसलिए न मान लो कि वह ऊपरी तौर पर सत्य प्रतीत होती है।

आगे बुद्ध ने कहा कि कालामो! कोई बात इसलिए न मान लो क्योंकि उसको कोई विख्यात व्यक्ति आचार्य या गुरु कह रहा है।

गौतम बुद्ध ने केवल कालामों को नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति को सचेत किया है। तथागत ने कालामों से जो अन्तिम बात कही, बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

हे कालामो! किसी बात को इसलिए भी मत मान लो कि उसे गौतम बुद्ध ने कहा है।

शायद ही संसार के किसी महापुरुष ने ऐसा कहा हो कि मेरी बात को भी बिना सोचे-समझे, अनुभव व तर्क की कसौटी पर कसे बिना मत मानो। लगभग सभी धर्म-प्रचारकों ने कहा कि मैं जो कह रहा हूँ सत्य है, उस पर संशय या सन्देह की कोई आवश्यकता नहीं। बुद्ध का यह सन्देश मानवीय स्वतन्त्रता की उद्घोषणा है।

कालान्तर में बुद्ध के अनुयायी दो शाखाओं में बँट गये। हीनयान और महायान। महायानियों ने बुद्ध के मौलिक विचारों में संशोधन करके बुद्ध को ही ईश्वर के रूप में प्रस्तुत कर दिया लेकिन तर्क व अनुभव को उन्होंने भी प्राथमिकता दी। महायानी ग्रन्थ बोधिचर्यावतारं का एक श्लोक उद्धृत करना चाहूँगा, जो इस प्रकार है—

तापात्, छेदात्, निकसात् सुवर्णमिव सम्परीक्ष्य मदवचः गृहणात् न च गौरवात्।

जैसे सोने को तपाकर छेदकर कसकर ग्रहण करते हैं वैसे मेरे वचनों का परीक्षण करके ग्रहण करो। यह बहुत महत्त्वपूर्ण घोषणा है।

बुद्ध ने जाति, वर्ण व यज्ञों का खुलकर विरोध किया क्योंकि मानवीय विषमता व शोषण का आधार जाति व वर्ण बन गये थे। यज्ञों के लिए एक पुरोहित वर्ग तैयार हो गया था जो भोलीभाली जनता को धर्म के नाम पर ठगता था। बुद्ध के शिष्यों में प्रकृति जैसी चण्डालिका, सुभूति नामक भंगी व श्वपाक नामक नीच कुल

जन्मा भिक्षु था। इन सभी को संघ में बराबर का अधिकार प्राप्त था। आम्रपाली नाम की वेश्या व अंगुलिमाल जैसा डाकू भी बुद्ध की शरण पाकर कृतार्थ हुए थे। वैदिक व्यवस्था के वर्णाश्रम, जातिवाद, यज्ञ, पुनर्जन्म आदि के द्वारा जो शोषण आम जनता का होता था, बौद्ध काल में बहुत कम हो गया। जाति-वर्ण के आधार पर पाया जाने वाला सम्मान भी कम हो गया था।

आज देखा जाता है कि ज्योतिष के नाम पर कुछ लोगों द्वारा आम जनता को ठगा जा रहा है। यदि लोग बुद्ध को समझें तो ज्योतिषियों के जाल से अवश्य ही मुक्त हो जायेंगे। बुद्ध ने आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही जनता को चेताते हुए कहा था—

नक्खत्तं याति मानेत्तम अत्थो बाल उपच्चगा,
अत्थो अत्थस्स नक्खत्तं किम् करिस्सन्ति तारका।

अर्थात् नक्षत्रों की गणना को मानव कल्याण से जोड़ने वाले मूर्ख और भ्रमित हैं क्योंकि जो अपनी उन्नति करने में स्वयं समर्थ नहीं, उसका नक्षत्र और तारे क्या करेंगे? बुद्ध ने सदाचार, संयम व चित्त की एकाग्रता को ही सर्वोपरि माना है। बुद्ध की संस्कृति को श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाता है क्योंकि उनका मानना था कि बिना परिश्रम के संसार में कुछ प्राप्त नहीं होता है। बुद्ध जैसे महामानव संसार में बहुत कम हुए हैं। बुद्ध को 35 वर्ष की आयु में ज्ञान प्राप्त हुआ और जीवन के शेष 45 वर्षों तक वे निरन्तर घूम-घूमकर देशभर में सद्धम्म का उद्घोष करते रहे। जीवन के अन्तिम समय में जब महापरिनिर्वाण की स्थिति में थे, तब सुभद्र नाम का एक परिव्राजक (संन्यासी) तथागत से मिलने आया। आनन्द ने सुभद्र से कह दिया कि तथागत मिलने की स्थिति में नहीं हैं। तथागत ने यह बात सुन ली और आनन्द से कहा—सुभद्र को आने दो। सुभद्र मुझे कष्ट पहुँचाने नहीं, कुछ जानने की इच्छा से आया। महापरिनिर्वाण के पहले सुभद्र को जो उपदेश दिया, वह परिनिर्वाण सूत्त में संग्रहीत है। उसी सूत्त का अन्तिम वाक्य कहकर मैं अपनी बात को यहीं समाप्त करना चाहूँगा। उनके अन्तिम शब्द थे—''व्ययधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथ।'' संसार नाशमान है, अपने लक्ष्य का सन्धान निरालस भाव से करो। उनका निधन 80 वर्ष की आयु में 433 ई. पूर्व में हुआ।

9/69 इन्दिरा नगर, लखनऊ
मोबाइल : 9450378864

तीर्थंकर महावीर

❑ जुगमन्दिर तायल

ईसापूर्व की छठी शताब्दी मानव जाति के इतिहास में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण शताब्दी है। इस शताब्दी में या उसके आसपास मानव-सभ्यता के प्राचीन केन्द्र चीन,भारत और ईरान में ऐसे महत्त्वपूर्ण विचारकों ने जन्म लिया, जिनके विचारों तथा कार्यों ने विश्व सभ्यता-संस्कृति के इतिहास पर गहरी छाप छोड़ी। भारत में यह शताब्दी गौतमबुद्ध और महावीर स्वामी की शताब्दी है। गौतम बुद्ध ने जिस धार्मिक-आन्दोलन की शुरुआत की, उसने बौद्ध धर्म के रूप में विश्व में सभ्यता के फैलाव में बहुत बड़ी भूमिका निभायी। महावीर स्वामी का प्रभाव इतना व्यापक नहीं हुआ, फिर भी उनके जैनधर्म का भारत के सांस्कृतिक, कलात्मक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन परम्परा के अनुसार महावीर जैन धर्म के 24वें तीर्थंकर थे। पहले तीर्थंकर ऋषभदेव या आदिनाथ थे, जिनसे जैन धर्म-परम्परा की शुरुआत होती है। इतिहास की दृष्टि से ऋषभ देव के बारे में निश्चयात्मक दृष्टि से कुछ कहना सम्भव नहीं है, किन्तु महावीर निश्चित रूप से ऐतिहासिक महापुरुष हैं। कुछ इतिहासकार अब जैन-परम्परा के 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ को भी ऐतिहासिक महापुरुष मानने लगे हैं। महावीर गौतम बुद्ध के समकालीन थे। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में महावीर का उल्लेख 'निगंठ नातपुत्त' (निर्गंथ ज्ञातृपुत्र) के रूप में अनेक स्थलों पर मिलता है।

जैन धर्म में मान्य परम्परा के अनुसार महावीर का जन्म 599 ईसापूर्व में बिहार में स्थित वज्जी या लिच्छवी गणतन्त्र के कुण्डग्राम में हुआ। यह ग्राम लिच्छवी गणतन्त्र की राजधानी वैशाली का एक उपनगर था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। सिद्धार्थ ज्ञातृकुल के क्षत्रियों के मुखिया थे अतः जैन परम्परा में उन्हें राजा माना जाता है। महावीर का जन्म नाम वर्धमान था। महावीर के देहान्त के लगभग 600 वर्ष बाद जैन धर्म दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। दोनों सम्प्रदायों में महावीर की जीवन-घटनाओं को लेकर मत-भिन्नता है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर आजीवन ब्रह्मचारी रहे। 30 वर्ष की आयु

में उन्होंने राजसी-जीवन छोड़कर तपस्या का मार्ग चुना। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कलिंग देश के राजा जितशत्रु की पुत्री यशोदा से उनका विवाह हुआ था और उनके प्रियदर्शना नामक एक पुत्री भी उत्पन्न हुई थी। इसके बाद उन्हें सांसारिक जीवन से विरक्ति हो गई और उन्होंने तपस्वी का जीवन चुन लिया।

12 वर्ष की कठोर तपस्या के बाद जंभियाग्राम में ऋजबालिका नदी के किनारे शाल-वृक्ष के नीचे उन्हें 'केवल ज्ञान' प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्ति के बाद वे 'मज्झिम पावा' नगर में आये। यहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण एक बड़ा यज्ञ करा रहा था। यज्ञ में उपस्थित पंडितों से महावीर का शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) हुआ। शास्त्रार्थ में पराजित होकर ग्यारह प्रसिद्ध ब्राह्मणों ने महावीर से दीक्षा ली। आगे चलकर ये सभी महावीर के गणधरों के रूप में प्रसिद्ध हुए। महावीर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर माने जाते हैं। उनके बाद इन गणधरों और उनके शिष्यों ने ही जैन शास्त्रों और धर्म का प्रचार किया।

महावीर ने 30 वर्ष तक अपने धर्म का प्रचार किया। उनका कार्य क्षेत्र मुख्य रूप से पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार था। 72 वर्ष की आयु में 527 ईसा पूर्व में बिहार के 'मज्झिम पावा' नगर में उनका निधन हुआ। उस दिन कार्तिक माह की अमावस्या थी। इस दिन को भारत में दीपावली का त्योहार मनाया जाता है। जैन धर्म के अनुयायी इसे महावीर के निर्वाण दिवस के रूप में मानते हैं।

महावीर के जैन धर्म में पाँच महाव्रत माने जाते हैं—अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य। अहिंसा पर सबसे अधिक बल दिया जाता है और उसको ही परम (सबसे श्रेष्ठ) धर्म माना जाता है। अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा का त्याग नहीं है। जैन धर्म में पशु-पक्षी और वनस्पति जगत् को भी प्राणी जगत् में शामिल किया जाता है। ये सभी चेतन पदार्थ हैं। प्राणी-मात्र के लिए मैत्री-भाव रखना ही सच्ची अहिंसा है। यह बड़ा ऊँचा आदर्श है और यदि मानव-समाज सामूहिक रूप से इसका निर्वाह कर सके तो मानव-समाज की सभी समस्याओं का सहज ही समाधान हो जायेगा। आधुनिक काल में महात्मा गाँधी ने अहिंसा को सबसे अधिक महत्त्व दिया और देश को विदेशी शासन से मुक्त कराने के लिए 'अहिंसक युद्ध' या सत्याग्रह की नव धारणा का विकास किया।

सत्य भी इतना ही महत्त्वपूर्ण व्रत है। गाँधीजी अहिंसा की साधना के लिए सत्य को बहुत जरूरी मानते थे। सभ्य-सुखी (या अहिंसक) समाज की रचना सत्य के आधार पर ही हो सकती है। मनुष्यों के बीच परस्पर विश्वास से ही सत्य-आचरण का विकास हो सकता है। अपरिग्रह का अर्थ है, आवश्यकता से अधिक वस्तु का संचय नहीं करना। यानी सादगी का जीवन। अगर हम अपनी जरूरतों को कम नहीं करेंगे और विलास को आवश्यकता बना लेंगे तो अपरिग्रह का पालन सम्भव नहीं है। तेरापन्थ, एक आधुनिक जैन-सम्प्रदाय, के आचार्य महाप्रज्ञ तो अपरिग्रह को ही

मूल धर्म मानते थे। अपरिग्रह लोभ पर विजय है। जब तक लोभ पर नियन्त्रण नहीं होगा, तब तक न अहिंसा का पालन सम्भव है, न सत्य का।

अस्तेय का अर्थ है अचौर्य अर्थात् किसी वस्तु की चोरी नहीं करना; जो अपना नहीं है, उसे पाने की इच्छा या प्रयत्न नहीं करना। श्रम से जो अर्जित किया जाता है, वही अपना होता है, उसी पर अपना अधिकार होता है। श्रम के अतिरिक्त अन्य जिन साधनों (छल-कपट आदि) से जो प्राप्त किया जाता है, वह सब चोरी (स्तेय) है। स्तेय समाज में हिंसा और विषमता को बढ़ाता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का सर्वथा निषेध नहीं है, ब्रह्मचर्य का अर्थ संयमित जीवन है। मनुष्य अपनी इच्छाओं (कामनाओं) पर नियन्त्रण रखे। वह इच्छाओं का दास न हो, इच्छाओं पर उसका नियन्त्रण हो। तभी मनुष्य सुखी जीवन बिता सकता है।

महावीर किसी ईश्वर या सृष्टिकर्ता को नहीं मानते थे। जैन-दर्शन और धर्म के अनुसार जीव और जगत् अनादि-अनन्त हैं। इनकी किसी एक ईश्वर ने रचना नहीं की है और न इनका कभी विनाश होगा। यदि हम किसी एक ईश्वर को स्वयंभू मानते हैं तो अनेक जीव (प्राणि-जगत्) भी स्वयंभू हो सकते हैं। महावीर का धर्म कर्म-प्रधान धर्म है। उनके अनुसार जीव (प्राणी) अपने कर्मों से ही बन्धन में बँधता है और अनेक योनियों (जन्म) में कष्ट पाते हुए जीवन-मरण को प्राप्त करता रहता है। किन्तु जीव (मनुष्य) अपने कर्मों को धर्म के मार्ग पर चलकर नष्ट भी कर सकता है। साधारण मनुष्य भी धर्माचरण या सत्कर्मों से तीर्थंकर या अर्हंत का पद प्राप्त कर सकता है। महावीर ईश्वर या ईश्वर के अवतार नहीं थे। अपनी तपस्या और धर्माचरण से ही वे तीर्थंकर बने।

साधारण मनुष्य का ईश्वर के बिना काम नहीं चलता। जीवन के दुख और कष्टों में उसे किसी शरणदाता-रक्षक की जरूरत महसूस होती है। साधारण मनुष्य की यही जरूरत धर्म-प्रवर्तकों-महापुरुषों को ईश्वर या ईश्वर का अवतार बना देती है और कालान्तर में उनके उपासक उन्हें ईश्वर मानकर उनका स्तुतिगान-पूजा-पाठ शुरू कर देते हैं। महात्माबुद्ध और महावीर के साथ भी यही हुआ है। आज देश में हजारों भव्य जैन-मन्दिर हैं, जहाँ महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियों के सामने धूमधाम से पूजा-पाठ होता है। फिर भी जैन धर्म के एक रूप श्वेताम्बर के अन्तर्गत 'स्थानकवासी' सम्प्रदाय में महावीर की ईश्वर को अमान्य करने की परम्परा बची हुई है। स्थानकवासी मन्दिर नहीं बनवाते हैं और किसी तरह का पूजा-पाठ नहीं करते हैं। वे 'जिनवाणी (महावीर के वचन या सिद्धान्तों) को ही मार्गदर्शक मानते हैं।

7 बी, फ्रेंड्स कॉलोनी
अलवर-301001

अजित केशकम्बल

❑ **राहुल सांकृत्यायन**

अजित केशकम्बल के जीवन के बारे में हमें इससे अधिक नहीं मालूम है, कि वह बुद्ध के समय एक लोक-विख्यात, सम्मानित तीर्थंकर(सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक) था। कोसलराज प्रसेनजित् ने बुद्ध से एक बार कहा था—''हे गौतम! वह जो श्रमण-ब्राह्मण संघ के अधिपति, गणाधिपति, गण के आचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुत जनों द्वारा सुसम्मत हैं, जैसे—पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगंठ नातपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त, प्रक्रुध कात्यायन, अजित केशकम्बल—वह भी यह पूछने पर कि (आपने) अनुपम सच्ची सम्बोधि(=परम ज्ञान) को जान लिया, यह दावा नहीं करते। फिर जन्म से अल्पवयस्क, और प्रव्रज्या(=संन्यास) में नये आप गौतम के लिए तो क्या कहना है?''

इससे जान पड़ता है, कि बुद्ध (563-483 ई. पू.) से अजित उम्र में ज्यादा था। त्रिपिटक में अजित और बुद्ध के आपस में संवाद की कोई बात नहीं आती, हाँ यह मालूम है कि एक बार बुद्ध और इन छओं तीर्थंकरों का वर्षावास, राजगृह में (532 ई. पू.) हुआ था। केशकम्बल नाम पड़ने से मालूम होता है कि आदमी के केशों का कम्बल पहिनने को उसने अपना बाना बना रखा था।

दर्शन—अजित केशकम्बल के दार्शनिक विचारों का जिक्र त्रिपिटक में कितनी ही जगह आया है, लेकिन सभी जगह एक ही बात को उन्हीं शब्दों में दोहराया गया है—

''दान...यज्ञ...हवन नहीं (=बेकार है), सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल (=विपाक) नहीं। यह लोक-परलोक नहीं। माता-पिता नहीं। देवता (=औपपातिक, अयोनिज) नहीं। लोक में सत्य तक पहुँचे, सत्यारूढ़ (=ऐसे) श्रमण-ब्राह्मण नहीं हैं, जो कि इस लोक, परलोक को स्वयं जानकर साक्षात्कार कर दूसरों को जतलावेंगे। आदमी चार महाभूतों का बना है। जब (वह) मरता है, (शरीर की) पृथिवी पृथिवी में...पानी पानी में...आग आग में...वायु वायु में मिल जाते हैं। इन्द्रियाँ आकाश में चली जाती हैं। मृत पुरुष को खाट पर ले जाते हैं। जलाने तक चिह्न जान पड़ते हैं। (फिर) हड्डियाँ

कबूतर (के रंग) सी हो जाती हैं। आहुतियाँ राख रह जाती हैं। दान (करो) यह मूर्खों का उपदेश है। जो कोई आस्तिकवाद की बात करते हैं, उनका (कहना) तुच्छ (=थोथा) झूठ है। मूर्ख हों चाहे पंडित, शरीर छोड़ने पर (सभी) उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं; मरने के बाद (कुछ) नहीं रहता।''

यहाँ हमें अजित का दर्शन उसके विरोधियों के शब्दों में मिल रहा है, जिसमें उसे बदनाम करने के लिए भी कोशिश जरूर की गई होगी। अजित आदमी को चातुर्महाभौतिक (=चारों भूतों का बना) मानता था। परलोक और उसके लिए किए जाने वाले दान-पुण्य तथा आस्तिकवाद को वह झूठ समझता था, यह तो स्पष्ट है। किन्तु वह माता-पिता और इस लोक को भी नहीं मानता था, यह गलत है। यदि ऐसा होता तो वह वैसी शिक्षा न देता, जिसके कारण वह अपने समय का लोक-सम्मानित सम्भ्रान्त आचार्य माना जाता था; फिर तो उसे डाकुओं और चोरों का आचार्य या सरदार होना चाहिए था।

अजित ने अपने दर्शन में, मालूम होता है, उपनिषद् के तत्त्वज्ञान की अच्छी खबर ली थी। सत्य तक पहुँचा (=सम्यग्-गत), 'सत्यआरूढ़' ब्रह्मज्ञानी कोई हो सकता है, यह मानने से उसने इनकार किया; एक जन्म के पाप-पुण्य को आदमी दूसरे जन्म में इसी लोक में अथवा परलोक में भोगता है, इनका भी खंडन किया।

उग्र भौतिकवादी होते हुए भी अजित तत्कालीन साधुओं जैसे कुछ संयम-नियम को मानता था, यह उक्त उद्धरण के आगे—'ब्रह्मचर्य, नंगा, मुंडित रहना, उकडूँ-तप करना, केश-दाढ़ी नोचना'—इस वचन से मालूम होता है। किन्तु यह वचन छओं अ-बौद्ध तीर्थंकरों के लिए एक ही तरह दुहराया गया है, और निगंठ नातपुत्त के (जैन-) मत में ये बातें धर्म का अंग मानी जाती रही हैं, जिससे जान पड़ता है, त्रिपिटक को कंठस्थ करने वालों ने एक तीर्थंकर की बात को कंठ करने की सुविधा के लिए सबके साथ जोड़ दी—स्मरण रहे, बुद्ध के निर्वाण के चार सदियों बाद तक बुद्ध का उपदेश लिखा नहीं गया था।

धर्मकीर्त्ति

❑ राहुल सांकृत्यायन

डॉक्टर श्चेर्वास्की के शब्दों में धर्मकीर्त्ति भारतीय कान्ट थे। धर्मकीर्त्ति की प्रतिभा का लोहा उनके पुराने प्रतिद्वन्द्वी भी मानते थे। उद्योतकर (550 ई.) के ''न्यायवार्त्तिक'' को धर्मकीर्त्ति ने अपने तर्कशर से इतना छिन्न-भिन्न कर दिया था, कि वाचस्पति (841 ई.) ने उस पर टीका करके (धर्मकीर्त्ति के) ''तर्कपंक में मग्न उद्योतकर की अत्यन्त बूढ़ी गायों के उद्धार करने'' का पुण्य प्राप्त करना चाहा। जयन्त भट्ट (1000 ई.) ने धर्मकीर्त्ति के ग्रंथों के कड़े आलोचक होते हुए भी उनके ''सुनिपुणबुद्धि'' होने तथा उनके प्रयत्न को ''जगदभिभव-धीर'' माना। अपने को अद्वितीय कवि और दार्शनिक समझने वाले श्रीहर्ष (1192 ई.) ने धर्मकीर्त्ति के तर्कपथ को ''दुराबाध'' कहकर उनकी प्रतिभा का समर्थन किया। वस्तुतः धर्मकीर्त्ति की प्रतिभा का लोहा तब से ज्यादा आज की विद्वन्मंडली मान सकती है, क्योंकि आज की दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रगति में उसके मूल्य को हम ज्यादा समझ सकते हैं।

धर्मकीर्त्ति का जन्म चोल (=उत्तर तमिल) प्रान्त के तिरुमलै नामक ग्राम में एक ब्राह्मण के घर में हुआ था। उनके पिता का नाम तिब्बती परम्परा में कोरुनन्द ...मिलता है, और कहीं-कहीं यह भी कहा गया है कि वह कुमारिलभट्ट के भांजे थे। यदि यह ठीक है—जिसकी बहुत कम सम्भावना है—तो मामा के तर्कों का भांजे ने जिस तरह प्रमाणवार्त्तिक में खंडन करते हुए मार्मिक परिहास किया है, वह उन्हें सजीव हास्यप्रिय व्यक्ति के रूप में हमारे सामने ला रखता है। धर्मकीर्त्ति बचपन से ही बड़े प्रतिभाशाली थे। पहिले उन्होंने ब्राह्मणों के शास्त्रों और वेदों-वेदांगों का अध्ययन किया। उस समय बौद्ध धर्म की ध्वजा भारत के कोने-कोने में फहरा रही थी और नागार्जुन, वसुबंधु, दिग्नाग का बौद्धदर्शन विरोधियों में प्रतिष्ठा पा चुका था। धर्मकीर्त्ति को उसके बारे में जानने का मौका मिला और यह उससे इतने प्रभावित हुए कि तिब्बती परम्परा के अनुसार उन्होंने बौद्ध गृहस्थों के वेश में बाहर आना-जाना शुरू किया... जिसके कारण ब्राह्मणों ने उनका बहिष्कार किया। उस वक्त नालन्दा की ख्याति दूर-दूर

तक फैली हुई थी। धर्मकीर्त्ति नालन्दा चले आये और अपने समय के महान विज्ञानवादी दार्शनिक तथा नालन्दा के संघ-स्थविर (प्रधान) धर्मपाल के शिष्य बन भिक्षुसंघ में सम्मिलित हुए।

धर्मकीर्त्ति की न्यायशास्त्र के अध्ययन में ज्यादा रुचि थी और उसे उन्होंने दिग्नाग की शिष्य-परम्परा के आचार्य ईश्वरसेन से पढ़ा।

विद्या समाप्त करने के बाद उन्होंने अपना जीवन ग्रन्थ लिखने, शास्त्रार्थ करने और पढ़ने में बिताया।

चीनी पर्यटक इ-चिङ ने धर्मकीर्त्ति का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है, इसलिए धर्मकीर्त्ति 679 ई. से पहले हुए, इसमें संदेह नहीं है। धर्मकीर्त्ति नालन्दा के प्रधान आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे। युनू-च्वेंङ के समय (633 ई.) धर्मपाल के शिष्य शीलभद्र नालन्दा के प्रधान आचार्य थे, जिनकी आयु उस समय 106 वर्ष की थी। ऐसी अवस्था में धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्त्ति 635 ई. में बच्चे नहीं हो सकते थे। ...धर्मकीर्त्ति के बारे में युनू-च्वेङ की चुप्पी का कारण हो सकता है, कि युनू-च्येङ के नालन्दा-निवास के समय से पूर्व ही धर्मकीर्त्ति का देहान्त हो चुका हो।

यह और दूसरी बातों पर विचारते हुए धर्मकीर्त्ति का समय 600 ई. ठीक मालूम होता है।

धर्मकीर्त्ति के ग्रन्थ—धर्मकीर्त्ति ने अपने ग्रन्थ सिर्फ प्रमाण-सम्बद्ध बौद्धदर्शन या बौद्ध प्रमाणशास्त्र पर लिखे हैं। इनकी संख्या नौ है, जिनमें सात मूल ग्रन्थ और दो अपने ही ग्रन्थों पर टीकाएँ हैं।

	ग्रन्थनाम	**ग्रन्थपरिमाण (श्लोकों में)**	**गद्य या पद्य**
1.	प्रमाण वर्त्तिक	1454½	पद्य
2.	प्रमाणविनिश्चय	1340	गद्य-पद्य
3.	न्यायबिन्दु	177	गद्य
4.	हेतुबिन्दु	444	गद्य
5.	सम्बन्ध-परीक्षा	29	पद्य
6.	वाद-न्याय	798	गद्य-पद्य
7.	सन्तान्तर-सिद्धि	72	पद्य
	योग	4314½	

गोया धर्मकीर्त्ति ने मूल और टीका मिलाकर (4314½+3647) 7961½ श्लोकों के बराबर ग्रंथ लिखे हैं। धर्मकीर्त्ति के ग्रंथ कितने महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे, यह इसी से पता लगता है कि तिब्बती भाषा में अनुवादित बौद्ध न्याय के कुल संस्कृत ग्रंथों के 175000 श्लोकों में 137000 धर्मकीर्त्ति के ग्रन्थों की टीका-अनुटीकाओं के हैं।

धर्मकीर्त्ति ने सिर्फ प्रमाण (न्याय) शास्त्र ही पर सातों ग्रन्थ लिखे हैं, और उन्हें दर्शन के बारे में जो कुछ कहना था; उसे इन्हीं प्रमाणशास्त्रीय ग्रन्थों में कह दिया। इन सात ग्रन्थों में प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, हेतुबिन्दु और न्यायबिन्दु के प्रतिपाद्य विषय एक ही हैं, और उनमें सबसे बड़ा और संक्षेप में अधिक बातों पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ प्रमाणवार्त्तिक है। धर्मकीर्त्ति के दर्शन को जानने के लिए प्रमाणवार्त्तिक पर्याप्त है।

धर्मकीर्त्ति दिग्नाग की भाँति असंग के योगाचार (विज्ञानवाद) दार्शनिक सम्प्रदाय के माननेवाले थे। वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्त्ति जैसे महान् तार्किकों का शून्यवाद छोड़ विज्ञानवाद से सम्बन्ध होना यह भी बतलाता है, कि हेगेल की तरह इन्हें भी अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारों के लिए विज्ञानवाद की बड़ी जरूरत थी। किन्तु धर्मकीर्त्ति शुद्ध योगाचारी नहीं सौत्रांतिक (या स्वातन्त्रिक) योगाचारी माने जाते हैं। सौत्रांतिक बाहरी जगत् की सत्ता को ही मूलतत्त्व मानते हैं और योगाचारी सिर्फ विज्ञान (=चित्त, मन) को। सौत्रांतिक (या स्वातन्त्रिक) योगाचार का मतलब है, बाह्य जगत् की प्रवाह रूपी (क्षणिक) वास्तविकता को स्वीकार करते हुए विज्ञान को मूलतत्त्व मानना—ठीक हेगेल की भाँति—जिसका अर्थ आज की भाषा में होगा जड़ (=भौतिक)-त्त्व विज्ञान का ही वास्तविक गुणात्मक परिवर्तन है। पुराने योगाचार दर्शन में मूलतत्त्व विज्ञान (चित्त) का विश्लेषण करके उसे दो भागों में बाँटा गया था—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। प्रवृत्तिविज्ञान छः हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श—पाँचों ज्ञान-इन्द्रियों के पाँच विज्ञान (=ज्ञान), जो कि विषय तथा इन्द्रिय के सम्पर्क होते वक्त रंग, आकार आदि की कल्पना उठने से पहले भान होते हैं; और छठा है मन का विज्ञान। आलयविज्ञान उक्त छओं विज्ञानों के साथ जन्मता-मरता भी अपने प्रवाह (=सन्तान) में सारे प्रवृत्ति-विज्ञानों का आलय (=घर) है। इसी में पहिले के संस्कारों की वासना और आगे उत्पन्न होने वाले विज्ञानों की वासना रहती है।

यहाँ जरा इस दर्शन के पीछे की सामाजिक भित्ति को देखना चाहिए, क्योंकि दर्शन चाहे कितना ही हाड़-मांस से नफरत करते हुए अपने को उससे ऊपर समझे; किन्तु, है वह भी हाड़-मांस की ही उपज। वसुबन्धु से धर्मकीर्त्ति तक का समय (400-600 ई.) भारतीय दर्शन के (और काव्य, ज्योतिष, चित्रमूर्ति, वास्तुकला के भी) चरम विकास का समय है। इस दर्शन के पीछे आप गुप्त—मोखरी—हर्षवर्द्धन महान् के दृढ़ शासित साम्राज्य का हाथ भी कहना चाहेंगे; किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्ति को प्रकाश में नहीं लाते, बल्कि उसे अँधेरे में छिपा देते हैं। उस काल का वह महान् साम्राज्य क्या था? कितने ही सामन्त-परिवार एक बड़े सामन्त—समुद्रगुप्त, हरिवर्मा या हर्षवर्द्धन—को अपने ऊपर मान, नये प्रदेशों नये लोगों को अपने अधीन करने या अपने अधीन जनता को दूसरों के हाथ में न जाने देने के लिए सैनिक शासन—युद्ध—या युद्ध की तैयारी करते; और अपने शासन में पहिले से मौजूद या

नवागत जमातों पर ''शान्ति और व्यवस्था'' कायम रखने के लिए नागरिक शासन करते थे।

इस दर्शन—कला—साहित्य के महान् युग की सारी भव्यता मनुष्य की पशुवत् परतन्त्रता और हृदयहीन गुलामी पर आधारित थी—यह हमें नहीं भूलना चाहिए। फिर दार्शनिक दृष्टि से क्रान्तिकारी से क्रान्तिकारी विचारक को भी अपनी विचार-सम्बन्धी क्रान्ति को उस सीमा के अन्दर रखना जरूरी होता है, जिसके बाहर जाते ही शासक-वर्ग के कोप का भाजन—चाहे सीधे राजदंड के रूप में, उसकी कृपा से वंचित होने के रूप में, चाहे उसके स्थापित धर्म-मठ-मन्दिर में स्थान न पाने के रूप में—होना पड़ता। उस वक्त ''शान्ति और व्यवस्था'' की बाँह आज से बहुत लम्बी थी, जिससे बचने में धार्मिक सहानुभूति ही थोड़ा-बहुत सहायक हो सकती थी, जिसने उसको खोया उसके जीवन का मूल्य एक घोषित डाकू के जीवन से अधिक नहीं था।

धर्मकीर्त्ति जिस नालन्दा के रत्न थे, उसको गाँवों और नगर के रूप में बड़े-बड़े दान देनेवाले यही सामन्त थे, जिनके ताम्रपत्र पर लिखे दानपत्र हमें काफी मिले हैं। युन्-च्वेङ के समय (640 ई.) में वहाँ के दस हजार विद्यार्थियों और पंडितों पर जिस तरह खुले हाथों धन खर्च किया जाता था, यह हो नहीं सकता था, कि प्रमाणवार्त्तिक की पंक्तियाँ उन हाथों को भुलाकर उन्हें काटने पर तुल जातीं; इसीलिए स्वातंत्रिक (वस्तुवादी) धर्मकीर्त्ति भी दुःख की व्याख्या आध्यात्मिक तल से ही करके छुट्टी ले लेते हैं। विश्व के कारण को ईश्वर आदि छोड़ विश्व में, उसके क्षुद्रतम तथा महत्तम अवयवों की क्षणिक परिवर्तनशीलता तथा गुणात्मक परिवर्तन के रूप में ढूँढ़ने वाले धर्मकीर्त्ति, दुःख के कारण को अलौकिक रूप में—पुनर्जन्म में—निहित बतलाकर साकार और वास्तविक दुःख के लिए साकार और वास्तविक कारण के पता लगाने से मुँह मोड़ते हैं। यदि जनता के एक तिहाई उन दासों तथा संख्या में कम-से-कम उनके बराबर के उन आदमियों को—जो कि सूद और व्यापार के नफ़े के रूप में अपने श्रम को मुफ़्त देते थे—दासता से मुक्त कर, उनके श्रम को सारी जनता—जिसमें वह खुद भी शामिल थे—के हितों में लगाया जाता; यदि सामन्त परिवारों और वणिक्-श्रेष्ठी-परिवारों के निठल्लेपन कामचोरपन को हटाकर उन्हें भी समाज के लिए लाभदायक काम करने के लिए मजबूर किया जाता, तो निश्चय ही साकार दुख की मात्रा बहुत हद तक कम हो जाती।

सहृदय मस्तिष्क से वास्तविक दुनिया (भौतिकवाद) को भुलाने-भुलवाने में दार्शनिक विज्ञानवाद वही काम देता है, जो कि शराब की बोतल काम से चूर मजदूर को अपने कष्टों को भुलवाने में। चाहे क्रूर दासता की सहायता से ही सही, मनुष्य का मस्तिष्क और हृदय उस समय तक बहुत अधिक विकसित हो चुका था, उसमें अपने साथी प्राणियों के लिए संवेदना आना स्वाभाविक-सी बात थी। आसपास के

लोगों की दयनीय दशा को देखकर यह नहीं हो सकता था, कि वह उसे महसूस न करता, विकल न होता। जगत् को झूठा कह इस विकलता को दूर करने में दार्शनिक विज्ञानवाद कुछ सहायता जरूर करता था—आखिर सभी ''दार्शनिकों का काम जगत् की व्याख्या करना था, उसे बदलना नहीं।''

धर्मकीर्त्ति बाह्यजगत्—भौतिक तत्त्वों—को अवास्तविक बतलाते हुए विज्ञान (=चित्त) को असली तत्त्व साबित करते हैं :

हम किसी वस्तु (=कपड़े) को देखते हैं, तो वहाँ हमें नीला, पीला रंग तथा लंबाई, चौड़ाई-मुटाई, भारीपन-चिकनापन आदि को छोड़ केवल रूप (=भौतिक-तत्त्व) नहीं दिखाई पड़ता है। दर्शन नील आदि के तौर पर होता है, उससे रहित (वस्तु) का ग्रहण ही नहीं हो सकता और नीलादि के ग्रहण पर ही (उसका) ग्रहण होता है। इसलिए जो कुछ दर्शन है वह नील आदि के तौर पर है, केवल बाह्यार्थ (=भौतिक तत्त्व) के तौर पर नहीं है। जिसको हम भौतिक तत्त्व या बाह्यार्थ कहते हैं, वह क्या है? इसका विश्लेषण करें तो वहाँ आँख से देखे रंग-आकार, हाथ से छुए सख्त-नरम-चिकनापन आदि ही मिलता है। मन का निर्णय इन्द्रिय चर्चित ज्ञान के पुनः चर्वण पर निर्भर है; इस तरह जहाँ से अन्तिम निर्णय होता है, उस मन में तथा जिनकी दी हुई सामग्री के आधार पर मन निर्णय करता है, उन इन्द्रियों के विज्ञानों में भी बाह्य-अर्थ (=भौतिक तत्त्व) का पता नहीं; निर्णायक स्थान पर हमें सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही विज्ञान मिलता है।

प्रमाण क्या है? धर्मकीर्त्ति ने उत्तर दिया—''(दूसरे जरिए से) अज्ञात अर्थ के प्रकाशक, अ-विसंवादी (=वस्तु-स्थिति के विरुद्ध न जाननेवाले) ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।'' अ-विसंवाद क्या है? —''ज्ञान का (कल्पना के ऊपर नहीं) अर्थ-क्रिया के ऊपर स्थित होना।'' इसलिए किसी ज्ञान की ''प्रमाणता व्यवहार (=प्रयोग, अर्थक्रिया) से होती है।''

अन्य भारतीय दार्शनिक शब्द, उपमान, अर्थापत्ति आदि कितने ही और प्रमाणों को भी मानते हैं। धर्मकीर्त्ति, अर्थक्रिया या प्रयोग को परमार्थ सत् की कसौटी मानते थे, इसलिए वह ऐसे ही प्रमाणों को मान सकते थे, जो कि अर्थ-क्रिया पर आधारित हों।

''पदार्थ—अलग-अलग लेने पर स्व-लक्षण—शब्द आदि के प्रयोग के बिना केवल अपने रूप में—मिलते हैं, अथवा कइयों के बीच के सादृश्य को लेने पर सामान्य लक्षण—अनेक में उनके आकार की समानता—में मिलते हैं; (इस प्रकार) विषय के (सिर्फ) दो ही प्रकार होने से प्रमाण भी दो प्रकार का ही होता है। इनमें पहिला प्रत्यक्ष है और दूसरा अनुमान। प्रत्यक्ष का आधार वस्तु का स्वलक्षण—अपना निजी स्वरूप—है, और यह (स्वलक्षण) अर्थक्रिया में समर्थ होता है; अनुमान का आधार सामान्य-लक्षण—अनेक वस्तुओं में समानरूपता—है और यह सामान्य लक्षण अर्थक्रिया में असमर्थ होता है।''

ज्ञान के साधन दो ही हैं, प्रत्यक्ष या अनुमान। प्रत्यक्ष क्या है? प्रत्यक्ष वह

अ-विसंवादी (=अर्थ-क्रिया का अनुसरण करने वाला) अज्ञात अर्थ का प्रकाशक ज्ञान है, जो कि विषय के सम्पर्क से, उस पहिले क्षण में होता है, जब कि कल्पना ने वहाँ दखल नहीं दिया। धर्मकीर्त्ति ने दिग्नाग की तरह प्रत्यक्ष के चार भेद माने हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष।

धर्मकीर्त्ति के दर्शन के इस संक्षिप्त विवेचन को हम उनके एक बहुउद्धृत श्लोक के साथ समाप्त करते हैं—

वेद प्रामाण्यं कस्यचित् कतृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
सन्तापरम्भः पापहानाय चेति
ध्वस्त प्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये॥

—प्रमाणवार्तिक, स्ववृत्ति 1/342

अर्थात् वेदों को प्रामाणिक समझना, किसी ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानना, स्नान करने में धर्म की इच्छा करना, जाति का घमण्ड करना और पाप दूर करने के लिए शरीर को सन्ताप देना (उपवास आदि तपस्याएँ)—ये पाँच अकल-मारे लोगों की मूर्खता की निशानियाँ हैं।

ॲच. ॲल. वी. डेरोज़ियो

भारतीय नवजागरण के एक ज्वलन्त नक्षत्र डेरोज़ियो का जन्म 18 अप्रैल, 1809 के दिन एन्टालो-पद्मापुकुर, कोलकाता में हुआ था। उनके पिता फ्रांसिस डेरोज़ियो बंगाल के आंग्लभारतीय समाज के एक सम्मानित व्यक्ति थे। 14 वर्ष की छोटी उम्र में ही गंगा नदी के सौन्दर्य से प्रभावित होकर तरुण डेरोज़ियो ने अंग्रेज़ी में कविताएँ लिखना शुरू कर दिया था। यह वह समय था जब बंगाल का हिन्दू समाज एक उथल-पुथल में से गुजर रहा था। राजा राममोहन राय ने 1828 में ब्रह्मसमाज की स्थापना की, जो हिन्दुओं की परम्परागत मूर्तिपूजा के ख़िलाफ़ था। वातावरण में सामाजिक परिवर्तन की गूँज थी। इसी माहौल में, डेरोज़ियो को जो 17 वर्ष की उम्र में ही एक बड़ा विद्वान और स्वतन्त्र विचारक माना जाने लगा था, हिन्दू कॉलेज में अंग्रेज़ी साहित्य का और इतिहास का अध्यापक नियुक्त किया गया। कॉलेज में तहलका मच गया। विद्यार्थी उसके नेतृत्व में सभी सामाजिक समस्याओं पर गंभीर बहसें करने लगे। उसने उन्हें हर स्थिति पर सवाल उठाने और स्वतन्त्र ढंग से विचार करना सिखाया। उसके क्रियाकलापों ने बंगाल में एक बौद्धिक, क्रान्ति ला दी और अपने शिष्यों को न्याय, स्वतन्त्रता और समानता की भावनाओं से ओत-प्रोत कर दिया। उसके प्रभाव को 'तरुण बंगाल आन्दोलन' नाम दिया गया। वह फ्रांसीसी क्रान्ति के आदर्शों से गहराई तक प्रभावित था।

डेरोज़ियो जन्म से एंग्लोइंडियन था, पर उसके साहित्य में बंगाली देशप्रेम की भावना कूट-कूटकर भरी थी। वह अपने आप को पूरी तरह भारतीय मानता था। उसने अपने समय के भारतीय नवजागरण पर गम्भीर प्रभाव डाला। रूढ़िवादी हिन्दुओं और धर्मविश्वासी ईसाइयों, दोनों ने उसे कॉलेज से निष्कासित करने में भूमिका निभाई। उसने 1831 में कृष्णमोहन बनर्जी को 'इंक्यारर' नाम से अंग्रेज़ी साप्ताहिक और दक्षिणरंजन मुखर्जी को बंगाली अखबार 'जनान्वेषण' निकालने के लिए प्रेरित किया और सहायता दी। उसके ज्यादातर शिष्य उसके हमउम्र थे, कुछ उससे बड़े भी—

मैं तुम्हारे मस्तिष्कों का खुलना देख रहा हूँ
युवा पुष्पों की खिलती हुई पंखुड़ियों की तरह

उसने अपनी एक कविता में कहा। उसके शिष्यों का सूत्र वाक्य था— जो तर्क नहीं करेगा, वह धर्मान्ध है, जो तर्क नहीं कर सकता, वह मूर्ख है पर जो तर्क नहीं करता, वह गुलाम है। 1831 में हिन्दू कॉलेज से निकाले जाने पर उसके पच्चीस शिष्यों ने भी कॉलेज छोड़ दिया और विभिन्न क्षेत्रों में उसके विचारों का प्रसार करने में लग गये। सिर्फ 22 वर्ष की उम्र में 20 दिसम्बर, 1831 के दिन हैजे से, जो उन दिनों प्राणघातक था, उसका निधन हो गया। नास्तिक होने के कारण उसे ईसाइयों के कब्रिस्तान में दफनाने नहीं दिया गया, और पार्क स्ट्रीट कब्रिस्तान के बाहर की सड़क के किनारे ही दफना दिया गया। भारत सरकार ने 15 दिसम्बर, 2009 को उसके सम्मान में एक डाक टिकट जारी किया।

डेरोज़ियो ने अनेक महत्त्वपूर्ण कविताएँ लिखीं, भारत की देशभक्तिपूर्ण कविताओं में उसका ऊँचा स्थान है। 'जंगीरा का फकीर' और 'टु इंडिया माइ नेटिवलैंड' उसकी बहुत प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कविताएँ मानी जाती हैं। डेरोज़ियो अंग्रेज़ी में लिखने वाले पहले भारतीय साहित्यकार माने जाते हैं। उनका समग्र संकलन 'डेरोज़ियो, पोइट ऑव इंडिया' (752 पृष्ठ) आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ने 2008 में प्रकाशित किया है।

ज्योतिबा फुले

❑ **डॉ. जयप्रकाश कर्दम**

सदियों से दलित लोग अशिक्षा के अंधकार में जीते आए हैं। इस अज्ञानता के कारण ही वे अपनी विवेक बुद्धि का कभी इस्तेमाल नहीं कर सके। दलितों को इस त्रासदायक स्थिति में जबरन धकेलकर उन पर अपनी मनमानी लादने वाले तथाकथित उच्च वर्णीय लोगों ने दलितों को विवेकशून्य बनाए रखने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं छोड़ी। दलितों को सदा-सर्वदा के लिए अपना मानसिक और शारीरिक गुलाम बनाए रखने के लिए उन्होंने बहुत से ऐसे किस्से-कहानियाँ और आख्यान तैयार किए जो दलितों पर उनकी श्रेष्ठता को पुष्ट करते थे। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और पुराण ग्रन्थ इसी सोच और मानसिकता की उत्पत्ति हैं। वे सब ग्रंथ इसी तरह की तर्कहीन, बेबुनियाद और पाखण्डपूर्ण बातों के पुलिंदे हैं। चार्वाक ने वेदों को 'धूर्तों का प्रलाप' यूँ ही नहीं कहा था। उसकी तर्कबुद्धि ने इनमें निहित धूर्तता और पाखण्डों को और उन पाखण्डों के पीछे छिपे स्वार्थ को भली-भाँति पकड़ लिया था। चार्वाक का मुद्दा दार्शनिक था। इसे सामाजिक स्तर पर समझने और समझाने का सफल प्रयास ज्योतिबा फुले ने किया।

देश में बहुत से समाज-सुधारक हुए हैं। इस दृष्टि से भारत को समाज-सुधारकों की भूमि कहा जा सकता है। किन्तु इन समाज-सुधारकों ने समाज का क्या और कितना सुधार किया है, यह विचार का विषय है। सुधार की आवश्यकता वहाँ होती है, जहाँ समाज में विकृतियाँ, विसंगतियाँ और विकार होते हैं। जहाँ चीजें ठीक नहीं होतीं, गड़बड़ होती हैं। भारत में बड़ी संख्या में समाज-सुधारकों का होना इस बात का द्योतक है कि भारतीय समाज विकृत, विसंगतिपूर्ण और विकृतियों से भरा समाज है। धर्म, सम्प्रदायों में तो प्रायः दुनिया के प्रत्येक राष्ट्र के समाज में विभाजन पाया जाता है। किन्तु, भारतीय समाज धर्म और सम्प्रदाय के अलावा वर्ण, जाति और उपजातियों में भी विभक्त है। यह विभाजन समाज में व्यक्तियों के बीच श्रेष्ठता-हीनता, ऊँच-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य, वर्चस्व-वंचना और सम्मान-अपमान का आधार है। उच्च

कही या मानी जाने वाली जातियाँ सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित, आर्थिक रूप से सम्पन्न तथा राजनीतिक रूप से वर्चस्वशाली हैं, जबकि निम्न जातियाँ सामाजिक रूप से उपेक्षित और तिरस्कृत, आर्थिक रूप से अभावग्रस्त और राजनीतिक रूप से शक्तिहीन हैं। अस्पृश्यता के कारण वे अनेक प्रकार के निषेधों और वर्जनाओं के शिकार हैं। संक्षेप में देश की दलित और बहुत सी पिछड़ी जातियों के अधिकांश लोग मानवीय अधिकारों से वंचित हैं। समाज-सुधार का असली कार्य यही था कि समाज के इन उपेक्षित, तिरस्कृत, वंचित, उत्पीड़ित और शोषित लोगों को मानवीय अधिकार दिलाने हेतु प्रयास किए जाते। पर भारत में समाज-सुधार का अर्थ केवल सवर्ण हिन्दू समाज की बेहतरी माना गया इसलिए हिन्दू समाज की प्रगति में जो सामाजिक विकृतियाँ या विसंगतियाँ देखी, समझी या मानी गयीं, उन विकृतियों-विसंगतियों को दूर करने पर ही प्रायः सभी समाज-सुधारकों का बल रहा। इसलिए भारत के तथाकथित समाज सुधारवाद को सवर्ण हिन्दू समाज कल्याणवाद कहना अधिक उपयुक्त है।

यहाँ उल्लेखनीय बात यह भी है कि सवर्ण हिन्दू जातियों में जन्मे और सवर्ण हिन्दू समाज के कल्याण के निमित्त कार्य करने वाले व्यक्तियों को समाज-सुधारक के रूप में प्रचारित और सम्मानित किया गया जबकि वर्ण-जाति-व्यवस्था और अस्पृश्यता जैसी अत्यन्त अमानवीय परम्परा का प्रतिकार करने वाले कबीर की बानी को उलटबाँसी या रहस्य कहकर मज़ाक उड़ाया गया। कबीर को इस तरह बदनाम किया गया कि दुनिया भर की तमाम अश्लील और अशोभनीय बातों को कबीर के साथ जोड़कर सुनाया जाता है। होली के अवसर पर गाए जाने वाले कबीरे इसके उदाहरण हैं। समाज की रूढ़ परम्पराओं, अंधविश्वासों, धार्मिक मान्यताओं तथा सामाजिक भेदभाव, उपेक्षा और शोषण का प्रतिकार कर समाज के तिरस्कृत, वंचित, उपेक्षित वर्गों और जातियों में समानता, सम्मान और स्वाभिमान चेतना का संचार करने वाले कबीर की वाणी का यह उपहास उनका अपमान नहीं तो क्या है? यही हाल संत रविदास का हुआ। उनको भी ईश्वर भक्त के रूप में ही प्रचारित किया गया है। पाठ्यक्रमों में भी उनकी इसी प्रकार की रचनाओं को शामिल किया गया है। वर्ण-जाति-व्यवस्थाजनित सामाजिक-आर्थिक असमानता, शोषण, अस्पृश्यता और इसके आधार ईश्वरवाद की आलोचना और नकार में उन्होंने जो कहा, जिसमें दलित चेतना की अभिव्यक्ति है, उसे दबाकर या उपेक्षित रखा गया। किसी भी व्यक्ति, विचार या तर्क का जब कोई जवाब नहीं होता तो उसे दबाने या बदनाम करने की परम्परा सवर्ण हिन्दू समाज में बहुत पुरानी है। शंकराचार्य और बौद्ध आचार्य धर्मकीर्त्ति के बीच हुए तर्क-युद्ध या शास्त्रार्थ में धर्मकीर्त्ति के तर्कों के समक्ष धराशायी शंकराचार्य को, राजा सुधन्वा की सेना के सान्निध्य में उनके समर्थक ब्राह्मणों द्वारा, शोर-शराबे और शक्ति-बल से जबरदस्ती विजयी घोषित कर दिया गया था।

हालाँकि ज्योतिबा फुले से पहले नामदेव, चोखामेला, कबीर और रैदास ने भी

इन पाखण्डों को समझा था और अपनी-अपनी भाषा और शैली में इनका प्रतिकार भी किया था, किन्तु अक्सर ज्ञान न होने के कारण इन ग्रन्थों में निहित बारीक कुटिलताओं को वे नहीं पकड़ पाए थे। ज्योतिबा फुले पहले व्यक्ति हुए जिन्होंने इन पाखण्डपूर्ण ग्रन्थों का तार्किक अध्ययन किया और इनकी विसंगतियों को जन-मानस के सामने मौखिक और लिखित रूप में प्रस्तुत करके उनकी आँखें खोलीं। सही मायनों में ज्योतिबा फुले दलित समाज के पहले शिक्षक और प्रवक्ता हैं, जिन्होंने दलितों को ब्राह्मणों द्वारा रचित इन ग्रंथों के पाखण्डों से अवगत कराया।

ज्योतिबा फुले के परदादा महाराष्ट्र में सतारा से 40 किलोमीटर दूर स्थित कटगुण नामक गाँव के रहने वाले थे। उनके परदादा का नाम गोरे था, जो जाति से माली थे, जिसे शूद्र और निम्न जाति माना जाता है। थोड़ी सी कृषि-भूमि के सहारे परिवार का गुजारा कठिन था, इसलिए वह गाँव में 'चौगुला' के रूप में भी काम करते थे। तत्कालीन समय में प्रत्येक गाँव में दो मुख्य अधिकारी हुआ करते थे—'पाटील' और 'कुलकर्णी', जिन्हें 'चौधरी' और 'पटवारी' कहा जा सकता है। कुलकर्णी प्रायः ब्राह्मण हुआ करते थे। इन दोनों के अधीन 'चौगुला' (सहायक) हुआ करता था, जो इन अधिकारियों के रजिस्टरों, पुस्तकों आदि को लाने और ले जाने, लगान की वसूली करने और फसलों की कटाई के दिनों में फसलों का निरीक्षण करने में सहायता करता था। बाद में उनका परिवार पुणे आ गया। यहीं ज्योतिराव फुले का जन्म हुआ। यही उनकी कर्मभूमि रही।

ज्योतिबा का जन्म 11 अप्रैल, सन् 1827 को पुणे के पास एक गाँव में हुआ था। उनके पिता का नाम गोविन्दराय और माता का नाम चिमणाबाई था। ज्योतिराव के जन्म के 1 वर्ष बाद ही चिमणाबाई का निधन हो गया। इसके कुछ समय बाद ही उनके पिता की जमीन का, जिस पर वे खेती करते थे, सरकार द्वारा अधिग्रहण कर लिया गया। परिवार की आजीविका चलाने के लिए वे अपने परिवार को लेकर पुणे आ गए और बच्चों के लालन-पालन हेतु मौसेरी बहिन सगुणाबाई क्षीरसागर को अपने पास रख लिया। सगुणाबाई बाल विधवा थी और ईसाई मिशनरी में अनाथ बच्चों की देखभाल का काम करती थी। अंग्रेज़ी भाषा का भी उसे कुछ ज्ञान था। सगुणाबाई ने बहुत ममता और प्यार से बालक ज्योतिराव का पालन-पोषण किया और उन्हें कभी माँ की कमी महसूस नहीं होने दी। बचपन से ज्योतिराव सगुणा को 'आऊ' कहकर सम्बोधित करते थे। सगुणा भी ज्योतिराव को अपने बच्चे की तरह प्यार करती थी और सदैव उन्हें पढ़ने-लिखने के लिए प्रेरित करती थी। 6 वर्ष की आयु में ज्योतिराव को स्कूल में प्रवेश दिलाया गया। वह खूब मन लगाकर पढ़ते। बहुत जल्दी वे पढ़ना-लिखना सीख गए और हिसाब भी करने लगे। किन्तु इसी दौरान कट्टरपंथी ब्राह्मणों द्वारा निम्न जाति के विद्यार्थियों के स्कूल प्रवेश का तीव्र विरोध किए जाने के कारण स्कूलों से निम्न जातियों के विद्यार्थियों को निष्कासित कर दिया

गया। इसी दबाव में ज्योतिराव को भी स्कूल छोड़ना पड़ा। किन्तु ज्योतिराव में पढ़ने की जबरदस्त लगन थी। स्कूल की पढ़ाई रुक जाने के बाद ज्योतिराव ने अपने पिता के साथ फूलों की खेती के काम में हाथ बँटाना शुरू किया। वह दिन में अपने पिता के साथ खेतों में काम करते लेकिन रात में टिमटिमाते दीये की रौशनी में पढ़ते थे। उन दिनों बाल-विवाह की प्रथा व्यापक थी। प्रायः 6 वर्ष की आयु तक लड़की और 10 वर्ष की आयु तक लड़के का विवाह कर दिया जाता था। ज्योतिराव का विवाह 14 वर्ष की उम्र में सतारा जिले के नायगाँव निवासी खंडूजी नेवसे और श्रीमती लक्ष्मीबाई की सुन्दर, सुशील पुत्री सावित्रीबाई के साथ सम्पन्न हो गया था। उस समय सावित्रीबाई की उम्र 8 वर्ष की थी।

ज्योतिराव का शिक्षा के प्रति इतना लगाव देखकर उनके पिता गोविन्दराव ने ज्योतिराव को शिक्षा दिलाने का निश्चय किया। सन् 1841 में 14 वर्ष की आयु में उनको स्कोटिश मिशन की अंग्रेज़ी पाठशाला में फिर से भर्ती कराया गया। यहाँ से उनके जीवन में नया मोड़ आ गया। हालाँकि अन्य छात्रों की अपेक्षा ज्योतिराव की उम्र अधिक थी, किन्तु इसका ध्यान मन में लाए बिना वह पूरी एकाग्रता के साथ अध्ययन करते थे और प्रत्येक परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते थे। शीघ्र ही वह अपने अध्यापकों के प्रिय विद्यार्थी बन गए। इसी दौरान ज्योतिराव की कुछ प्रगतिशील ब्राह्मण और मुसलमान लड़कों के साथ घनिष्ठता हो गयी। इससे उनको धर्म के नाम पर ब्राह्मणों द्वारा की जा रही धूर्ततापूर्ण चालाकियों और अत्याचारों के बारे में पता चला। शिवाजी और जार्ज वाशिंगटन की जीवनियाँ पढ़ने से उनको श्रम, साहस और संघर्ष के बल पर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिली। अपने अध्ययन के क्रम में उन्होंने एकनाथ की भागवत, ज्ञानेश्वरी और तुकाराम की गाथा तथा गीता, उपनिषद् और पुराणों का भी अध्ययन किया। पाश्चात्य विचारकों में जॉन स्टुअर्ट मिल और हरबर्ट स्पेंसर आदि ने भी उनको प्रभावित किया। ज्योतिराव शरीर से बहुत सुन्दर, स्वस्थ और ताकतवर थे। हालाँकि उनको सवर्ण विद्यार्थियों से जाति-प्रथा और ऊँच-नीच के कटु व्यवहार का सामना करना पड़ा, किन्तु उन्होंने इससे बिना विचलित हुए अपनी पढ़ाई जारी रखी। एक बार उनको एक ब्राह्मण मित्र के विवाह में शामिल होने का निमन्त्रण मिला। वहाँ पर निम्न जातीय होने के कारण ब्राह्मणों ने उनका अपमान किया। इस घटना से उनको बहुत मानसिक आघात लगा। घर लौटने पर पिता गोविन्दराव से उनकी बात हुई तो उन्होंने पूछा, 'किसने बनाया हमें नीच? यह सारा ब्राह्मणों का ढकोसला है। बारात की घोड़ी को छूने से उन्हें छूत नहीं लगती और हमारे छूने पर छूत लग जाती है। क्या हम जानवरों से भी गए-बीते हैं?'

शास्त्र से लेकर शस्त्र तक प्रत्येक क्षेत्र में वह पारंगत होना चाहते थे। इसलिए पढ़ाई के साथ-साथ उन्होंने लहूजी भाऊ नाम के एक माँग (अछूत) व्यक्ति से तलवारबाजी, निशानेबाजी आदि का प्रशिक्षण लिया। यह एक संयोग है कि ज्योतिराव

के साथ दो अन्य युवाओं ने भी लहूजी साल्वे से सैनिक प्रशिक्षण लिया। इनमें एक वासुदेव बलवन्त फड़के ने अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति में भाग लिया और दूसरे बालगंगाधर तिलक थे।

शिक्षा प्राप्ति के दौरान ज्योतिराव ने हिन्दू-धर्म की अन्य बहुत-सी पुस्तकों के साथ-साथ टॉमस पेन की पुस्तकों 'राइट्स ऑफ मॅन' और 'द एज ऑफ रिजन' को भी पढ़ा। मानववाद के प्रबल पक्षधर और प्रवक्ता टॉमस पेन के विचारों का ज्योतिराव के चिन्तन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अमेरिका के विद्रोही लेखक पेन की मान्यता थी कि 'देश, वंश, पंथ, स्तर, लिंग आदि के आधार पर मनुष्यों में भेदभाव करना ईश्वरी योजना के विरुद्ध है। हर एक को दूसरे की मनुष्यता की कद्र करनी चाहिए और सभी के साथ समानता का बर्ताव करना चाहिए।'

पेन के अनुसार, व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह को अपने-अपने विश्वास के अनुसार ईश्वर की भक्ति करने की छूट होनी चाहिए और इस बारे में किसी भी सरकार या अन्य संस्था को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। साथ ही यदि किसी की असहिष्णुता के कारण अन्यों की धार्मिक स्वतन्त्रता पर आक्रमण का भय उत्पन्न होता हो तो संबंधितों की धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य होना चाहिए। अपनी इस धर्म सम्बन्धी विचार प्रणाली को पेन 'मानवता धर्म' (रिलीजन ऑफ़ ह्युमेनिटी) कहते थे। पेन की आदर्शोक्ति थी—'पूरा विश्व मेरा देश है और सबकी भलाई करना मेरा धर्म है।'

पेन के मानवता-धर्म और बाद में ज्योतिराव फुले द्वारा स्थापित 'सार्वजनिक सत्यधर्म' में सैद्धान्तिक रूप से बहुत समानता है। मानव का सम्मान, वैयक्तिक स्वतन्त्रता का आग्रह और गुलामी का धिक्कार पेन की समग्र विचार प्रणाली की त्रिसूत्री थी। स्वतन्त्रता का आग्रह और गुलामी का धिक्कार एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन तीनों तत्त्वों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। ज्योतिराव ने अपने कार्यों और साहित्य में इन तीन तत्त्वों पर सदा ही बल दिया।

मिशनरी कॉलेज में पढ़ते हुए ज्योतिराव को दो लाभ हुए। एक तो ईसाई पादरियों और अंग्रेज प्राध्यापकों के सान्निध्य में ईसाई धर्म के बारे में गहराई से जानने-समझने का अवसर मिला और दूसरा, हिन्दू धर्म की बुराइयों का पता चला। साथ ही चिन्तनपरक, तार्किक और आधुनिक प्रगतिशील विचारों से परिपूर्ण पुस्तकें पढ़ने का भी अवसर मिला। इस बीच प्रगतिशील विचारों वाले ब्राह्मण और मुसलमान सहपाठियों के साथ-साथ कुछ मराठा ईसाई और निम्न जातीय युवाओं से उनकी घनिष्ठता हो गयी थी, जिनके साथ वह हिन्दू धर्म की बुराइयों और उनके निराकरण के बारे में बात करते थे। अपने गम्भीर अध्ययन, तार्किक चिंतन और मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण ज्योतिराव अपने सभी साथियों के प्रिय और आदर्श बन गए थे। सामाजिक रूढ़ियों और धार्मिक कट्टरता को ज्योतिराव समाज की प्रगति और विकास के लिए

अभिशाप मानते थे और इस कारण इनका विरोध करते थे। उनके अंदर देश-प्रेम की भावना विकसित होती गयी। वह अंग्रेजी शासन के खिलाफ थे और चाहते थे कि अंग्रेजों को जल्द देश से बाहर भगा देना चाहिए। इतने विशाल देश पर मुट्ठीभर अंग्रेज कैसे शासन कर रहे हैं और उनको क्यों नहीं मार भगाया जाता? जब उन्होंने इन प्रश्नों पर विचार किया तो उन्हें महसूस हुआ कि समाज में संगठन और एकता की कमी है और समाज में एकता न होने का सबसे प्रमुख कारण अशिक्षा और समाज में जड़ तक फैली जाति-व्यवस्था है। ब्राह्मण वर्चस्व वाला भारतीय समाज पुरुष सत्तात्मक समाज है। ब्राह्मण सब पर अपना प्रभुत्व बनाकर रखना चाहता है, इसलिए समाज में निम्नजातीय लोगों और घर में स्त्री को निम्न मानकर दबाकर रखता है। दोनों को ही दबाए रखने के लिए उसने अपने धर्मग्रन्थों में व्यवस्था की है। शिक्षित होने पर वे इन धर्म-ग्रन्थों में निहित कुटिलताओं और पाखण्डों को जान जाएँगे। इसलिए स्त्री और निम्न जातियाँ दोनों को ही उसने शिक्षा और मानव-अधिकारों से वंचित रखा।

वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि देश की आजादी और समाज की प्रगति के लिए जाति-व्यवस्था का नाश तथा स्त्री और निम्न जातियों का शिक्षित होना अनिवार्य है। शूद्र-अतिशूद्र समाज में समानता और आत्म-सम्मान की भावना को जागृत करने के लिए ज्योतिबा फुले ने उन्हें बताया कि वे जिस सामाजिक दासता का दंश भोग रहे हैं, वह उनके पूर्व-जन्मों का फल नहीं है, जैसा कि ब्राह्मणों द्वारा बताया जाता है, अपितु, यह अशिक्षा और सदियों से थोपी गयी मानसिक दासता का परिणाम है। उनका यह मत था कि समाज निर्माण और समाज परिवर्तन का जो काम एक स्त्री कर सकती है, वह काम दस शिक्षक नहीं कर सकते। इसलिए स्त्री-शिक्षा को सर्वोपरि माना तथा अपनी शिक्षा पूर्ण कर पुणे लौटते ही उन्होंने सबसे पहले अपनी पत्नी सावित्रीबाई को पढ़ाना शुरू किया। 14 जनवरी, 1848 में उन्होंने पुणे की बुधवार पेठ में अपने ब्राह्मण सहयोगी श्री भिड़े के मकान में कन्या पाठशाला की स्थापना की। लड़कियों की शिक्षा की भारत में यह पहली पाठशाला थी। सावित्रीबाई को इस पाठशाला की मुख्य-अध्यापिका बनाया गया। सावित्रीबाई का अध्यापक बनना भी एक ऐतिहासिक घटना थी। उससे पूर्व भारत की किसी महिला को शिक्षिका बनने का अवसर नहीं मिला था। ज्योतिबा फुले के प्रयासों का परिणाम था कि सावित्रीबाई भारत की पहली महिला शिक्षिका बनीं। उस समय ज्योतिबा फुले की आयु केवल 21 वर्ष की थी। इतनी कम आयु के युवक द्वारा शुरू किया गया स्त्री शिक्षा का यह कार्य एक अद्‌भुत, अनूठा और क्रान्तिकारी कार्य था।

उस जमाने में समाज में यह धारणा थी कि स्कूल जाने से लड़कियाँ बिगड़ जाएँगी। कुछ लोग लड़कियों की शिक्षा को धर्म-विरुद्ध मानते थे और इसलिए अपनी लड़कियों को पढ़ने के लिए स्कूल नहीं भेजते थे। ज्योतिबा फुले ने लड़कियों की

शिक्षा के लिए स्कूल खोला तो बहुत से लोगों ने उनकी कड़ी आलोचना की और उनको भला-बुरा कहा। इतना ही नहीं बहुत से लोग सावित्रीबाई की हँसी उड़ाते थे, उन पर गंदी टिप्पणियाँ करते थे, यहाँ तक कि उनके ऊपर पान की पीक थूक देते थे, ताकि वह दुखी होकर लड़कियों को पढ़ाना बन्द कर दे। किन्तु सभी आलोचनाओं और विरोधों से विचलित हुए बिना ज्योतिराव और सावित्रीबाई पूरी दृढ़ता से अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर रहे। इसका परिणाम हुआ कि सन् 1849-50 में उनकी पाठशाला में पढ़ने वाली लड़कियों की संख्या 70 तक हो गयी। इस पाठशाला के अच्छे परिणामों से ज्योतिराव का हौसला बढ़ा और उन्होंने इसके बाद पुणे शहर और देहातों में लड़कियों की कई पाठशालाएँ स्थापित कीं।

इन पाठशालाओं के माध्यम से लड़कियों की शिक्षा का मार्ग प्रशस्त करने के बाद ज्योतिराव ने अछूतों की शिक्षा की ओर ध्यान दिया तथा 1 मई, 1852 को अछूत बच्चों की शिक्षा के लिए एक पाठशाला की स्थापना की। पूरे देश में अस्पृश्य जातियों के बच्चों की शिक्षा के लिए स्थापित की गयी यह पहली पाठशाला थी। दलितों के उत्थान की दिशा में आधुनिक भारत के इतिहास में ज्योतिराव फुले द्वारा किया गया यह पहला महत्त्वपूर्ण प्रयास था। विद्यालयों के लिए धन की व्यवस्था और प्रबन्धन के कार्य में ज्योतिबा इतने व्यस्त रहते थे कि खाना खाने तक के लिए भी मुश्किल से समय निकाल पाते थे। फिर वह स्वयं भी बच्चों को पढ़ाते थे। सरकार द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम के अलावा वह विद्यार्थियों को धर्म, समाज, संस्कृति आदि के बारे में भी बताते थे। वेद या किसी भी धार्मिक ग्रंथ की रचना ईश्वर ने नहीं की है, इनकी रचना मनुष्यों द्वारा की गयी है। मिथ्या प्रचार ब्राह्मणों द्वारा अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया गया है, आदि-आदि।

ज्योतिबा फुले के जीवन में ऐसे भी अवसर आए, जब उनके पास खाने तक के लिए पैसे नहीं थे और उनको तथा सावित्रीबाई को भूखे ही रहना पड़ा। किन्तु वे कभी हताश और दुःखी नहीं हुए। अपने समाज-सुधार के अभियान को आगे बढ़ाते हुए ज्योतिबा फुले ने 'महिला सेवा-मण्डल' की स्थापना की। सम्पूर्ण भारत में अस्पृश्यता उन्मूलन हेतु कार्य करने वाली देश में यह पहली संस्था थी। अछूतों के साथ-साथ गरीब किसानों के घर जा-जाकर बच्चों को पढ़ाने के लिए प्रेरित कर शिक्षा के माध्यम से उनके जीवन को बेहतर बनाने हेतु ज्योतिबा फुले ने अकथनीय प्रयास किया। 25 वर्ष की युवा उम्र में ही इतने बड़े कार्य करने के कारण दूर-दूर तक ज्योतिराव की ख्याति फैल गयी। दलित समाज के वह मुक्तिदाता और मसीहा बन गए। स्त्री और दलितों की शिक्षा के प्रति ज्योतिराव द्वारा किए गए कार्य के लिए 16 नवम्बर, 1852 को मुम्बई सरकार द्वारा उनका नागरिक अभिनन्दन किया गया। इस अवसर पर अपने भाषण में ज्योतिराव फुले ने कहा था कि 'मैं ज्ञान का दीपक लेकर उन सबके पास जाना चाहता हूँ जिनके जीवन में अँधेरा ही अँधेरा है। इस सम्मान-वस्त्र

ने प्रमाणित कर दिया है कि ज्ञान सभी के लिए है, वह किसी की बपौती नहीं है।' (युगपुरुष महात्मा फुले, मुरलीधर जगताप, पृष्ठ 47) जानकारी के लिए यह बताना आवश्यक है कि उस समय केवल विख्यात संस्कृत पंडितों को ही सम्मान-वस्त्र भेंट किया जाता था। ज्योतिराव फुले पहले गैर-ब्राह्मण व्यक्ति थे जिनको सम्मान-वस्त्र भेंट कर सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया था। उन दिनों समाज में विधवा स्त्रियों की दशा बहुत दयनीय थी। बहुत-सी विधवा स्त्रियाँ अपनी गलती से अथवा पुरुषों की चालाकी का शिकार होकर गर्भवती हो जाती थीं, उनकी समाज में बड़ी दुर्गति होती थी। उनके बच्चों को समाज में घृणा, अपमान और दुत्कार मिलती थी। ऐसी महिलाओं की सहायता करने के लिए ज्योतिबा फुले ने 28 जनवरी, 1853 को एक 'बाल हत्या प्रतिबंधक गृह' की स्थापना की। किसी भी कारण से गर्भवती हुई विधवा महिला इस केन्द्र में आकर अपनी प्रसूति करा सकती थी और बच्चे को वहीं पर छोड़कर जा सकती थीं। यदि चाहें तो वे स्वयं वहाँ पर रह सकती थीं। इससे बहुत-सी युवा विधवा स्त्रियों को सामाजिक कलंक और अपमान की जिंदगी जीने से मुक्ति मिली। पुणे में स्थापित इस प्रसूति-गृह की सफलता से प्रेरित होकर ज्योतिराव ने पण्ढरपुर में भी एक 'बाल-हत्या प्रतिबन्धक गृह' की स्थापना की।

ज्योतिबा फुले और सावित्रीबाई की कोई संतान नहीं थी। प्रसूति-गृह में अपने अवैध बच्चे की प्रसूति कराने आई काशीबाई नाम की एक विधवा ब्राह्मण स्त्री के बच्चे को, उसके अनुरोध पर, फुले दम्पती ने गोद ले लिया। अपने इस दत्तक पुत्र का नाम उन्होंने यशवंत रखा। (ज्योतिबा फुले से अत्यधिक प्रभावित होने का परिणाम था अथवा महज एक संयोग कि डॉ. आम्बेडकर के एकमात्र जीवित पुत्र का नाम भी यशवंत था) फुले दम्पती ने बहुत अच्छी तरह से यशवन्त का पालन-पोषण किया। यशवन्तराव ने डॉक्टरी की शिक्षा प्राप्त की।

ज्योतिराव ने समाज की बेहतरी के लिए कई प्रकार के कार्य किए। पुणे में राज्य की ओर से ब्राह्मणों को दान दिए जाने की व्यवस्था थी। इससे अनपढ़, निकम्मे ब्राह्मणों की आजीविका चलती थी और वे भोली-भाली अशिक्षित अज्ञानी जनता में कुरीतियाँ-अंधविश्वास और पाखण्ड फैलाते थे। इस व्यवस्था के द्वारा सरकारी धन ब्राह्मणों पर लुटाया जा रहा था। यह व्यवस्था शिवाजी, पेशवाओं से लेकर अंग्रेज़ों के आने पर भी चालू रही थी। ज्योतिबा फुले ने इस व्यवस्था का जोरदार विरोध किया तथा इस व्यवस्था को समाप्त करवाकर इस पर खर्च होने वाली राशि को मराठी साहित्य के प्रकाशन और दूसरी भाषाओं से मराठी भाषा में अनुवाद पर खर्च कराने की व्यवस्था करायी।

ज्योतिबा फुले ने अपने विचारों को समाज में दूर तक फैलाने के लिए कई पुस्तकों की रचना की। उनकी पहली पुस्तक 'तृतीय रत्न' एक नाटक था, जो 1855 में प्रकाशित हुआ। सन् 1869 में 'शिवाजी-चा-पोवाड़ा' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई।

इसके पश्चात् एक के बाद एक उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'ब्राह्मणांचे कसब' (ब्राह्मणों की चालाकी), 'किसान का कोड़ा', 'अछूतों की कैफियत' और 'गुलामगीरी' शामिल हैं। 'सार्वजनिक सत्यधर्म' पुस्तक उनके द्वारा लिखित सबसे अन्तिम पुस्तक है। यह पुस्तक 1889 में प्रकाशित हुई थी। 'गुलामगीरी' को तो दलितों की मुक्ति का घोषणा-पत्र माना जाता है। उन्होंने 'सतसार' नामक पत्रिका का सम्पादन भी किया। ज्योतिबा फुले ने बाद में जिस 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की थी उसकी वैचारिकी की नींव 'सतसार' के द्वारा ही रखी गयी थी। 'सत्य-शोधक समाज' वस्तुतः वर्ण-जातिगत भेदभाव, ऊँच-नीच, ब्राह्मणों द्वारा फैलाए गए झूठ, पाखण्ड, छल-कपट, ठगी, अंधविश्वास और इनके द्वारा दलित समाज के शोषण के प्रति जागरूक बनाने का एक आन्दोलन था जो बहुत थोड़े समय में ही दलित समाज की आकांक्षाओं का प्रतीक और संघर्ष-चेतना का संवाहक बन गया। इसी सत्य-शोधक समाज के द्वारा ज्योतिबा फुले ने कम खर्च में, ब्राह्मण-पुरोहितों के बिना, सरल पद्धति से दहेज-मुक्त विवाह करवाए। इसे पुरोहितवाद के प्रतिकार के प्रथम और सफल प्रयास के रूप में देखा जा सकता है। उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह करवाए और बाल-विवाहों के दुष्परिणामों के बारे में समाज को जाग्रत किया।

ज्योतिबा फुले ने अपने कार्यों और लेखन के माध्यम से ब्राह्मणवाद का जितना प्रखर विरोध किया, उससे वह ब्राह्मणों की आँखों की किरकिरी बन गए। अपने रास्ते से हटाने के लिए ब्राह्मणों ने ज्योतिबा फुले की हत्या के लिए दलित समाज के दो बलिष्ठ और खूँखार व्यक्तियों को तैयार किया। किन्तु ज्योतिबा के विचार सुनकर उनकी हत्या करने के बजाय वे ज्योतिबा के अनुयायी बन गए। बाद में उनमें से एक ज्योतिबा का अंगरक्षक बना और दूसरा सत्यशोधक समाज का महत्त्वपूर्ण कार्यकर्ता बना। वे दलित-शोषित समाज के सम्मान के पात्र हो गए थे। दलित लोग उनके एक इशारे पर कुछ भी करने के लिए तत्पर रहते थे।

1876 से 1882 तक ज्योतिबा फुले पुणे की नगरपालिका के सदस्य चुने गए। इस दौरान उन्होंने अनेक समाजोपयोगी प्रस्ताव समिति में पेश कर समाज का हित किया। दलित-पिछड़ी बस्तियों के लिए बिजली-पानी की व्यवस्था कराने का श्रेय ज्योतिबा फुले को जाता है। उन्होंने ही इसके लिए नगरपालिका समिति में जोरदार आवाज उठायी। फिजूलखर्ची के वह सख्त विरोधी थे। नगरपालिका की फिजूलखर्ची रोकने के लिए कई व्यावहारिक सुझाव दिए। वायसराय के पुणे आगमन पर शहर में सजावट के नाम पर हुई फिजूलखर्ची का उन्होंने यह कहकर विरोध किया कि इसकी बजाय यह धन गरीबों की शिक्षा पर खर्च किया जाना चाहिए। शराब की दुकानें बढ़ाने के निर्णय का भी ज्योतिबा फुले ने तीव्र विरोध किया था क्योंकि यह लोगों के स्वास्थ्य और जीवन से खिलवाड़ है। पशु चिकित्सा कॉलेज का निर्माण, प्राइमरी पाठशालाओं में छात्रवृत्तियों की संख्या में वृद्धि, नए बाजार के निर्माण के पीछे उनकी उल्लेखनीय भूमिका रही। दलितों के साथ-साथ किसानों की दुर्दशा के प्रति भी ज्योतिबा फुले बहुत चिन्तित रहते थे और उनकी दशा सुधारने के लिए भी उन्होंने कई उल्लेखनीय कार्य किए।

ज्योतिबा फुले ने इस बात की सम्भावना व्यक्त की थी कि हिन्दू धर्म के शोषण से मुक्त होने के लिए हो सकता है कि दलित जातियाँ इस्लाम, ईसाई या किसी अन्य धर्म में दीक्षित हो जाएँ। और ऐसा हुआ भी। डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर के नेतृत्व में 14 अक्टूबर, 1956 को कई लाख दलितों ने एक साथ बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। यह सिलसिला आज तक जारी है। 60 वर्ष की आयु तथा सार्वजनिक और समाज-सुधार के क्षेत्र में निरन्तर महान् काम करते हुए 40 वर्ष हो जाने पर ज्योतिबा फुले का 11 मई, 1888 को मुम्बई में नागरिक अभिनन्दन कर उनको 'महात्मा' की उपाधि से सम्मानित किया गया। बड़ौदा के महाराजा सयाजी राव गायकवाड़ ने इस अवसर पर भेजे अपने संदेश में ज्योतिबा फुले को 'भारत का बुकर टी वाशिंगटन' कहकर उनका सम्मान किया। इसके कुछ माह बाद ही जुलाई 1888 में वह लकवा रोग से ग्रस्त हो गए। उनके शरीर का दायाँ भाग निष्क्रिय हो गया। पर इससे उनकी सक्रियता में कोई कमी नहीं हुई। उन्होंने बाएँ हाथ से काम करना शुरू किया और बाएँ हाथ से ही 'सार्वजनिक सत्यधर्म' पुस्तक को लिखकर पूरा किया। स्वास्थ्य अधिक बिगड़ने पर उनका घर से बाहर निकलना बन्द हो गया और वह बिस्तर पर ही लेटे रहने को मजबूर हो गए। इस दौरान भी उन्होंने अपनी सक्रियता बनाए रखी और पत्रों के द्वारा लोगों के साथ सम्पर्क करते रहे। इस दौरान लिखे उनके पत्रों की सबसे विशेष बात यह थी कि वह प्रत्येक पत्र में सबसे ऊपर 'सत्यमेव जयते' लिखा करते थे। सत्य के प्रति ज्योतिबा फुले का आग्रह जबरदस्त था। उन्होंने संस्था बनायी 'सत्यशोधक समाज', जिस धर्म को उन्होंने अपनाया और पालन किया उसे नाम दिया 'सार्वजनिक सत्यधर्म'। उपचार के बावजूद लकवे की इस बीमारी से वह उबर नहीं सके। उनका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन खराब होता गया और सन् 1890 की 28 नवम्बर को 63 वर्ष की आयु में मनुष्यता के प्रखर प्रवक्ता और पोषक तथा सत्य के महान् साधक, क्रान्तिसूर्य ज्योतिबा फुले का निधन हो गया।

बी-634, डी. डी. ए. फ्लैट्स,
ईस्ट ऑफ लोनी रोड, दिल्ली-110093
मोबाइल : 09871216298

राधामोहन गोकुलजी

❑ कर्मेन्दु शिशिर

जन्म : 15 दिसम्बर, 1865, भदरी, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश। पूर्वजों का मूल निवास–खेतड़ी, जयपुर रियासत, राजस्थान। पिता लाला गोकुलचंद जी की चार सन्तानों में सबसे बड़े।

प्रारम्भिक शिक्षा : बौद्ध भिक्षुओं के एक आवास विहार में। बाद में सेंट जॉन्स कॉलेजिएट स्कूल में। मात्र 13 वर्ष की उम्र में विवाह। नौकरी की तलाश में इलाहाबाद आगमन। एक सरकारी महकमे में 20 रुपये माहवारी पर क्लर्की। गोरे अधिकारी स्मिथ द्वारा अपमान। क्षुब्ध होकर अधिकारी की पिटाई। नौकरी से त्यागपत्र। जीवनभर सरकारी चाकरी न करने का संकल्प। 1883 ई. पत्नी का अचानक निधन। आजीवन विधुर रहे। एक पुत्र और एक पुत्री का अल्पायु में निधन। उस समय के सभी महत्त्वपूर्ण पत्रों एवं पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित।

तीन महत्त्वपूर्ण पत्रों–'ब्राह्मण', 'समाज-सेवक' और 'प्रणवीर' के लम्बे समय तक सम्पादक।

लेखन-सम्पादन के अतिरिक्त राजनीतिक सक्रियता। सशस्त्र क्रान्ति के प्रेरणा-पुरुष।

निधन : 3 सितम्बर, 1935, खोही, बुन्देलखंड।

राधामोहन गोकुलजी हिन्दी नवजागरण के एक शलाका पुरुष थे। डॉ. रामविलास शर्मा ने उनकी दो पुस्तकों–'देश का धन' और 'कम्युनिज्म क्या है?' की विस्तार से चर्चा की है। उन्होंने कुछ साम्यवाद सम्बन्धी लेखों के साथ 'विप्लव' के निबन्धों से उद्धरण भी संकलित किये हैं। लेकिन गोकुलजी के महत्त्व को आकलित करने के लिए इतना ही काफी नहीं था। समस्या उनकी रचनाओं की अनुपलब्धता से भी थी। उनकी रचनाओं के संकलन-सम्पादन की कभी कोई कोशिश नहीं की गई। आज उनकी जो रचनाएँ उपलब्ध हो सकी हैं, उन्हें पढ़कर आश्चर्य होता है। हिन्दी नवजागरण में अपनी सक्रियता और क्रान्तिकारी विचारों के कारण वे सर्वथा अलग लेखक हैं। धर्म और ईश्वर की सत्ता को डंके की चोट पर चुनौती देनेवाला, ऐसा विलक्षण रचनाकार उनके पूर्व कोई दूसरा नजर नहीं आता। उनके विस्फोटक विचारों की अपने जमाने

में जोरदार चर्चा थी। उनके गम्भीर विवादों को जन्म देने वाले विचारों को लेकर तीखी बहस चला करती। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में इन हलचलों को हम आसानी से महसूस कर सकते हैं।

गोकुलजी का जीवन एक ऐसी लौ की तरह था–जो आखिरी साँस तक पूरे दम से जला। वे स्वाधीनता की आग में अहर्निश तपने वाले लौह पुरुष थे–जिनके लक्ष्य के सामने किसी भी आँधी-तूफान का कोई मतलब नहीं था। यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनके निधन के सात दशक गुजर गये, उनकी जन्मशती भी गुजर गई–लेकिन वे आज तक हमारी विचार परम्परा में शामिल नहीं हुए। उनकी सामग्री तक उपलब्ध नहीं हुई। उन्होंने विविध रूपों में विपुल लेखन किया है–जो तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में बिखरा पड़ा है। उनके बीच से गुजरते हुए आज भी एक तरह का विरल उत्तेजनात्मक अनुभव होता है। उनमें हमें नवजागरण का एक सर्वथा भिन्न स्वर सुनाई देता है। ऐसा स्वर, जो उनकी व्याकुलता से हमें परिचित कराता है। उनकी बेचैनियाँ इतनी उत्तेजना पैदा करती हैं कि उन्हें पढ़कर हमारी सुप्त शिराओं में, आज भी हलचल हो उठती है। उन्हें पढ़ते हुए हमें विचारों की कँपकँपाहट-सी महसूस होती है। जोश पैदा करने वाले स्थलों पर तो उनका जौहर देखते बनता है। अपने संस्कारों में वे ठेठ जातीय थे। रूढ़ियों, अन्याय और असमानता के विरुद्ध उनकी घनीभूत घृणा पूरी ताकत से व्यक्त होती है।

गोकुलजी नवजागरण के ऐसे दुर्लभ योद्धा थे–जिनके कलेजे में अखूँट साहस और देश-प्रेम लबालब था। उद्देश्य के प्रति उनकी अटूट आस्था और संघर्ष-संकल्प ने उन्हें अंदर से फौलादी बना दिया था। उनके सामने विचारों के लिए किसी खतरे या दबाव की कोई अहमियत नहीं थी और न ही किसी आसन्न घटना की उन्हें कोई परवाह ही थी। अनुभव और विचार–दोनों स्तरों पर वे इतने सम्पन्न और समर्थ थे कि कोई भी प्रतिकूल स्थिति, उन्हें अपने विश्वासों से तनिक भी डिगा नहीं सकी। उनका तेवर और मन-मिजाज कबीर वाला था और ईश्वर के विरुद्ध विचारों में तो वे उनसे भी एक कदम आगे थे।

गोकुलजी के राजनीतिक सम्पर्कों को देखकर चकित रह जाना पड़ता है। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के सबसे बड़े व्यक्तित्व महात्मा गाँधी ने झंडा-सत्याग्रह में उनके अदालत में दिये वक्तव्य पर 'यंग इंडिया' में सम्पादकीय लिखा था और उनके व्यक्तित्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती, मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपत राय जैसे लोगों से उनके निजी सम्पर्क-संवाद थे। बाद में उनके सम्बन्ध क्रान्तिकारियों से बने–जिसमें रासबिहारी बोस, चन्द्रशेखर आजाद से भगतसिंह तक शामिल थे। कई क्रान्तिकारी युवकों के तो वे प्रेरणास्रोत ही रहे। क्रान्तिकारियों के बीच उनका असाधारण सम्मान था और वे उन पर अगाध विश्वास करते थे।

काकोरी-कांड के बाद चन्द्रशेखर आजाद ने फरारी के दिनों में उन्हीं के यहाँ रुककर, उनकी मदद से दुबारा संगठन खड़ा किया था।

गोकुलजी का साहित्यिक सम्पर्क भी व्यापक था। प्रतापनारायण मिश्र के सम्पर्क में आकर उन्होंने लिखना शुरू किया और उनके इतने आत्मीय बने कि 'ब्राह्मण' में मैनेजर के रूप में उनका नाम भी छपने लगा। इलाहाबाद में रहते हुए उन्हें पं. बालकृष्ण भट्ट का सामीप्य मिला और उनके कुछ लेख 'हिन्दी-प्रदीप' में भी छपे। पं. पद्मसिंह शर्मा, श्यामसुंन्दर दास, गणेश शंकर विद्यार्थी, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, महादेव प्रसाद सेठ, मुंशी नवजादिकलाल श्रीवास्तव, शिवपूजन सहाय सहित अपने समय के तमाम प्रमुख लेखकों के बीच वे सम्मानित रहे। निरालाजी तो उन्हें अपना राजनीतिक गुरु ही मानते थे। उदयशंकर शास्त्री ने किन्हीं चन्द्रोदय दीक्षित के हवाले से यह लिखा है कि—'पं. किशोरीदास वाजपेयी ने किसी प्रसंग में कहा था कि हिन्दी लिखने की प्रेरणा तो मुझे राधामोहन गोकुलजी से मिली थी।'

गोकुलजी का जीवन बड़ा ही संघर्षपूर्ण और घटनाबहुल था— उनकी सक्रियता के आयाम भी अलग-अलग रहे। वे व्यवस्थित रहकर साहित्यिक लेखन करने वाले साहित्यकार नहीं थे। उनकी प्राथमिकता में साहित्यिक लेखन था भी नहीं। उन्होंने जीवनभर राजनीतिक और सामाजिक कार्यों को ही अहमियत दी और उसी के निमित्त अपना ज्यादातर लेखन किया। उनके लेखन में जनता के बीच वैज्ञानिक सोच और विचार फैलाना, राष्ट्रीय भावनाओं को उत्प्रेरित करना, पुरानी और जड़ परम्पराओं को खत्म करना, नयी वैज्ञानिक समझ पैदा करना—मुख्य उद्देश्य था। उनकी देशभक्ति उन्हें इस तरह बेचैन किये रहती थी कि उनके भीतर समाज में बुनियादी उलटफेर कर देने का आश्चर्यजनक रूप से तूफानी ज़ज्बा भरा था। वे एक जिद्दी योद्धा की तरह समाज और सोच की संकीर्णता पर चोट करते थे। उनकी समझ और उनका संकल्प इतना पक्का था कि व्यवहार में तनिक भी डगमगाहट पूरे जीवन में दिखाई नहीं पड़ती। उनकी स्वतंत्रता के प्रति सम्पृक्ति तथा निडरता आश्चर्यजनक थी। राजनीतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक गुलामी के विरुद्ध उनके भीतर ऐसी प्रचंड आग धधकती, जिसे वे व्यक्त करते हुए बौद्धिक भद्रता की भी परवाह नहीं करते। क्रोध और घृणा व्यक्त करने में वे हरामीपन, बेहूदगी, लुच्चापन जैसे शब्दों का बेधड़क इस्तेमाल करते थे। खासतौर से धार्मिक पाखंडों और पुरोहित वर्ग पर तो उनका आक्रमण चकित कर देने वाला है। 'धर्म के नाम पर धंधा' करने वाले 'ध्वजाधारी' उनके निर्मम प्रकार की ज़द में हमेशा आते रहे। वे हिन्दू-विरोधी ही नहीं, बल्कि सर्व-धर्म-विरोधी के रूप में सामने आते हैं।

गोकुलजी का विश्वास था कि वैज्ञानिक सोच के लिए सत्याग्रही और कार्य-कारण वाली पद्धति का होना बुनियादी शर्त है। गोकुलजी ने कम्युनिस्ट होने के लिए मार्क्सवाद पढ़ने तक प्रतीक्षा नहीं की। सत्य के प्रति आग्रह और तार्किक बौद्धिकता उनके स्वभाव

और सोच का सहज हिस्सा थी। उनका लेखन उनके व्यक्तित्व के क्रान्तिकारी, राजनीतिक और सामाजिक कार्यों का प्रत्यक्ष प्रक्षेपण था, जिसे पढ़ते हुए यह सहज ही अंदाजा हो जाता है कि वे मामूली पढ़े-लिखे व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने अपने विचारों को पुष्ट करने के लिए देशी-विदेशी ग्रंथों का काफी अध्ययन किया था, जिसमें उर्दू, अरबी और फारसी ग्रंथ भी शामिल थे। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, बांग्ला, उर्दू और फारसी—इतनी भाषाओं को वे मूल में पढ़ सकते थे। लेकिन अकादमिक स्तर पर प्रबल-पुष्ट होने के बावजूद उनके गद्य में कहीं भी अकादमिक ऊब और दुर्गंध नहीं मिलती। दर्शन, मनोविज्ञान और ज्ञान की अन्य विधाओं की वे तात्त्विक मीमांसा करते हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी मेधा, तर्क-शक्ति और वैचारिक आस्था का उत्कर्ष देखते बनता है। निःसंदेह वे जबर्दस्त वैचारिक क्षमता के धनी थे। उन्होंने किसी विषय को समग्रता से समझने और जड़ों तक पहुँचने का जो वैज्ञानिक तरीका अपनाया था—उसे साधारण जनों को समझाने की दिलचस्प शैली भी विकसित कर ली थी। इस लिहाज से उनका सम्पूर्ण लेखन विद्वानों के लिए नहीं, बल्कि साधारण जनों के लिए था। श्रमजीवियों के लिए लिखे उनके पर्चे तो पाठकीय बोध पर संवाद कायम करने वाले जन साहित्य के दुर्लभ प्रतिमान हैं।

''हिन्दी जनता की महान् सांस्कृतिक विरासत में राधामोहन गोकुलजी का योगदान अत्यन्त मूल्यवान है। राधामोहन गोकुलजी हिन्दू समाज के कट्टर वर्ग में परित्यक्त और बहिष्कृत थे। वह वर्ण-व्यवस्था न मानते थे, द्विज-शूद्र का भेद न मानते थे, ईश्वर और धर्म को अस्वीकार करते थे, स्त्रियों को पुरुषों के बराबर समझते थे। वह प्रेमचन्द और निराला की परम्परा के निर्माता, उसके अभिन्न अंग थे।''

—डॉ. रामविलास शर्मा

''राधामोहन गोकुलजी को मैं उन लोगों में गिनता हूँ, जिन्होंने अपना सर्वस्व और सारा जीवन इस पराधीन देश को स्वाधीनता दिलाने और ऊपर उठाने में खपा दिया। मैं उन्हें, उनके सारे जीवन को बुनियाद के उन पत्थरों में गिनता हूँ, जिन पत्थरों के ऊपर उस समय के और बाद के लोगों ने 'स्वाधीन भारत' की इमारत को ऊँचा किया। आजकल के ये नुमायशी पत्थर, जिन्हें देख-देखकर, बाहर के दर्शक उनकी खूब प्रशंसा करते हैं, अगर ये तमाम पत्थर हटाकर उनकी जगह नये पत्थर लगा दिये जायें तो इमारत को कोई नुकसान नहीं पहुँच सकता। किन्तु यदि उन बुनियादी पत्थरों में से एक भी अपनी जगह से हिल जाये, तो इमारत के किसी कोने के गिर जाने का डर है। प्यारे और पूज्य भाई राधामोहनजी इसी तरह के बुनियाद के पत्थरों में से एक थे, हैं, और अनन्तकाल तक रहेंगे। उनके साथ मिलकर आजादी के लिए काम करने का मुझे गर्व है और आज भी मैं उसे अनुभव कर रहा हूँ।''

—पंडित सुन्दरलाल

गोकुलजी की प्रकाशित पुस्तकें

1. देश का धन, 1908, जगनमोहन मल्लिक, कलकत्ता, पृष्ठ 112, मूल्य आठ आने।
2. सभा व वक्ता अर्थात् व्याख्यान कौशल, 1911, देवनागरी यंत्रालय, कलकत्ता, पृष्ठ 58, मूल्य दो आना।
3. नीतिदर्शन, दो खंडों में, 1912, देवनागरी यंत्रालय, पृष्ठ पहला खंड 217, दूसरा खंड 210, मूल्य बारह आने प्रतिखंड।
4. देशभक्त लाजपत, 1913, मुद्रक-प्रकाशक राधामोहन गोकुलजी अग्रवाल, देवनागरी यंत्रालय, कलकत्ता, पृष्ठ 320
5. अंग्रेज डाकू (उपन्यास) 1919, आर. एल. बर्मन प्रेस, कलकत्ता, पृष्ठ 106, मूल्य दस आना।
6. कम्युनिज्म क्या है? 1927, सोशलिस्ट बुकशॉप, पटकापुर, कानपुर, पृष्ठ 159, मूल्य दस आना।
7. विप्लव (निबन्ध-संग्रह), 1932, नारायण प्रसाद अरोड़ा, बी.ए., पटकापुर, कानपुर, पृष्ठ 288, मूल्य एक रुपया चार आना।

स्वामी अछूतानन्द

❑ डॉ. माता प्रसाद

आदि हिन्दू आन्दोलन के जनक एवं दलितों के प्रेरणास्रोत स्वामी अछूतानन्द हरिहर का जन्म ऐसे समय हुआ जिस समय दलित समाज और देश की बड़ी दुर्गति थी। हिन्दू समाज में जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े की भावना का बड़ा जोर था। धर्मान्धिता का बोलबाला था। देश पराधीन था, यहाँ के लोगों का अधःपतन हो चुका था। ऐसे समय में स्वामी अछूतानन्द ने अपने क्रान्तिकारी विचारों से दलितों का मार्गदर्शन किया। अछूतों के अन्दर से हीनभावना निकालकर उन्हें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक संघर्ष के लिए प्रेरित किया।

स्वामी अछूतानन्द का परिवार गाँव—सौरिख, तहसील—छिबरामऊ, जिला—फर्रूखाबाद का निवासी था। इनके पिता का नाम मोतीराम, माता का नाम श्रीमती रामप्यारी देवी और चाचा का नाम मथुरा प्रसाद था। इनके माता-पिता, चाचा सभी सन् 1857 ई. के पूर्व ही गाँव के ब्राह्मणों के साथ संघर्ष हो जाने को कारण गाँव छोड़कर जिला मैनपुरी के सिरसागंज के गाँव उमरी में रहने लगे। यहीं पर 6 मई गुरुवार बैसाखी 1879 ई. को स्वामीजी का जन्म हुआ। इनका बचपन का नाम हीरालाल था। इसके बाद इनके पिता और चाचा देवली छावनी चले गए, वहाँ फौज में नौकरी करने लगे। स्वामीजी की शिक्षा इनके बाबा मथुरा प्रसाद के यहाँ नसीराबाद, अजमेर में हुई। पढ़ने-लिखने का आपको बड़ा शौक था। 14 वर्ष की आयु तक आपने हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू, गुरुमुखी का अध्ययन कर लिया था। इसके बाद यह साधुओं के साथ पर्यटन पर निकल गए। हीरालाल से इन्हें हरिहरानन्द कहा जाने लगा। 24 वर्ष की आयु तक आप भ्रमण करते रहे। इस दौरान उन्होंने संस्कृत, बंगला, गुजराती और मराठी का भी ज्ञान प्राप्त किया। उस समय आर्य समाज का बड़ा जोर था। उसके जलसे जगह-जगह होते थे, शास्त्रार्थ होते थे। आपने आर्यसमाज में प्रवेश किया। उसमें उन्हें कई जगह शास्त्रार्थ करने का अवसर मिला।

आपने आगरा के पथवारी और सिरसागंज में अछूत विद्यालय की स्थापना की।

सिरसागंज विद्यालय के उद्घाटन के समय कुछ देर से पहुँचे। स्वामीजी ने वहाँ देखा कि आर्यसमाजी अध्यापकों द्वारा अभिजात बालकों को टाट पर आगे और दलित जाति के छात्रों को पीछे जमीन पर बैठाया गया है। स्वामी को यह देखकर क्लेश हुआ और आर्यसमाज के दलितों के प्रति भेदभाव को देखकर उन्होंने आर्यसमाज से अपना पिण्ड छुड़ा लिया।

स्वामीजी ने अछूतों के हित के लिए संघर्ष करना निश्चित किया। 1905 ई. में दिल्ली में जाकर अछूत आन्दोलन की शुरुआत की। यहाँ पर वीर रतन, देवीदास जटिया, जगत राम जटिया का स्वामीजी को पूरा सहयोग मिला। यहाँ पर अखिल भारत अछूत महासभा की स्थापना हुई और 'अछूत पत्रिका' का सम्पादन किया। दिल्ली में अछूत वर्ग का उन्हें पूरा सहयोग मिला।

1923 ई. में स्वामीजी ने आल इण्डिया आदि हिन्दू महासभा की स्थापना की। कई कॉन्फ्रेंसें हुईं। इनमें सभी अछूतों को संगठित कर जाति-पाँति का विरोध, धर्म-भेद की बुराई की जाती थी। स्वामीजी हिन्दू दासता की जंजीरों से मुक्त होने का संदेश देते थे। 1925 ई. में बेनाझावर, कानपुर को उन्होंने स्थायी निवास बनाया। स्वामीजी के लिए गिरधारी भगत ने जगह दी। यहीं से उन्होंने आदि हिन्दू अखबार निकाला।

सन् 1922 ई. में इंग्लैंड के सम्राट जॉर्ज पंचम के पुत्र प्रिंस ऑफ वेल्स का दिल्ली आगमन हुआ। उनके स्वागत के लिए अछूत सम्मेलन का आयोजन हुआ। उसमें वह पधारे। उस अवसर पर उनके स्वागत के साथ ही उनको एक 17 सूत्रीय माँग-पत्र दिया गया जो इस प्रकार था—

1. आदि हिन्दुओं का पृथक् से चुनाव हो तथा पृथक् से प्रतिनिधित्व दिया जाए।
2. अछूतों की प्रगति हेतु (स्कूल) विद्यालय खोले जाएँ।
3. अस्पृश्यता निवारण हेतु कड़ा कानून बनाया जाए।
4. शिक्षित अछूतों को शासकीय सेवा में लिया जाए।
5. स्थानीय संस्थाओं जैसे नगरपालिका, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, ग्राम पंचायत, टाउन एरिया, नोटीफाइड एरिया आदि में अछूत सदस्य नामजद किए जाएँ।
6. अछूतों को व्यापार एवं दुकानदारी का कार्य करने की स्वतन्त्रता दी जाए।
7. बेगार प्रथा का समूल नाश किया जाए।
8. अछूतों को सवर्ण हिन्दुओं के समान सामाजिक अधिकार प्राप्त हों।
9. प्रत्येक शासकीय, अशासकीय कमेटियों में संख्या के अनुपात में अछूतों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाए।
10. अछूत छात्रों को छात्र-वृत्ति प्रदान की जाए।
11. अछूत बहुल गाँवों में अछूत विद्यालय स्थापित किए जाएँ।
12. पुलिस तथा फौज में अछूतों को भी प्रवेश दिया जाए।

13. मजदूरी में वृद्धि की जाए।
14. ग्रामीण चौकीदार पद पर अछूते रखे जाएँ।
15. अछूत कृषकों को परती भूमि के पट्टे दिए जाएँ।
16. प्रान्तीय विधान सभाओं में अछूत भी लिये जाएँ।
17. उपर्युक्त 16 माँगों को देशी राज्यों में भी लागू किया जाए।

प्रिंस ऑफ वेल्स के इंग्लैण्ड जाने पर लन्दन के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इण्डिया का भारत के वायसराय के नाम सख्त आदेश आया कि अछूतों को प्रत्येक नगरपालिका, नोटीफाइड एरिया, टाउन एरिया में एक-एक सदस्य के रूप में नामजद किया जाए। इस आदेश का कड़ाई से पालन हुआ। इससे अछूतों के लिए आगे का मार्ग प्रशस्त हुआ।

1927 ई. में स्वामीजी ने आदि हिन्दू महासभा के मंच से पूर्ण स्वराज की माँग की। अछूतों की आजादी का दावा प्रस्तुत किया। बम्बई, कलकत्ता, लखनऊ, इलाहाबाद, अमरावती, अलमोड़ा, जयपुर में अखिल भारतीय स्तर और जिला स्तर के अनेक सम्मेलन हुए। भारत में अछूतों की आँखें खुल गईं। दलितों का सहयोग मिलने लगा।

1928 ई. में स्वामी अछूतानन्द की भेंट डॉ. आम्बेडकर से बम्बई में आदि हिन्दू सम्मेलन में हुई। डॉ. आम्बेडकर स्वामीजी को अपने घर ले गए। वहाँ पर दोनों ने मिलकर दलितों के हक के लिए संघर्ष करने का निश्चय किया। सन् 1932 ई. में जब इंग्लैण्ड में गोलमेज कॉन्फ्रेंस चल रही थी, तब स्वामी अछूतानन्द ने भारत से हजारों की संख्या में तार, रजिस्टर्ड लेटर यहाँ भिजवाए थे। जिनमें लिखा होता था—भारत के अछूतों के एकमात्र नेता डॉ. आम्बेडकर हैं, गाँधी अथवा अन्य कोई नहीं। स्वामी अछूतानन्द के उस समय के सहयोगी कनौजी लाल का नाम सम्मान से लिया जा सकता है, जो स्वामीजी के बड़े निकट के सहयोगी थे। उन्होंने स्वामीजी के न रहने पर भी उनकी मशाल को आपने जीवन-पर्यन्त जलाए रखा।

भारत में साइमन कमीशन के आने पर उसके समक्ष आदि हिन्दू सभा के नेताओं ने दलितों को पृथक् प्रतिनिधित्व देने तथा अन्य समस्याओं को निर्भीकतापूर्वक रखा।

लखनऊ के आदि हिन्दू सम्मेलन में जब बाबा साहेब पधारे तो सभासदों ने डॉ. आम्बेडकर का जयघोष के साथ स्वागत किया।

स्वामी अछूतानन्द हरिहर ने सामाजिक वर्ण-भेद की परम्परा को समाप्त करने के लिए धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन किया। स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, पूर्वजन्म, देवी-देवता, भाग्य-भगवान्, कथा-भागवत, यज्ञ-जागरण की मान्यताओं का खण्डन किया।

स्वामीजी कोरे उपदेशक ही नहीं, वे कवि भी थे। अछूत और आदि हिन्दू अखबारों का सम्पादन तो उन्होंने किया ही, कई छोटी-बड़ी इनकी रचनाएँ भी हैं, जिनमें शम्बूक बलिदान (नाटक) मायानाद बलिदान (जीवनी), अछूत पुकार (भजनावली),

पाखण्ड खण्डिनी (मीमांसा) आदि वंश का डंका (कवितावली), रामराज्य न्याय (नाटक) प्रमुख हैं। इस दृष्टि से स्वामीजी को दलित साहित्य का प्रथम रचनाकार कहा जा सकता है।

अखिल भारतीय अछूत कांग्रेस को सम्बोधित करते हुए स्वामीजी ने कहा था—

सभ्य सबसे हिन्द के प्राचीन हैं हकदार हम।
है बनाया शूद्र हमको थे कभी सरदार हम॥
नीचे गिराये पर अछूते, छूत से हम हैं बरी।
आदि हिन्दू हैं न शंकर, वर्ण में हम हैं हरी॥
अब नहीं है वह जमाना, जुल्म हरिहर मत सहो।
तोड़ दो जंजीर, जकड़े क्यों गुलामी में रहो॥

आदि वंश डंका में वे कहते हैं—

जुल्म पापी ने किया, हमको मिटाने के लिए।
वर्ण-संकर लिख दिया है, दिल दुखाने के लिए॥
कूप का मेंढक बना, जकड़ा हमें दासत्व में।
कानून था हमको नहीं, विद्या पढ़ाने के लिए॥

मनुस्मृति को दलितों का दुश्मन कहकर उन्होंने लिखा—

निसदिन मनुस्मृति हमको जला रही है।
ऊपर न उठने देती, नीचे गिरा रही है॥
ब्राह्मण व क्षत्रियों को सबका बनाया अफसर।
हमको पुराने उतरन पहनो बता रही है॥

जो काम डॉ. आम्बेडकर ने महाराष्ट्र में किया, वही कार्य उत्तर भारत में स्वामी अछूतानन्द हरिहर ने भी किया।

आदि वंश के आन्दोलन के प्रवर्तक, दलित क्रान्ति के जनक स्वामी अछूतानन्द 'हरिहर' जी का निधन 20 जुलाई, 1933 ई. को 54 वर्ष की आयु में कई दिनों की अस्वस्थता के बाद बेनाझावर, कानपुर में हुआ। उनके समाधि-स्थल पर एक स्मारक बन गया है।

पेरियार ई. वी. रामासामी

❑ **डॉ. रमेन्द्र**

पेरियार या पेरियार ई. वी. आर. (1879-1973) बीसवीं सदी के एक प्रमुख बुद्धिवादी, निरीश्वरवादी और मानवतावादी थे। पेरियार तर्कसंगत चिन्तन का और सामाजिक न्याय का समर्थन करते थे। वे पिछड़े, दलित वर्गों और महिलाओं के अधिकारों के हिमायती थे। अपने आत्म-सम्मान आन्दोलन के अन्तर्गत पेरियार परस्पर सहमति द्वारा आत्म-सम्मान विवाहों का समर्थन करते थे। इन विवाहों में ब्राह्मण पुरोहितों और धार्मिक कर्मकाण्डों के लिए कोई जगह नहीं होती है।

पेरियार के चिन्तन में निरीश्वरवाद की प्रमुख भूमिका है। अपने जीवन के बाद के दिनों में वे अपनी आम सभाओं की शुरुआत इस घोषणा के साथ करते थे कि "ईश्वर का अस्तित्व नहीं है।" पेरियार ईश्वर-विचार और मूर्तिपूजा का प्रबल विरोध करते थे। वे आत्मा के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं रखते थे। वे सामान्य तौर से धर्म के और विशेष तौर से हिन्दू धर्म के विरुद्ध थे। वे ब्राह्मणवाद, जाति-व्यवस्था और छुआछूत को पूरी तौर से नकारते थे। इसके अलावा, पेरियार संस्कृत और हिन्दी भाषा सहित उत्तर भारतीय प्रभावों के भी विरुद्ध थे। वे इन्हें आर्यों और ब्राह्मणों के साथ जोड़ते थे। वे तमिल भाषा, संस्कृति और अलग द्रविड़नाडु का समर्थन करते थे। उनके अनुसार शुरुआत में तमिल समाज ब्राह्मणवाद के बुरे प्रभावों से मुक्त था। इसलिए, वे तमिल समाज को उत्तर भारतीय प्रभावों से, जिन्हें वे ब्राह्मणवाद से जोड़ते थे, बचाना चाहते थे।

पेरियार का मूल नाम ई. वी. रामासामी नायकर था। उन्होंने "नायकर" उपनाम को त्याग दिया, क्योंकि इसका सम्बन्ध जाति से है और वे जाति-व्यवस्था का जबरदस्त विरोध करते थे।

उनके प्रशंसकों ने उन्हें "पेरियार" की उपाधि दी। (तमिल में "पेरियार" का अर्थ है "महान् व्यक्ति।")

पेरियार ने एक लम्बा और घटनाओं से भरपूर जीवन जिया। वे सामाजिक

आन्दोलनों के साथ-साथ राजनीति में भी सक्रिय थे। पेरियार का जन्म 17 सितम्बर, 1879, को तत्कालीन मद्रास प्रेसिडेन्सी के इरोड शहर (तमिलनाडु) में एक गैर-ब्राह्मण जाति में हुआ।

उनके पिता वेंकटा नायकर इरोड के एक प्रमुख व्यापारी थे। उनके पिता और उनकी माँ, चिन्नाथइ अम्मइ, दोनों रूढ़िवादी धार्मिक विचारों के थे। पेरियार तीन द्रविड़ भाषाओं को बोल सकते थे : कन्नड़, तमिल और तेलुगु। उनकी मातृभाषा कन्नड़ थी, लेकिन वे अधिकांशतः तमिल बोला करते थे।

पेरियार ने अपने बचपन के कुछ शुरुआती दिन अपने पिता की एक मामी के साथ गुजारे थे। वे विधवा और निःसन्तान थीं। उनकी इच्छा थी कि वे पेरियार को पाल-पोसकर बड़ा करें। बालक पेरियार रूढ़िवादियों द्वारा ''अछूत'' समझे जाने वाले लोगों के साथ खुलकर मिलने-जुलने लगे। उनके रंग-ढंग से चिन्तित होकर उनके पिता ने उन्हें घर वापस बुला लिया और 6 वर्ष की उम्र में उनका दाखिला स्कूल में करा दिया गया। पेरियार के अनुसार उन्हें स्कूल भेजे जाने का प्रयोजन उनकी शिक्षा से उतना नहीं था जितना कि उन्हें गलत समझे जाने वाले रास्तों पर चलने से रोकने से।

6 वर्ष की उम्र में रामासामी को इरोड के पास जिस स्कूल में भेजा गया, उसके इर्द-गिर्द मुसलमान और ''अछूत'' जातियाँ रहा करती थीं। बालक पेरियार को यह सख्त हिदायत दी गयी थी कि वे उनके साथ खान-पान न करें। उन्हें कहा गया कि वे सिर्फ अपने शिक्षक के घर पर पानी पिएँ, जो कि पूर्ण शाकाहारी थे। फिर भी, पेरियार ने बहुत जल्दी ही अपने सहपाठियों के घर पर जाना और उनके साथ खाना-पीना शुरू कर दिया। जब यह खबर पेरियार के घर पर पहुँची तो उनकी माँ काफी परेशान हो गयीं। अन्ततः पेरियार को स्कूल से निकाल लिया गया। पेरियार के अनुसार उस समय उनके माता-पिता ''रूढ़िवादी ब्राह्मणों की तरह कर्मकाण्डों का पालन करते थे।''

इस तरह, पेरियार की स्कूली शिक्षा 12 वर्ष की उम्र में ही समाप्त हो गयी। उन्हें सिर्फ 6 वर्षों की औपचारिक शिक्षा प्राप्त हुई। ऐसा लगता है कि उन्होंने धर्म आदि के बारे में जानकारी अपने पिता की दुकान पर लोगों से बातचीत कर प्राप्त की, जहाँ उन्हें काम करने के लिए भेज दिया गया।

पेरियार का विवाह 19 वर्ष की उम्र में कर दिया गया। उनकी पत्नी नागम्मई उस समय सिर्फ 13 वर्ष की थीं। विवाह के 2 वर्ष बाद उन्हें एक बेटी भी हुई, लेकिन वह सिर्फ पाँच महीने जीवित रही। उसके बाद उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई। नागम्मई का पालन-पोषण एक रूढ़िवादी परिवार में हुआ था। ऐसा लगता है कि शुरुआत में उन्हें अपने रूढ़ि-विरोधी पति के साथ तालमेल बैठाने में कुछ समस्याएँ हुईं। लेकिन बाद के जीवन में उन्होंने पेरियार की सार्वजनिक गतिविधियों और अभियानों में पूरा

सहयोग दिया। उनकी मृत्यु 1933 में 48 वर्ष की उम्र में हुई।

1904 में अपने विवाह के 6 वर्षों बाद 25 वर्ष की उम्र में पेरियार बिना किसी को कुछ बतलाए घर छोड़कर चले गए। उनका अपने परिवार के रूढ़िवादी तौर-तरीकों से संघर्ष बढ़ता चला जा रहा था। पेरियार' ''थाली'' (मंगलसूत्र) को गुलामी की निशानी मानते थे। पेरियार द्वारा अपनी पत्नी की थाली हटा देने से परिवार में हड़कम्प मच गया। शायद इसी कारण पेरियार बिना किसी को कुछ बतलाए घर से निकल गए। बाद में उन्होंने संन्यासी बनकर हिन्दुओं द्वारा पवित्र माने जाने वाले बनारस सहित कई उत्तर भारतीय शहरों का दौरा किया, और संन्यासियों के तौर-तरीकों का अध्ययन किया। इससे पेरियार को यह देखने और समझने में मदद मिली कि ईश्वर और धर्म पुरोहित वर्ग के हाथ में एक हथियार है, जिसका इस्तेमाल वे बहुमत जनता पर अपना वर्चस्व स्थापित करने और उन्हें गुलाम बनाकर उनका शोषण करने के लिए करते हैं।

घर लौटने पर पेरियार एक बार फिर से पारिवारिक व्यवसाय-व्यापार—में लग गए। 30 वर्ष की उम्र तक पेरियार अपने पिता के व्यवसाय को अधिक मजबूत बनाने में लगे रहे। पेरियार के पिता की मृत्यु 1911 में हो गयी। अपने पिता के जीवन-काल में भी पेरियार सार्वजनिक कार्यों में गहरी दिलचस्पी रखते थे। 1920 तक उन्होंने इरोड नगरपालिका के अध्यक्ष सहित उन्तीस सार्वजनिक महत्त्व के पदों को प्राप्त कर लिया था। वे कई वर्षों तक ऑनरेरी मजिस्ट्रेट भी थे।

पेरियार 1919 में इंडियन नेशनल कांग्रेस में शामिल हुए। इसके बाद उन्होंने इरोड नगरपालिका के अध्यक्ष सहित सभी सार्वजनिक पदों से इस्तीफा दे दिया। 1920-21 में वे गाँधी द्वारा शुरू किए गए असहयोग आन्दोलन में शामिल हुए। इस आन्दोलन के दौरान पेरियार, उनकी पत्नी नागम्मई और बहन कनम्मा को कई बार जेल में डाला गया। पेरियार शराबबन्दी के गाँधीवादी कार्यक्रमों में भी शामिल हुए। 1923-24 में पेरियार मद्रास कांग्रेस के अध्यक्ष बने।

1924 में मद्रास कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में पेरियार ने प्रसिद्ध वैकॉम सत्याग्रह का नेतृत्व किया। वैकॉम वर्तमान केरल में एक स्थान है, जहाँ दलित वर्गों के लोगों (एजहवा और आदिद्रविडार) को एक मन्दिर के इर्द-गिर्द की सड़कों पर चलना मना था। ट्रावनकोर के महाराजा पेरियार के दोस्त थे। उन्होंने पेरियार को अपना अभियान स्थगित करने के लिए राजी करने का प्रयत्न किया, लेकिन पेरियार नहीं माने। इस अभियान के दौरान ट्रावनकोर सरकार द्वारा पेरियार को दो बार जेल में डाला गया। कई अन्य लोगों के साथ पेरियार की पत्नी और बहन ने भी इस अभियान में हिस्सा लिया। अन्ततः सरकार को झुकना पड़ा और दलितों को मन्दिर के इर्द-गिर्द की सड़कों के इस्तेमाल का अधिकार मिल गया। इस सफल संघर्ष के कारण पेरियार को उनके प्रशंसकों द्वारा ''वैकॉम के हीरो'' की उपाधि दी गयी।

वैकॉम में पेरियार की भूमिका को सिर्फ एक अखबार, **नवशक्ति,** द्वारा सराहा गया। पेरियार के अनुसार प्रेस पर अधिकांशतः ब्राह्मणों का वर्चस्व था। इसलिए, पेरियार ने मई, 1924 से **कुडि अरासु** (गणराज्य) नाम के तमिल साप्ताहिक की शुरुआत की।

पेरियार 1919 में कांग्रेस में शामिल हुए थे। उस समय उन्हें यह उम्मीद थी कि कांग्रेस पार्टी के जागरूक सदस्यों के सहयोग से वे छुआछूत की बुराई को मिटाने में सफल होंगे। उनकी यह भी अपेक्षा थी कि वे पिछड़े और दलित वर्गों के लिए शिक्षा और सरकारी नियुक्तियों में पर्याप्त हिस्सा प्राप्त कर सकेंगे। मद्रास में इंडियन नेशनल कांग्रेस के सभी सम्मेलनों में पेरियार गैर-ब्राह्मण जातियों के लिए विधायिका के चुनाव में कुछ प्रतिशत सीटें और सरकारी नौकरियों में पद आरक्षित करने का प्रस्ताव रखते थे। वे इसे सामाजिक न्याय के लिए अनिवार्य मानते थे। वैकॉम से लौटने के कुछ ही समय बाद, 1925 में कांचीपुरम में कांग्रेस के ऐतिहासिक सम्मेलन में पेरियार ने छठी और अन्तिम बार सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़ी जातियों के आरक्षण के पक्ष में एक प्रस्ताव पेश किया। लेकिन इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया। इसके बाद पेरियार ने यह कहते हुए कांग्रेस पार्टी को हमेशा के लिए छोड़ दिया कि "कांग्रेस गैर-ब्राह्मणों का कोई भला नहीं कर सकती।" दरअसल, कई अन्य दृष्टान्तों के आधार पर पेरियार यह सोचने लगे थे कि कांग्रेस ब्राह्मणों के वर्चस्व वाली पार्टी थी, और पार्टी के उच्च जाति के लोग निम्न जातियों और वर्गों से वास्तविक सहानुभूति नहीं रखते थे।

जिस समय पेरियार ने कांग्रेस पार्टी से इस्तीफा दिया, उस समय जस्टिस पार्टी और स्वराज पार्टी मद्रास की अन्य मुख्य पार्टियाँ थीं। पेरियार की नज़रों में स्वराज पार्टी पर भी ब्राह्मणों का वर्चस्व था। दूसरी ओर, जस्टिस पार्टी पर गैर-ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। जस्टिस पार्टी द्वारा गैर-ब्राह्मणों के लिए सार्वजनिक सेवाओं और शिक्षा में आरक्षण का समर्थन किया गया था। इसलिए, पेरियार जस्टिस पार्टी की गतिविधियों में दिलचस्पी लेते थे, और कभी-कभी उनकी सभाओं को सम्बोधित किया करते थे। 1927-28 में पेरियार आम सभाओं और गैर-ब्राह्मण सम्मेलनों को सम्बोधित करने में व्यस्त रहे। वे जस्टिस पार्टी का समर्थन करते थे, लेकिन उन्होंने अपने को उसके साथ पूरी तौर से जोड़ा नहीं था।

1929 में आत्म-सम्मान आन्दोलन के विकास से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण घटना हुई। दिसम्बर 1928 में जस्टिस पार्टी के अध्यक्ष, पनगल राजा, की अचानक मृत्यु हो गयी। इसके बाद, पेरियार ने मद्रास शहर (अब चेन्नई) चेगंलपट्टु में 17-18 फरवरी, 1929, को प्रथम आत्म-सम्मान सम्मेलन का आयोजन किया। सम्मेलन में वर्ण-व्यवस्था, छुआछूत और पुरोहितवाद के विरोध में तथा पूजा-पाठ के सन्दर्भ में संस्कृत या किसी उत्तर भारतीय भाषा के इस्तेमाल का विरोध करते हुए प्रस्ताव पारित

किए गए। सम्मेलन द्वारा महिलाओं के लिए सम्पत्ति में बराबर के अधिकार का समर्थन किया गया। आम लोगों से यह अपील करते हुए भी प्रस्ताव पारित किए गए कि वे मन्दिरों में पूजा-पाठ न करें तथा नए मन्दिर और वैदिक स्कूल आदि बनवाने में पैसे खर्च न करें। उनसे आह्वान किया गया कि वे जाति-सम्बन्धी उपनामों को त्याग दें, और अपने शरीर या माथे पर जाति सम्बन्धी चिह्न धारण न करें। इस बात पर बल दिया गया कि सार्वजनिक धन का इस्तेमाल शैक्षणिक कार्यों और बेरोजगारों के लिए रोजगार पैदा करने के लिए किया जाना चाहिए।

अगला आत्म-सम्मान सम्मेलन 10 मई, 1930, को इरोड में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में पारित प्रस्तावों में मानव-मानव के बीच भेद-भाव समाप्त करने पर बल दिया गया। पिछले सम्मेलन से एक कदम आगे बढ़ते हुए मन्दिरों में मूर्ति-पूजा की तीव्र भर्त्सना की गयी। यह घोषणा की गयी कि आम लोगों को कई सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, और ऐसे में उन्हें एक काल्पनिक ईश्वर के पीछे समय बर्बाद करने की कोई जरूरत नहीं है।

अन्य बातों के अलावा, वे अन्तरजातीय विवाहों और विधवा-पुनर्विवाह का समर्थन करते थे। पेरियार ने इन सम्मेलनों में औरत-मर्द बराबरी की वकालत की। पेरियार ने परस्पर सहमति द्वारा आत्म-सम्मान विवाहों को भी लोकप्रिय बनाया, जिनमें ब्राह्मण पुरोहितों या धार्मिक कर्मकाण्डों के लिए कोई जगह नहीं होती है।

1930 में पेरियार ने मद्रास असेम्बली में देवदासी प्रथा को समाप्त करने के लिए एक बिल पेश किया। इस प्रथा के अन्तर्गत कम उम्र की लड़कियों को मन्दिरों के साथ यौनकर्मी (सेक्स वर्कर) के रूप में जोड़ दिया जाता था। पेरियार ने इस प्रथा को हिन्दू धर्म के लिए एक कलंक बतलाया।

1932 में पेरियार मिस्र, ग्रीस, तुर्की, जर्मनी, फ्रांस, पुर्तगाल, रूस और इंग्लैण्ड की यात्रा पर गए। भारत लौटने के बाद उन्होंने समाजवादी घोषणा-पत्र तैयार किया और उसका प्रचार करने लगे। उस दौरान जयप्रकाश नारायण, जो उस समय कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के प्रमुख नेता थे, पेरियार से मिले और उन्हें पार्टी में शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया। लेकिन पेरियार ने उसके आमन्त्रण का कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया।

पेरियार ने अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के 16 वर्ष बाद 1949 में अपनी 28 वर्षीया सचिव अन्नइयार मनियम्मई से दूसरा विवाह किया। पेरियार उस समय 70 वर्ष के थे। उनके विवाह के कारण द्रविडार कषगम (डी. के.) में टूट हो गई। पेरियार के कुछ अनुयायियों ने सी. एन. अन्नादुरई (1909-1969) के नेतृत्व में अलग से द्रविड़ मुनेत्र कषगम (डी. एम. के.) का गठन किया। विवाह के पहले मनियम्मई 6 वर्षों तक पेरियार की सेक्रेटरी थीं। पेरियार को ऐसा महसूस हुआ कि वे अपने विचारों और आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए उन पर भरोसा कर सकते थे।

डी. एम. के. एक राजनीतिक पार्टी बन गयी, जबकि पेरियार पार्टी-राजनीति से दूर अधिकाधिक पूरी तरह वैचारिक दिशा में बढ़ गए।

जैसा कि पहले भी जिक्र किया गया है, पेरियार गैर-ब्राह्मणों (पिछड़ा वर्ग और दलित) के लिए आरक्षण के पक्ष में थे। दरअसल, मुख्यतः इसी मुद्दे के कारण उन्होंने कांग्रेस पार्टी छोड़ दी थी। दूसरी ओर, जस्टिस पार्टी ने 1928-29 में सत्ता में रहते हुए आरक्षण की नीति को लागू किया था। पेरियार ने मद्रास सरकार के इससे सम्बन्धित आदेश का समर्थन किया था। उस समय उस आदेश को ''कम्यूनल जी. ओ.'' (सामुदायिक सरकारी आदेश) कहा जाता था। इस आदेश में गैर-ब्राह्मणों (पिछड़ा वर्ग, दलित तथा मुस्लिम और ईसाई जैसे अल्पसंख्यक समुदाय) के लिए राज्य सरकार की सेवाओं में आरक्षण का प्रावधान था। इन सेवाओं में उस समय तक मुख्यतः ब्राह्मणों का ही वर्चस्व था और गैर-ब्राह्मणों का प्रतिनिधित्व उनकी आबादी के अनुपात में बहुत कम था। इस तरह, मद्रास प्रेसिडेन्सी में आज़ादी के पहले से ही आरक्षण की नीति लागू थी। 1951 में भारत के एक स्वतन्त्र गणराज्य बनने के बाद मद्रास हाई कोर्ट ने यह घोषित किया कि मद्रास सरकार की ''कम्यूनल जी. ओ.'' भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुरूप नहीं है। पेरियार ने इसके विरुद्ध एक सशक्त लोकप्रिय आन्दोलन की शुरुआत की। अन्ततः भारत के संविधान को संशोधित कर इसमें सामाजिक और शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण का प्रावधान जोड़ा गया [धारा 15(4)]। प्रसंगवश, यह भारत के संविधान में पहला संशोधन था।

1952 में पेरियार ने अपने बुद्धिवादी विचारों के प्रचार के लिए 'पेरियार सेल्फ-रेस्पेक्ट प्रोपेगंडा इन्स्टिट्यूशन (पेरियार आत्म-सम्मान संस्थान) के नाम से एक रजिस्टर्ड ट्रस्ट' की स्थापना की। उन्होंने अपनी अब तक की प्राप्त लगभग सारी सम्पत्ति इस ट्रस्ट को दे दी। इस ट्रस्ट के उद्देश्यों में पेरियार के विचारों के प्रचार के लिए सस्ती पत्र-पत्रिकाओं और किताबों का प्रकाशन शामिल था। पेरियार ने हस्पतालों के सुधार के लिए सरकार को काफी पैसा दान किया। उन्होंने खासकर महिलाओं और लड़कियों के लिए स्कूलों की स्थापना की।

1952 में पेरियार ने मद्रास राज्य के तत्कालीन मुख्यमंत्री, सी. राजगोपालाचारी, द्वारा लाई गई आनुवंशिक व्यवसाय पर आधारित नयी प्राथमिक शिक्षा की स्कीम का विरोध किया। इस स्कीम के अन्तर्गत सभी विद्यार्थियों के लिए स्कूल में अपने आनुवंशिक व्यवसाय को सीखना अनिवार्य था। पेरियार का आन्दोलन इतना सशक्त था कि राजाजी को मुख्यमंत्री के पद से हटना पड़ा। परिणामस्वरूप, कामराज मुख्यमंत्री बने और उन्होंने इस स्कीम को वापस ले लिया।

1953 में पेरियार ने मूर्तिपूजा को हतोत्साहित करने के लिए राज्यभर में सार्वजनिक रूप से गणेश की मूर्तियों को तोड़ने के अभियान का नेतृत्व किया। वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था के विरुद्ध अपने अभियान को भी पेरियार ने जारी

रखा। उन्होंने और उनके अनुयायियों ने राम के पुतले जलाए और गणेश की मूर्तियाँ तोड़ीं। वर्ण-व्यवस्था को मान्यता प्रदान करने वाले मनुस्मृति और रामायण जैसे कुछ धर्मग्रन्थों की प्रतियों को सार्वजनिक रूप से जलाया गया। 1955 में पेरियार को राम की तस्वीरों को सार्वजनिक रूप से जलाने का प्रयत्न करते हुए गिरफ्तार कर लिया गया।

1967 में जब डी. ॲम. के. सत्ता में आई और अन्नादुरई मद्रास राज्य के मुख्यमन्त्री बने तो पेरियार ने उनका समर्थन किया। दरअसल, अन्नादुरई ने ही कानून द्वारा मद्रास राज्य का नाम बदलकर तमिलनाडु किया। उनकी सरकार ने आत्म-सम्मान विवाह अधिनियम (सेल्फ-रेसपेक्ट मैरिज ऐक्ट) लाकर पेरियार द्वारा प्रोत्साहित आत्म-सम्मान विवाह को कानूनी मान्यता प्रदान की।

1969 में पेरियार ने मन्दिरों में सिर्फ ब्राह्मणों के अर्चक बनने और पूजा करने की प्रथा को चुनौती देने के लिए, मन्दिरों के गर्भ-गृह में प्रवेश करने के आन्दोलनात्मक कार्यक्रम की घोषणा की। गैर-ब्राह्मणों को मन्दिरों के गर्भ-गृह में प्रवेश करने और अर्चक के रूप में काम करने की अनुमति नहीं थी। एक निरीश्वरवादी के रूप में पेरियार मन्दिर की संस्था में विश्वास नहीं रखते थे। उन्होंने सिर्फ गैर-ब्राह्मणों के अधिकारों पर बल देने के लिए इस कार्यक्रम की घोषणा की थी।

1970 में पेरियार ने बुद्धिवाद के प्रसार के लिए रैशनिलिस्ट फोरम नाम के एक नए गैर-राजनीतिक, सामाजिक संगठन की स्थापना की। इस तरह, पेरियार ने बुद्धिवाद और समाज-सुधार के पक्ष में तथा ब्राह्मणवाद और छुआछूत के विपक्ष में कई अभियानों का नेतृत्व किया।

1970 में यूनेस्को (UNESCO) द्वारा पेरियार को ''नए युग का प्रवक्ता'' और ''दक्षिण-पूर्व एशिया के सुकरात'' के रूप में सम्मानित किया गया। पेरियार को ''सामाजिक सुधार आन्दोलन का पिता'' तथा ''अज्ञान, अन्धविश्वास, अर्थहीन प्रचलनों और निराधार तौर-तरीकों का मुख्य शत्रु'' घोषित किया गया।

पेरियार की मृत्यु 24 दिसम्बर, 1973 को तमिलनाडु के वैलोर क्रिश्चियन हॉस्पिटल में हुई। वे उस समय 95 वर्ष के थे। उनके शरीर को मद्रास शहर (चेन्नई) में पेरियार थिडल में लाया गया, जहाँ से उनके द्वारा स्थापित संगठन काम किया करते थे। 25 दिसम्बर को उन्हें गैर-हिन्दू सादे समारोह में लकड़ी के ताबूत में पेरियार थिडल में ही दफना दिया गया।

पेरियार ने समता पर आधारित जातिविहीन समाज के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आत्म-सम्मान आन्दोलनों की शुरुआत की थी। सामाजिक बुराइयों को समाप्त करना, बुद्धिवाद का प्रचार-प्रसार करना तथा समाज को ईश्वर और धर्म में अन्धआस्था एवं अन्य अन्धविश्वासों की जकड़न से मुक्त कराना पेरियार के प्रमुख उद्देश्य थे। शैक्षणिक संस्थाओं और सरकारी सेवाओं में आरक्षण के जरिए गैर-ब्राह्मणों के लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित करना भी पेरियार का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य था।

पेरियार ईश्वर की कल्पना और मूर्ति-पूजा के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने अपने विरोध को व्यक्त करने के लिए तीव्र भाषा और उग्र आन्दोलनात्मक तरीकों का इस्तेमाल किया। अपने बाद के जीवन में, वे अपनी आम सभाओं की शुरुआत स्पष्ट और निश्चित रूप से ईश्वर के अस्तित्व को नकारते हुए करते थे –

ईश्वर नहीं है। ईश्वर नहीं है।
ईश्वर बिलकुल ही नहीं है।
वह जिसने ईश्वर का सृजन किया मूर्ख है।
वह जो ईश्वर का प्रचार करता है दुष्ट है।
वह जो ईश्वर की पूजा करता है असभ्य है।

पेरियार के अनुसार, 'ईश्वर-विचार मनुष्य की अज्ञानता और वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को समझने में असमर्थता का परिणाम है। इस विचार का आधार सिर्फ अटकलबाजी ही है। इसके अलावा, मनुष्य द्वारा गढ़ी गयी इस सुविधाजनक कल्पना ने वस्तुओं के वास्तविक स्वरूपों के बारे में आगे अन्वेषण और अनुसंधान के मार्ग को अवरुद्ध कर दिया। ईश्वर-विचार ने अधिकांश लोगों को महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर गहराई से सोचने से रोक दिया। ईश्वर और उसकी शक्तियों पर विश्वास ने लोगों को अज्ञानी और मूर्ख बना दिया। जैसे-जैसे लोग ईश्वर पर अपने विश्वास को छोड़ने लगे, वे बुद्धिमान बनने लगे और परिणामस्वरूप समाज प्रगति कर पाया।

ईश्वर-विचार को अस्वीकार करने के अलावा, पेरियार ने आत्मा, पुनर्जन्म, भाग्य, कर्म, मोक्ष और नरक के विचार को भी स्पष्ट तौर से नकारा है। उनके अनुसार, इन अंधविश्वासों ने मानव-जीवन में काफी तबाही मचायी है।

पेरियार सभी धर्मों के विरुद्ध थे। धर्मों का उन्मूलन पेरियार के आत्म-सम्मान आन्दोलन का एक प्रमुख उद्देश्य था। पेरियार जाति-व्यवस्था के विरुद्ध थे और उन्होंने मुख्यतः हिन्दू वातावरण में काम किया, इसलिए उन्होंने विशेष तौर से हिन्दू धर्म या ब्राह्मणवाद की आलोचना की है।

पेरियार की कुछ चुनी हुई धर्म-सम्बन्धी रचनाओं और भाषणों को Periyar on Religion (धर्म पर पेरियार) शीर्षक एक पुस्तक में प्रकाशित किया गया है। पुस्तक में एक अध्याय का शीर्षक है "Why should Religion be Abolished" (धर्म का उन्मूलन क्यों?)। पेरियार अपने लेख की शुरुआत में ही बलपूर्वक यह कहते हैं कि धर्म द्वारा बुद्धिवाद को दबाया जाता है और सामाजिक एकता को नष्ट किया जाता है। धर्म के कारण मनुष्य अपने को अलग-अलग समुदाय को समझने लगते हैं। पेरियार के अनुसार धर्म अमीर लोगों का पक्षधर है। इसलिए, पेरियार धर्मों के पूर्ण उन्मूलन का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार ''धर्म के उन्मूलन से समाज में एकता और शान्ति आएगी'' और समाज को अमीरों के अत्याचारों से छुटकारा पाने में मदद मिलेगी।

पेरियार का यह दृढ़ मत था कि हम धर्म के बिना एक अच्छा और सृजनात्मक जीवन जी सकते हैं।

पेरियार ब्राह्मणवाद के पूरी तौर पर विरुद्ध थे। छुआछूत सहित जाति-व्यवस्था का उन्मूलन पेरियार के आत्म-सम्मान आन्दोलन का सबसे मुख्य उद्देश्य था। पेरियार ने समता के मूल्य पर आधारित एक जातिविहीन समाज के लिए काम किया। उनका यह मानना था कि ब्राह्मणवाद को समाप्त करके ही इस उद्देश्य को हासिल किया जा सकता है।

पेरियार महिलाओं के अधिकारों के समर्थक थे। अपने द्वारा मद्रास में आयोजित कई आत्म-सम्मान सम्मेलनों में उन्होंने औरत-मर्द बराबरी और महिलाओं के लिए सम्पत्ति में बराबर के अधिकार की वकालत की। अन्य बातों के अलावा, वे अन्तरजातीय विवाहों और विधवा-पुनर्विवाहों को प्रेरित करते थे और उनका समर्थन करते थे। पेरियार ने परस्पर सहमति द्वारा आत्म-सम्मान विवाहों को लोकप्रिय बनाया। ये विवाह ब्राह्मण पुरोहित या किसी धार्मिक कर्मकाण्ड के बिना आयोजित किए जाते थे।

इस तरह, यह स्पष्ट है कि पेरियार ने स्वतंत्रता, समानता और न्याय के मूल्यों पर आधारित तर्कसंगत और धर्मनिरपेक्ष नैतिकता का समर्थन किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि नैतिकता के नियमों को मानव-स्वभाव की वास्तविकता के अनुरूप होना चाहिए।

बुद्धिवादी फाउंडेशन
216-A, श्री कृष्णपुरी, पटना-400001
मोबाइल : 9934779929

प्रेमचंद

❑ **जुगमन्दिर तायल**

प्रेमचंद, बीसवीं शताब्दी में हिन्दी के सबसे महान् रचनाकार थे। तुलसीदास के बाद उनकी रचनाओं ने ही हिन्दीभाषी पाठकों को सबसे ज्यादा प्रभावित किया। उनके युग में देश साम्राज्यवादी गुलामी से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहा था। उन्होंने अपनी रचनाओं में इस मुक्ति-संघर्ष का सजीव तथा प्रामाणिक चित्रण किया और उसे सशक्त भी बनाया। मुक्ति-संघर्ष के माध्यम से देश में प्रगतिशील विचारधारा का भी प्रसार हो रहा था। यह संघर्ष राजनीतिक स्वाधीनता के साथ, भारतीय समाज की पुनर्रचना का भी संघर्ष था। प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं के द्वारा प्रगतिशील विचारधारा को आगे बढ़ाया। वे सोद्देश्य साहित्य-रचना के समर्थक थे। साहित्य-रचना को मनोरंजन तक सीमित रखना, उनकी दृष्टि में साहित्य-रचना का अवमूल्यन करना था।

उनका जन्म बनारस के पास लमही गाँव में 31 जुलाई, 1880 में एक गरीब कायस्थ परिवार में हुआ। उनके पिता डाक-विभाग में मुंशी थे। प्रेमचंद का बचपन अभाव और गरीबी में बीता। शुरुआती शिक्षा के बाद उन्हें पढ़ने के लिए बनारस पैदल आना-जाना पड़ता था। जब वे 7 वर्ष के थे, तब उनकी माँ की मृत्यु हो गई। 2 वर्ष बाद पिता ने दूसरा विवाह कर लिया तो विमाता के आगमन ने उनके जीवन को और कठिन बना दिया। अभी प्रेमचंद पढ़ ही रहे थे कि उनके पिता की भी मृत्यु हो गई।

बनारस के क्वींस कॉलेज से उन्होंने दसवीं कक्षा पास की और नौकरी की तलाश करने लगे। बनारस में पढ़ते समय भी वे ट्यूशन करके अपना खर्च चलाते थे और बचा पैसा घर में खर्च कर देते थे। 1900 ई. में उन्हें सरकारी शिक्षक की नौकरी मिल गई। बनारस में पढ़ते समय ही उन्हें उपन्यास पढ़ने का शौक लगा और वे उर्दू में प्रकाशित जासूसी तथा तिलस्मी उपन्यास पढ़ने लगे। इन्हें पढ़कर प्रेमचंद को खुद लिखने की प्रेरणा मिली और वे उर्दू में उपन्यास लिखने की कोशिश करने लगे।

उनका पहला उपन्यास 'असरारे मआबिद' था जो बनारस से प्रकाशित एक उर्दू साप्ताहिक में 1903-05 ई. में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में महन्तों और पण्डों के दुष्कर्मों का अतिरंजित वर्णन है। उपन्यास रचना के बाद वे कहानी की तरफ भी मुड़े। 1907 ई. में उनकी पहली कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रतन' कानपुर से प्रकाशित उर्दू मासिक-पत्र 'जमाना' में प्रकाशित हुई। 'जमाना' के सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम थे, जो जीवन-भर उनके मित्र रहे। अपनी पहली कहानी में ही प्रेमचंद ने गहरे देशप्रेम की भावना का परिचय दिया है। इस कहानी का निष्कर्ष है कि 'खून की आखिरी बूँद जो देश की आजादी के लिए गिरे, वही दुनिया का सबसे अनमोल रतन है।'

1908 में उनकी पाँच कहानियों का पहला संकलन उर्दू में 'सोज़े वतन' के नाम से प्रकाशित हुआ। सभी कहानियों का केन्द्रीय भाव देश-प्रेम था। प्रेमचंद 'जमाना' में मैजिनी और गैरीबाल्डी जैसे देशभक्तों पर भी लिख रहे थे। वे 'नवाबराय' के नाम से रचनाएँ प्रकाशित कराते थे (उनका वास्तविक नाम धनपतराय था)। कुछ समय बाद ही सरकार ने नवाबराय की असली पहचान का पता लगा लिया। अंग्रेज जिलाधीश ने धनपतराय को बुलवाया और राजद्रोहात्मक लेखन के लिए धमकाया। फिर उन्हें यह चेतावनी देकर छोड़ दिया कि आइन्दा ऐसी हरकत की तो उन्हें सख्त सजा मिलेगी।

पर प्रेमचंद लिखना नहीं छोड़ सकते थे। उन्होंने 'नवाबराय' का नाम छोड़ दिया और प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे। यह नया नाम उनके मित्र मुंशी दयानारायण निगम ने ही सुझाया था। उर्दू में उनके तीन-चार उपन्यास प्रकाशित हुए किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिल सकी। धीरे-धीरे वे हिन्दी की तरफ मुड़े। शुरू में वे उर्दू में लिखते थे, फिर बाद में खुद हिन्दी में उसका अनुवाद करते थे क्योंकि अभी उन्हें हिन्दी में लिखने का पूरा अभ्यास नहीं था। 1917 ई. में हिन्दी में उनकी सात कहानियों का पहला संकलन 'सप्त-सरोज' प्रकाशित हुआ।

अगले वर्ष, 1918 ई. में, हिन्दी में 'सेवासदन' का प्रकाशन कलकत्ता की प्रकाशन संस्था हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से हुआ। यह हिन्दी का पहला महत्त्वपूर्ण सामाजिक उपन्यास था और हिन्दी पाठकों में बहुत लोकप्रिय हुआ। इसका प्रकाशन प्रेमचंद के साहित्यिक जीवन में नया मोड़ सिद्ध हुआ। 'सेवासदन' के प्रकाशन के बाद वे हिन्दी के श्रेष्ठ कथा-लेखक माने जाने लगे। इसकी सफलता से उत्साहित होकर उन्होंने 'प्रेमाश्रम' लिखना शुरू किया। 1922 ई. में इसके प्रकाशन के बाद प्रेमचंद को और अधिक प्रसिद्धि मिली। 'प्रेमाश्रम' में जमींदारी-प्रथा और किसानों के शोषण का सजीव चित्रण किया गया है। उपन्यास के मुख्यपात्र प्रेमशंकर एक आदर्शवादी जमींदार हैं, जो अपनी जमींदारी की जमीन को स्वेच्छा से किसानों में बाँट देते हैं। प्रेमचंद यह सुझाते हैं कि जमींदारी उन्मूलन से ही किसानों की मुक्ति हो सकती है।

'प्रेमाश्रम' के प्रकाशन से पहले ही फरवरी 1921 ई. में प्रेमचंद 20 साल पुरानी सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे चुके थे। वे उस समय गोरखपुर के नार्मल स्कूल में सहायक शिक्षक के पद पर काम कर रहे थे। वे काफी समय से नौकरी छोड़ने का मन बना रहे थे क्योंकि देशप्रेम की जिस भावना से परिपूर्ण साहित्य की वे रचना कर रहे थे, सरकारी नौकरी का तालमेल उसके साथ नहीं बैठता था। असहयोग आन्दोलन के दौरान महात्मा गाँधी गोरखपुर आये तो उनके भाषण से प्रभावित होकर प्रेमचंद ने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। यह हिम्मतभरा निर्णय था क्योंकि उनके पास नियमित आय का कोई साधन नहीं था। सरकारी नौकरी छोड़ने के बाद कुछ दिनों तक उन्होंने प्राइवेट स्कूल में शिक्षक का काम किया, फिर बनारस में अपनी प्रेस 'सरस्वती प्रेस' स्थापित की।

'प्रेमाश्रम' के बाद 'रंगभूमि' का प्रकाशन हुआ। यह उनका सबसे बड़ा उपन्यास है। इसका मुख्य पात्र 'सूरदास' महात्मा गाँधी से प्रभावित चरित्र है जो एक लालची उद्योगपति से पांडेपुर की गरीब बस्ती की रक्षा के लिए अहिंसात्मक तरीके से लड़ता है। इसके अलावा प्रेमचंद ने देशी राज्यों की प्रजा की दुर्दशा पर भी ध्यान दिया और राजस्थान की एक रियासत को आधार बनाकर वहाँ व्याप्त निरंकुशता और प्रजा की दुर्दशा का चित्रण किया। 'रंगभूमि' के बाद 'कायाकल्प' का प्रकाशन हुआ। अभी तक प्रेमचंद मूलतः उर्दू में लिखकर बाद में हिन्दी में उसका अनुवाद कर रहे थे। 'कायाकल्प' की रचना सीधे हिन्दी में हुई। इस बीच उनके दो नाटक 'संग्राम' और 'निर्मला' भी प्रकाशित हुए।

प्रेमचंद की साहित्यिक सक्रियता तेजी से बढ़ रही थी। 'कायाकल्प' के बाद 'गबन', 'निर्मला' और 'प्रतिज्ञा' उपन्यास प्रकाशित हुए। अनेक कहानी-संकलन भी प्रकाशित हुए। सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930-31 ई.) के दिनों में प्रेमचंद ने आन्दोलन के समर्थन में अनेक कहानियाँ लिखीं जो बाद में 'समर-यात्रा' कहानी-संकलन में पुस्तक-रूप में भी छपी। 1930 ई. में उन्होंने 'हंस' मासिक पत्रिका की शुरुआत की। इसमें भी उन्होंने आन्दोलन के समर्थन में लेख-टिप्पणियाँ लिखीं। 1932 ई. में उन्होंने 'जागरण' साप्ताहिक भी शुरू किया। इसी वर्ष उनका उपन्यास 'कर्मभूमि' भी प्रकाशित हुआ। किन्तु साहित्यिक-सक्रियता के साथ प्रेमचंद की आर्थिक समस्याएँ भी बढ़ती जा रही थीं। प्रेस में निरन्तर नुकसान हो रहा था। प्रेमचंद को लेखन के अलावा भी कुछ और काम करने पड़ते थे। लखनऊ में कई वर्ष उन्होंने 'माधुरी' पत्रिका में काम किया।

1934 ई. में प्रेमचंद ने अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' लिखना शुरू किया। इस वर्ष एक फिल्म कम्पनी (अजन्ता सिनेटोन) के निमन्त्रण पर वे फिल्मों की कहानी लिखने के लिए बम्बई भी गये। उनकी एक कथा पर 'मजदूर' नामक फिल्म का निर्माण भी हुआ। प्रेमचंद अपनी आर्थिक समस्या सुलझाने के लिए बम्बई भी गये

थे किन्तु वे फिल्मी-जीवन से तालमेल नहीं बैठा सके और कान्ट्रेक्ट की अवधि पूरा होने से पहले ही बनारस लौट आये।

1936 ई. में 'गोदान' का प्रकाशन हुआ। इसके मुख्य-पात्र 'होरी' के माध्यम से उन्होंने भारतीय किसान के त्रासद जीवन और उसके विश्वासों-मान्यताओं का प्रामाणिक चित्रण किया है। होरी के पुत्र 'गोबर' के माध्यम से उन्होंने नये शहरी मेहनतकश-वर्ग का भी चित्रण किया है। 'गोदान' बीसवीं शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक के भारतीय समाज, विशेष रूप से किसान-समाज का जीवन्त महाकाव्य है। प्रेमचंद के बाद कथाशिल्प की दृष्टि से हिन्दी कथा-साहित्य ने काफी प्रगति की है। किन्तु 'गोदान' का महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है। भारतीय उपन्यास के इतिहास में वह एक मील का पत्थर है।

अप्रैल 1936 ई. में प्रेमचंद ने लखनऊ में आयोजित प्रगतिशील लेखक संघ के पहले अधिवेशन की अध्यक्षता की। प्रगतिशील लेखक संघ के गठन की पहल मुल्कराज आनन्द और सज्जाद जहीर ने की थी। प्रेमचंद इस सम्मान के सर्वथा पात्र थे। सम्मेलन में अपने भाषण में उन्होंने प्रगतिशील साहित्य के महत्त्व और प्रगतिशील लेखक के उत्तरदायित्व पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि प्रगतिशील लेखक अपने समाज को राह दिखाने वाली रोशनी के समान है।

प्रेमचंद पेचिश के पुराने रोगी थे। सम्मेलन के बाद उनकी तबीयत ज्यादा खराब हो गई। जून में उन्होंने मैक्सिम गोर्की के निधन पर होने वाली शोकसभा में भाग लिया। यही उनके जीवन का अन्तिम सार्वजनिक कार्य था। 8 अक्तूबर को सुबह 56 वर्ष की अवस्था में उनका निधन हो गया।

प्रेमचंद ने अपने जीवन में लम्बी वैचारिक यात्रा तय की थी। शुरू में वे बालगंगाधर तिलक की उग्र राष्ट्रीयता से प्रभावित थे। बाद में वे गाँधीजी से भी प्रभावित हुए। स्वाधीनता आन्दोलन का उन्होंने सदैव समर्थन किया। वे 1917 ई. की सोवियत-क्रांति से भी बहुत प्रभावित थे। 1919 ई. में ही उन्होंने अपने मित्र मुंशी दयानारायन निगम को एक पत्र में लिखा था कि मैं करीब-करीब बोल्शेविष्ट उसूलों का कायल हो गया हूँ। 'हंस' और 'जागरण' की अपनी सम्पादकीय टिप्पणियों में उन्होंने बार-बार सोवियत-संघ की समाजवादी नीतियों का समर्थन किया। अपने अन्तिम लेख 'महाजनी सभ्यता' में उन्होंने पूँजीवादी-व्यवस्था की कटु आलोचना की और सोवियत-क्रांति का समर्थन किया। उन्होंने लिखा कि 'अब एक नयी सभ्यता का सूर्य सुदूर पश्चिम में उदय हो रहा है जिसने महाजनवाद या पूँजीवाद की जड़ खोदकर फेंक दी है।' उन्होंने विश्वास प्रकट किया कि देर-सबेर दुनिया के दूसरे देश भी इस क्रांति का जरूर अनुसरण करेंगे।

वे धार्मिक अंधविश्वासों, पाखंडों, जातिप्रथा और साम्प्रदायिकता के विरोधी थे। उन्हें ईश्वर में भी विश्वास नहीं था। अपनी एक कहानी के एक पात्र से उन्होंने

कहलवाया है कि 'उससे बड़ा निर्दयी संसार में कोई नहीं होगा, जो अपने रचे हुए खिलौनों को उनकी भूलों और बेवकूफियों की सजा अग्निकुंड में ढकेल कर दे। वह भगवान दयालु नहीं हो सकता। भगवान जितना दयालु है, उससे असंख्य गुना निर्दयी है। ऐसे भगवान की कल्पना से मुझे घृणा होती है।' प्रसिद्ध आलोचक डॉ. इन्द्रनाथ मदान को उन्होंने लिखा—'पहले मैं एक परमसत्ता में विश्वास करता था, विचारों के निष्कर्ष के रूप में नहीं, केवल एक लम्बे चले आते हुए रूढ़िवादी विश्वास के नाते। वह विश्वास अब खंडित हो रहा है।' अपने मित्र जैनेन्द्र को उन्होंने लिखा—'तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो, जा नहीं रहे हो, पूरे भक्त बन रहे हो। मैं संदेह से पूरा नास्तिक होता जा रहा हूँ'।

प्रेमचंद को इस संसार से विदा हुए 80 साल होने वाले हैं। इस बीच भारतीय समाज और दुनिया में बहुत परिवर्तन हुआ है। बीसवीं सदी के अंत में समाजवादी-व्यवस्था के पतन के बाद साम्राज्यवाद और पूँजीवाद पहले से ज्यादा मजबूत हो गये हैं, यद्यपि पूँजीवादी-व्यवस्था के अन्तर्विरोध भी पहले से ज्यादा गहरे होते जा रहे हैं। प्रगतिशील विचारधारा और संगठनों के सामने जो नयी चुनौतियाँ आई हैं, प्रेमचंद उनसे भागते नहीं। वे जीवन और संघर्षों से सीखने वाले लेखक थे। समाजवादी विचारधारा में उनका गहरा विश्वास था। समय के साथ उनका यह विश्वास और गहरा ही होता क्योंकि पूँजी की गुलामी से मानवजाति की मुक्ति का सही रास्ता समाजवादी विचारधारा ही बतलाती है।

लाला हरदयाल

❑ श्रीकृष्ण सरल

लाला हरदयाल जैसे अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् तथा क्रान्तिकारी के लिए यह बात अशोभनीय-सी लगती है पर सच है कि उन्होंने ऐसा किया। उनके मन में मेरठ से एक लड़की को उड़ाकर लन्दन ले जाने की बात समा गई। इस कार्य के लिए उन्होंने दृढ़ संकल्प कर लिया और योजना भी बना ली। लड़की के पिता को इस षड्यंत्र का पता चल गया और उसने अपनी लड़की का घर से बाहर निकलना बन्द कर दिया। एक दिन लड़की ने मरदाना कपड़े पहने और चुपके से गली के मोड़ तक खिसक गई। वहाँ हरदयाल एक ताँगे में उसका इन्तजार कर रहे थे। लड़की ताँगे में बैठी, ताँगा अपनी पूरी रफ्तार से दौड़ा और वे दोनों स्टेशन जा पहुँचे। सहायता करने के लिए मित्रगण वहाँ पहले ही पहुँच गये थे और उन्होंने मेरठ से बम्बई के दो टिकट पहले ही खरीद लिये थे। हरदयाल और वह लड़की दोनों गाड़ी में बैठ गये। गाड़ी छूटने ही वाली थी।

इधर घर में लड़की न पाकर उसके चाचा और भाई भी स्टेशन पहुँच गये और उन्होंने हरदयाल के साथ लड़की को गाड़ी में बैठे देख लिया। उन लोगों ने बलपूर्वक लड़की को गाड़ी से खींच लेना चाहा पर हरदयाल के युवक मित्र भी कम न थे। हरदयाल के एक-एक मित्र ने लड़की के परिवार के एक-एक व्यक्ति को बल-पूर्वक अपनी बाँहों में कस लिया और उन्हें गाड़ी में नहीं चढ़ने दिये। लड़की के परिवारवाले चिल्लाए, "यह क्या करते हो जी?"

हरदयाल खिड़की के पास ही बैठे थे। चट से बोल उठे—"अजी जनाब! प्रेम और युद्ध में सब कुछ जायज है।"

इतने में ही गाड़ी चल दी। हरदयाल के मित्रगण लड़की के परिवारवालों को जकड़े रहे और हरदयाल खिड़की में से मुँह निकालकर अपने मित्रों और लड़की के परिवारवालों से "टा! टा!" करते हुए उस लड़की को उड़ा ले गये।

कई लोगों को लाला हरदयाल जैसे अप्रतिम विद्वान् तथा घोर क्रान्तिकारी का

यह कार्य निन्दनीय और अशोभनीय लगेगा, पर एक बात हरदयाल के पक्ष में बहुत जोरदार है और वह यह कि वे किसी अन्य लड़की को नहीं, अपनी ही पत्नी को उड़ाकर लन्दन ले गये। पुराने विचारों वाले उनके श्वसुरजी अपनी बेटी को विलायत नहीं भेजना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने उस पर कई पाबन्दियाँ लगा दी थीं। वे हरदयाल थे जिन्होंने अपना क्रान्तिकारी रूप दिखा ही दिया और विचित्र योजना द्वारा अपनी पत्नी को भारत से विलायत ले गये। वहाँ उसे पढ़ाया-लिखाया और क्रान्ति के रंग में रँग दिया।

निश्चित ही हरदयाल असाधारण व्यक्तित्व के धनी थे। जिसे अंग्रेजी में 'जीनियस' 'इन्टॅलैक्चुअल जाइन्ट' कहा जाता है, वही थे हरदयाल। एक दिन लाहौर कॉलेज के सभा-भवन में अपनी विलक्षण स्मृति का प्रदर्शन करके उन्होंने लोगों को हैरत में डाल दिया। एक प्रतिद्वन्द्वी को सामने बिठाकर उसके साथ शतरंज खेलने लगे। पाँच मिनट का निश्चित समय उन्हें दिया गया था। इन पाँच मिनटों के पूरे समय तक एक व्यक्ति एक घण्टी बजाकर टन-टन करता गया। अरबी भाषा का एक विद्वान् अरबी की एक कविता पढ़ता रहा। साथ ही साथ लैटिन भाषा का एक अन्य विद्वान् लैटिन की कविता पढ़ता रहा। गणित का एक बहुत कठिन सवाल एक कॉपी पर लिखकर हरदयाल के सामने रखकर उनके हाथ में पेन्सिल दे दी गई।

पाँच मिनट के समय में हरदयाल ने सब काम एक साथ कर डाले। शतरंज के खेल में अपने शातिर प्रतिद्वन्द्वी को उन्होंने मात दे दी। उतने ही समय में गणित का कठिन प्रश्न भी हल कर दिया। उन्होंने घण्टी की टन-टन की संख्या बिलकुल ठीक बता दी। अक्षरशः उन्होंने अरबी की कविता भी सुना दी और लैटिन की भी। ऐसी प्रतिभा के धनी व्यक्ति को यदि 'जीनियस' नहीं कहा जाए तो क्या कहा जाए?

लाहौर विश्वविद्यालय से हरदयाल ने 'अंग्रेजी भाषा और साहित्य' में एम. ए. की परीक्षा दी। एक वर्ष में ही आठों पर्चे हल किये। उन दिनों एम. ए. के अंग्रेजी के पर्चे अधिकतर अंग्रेज प्रोफेसर ही जाँचते थे। हरदयाल को 800 में से 776 अर्थात् 97 प्रतिशत अंक मिले।

उच्च अध्ययन के लिए हरदयाल लन्दन की ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में पढ़ने लगे। प्राध्यापक लोग जो निबन्ध लिखने के लिए देते थे, उन्हें पढ़कर वे कह उठते थे—

"मिस्टर हरदयाल, आपने जो कुछ निबन्ध में लिख दिया है, उससे आगे आप को पढ़ाने के लिए हमारे पास कुछ भी नहीं है।"

सन् 1905 में लाला हरदयाल जब लन्दन के ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में पढ़ रहे थे, उस समय भारत के महान् क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा भी वहाँ रह रहे थे और उन्होंने भारतीय विद्यार्थियों को आवास सुविधा के लिए 'इण्डियन-हाउस' की स्थापना कर दी थी। लाला हरदयाल और श्यामजी कृष्ण वर्मा में घनिष्ठ सम्पर्क

स्थापित हो गया। भारत के एक अन्य महान् क्रान्तिकारी भाई परमानन्द भी लन्दन में आर्यसमाज का प्रचार करने के लिए उन दिनों वहाँ थे और लाला हरदयाल उनसे भी बहुधा मिलते रहे।

लाला हरदयाल मूल रूप से दिल्ली के निवासी थे और उनका जन्म 14 अक्टूबर, 1884 को हुआ था। उनके पिता का नाम गौरीदयाल माथुर और माता का नाम भोलीरानी था। मेरठ में लाला हरदयाल की श्वसुराल थी और उनकी पत्नी का नाम सुन्दररानी था।

लाला हरदयाल के चरित्र की एक विशेषता थी कि जो विचार उनके मन में उत्पन्न होता था, वह नशे की तरह उनके ऊपर छा जाता था। लन्दन में रहते हुए उनके मन में यह विचार उत्पन्न हो गया कि अंग्रेजी शिक्षा गुलामी के संस्कार डालती है और यह भारतीयों के लिए बिल्कुल भी उपयोगी नहीं है।

बस फिर क्या था, धीरे-धीरे अंग्रेजियत से उन्हें घृणा होने लगी और एक-एक करके वे उसके बन्धनों को तोड़ने लगे।

लाला हरदयाल का इंग्लैण्ड पहुँचना और आई. सी. ऍस. की तैयारी न करना भी उनका कम त्याग नहीं था। लोगों का ख्याल था कि लाला हरदयाल जैसा जीनियस बातों ही बातों में आई. सी. ऍस. करके भारत में बहुत बड़े पद पर प्रतिष्ठित हो जाएगा। ऑक्सफोर्ड में अध्ययन के लिए उन्होंने 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' विषय लिया था। इस अध्ययन के लिए उन्हें भारत सरकार से काफी अच्छा वजीफा भी मिल रहा था। विश्वविद्यालय से भी उन्हें दो वजीफे मिल रहे थे। उन्हें भारत सरकार का वजीफा न ठुकराने का परामर्श दिया गया। तो उनका उत्तर था—

"इंग्लैण्ड के हाथ भारत के निर्दोष रक्त से रँगे हुए है। ऐसे गला-काटू ठगों का पैसा लेना उचित नहीं है।"

उन्होंने एक-एक करके तीनों वजीफे ठुकरा दिए और विश्वविद्यालय का अध्ययन भी। यह तब, जब वे अपनी पत्नी को भी इंग्लैण्ड ले गये थे। कुछ प्रबन्ध श्यामजी कृष्ण वर्मा की तरफ से हुआ और कुछ स्वयं उन्होंने कर लिया। जिन्दगी की गाड़ी और अध्ययन दोनों चलने लगे।

वे अंग्रेजियत छोड़ने पर तुले हुए थे। कुछ दिन बाद उनके मन में विचार आया कि अंग्रेजी शिक्षा तो छोड़ दी पर अंग्रेजी लिबास तो बाकी है। यह विचार आते ही अंग्रेजी वेश-भूषा छोड़ दी और लन्दन में घुटनों तक की धोती, कुर्ता, पगड़ी, दुपट्टा और देशी जूते पहनकर रहने लगे। इस लिबास की कीमत चुकानी पड़ी और जनाब को निमोनिया हो गया। निमोनिया हो गया तो अंग्रेजी दवा नहीं ली और कुछ घरेलू नुस्खों से ठीक हो गये। अब शरीर से कम्बल लपेटकर रहने लगे।

लाला हरदयाल के मन में क्रान्तिकारी उपायों द्वारा भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने का भूत सवार हो गया था। वही उन्हें बेचैन किये हुए था। वे चाहते थे कि

भारत का हर नौजवान आग का शोला बन जाए और अंग्रेजी साम्राज्य को जला कर रख दे। भारत के नौजवानों को आग के गोले बनाने के लिए वे भारत जा पहुँचे और लाहौर में एक आश्रम बनाकर रहने लगे। अपनी पत्नी को जब वे मेरठ छोड़ कर लाहौर पहुँचे तो उससे वह उनकी अन्तिम भेंट थी।

लाहौर के आश्रम में पंजाबी युवक आग के गोलों के रूप में परिवर्तित होने लगे। कोई भी व्यक्ति एक बार उनके सम्पर्क में आकर उनके प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाता था। नगर वालों पर उनके प्रभाव का आलम यह था कि जब वे बाजार से निकलते तो लोग उन्हें देख उठ खड़े हो जाते और झुक-झुककर प्रणाम करते।

हरदयाल 'पंजाबी' नाम का एक अखबार भी निकालते थे, जिसमें अंग्रेजी शासन की दृष्टि से काफी आपत्तिजनक सामग्री होती थी। सरकार उनके प्रभाव से शीघ्र ही अवगत हो गई और उन्हें गिरफ्तार कर लेने के लिए लालायित हो उठी।

लाला लाजपतराय ने हरदयाल के सामने स्थिति स्पष्ट करते हुए स्वयं भी उन्हें प्रेरित किया कि कुछ समय के लिए वे भारत से बाहर चले जायें। उन्होंने तर्क दिया कि उनका जाना भारत के हित में ही होगा, अन्यथा उन जैसा आला दिमाग भारत को हमेशा के लिए खो देना पड़ेगा। हरदयाल भारत छोड़ने के लिए बिलकुल भी तैयार नहीं थे। लाला लाजपतराय और अपने अंतरंग मित्रों द्वारा बहुत अधिक प्रेरित किये जाने पर वे भारत छोड़ने के लिए सहमत हो गए।

पेरिस पहुँचकर उन्होंने 'वन्देमातरम' निकाला, जिसका प्रथम अंक 10 सितम्बर, 1909 को प्रकाशित हुआ। पहला अंक महान् क्रान्तिकारी शहीद मदन लाल धींगरा की स्मृति को समर्पित था।

''वन्देमातरम्' के आगामी अंक भी बलिदानों के संस्मरणों से भरपूर रहे और वे संसार के सभी भारतीयों को देशभक्ति और बलिदान की प्रेरणा देते रहे। भारत की भावनाओं के इस मुख-पत्र के लिए हरदयाल अपना खून-पसीना एक करते रहे।

पेरिस में रहते-रहते हरदयाल विपन्नावस्था के शिकार हो गये। उनके कपड़े फटे रहते थे और कभी-कभी भरपेट भोजन भी उनको नहीं मिलता था। मदाम कामा की हालत भी अच्छी नहीं थी। हरदयाल उन व्यक्तियों में से नहीं थे जो किसी के आगे हाथ फैलाते। इधर ब्रिटिश गुप्तचर भी उनके पीछे पड़ गये थे और ब्रिटिश हुकूमत द्वारा फ्रांस की सरकार पर उनकी गिरफ्तारी के लिए जोर डाला जा रहा था। ब्रिटिश गुप्तचरों को चकमा देने के लिए फ्रांस छोड़कर कुछ दिन के लिए वे लन्दन ही पहुँच गये और वहाँ से वे अलजीयर्स जा पहुँचे। मिस्र के क्रांतिकारियों से उनके सम्बन्ध स्थापित हुए और उन्होंने अपने नये मित्रों का अच्छा मार्ग-दर्शन किया। कुछ दिन के लिए फिर पेरिस लौटकर अन्ततोगत्वा वे वेस्टइंडीज के एक द्वीप लॉ मार्टिनिक पहुँच गए।

लॉ मार्टिनिक द्वीप फ्रैंच उपनिवेश था। वहाँ के अधिकतर निवासी या तो फ्रांसीसी

थे, या फ्रांसीसी भाषा बोल सकते थे। फ्रेंच भाषा का अच्छा ज्ञान होने के कारण हरदयाल को वहाँ कोई कठिनाई नहीं हुई। समुद्र के किनारे इस द्वीप का बन्दरगाह फोर्ट डी फ्रांस था जो बहुत साफ-सुथरा और खूबसूरत नगर था। वहाँ प्राकृतिक वैभव प्रचुर मात्रा में था। वहाँ लाला हरदयाल को अपने भारतीय भोजन के सभी उपकरण उपलब्ध हो जाते थे। वैसे भोजन की उन्हें कम ही आवश्यकता पड़ती थी। दो स्थानीय व्यक्तियों को वे अंग्रेजी पढ़ाने लगे थे और अपने गुजारे के लिए आवश्यक धन कमा लेते थे। एक छोटी-सी कोठरी में रहते थे, जिसका किराया बहुत कम था।

लाला हरदयाल इस समय अपने साथियों और क्रान्तिकारी आन्दोलन से बिलकुल कटे हुए थे पर वे बहुत समय तक कटे हुए न रह सके। एक दिन उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब अपनी कोठरी के सामने उन्होंने अपने क्रान्तिकारी साथी भाई परमानन्द को खड़े पाया। लाला हरदयाल ने किसी को भी अपना पता-ठिकाना नहीं दिया था। अपने नाम की डाक वे पोस्ट ऑफिस पहुँचकर ही ले आते थे।

भाई परमानन्द में यह विशेषता थी कि वे अपनी बात सामने वाले के गले उतार देते थे। लाला हरदयाल के साथ उनका एक महीना रहना व्यर्थ नहीं गया। उन्होंने उन्हें एकान्तवास छोड़कर फिर क्रान्ति के अखाड़े में उतरने के लिए सहमत कर लिया। वे पेरिस के जीवन और अपने लोगों की स्वार्थ-वृत्ति से ऊबकर कुछ दिन एकान्त में रहकर शक्ति-संचय के उद्देश्य से वहाँ गये थे। जनवरी 1911 में लाला हरदयाल ने लॉ मार्टिनिक द्वीप छोड़ दिया।

कुछ दिन बोस्टन में ठहरकर लाला हरदयाल अमेरिका के हारवर्ड नामक स्थान पर पहुँच गये। यह उनके स्वास्थ्य के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ। वहाँ से वे होनोलूलू द्वीप चले गये और समुद्र के किनारे एक गुफा में रहने लगे। जापानी मजदूर वहाँ काम करते थे। वे लाला हरदयाल के उपदेश सुना करते थे। उनके भोजन की व्यवस्था भी उन्हीं लोगों ने कर दी थी।

अमेरिका के कैलिफोर्निया राज्य में भारत के बहुत से सिक्ख और अन्य लोग रहते थे। उनके आग्रह पर भाई परमानन्द वहाँ पहुँच गये। भाई परमानन्द ने लाला हरदयाल को भी यहाँ बुलवा लिया। लाला हरदयाल, सरदार तेजसिंह, तारकनाथ दास और प्रोफेसर आर्थर यू. होप ने मिलकर एक समिति का निर्माण किया और भारत से होनहार और तेजस्वी छात्रों को अमेरिका में अध्ययन करने के लिए कुछ वजीफे घोषित किये। छह विद्यार्थी चुने गये और उच्च शिक्षा के साथ-साथ उन्हें क्रान्ति-कार्य के लिए प्रशिक्षित किया जाने लगा।

भाई परमानन्द ने सानफ्रांसिस्को और बर्कले में लाला हरदयाल के कुछ भाषण आयोजित कराये। विश्वविद्यालयों के प्राध्यापकगण दर्शनशास्त्र पर उनके भाषणों पर इतने मुग्ध हुए कि लेलैण्ड स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय में संस्कृत और हिन्दू दर्शनशास्त्र

के प्राध्यापक का पद स्वीकार करने के लिए उनको विवश कर दिया। लाला हरदयाल ने यह पद स्वीकार तो कर लिया पर वे वेतन या पारिश्रमिक के रूप में एक पैसा भी नहीं लेते थे। अमेरिका के लोग भारतीय ऋषि कहकर उनका आदर करते थे। उनकी ख्याति से आकर्षित होकर कैलिफोर्निया का गवर्नर भी उनके निवास-स्थान पर उनके दर्शन के लिए पहुँचा।

अपनी लोकप्रियता और प्रसिद्धि की ओट में लाला हरदयाल अपने देश के कार्य को आगे बढ़ाने से नहीं चूकते थे। उन्होंने अपने अमेरिकन विद्यार्थियों में भी अंग्रेजों के प्रति घृणा फैलाना प्रारम्भ कर दिया। उनके प्रत्येक क्रियाकलाप की सूचना गुप्तचर लोग इंग्लैण्ड और भारत सरकार के पास भेजते रहते थे। विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने भी उन्हें इस प्रकार के कार्य न करने का संकेत दिया। हरदयाल प्राध्यापक का पद छोड़कर चल दिये।

अब लाला हरदयाल अमेरिका के कैलिफोर्निया राज्य में थे। बर्कले विश्वविद्यालय में उन्होंने कुछ भारतीय विद्यार्थियों को भरती करवा दिया था। विद्यार्थियों को रहने की सुविधा देने के लिए 'नालन्दा भवन' की स्थापना कर ली गयी थी। अपना अधिकांश समय लाला हरदयाल इन विद्यार्थियों को पक्का क्रान्तिकारी बनाने में दे रहे थे। भारत में होने वाली घटनाओं से उनका सम्पर्क बना हुआ था।

लाला हरदयाल ने जब सुना कि 23 दिसम्बर, 1912 को दिल्ली-दरबार के समय भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिंज की शोभायात्रा पर चाँदनी चौक में बम का प्रहार किया गया तो इस समाचार को सुनकर वे खुशी के मारे पागल जैसे हो गये। उनके क्रान्तिकारी विद्यार्थियों में यह हर्षजनित पागलपन फैल गया। 'वन्देमातरम्' और 'भारत माता की जय' का शोर करते हुए वे दौड़ने-भागने लगे और घण्टों तक वे नाचते-कूदते रहे। लाला हरदयाल ने तुरन्त ही एक सार्वजनिक सभा का आयोजन कर डाला, जिसमें राष्ट्रवादी चीन के नेता डॉ. सनयात सेन भी उपस्थित थे। लाला हरदयाल अपने भावावेश को रोक नहीं सके और अपने भाषण के बीच अंग्रेजी सरकार को चुनौती देने लगे।

अपनी विस्फोटक भावनाओं को लाला हरदयाल ने 'युगान्तर सरक्यूलर' नाम के एक प्रपत्र द्वारा सारी दुनिया में प्रसारित कर दिया। यह प्रपत्र उन्होंने सन् 1913 के जनवरी महीने में तैयार किया था। इस प्रपत्र का धड़ाका लार्ड हार्डिंग्ज के ऊपर फेंके गये बम के धमाके से कम नहीं था। बम प्रहार पर गर्व की अभिव्यक्ति करते हुए प्रपत्र में लिखा गया–

''शाही दरबार का मुँहतोड़ उत्तर दिया है बम-विस्फोट ने। यदि ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास में दिल्ली का दरबार एक महत्त्वपूर्ण घटना है तो हमारे क्रांतिकारी इतिहास में वाइसराय पर बम का प्रहार भी स्वर्ण-लेख से कम नहीं है। अच्छा है कि दरबार

भी होते रहें और बम-प्रहार भी होते रहें और यह क्रम तब तक चले जब तक कि सारी दुनिया से दरबारों के आयोजन की प्रथा समाप्त न हो जाय।''

लाला हरदयाल का युगान्तर प्रपत्र किसी बम-विस्फोट से कम नहीं था। लालाजी के बम-विस्फोट ने भारत और इंग्लैण्ड में खलबली मचा दी और भारत सरकार बार-बार इंग्लैण्ड की सरकार को लिखने लगी कि किसी न किसी प्रकार हरदयाल को गिरफ्तार करके भारत भेजा जाय। लालाजी इस स्थिति से भलीभाँति अवगत थे पर उन्होंने इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं की और अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध आग उगलते रहे।

अब अमेरिका में रहने वाले सभी भारतीयों ने यह अनुभव किया कि विद्रोही भावनाओं को गति प्रदान करने के लिए किसी संगठन का होना आवश्यक है। वहाँ ''दि हिन्दुस्तान एसोसिएशन ऑफ दि पैसिफिक ओशन'' नाम की एक संस्था पहले से ही थी। उसका नाम अब रखा गया ''दि हिन्दी एसोसिएशन ऑफ दि पैसिफिक ओशन'' और ऐसे नाम की खोज शुरू हुई जिसको सभी समझ सकते हों। परिणामस्वरूप इस संस्था का नाम अब ''गदरपार्टी'' कर दिया गया। इस गदरपार्टी के पहले अध्यक्ष, मन्त्री और कोषाध्यक्ष क्रमशः सोहनसिंह भकना, लाला हरदयाल और पंडित काशीराम थे।

गदरपार्टी का मुख-पत्र 'गदर' था जो उर्दू और पंजाबी भाषाओं में छपता था और इसकी कुछ चुनी हुई सामग्री अंग्रेजी में भी छपती थी। संसार के सभी देशों में 'गदर' की प्रतियाँ बिना मूल्य भेजी जाती थीं। प्रतिबन्धों के होते हुए भी इसकी प्रतियाँ भारत और विशेष रूप से छावनियों में पहुँचती थीं।

'गदरपार्टी' और 'गदर' के कार्यालय का नाम युगान्तर आश्रम था जो सानफ्रांसिस्को में स्थित था। बहुत से क्रान्तिकारी यहाँ रहकर आश्रम जैसा ही जीवन व्यतीत करके तन-मन-धन से गदर अभियान को गति प्रदान कर रहे थे। गदर आन्दोलन की सफलता के लिए लोग स्वयं ही खुले दिल से धन दे रहे थे, पर लाला हरदयाल की वाणी विशेष रूप से लोगों की थैलियाँ खाली कर लेती थीं। एक दिन उन्होंने बहुत प्रेरक भाषण दिया जिससे प्रभावित होकर लोगों ने उन्हें अपार धन देना प्रारम्भ कर दिया। लाला हरदयाल ने उस धन को अस्वीकार करते हुए कहा–

''नहीं! नहीं! मैं यह धन नहीं ले सकता। इस धन से शराब की बदबू आ रही है। शराब की बदबू से युक्त इस धन के कारण भारत-माता लज्जित होगी और आजादी के प्रयत्नों में भी बदबू आएगी। मैं ऐसा धन स्वीकार नहीं कर सकता।''

लालाजी के इस तिरस्कार का जादू जैसा असर हुआ। लोगों ने खड़े होकर शराब न पीने की प्रतिज्ञाएँ कीं। तब उनका धन स्वीकार किया गया। शराब की आदत छूट जाने से पैसे की बचत होने लगी और वह पैसा आजादी के प्रयत्नों में काम आने लगा।

अमेरिका की सरकार के पास लाला हरदयाल को गिरफ्तार करने के लिए

कोई ठोस कारण नहीं थे। इमीग्रेशन कानून के अन्तर्गत वह उन्हें गिरफ्तार करने का विचार करने लगी। एक बार उनकी गिरफ्तारी का प्रयत्न निष्फल गया, क्योंकि लालाजी के अंगरक्षक हरनामसिंह और गुरुदत्तसिंह अपनी पिस्तौलें तानकर खड़े हो गये। एक अन्य अवसर पर 25 मार्च, 1913 को इमीग्रेशन इन्स्पेक्टर ने वारंट दिखाकर लाला हरदयाल को गिरफ्तार कर लिया। लालाजी को छुड़ाने के लिए जब जमानत देने का प्रश्न आया तो सभी भारतीय प्रतिस्पर्धा के साथ जमानत देने के लिए थैलियाँ लेकर पहुँच गये। बहुत से अमेरिकन लोग भी लालाजी की जमानत देने के लिए लालायित थे। 500 डॉलर की जमानत देकर लाला हरदयाल को छुड़ा लिया गया।

अमेरिका में गदरपार्टी के लोगों को ऐसा लगा कि यहाँ हरदयाल का जीवन सुरक्षित नहीं है। गदरपार्टी के निर्णय के अनुसार कुछ दिन के लिए लाला हरदयाल तुर्की गये और वहाँ से इस्माइल हक्की हसाज के नाम से जेनेवा (स्विटजरलैण्ड) पहुँच गये। जेनेवा से वे रामदास के नाम से 27 जनवरी, 1915 को जर्मनी की राजधानी बर्लिन पहुँच गये।

प्रथम विश्वयुद्ध के दिन थे। बर्लिन में उस समय अन्य भारतीय क्रान्तिकारियों ने 'बर्लिन कमेटी' कायम करके आजादी के काम को आगे बढ़ाने का अभियान छेड़ रखा था। इन क्रान्तिकारियों में चंपक रमण पिल्लई, तारकनाथ दास, अब्दुल हफीज, बरकतुल्ला, डॉ. चन्द्रकान्त चक्रवर्ती, डॉ. भूपेन्द्रनाथ दत्त (स्वामी विवेकानन्द के भाई) डॉ. प्रभाकर, वीरेन्द्र सरकार और वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय प्रमुख थे। लाला हरदयाल के जर्मनी पहुँच जाने पर कार्य और तेजी से चल निकला।

क्रांतिकारियों की योजना यह थी कि अंग्रेजों की शक्ति को कम करके उधर भारत में गदर करा दिया जाए और इधर यूरोप के मोर्चे पर उसके शत्रु उस पर चढ़ बैठें। पंजाब में हजारों की संख्या में अमेरिका और कनाडा से गदरपार्टी के सदस्य पहुँच रहे थे और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में गदर आन्दोलन का संचालन रासबिहारी बोस और शचीन्द्रनाथ सान्याल कर रहे थे। बंगाल में यतीन्द्रनाथ मुखर्जी बहुत अच्छा कार्य कर रहे थे और वे एशिया तथा यूरोप के क्रान्तिकारियों से भी सम्पर्क बनाये हुए थे।

लाला हरदयाल और बर्लिन कमेटी के प्रयत्नों से जर्मनी ने कई जहाज भर-भर कर हथियार भारत भेजे और काफी धन भी भेजा, पर उस समय अंग्रेजों की सतर्कता भी गजब की थी। वे जहाज या तो पकड़ लिये गये या डुबो दिये गये। फुटकर रूप से ही भेजे गये कुछ हथियार भारतीयों के हाथ लग सके।

हथियारों से भरे हुए जर्मन जहाजों के पकड़े जाने या डुबाए जाने से हरदयाल निराश नहीं हुए। उन्होंने फ्रांस, स्वीडन, नार्वे, स्विटजरलैण्ड, इटली, आस्ट्रिया तथा अन्य देशों के क्रान्तिकारियों के साथ सम्पर्क बढ़ाकर भारत के पक्ष में वातावरण निर्माण करने का काम प्रारम्भ कर दिया। जर्मनी द्वारा बन्दी बनाए गये भारतीय फौजियों का भी उपयोग करना उन्होंने प्रारम्भ कर दिया।

इसी समय भारत के महान् क्रान्तिकारी राजा महेन्द्रप्रताप भी जर्मनी पहुँच गये। राजा महेन्द्रप्रताप ने जर्मनी के कैसर विलहैंलम को प्रभावित किया और कुछ जर्मन तथा कुछ भारतीय सदस्यों का एक शिष्ट मंडल बनाकर अफगानिस्तान चले गये। क्रान्तिकारियों का एक दल तुर्की भी पहुँचा।

सन् 1917 में लाला हरदयाल स्वीडन पहुँचे और वहाँ विभिन्न नगरों में लगभग 9 वर्ष रहे। स्वीडन पहुँचते ही उन्होंने स्वीडिश भाषा सीख ली, उस भाषा में बातचीत करने लगे, भाषण देने लगे और स्वीडिश भाषा का अध्यापन भी करने लगे । संसार की चौदह भाषाओं पर उनका अच्छा अधिकार था और जो भी भाषा वे बोलते थे, इस प्रकार बोलते थे कि जैसे जन्म से ही वे वह भाषा बोलते आये हों।

स्वीडन में लाला हरदयाल संत जैसा जीवन व्यतीत करते रहे। वे एक छोटे कमरे में रहते थे। जब उनके व्यक्तिगत पुस्तकालय में दीवारों और फर्श पर किताबें रखने की जगह नहीं बची तो उन्होंने एक तम्बू खरीद लिया और उसमें रहने लगे। उबली हुई सब्जियाँ और आलू खाकर ही जीवनयापन करते रहे। अध्यापकीय कार्य करके वे अपनी आजीविका कमाते थे। स्वीडन के बहुत बड़े-बड़े व्यक्ति उनके मित्र और प्रशंसक थे। अपने स्वीडन प्रवास में वे राजनीति से एक प्रकार से कटे रहे।

सन् 1927 में जब इंग्लैण्ड सरकार ने लगभग सभी राजनीतिज्ञों पर से पाबन्दियाँ हटा लीं तो लाला हरदयाल को फिर लन्दन पहुँचने का अवसर मिल गया। वे 27 अक्टूबर, 1927 को लन्दन पहुँचे। उस समय लन्दन में उनके बड़े भाई किशनदयाल और भतीजे भगवतदयाल भी रह रहे थे।

लन्दन में हरदयाल लगभग 10 वर्ष रहे। दुनिया भर की भाषाओं और ज्ञान के धनी तो वे थे ही, उन्होंने अनुभव किया कि विज्ञान के क्षेत्र में उनका दखल नहीं है। यह विचार आते ही उन्होंने विज्ञान-विषय में भी स्नातक की उपाधि प्राप्त कर ली। लाला हरदयाल गौतम बुद्ध के बड़े प्रशंसक थे। गौतम बुद्ध के दार्शनिक विचारों पर थीसिस लिखकर सन् 1931 में उन्होंने पी-ऍच.डी. की उपाधि भी प्राप्त कर ली। उनकी थीसिस सभी विद्वानों द्वारा बहुत सराही गई।

उधर भारत में इस बात के प्रयत्न किये जा रहे थे कि ब्रिटिश सरकार उन पर से भारत पहुँचने की पाबन्दियाँ हटा ले। सर तेजबहादुर सप्रू इस दिशा में बहुत अधिक प्रयत्न कर रहे थे। इंग्लैण्ड में मिस्टर सी. ऍफ. एण्ड्रूज एक ईसाई मिशनरी थे जो भारत में प्राध्यापक रह चुके थे। इंग्लैण्ड में उनकी बहुत अच्छी प्रतिष्ठा थी। वे भी लाला हरदयाल के पक्ष में अपने प्रभाव का उपयोग कर रहे थे। सभी के प्रयत्न काम आये और लाला हरदयाल को भारत पहुँचने की अनुमति मिल गई।

जिस समय लाला हरदयाल को भारत पहुँचने की अनुमति का समाचार मिला, उस समय वे इंग्लैण्ड में नहीं थे। अमेरिका में उनके भाषणों की शृंखला आयोजित की गई थी और वे अपने भाषणों को स्थगित करके अमेरिका नहीं छोड़ना चाहते थे।

भारत के लोग लाला हरदयाल के आगमन की प्रतीक्षा में व्याकुल थे। भारत अपने इस क्रान्तिकारी और विश्वविख्यात विद्वान् पुत्र के अनुकूल ही स्वागत की तैयारियों में संलग्न था। उनके अमेरिका के पते से अनुमति-पत्र भेजा गया और यथोचित धनराशि भी भेजी गई।

पर उधर से एक बहुत दारुण और हृदय विदारक समाचार आया कि लाला हरदयाल अब इस दुनिया में नहीं रहे। भारत इस दारुण समाचार को सुनकर सन्न रह गया और देश भर में राष्ट्रीय शोक जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई।

लाला हरदयाल अपने जीवन के अन्तिम दिनों में अमेरिका के फिलाडैलफिया नामक स्थान पर थे। उनकी मृत्यु वहाँ 4 मार्च, 1939 को हुई। मृत्यु के पहले वे पूर्ण स्वस्थ थे और उनके स्वास्थ्य में किसी भी प्रकार की कमजोरी के कोई भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते थे। लाला हरदयाल के एक शिष्य और क्रान्तिकारी श्री हनुमन्त सहाय का कहना है कि उनकी मृत्यु स्वाभाविक न होकर किसी षड्यंत्र के फलस्वरूप हुई है। उनका कहना है कि यह सन्देह इस बात से और दृढ़ होता है कि लाला हरदयाल की मृत्यु के समाचार भारत में वास्तविक तारीख से चार सप्ताह बाद पहुँचे जबकि उस समय समुद्री तार भेजने की सुविधाएँ भी थीं। जो भी हो, लाला हरदयाल ने एक शहीद की मृत्यु वरण की। वे देश के लिए जिये और देश के लिए मरे। अपना सम्पूर्ण जीवन वे राजा जनक की भाँति विदेह अवस्था में जिये और ऋषि दधीचि की भाँति भारत की आजादी के लिए ही उन्होंने प्राण त्याग दिये।

मानवेन्द्र नाथ रॉय

❑ डॉ. रमेन्द्र

मानवेन्द्र नाथ रॉय (1887-1954) को बीसवीं सदी का एक प्रमुख भारतीय दार्शनिक माना जा सकता है। रॉय ने अपने दर्शन में दर्शनशास्त्र और धर्म के बीच एक स्पष्ट अंतर किया है। रॉय के अनुसार परम्परागत धार्मिक विचारों और धर्मशास्त्रीय रूढ़ियों से छुटकारा पाए बिना दर्शनशास्त्र का विकास सम्भव नहीं है। दूसरी ओर, रॉय ने दर्शनशास्त्र और विज्ञान के बीच बहुत निकट सम्बन्ध की कल्पना की है। रॉय के दर्शन की यह विशेषता उन्हें राधाकृष्णन सहित बीसवीं सदी के कुछ अन्य प्रमुख भारतीय विचारकों से बिल्कुल अलग कर देती है।

रॉय ने सामाजिक क्रान्ति के सन्दर्भ में वैचारिक या दार्शनिक क्रान्ति को केन्द्रीय महत्त्व दिया है। रॉय के अनुसार दार्शनिक क्रान्ति के बिना सामाजिक क्रान्ति सम्भव नहीं है। इसके अलावा, रॉय ने अठारहवीं शताब्दी के फ्रेंच दार्शनिक हॉलबैक की परम्परा में, समकालीन वैज्ञानिक विकास के प्रकाश में भौतिकवाद की एक संशोधित और नयी व्याख्या प्रस्तुत की है, जो अपने-आप में एक दार्शनिक उपलब्धि है।

अगर हम रॉय के दर्शन को प्राचीन भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में देखना चाहें, तो हम उन्हें प्राचीन भारतीय भौतिकवाद—लोकायत—की परम्परा में रख सकते हैं। लेकिन रॉय का भौतिकीय वास्तववाद (Physical Realism) लोकायत या चार्वाक दर्शन की तुलना में काफी विकसित दर्शन है। रॉय ने भौतिकवाद की पुनर्व्याख्या के क्रम में न सिर्फ भौतिकशास्त्र के नवीनतम आविष्कारों को ध्यान में रखा है, बल्कि उन्होंने अपने दर्शन में नैतिकता को भी प्रमुख स्थान दिया है। इतना ही नहीं, रॉय के दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक और राजनीतिक पक्ष भी है, जो साम्यवाद और औपचारिक लोकतंत्र की उनकी समीक्षा पर आधारित है, और जिसे रॉय ने नवमानवतावाद या रैडिकल मानवतावाद का नाम दिया है।

मानवेन्द्र नाथ रॉय का मूल नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य था। उनका जन्म 21 मार्च, 1887 को बंगाल के 24 परगना जिले के एक गाँव में हुआ था। रॉय ने अपने

राजनीतिक जीवन की शुरुआत एक लड़ाकू राष्ट्रवादी के रूप में की थी। उस समय वे 14 वर्षीय स्कूली छात्र थे। उनका सम्बन्ध अनुशीलन समिति और जुगांतर ग्रुप जैसे भूमिगत संगठनों से रहा।

शस्त्रों की तलाश में

पहले विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने के बाद रॉय सशस्त्र विद्रोह द्वारा भारत से ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के उद्देश्य से शस्त्रों की तलाश में जावा चले गए। वहाँ उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। इसके बाद वे शस्त्रों की तलाश में अलग-अलग नामों और नकली पासपोर्टों के सहारे एक देश से दूसरे देश में भटकते रहे। अंततः जून 1916 में वे संयुक्त राज्य अमेरिका के सैनफ्रांसिस्को शहर पहुँच गए।

अमेरिका के स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रांगण में ही रॉय ने अपना नाम नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य से बदलकर मानवेन्द्र नाथ रॉय रख लिया। जैसा कि रॉय ने स्वयं लिखा है, यह परिवर्तन उनके लिए एक नए जन्म की तरह था, क्योंकि शस्त्रों की निरर्थक तलाश में अब उनकी रुचि नहीं रह गयी थी, और वे एक नए सिरे से अपने जीवन की शुरुआत करना चाहते थे। अमेरिका में ही रॉय स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय की ग्रेजुएट छात्रा, एविलिन ट्रेन्ट के सम्पर्क में आए। बाद में दोनों ने विवाह कर लिया। एविलिन ट्रेन्ट रॉय की राजनीतिक और साहित्यिक सहयोगी बनीं। वे उनके साथ मैक्सिको और रूस भी गयीं। 1929 में वे दोनों अलग हो गए।

साम्यवाद की ओर

अमेरिका के ही न्यूयार्क शहर में रॉय भारत के प्रसिद्ध राष्ट्रवादी नेता लाला लाजपत राय के सम्पर्क में आए। रॉय भी उनके साथ सार्वजनिक सभाओं में जाने लगे। इन सभाओं में मजदूर वर्ग के लोगों द्वारा पूछे जाने वाले सवालों ने रॉय को यह सोचने के लिए मजबूर किया कि क्या आज़ादी के बाद भारत से गरीबी और शोषण का अंत हो जाएगा। न्यूयार्क के सार्वजनिक पुस्तकालय में रॉय का परिचय समाजवादी साहित्य से हुआ। रॉय ने समाजवाद का खण्डन करने के उद्देश्य से समाजवाद का सिलसिलेवार अध्ययन शुरू किया। लेकिन जल्दी ही उन्होंने पाया कि वे स्वयं भी समाजवादी बन चुके हैं। अपने लड़ाकू राष्ट्रवादी दिनों में रॉय बंकिमचन्द्र, विवेकानन्द और रूढ़िवादी हिन्दू दर्शन से प्रभावित रहे थे। इसलिए, शुरू में समाजवाद को स्वीकार करने पर भी रॉय ने उसके भौतिकवादी दार्शनिक आधार को स्वीकार नहीं किया था।

बाद में, 1919 में रॉय मैक्सिको में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के दूत माइकेल बोरोडिन के सम्पर्क में आए। बोरोडिन के साथ लम्बी चर्चाओं के बाद रॉय ने भौतिकवादी दर्शन को स्वीकार कर लिया, और पूरी तौर से साम्यवादी बन गए।

मैक्सिको की समाजवादी पार्टी को कम्युनिस्ट पार्टी में बदलने में रॉय ने प्रमुख भूमिका निभाई।

1920 में रॉय को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के दूसरे सम्मेलन में शामिल होने के लिए मॉस्को आमंत्रित किया गया। सम्मेलन के पहले रॉय की लेनिन से कई मुलाकातें हुईं। राष्ट्रीय आन्दोलनों में स्थानीय बुर्जुआ वर्ग की भूमिका के बारे में रॉय और लेनिन के बीच कुछ मतभेद थे। लेनिन की सलाह पर कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के इस सम्मेलन ने लेनिन की थीसिस के साथ रॉय की थीसिस को भी पूरक थीसिस के रूप में पारित किया। इसके बाद के वर्षों में रॉय को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के नीति-निर्धारक संगठनों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। 1927 में रॉय को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के प्रतिनिधि के रूप में चीन भेजा गया। लेकिन बाद में वैचारिक मतभेदों के कारण स्टालिन द्वारा उन्हें 1929 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से निकाल दिया गया।

भारत वापसी : जेल के वर्ष

सितम्बर, 1930 में रॉय भारत लौटने पर भूमिगत हो गए पर जुलाई, 1931 में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेंकने के षड्यन्त्र के आरोप में उन पर मुकदमा चलाया गया और 6 वर्षों के लिए जेल की सजा दी गयी। जिस समय रॉय भारत लौटे, उस समय वे पूरी तौर से साम्यवादी ही थे, हालाँकि कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से उनका सम्बन्ध टूट चुका था। जेल में रॉय को अध्ययन और चिन्तन के लिए काफी समय मिला। रॉय ने जेल में ही 'आधुनिक विज्ञान के दार्शनिक परिणामों' के बारे में सिलसिलेवार अध्ययन और लेखन की योजना बनायी। इसके अन्तर्गत वे मार्क्सवाद की पुनर्व्याख्या और मूल्यांकन भी करना चाहते थे। उनकी भावी पत्नी, एलेन रॉय, सहित जर्मनी के उनके दोस्तों ने जेल में किताबें भेज कर उनके इस काम में सहायता की। 5 वर्ष की अवधि में उन्होंने अपने विचारों को लगभग तीन हजार पन्नों में लिखा। रॉय की जेल में लिखी गयी पाण्डुलिपि अब तक पूरी तौर से प्रकाशित नहीं हुई है, लेकिन इसके आधार पर कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें रॉय के भौतिकवाद के अध्ययन के दृष्टिकोण से Materilism, (1940) और Science and Philosophy, (1947) प्रमुख हैं। इसके अलावा, The Historical Role of Islam (1939) और India's Message (1950) भी जेल-पाण्डुलिपि पर आधारित हैं। रॉय के नवमानवतावादी दर्शन के बीज भी जेल पाण्डुलिपि में मौजूद हैं।

साम्यवाद से आगे : नवमानवता की ओर

1936 में जेल से रिहाई के बाद रॉय अपने समर्थकों के साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हुए। कांग्रेस में उन्होंने 'लीग ऑफ रैडिकल कांग्रेसमैन' की स्थापना की।

इसके साथ ही रॉय के जीवन के उस अंतिम चरण की शुरुआत हुई, जिसमें उन्होंने नवमानवतावादी दर्शन का विकास किया।

रॉय के जेल से रिहा होने के बाद, मार्च, 1937 में उनकी जर्मन दोस्त, एलेन, उनसे मिलने बम्बई आयीं। उसी महीने दोनों ने विवाह कर लिया। इसके बाद एलेन रॉय ने उनके जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी और हर तरह से उनके साथ सहयोग किया।

1940 में रॉय और उनके अनुयायी दूसरे विश्वयुद्ध में भारत की हिस्सेदारी के प्रश्न पर मतभेद के कारण कांग्रेस से अलग हो गए, और रॉय ने रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की। इसके बाद रॉय धीरे-धीरे मार्क्सवाद और साम्यवाद से दूर होते चले गए। रॉय के अनुसार Scientific Politics, New Orientation और Beyond Communism– इन तीन पुस्तकों में नवमानवतावादी दर्शन के विकास का इतिहास दर्ज है। लेकिन, रॉय के नवमानवतावादी दर्शन का परिचय हमें रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी द्वारा अगस्त, 1947 में जारी किए गए घोषणा-पत्र—New Humanism– से मिलता है।

इस घोषणा-पत्र का प्रारूप रॉय ने ही तैयार किया था। घोषणा-पत्र में व्यक्त किए गए विचार रॉय के शब्दों में, ''आलोचनात्मक मार्क्सवादियों और भूतपूर्व कम्युनिस्टों के एक समूह'' द्वारा विकसित किए गए हैं।

घोषणा-पत्र की केन्द्रीय विषय-वस्तु रॉय द्वारा प्रतिपादित और रैडिकल डोमोक्रेटिक पार्टी द्वारा दिसम्बर, 1945 में बम्बई में अपने तीसरे सम्मेलन में पारित ''रैडिकल लोकतन्त्र पर 22 सिद्धान्त सूत्र'' हैं।

''22 थीसिस'' और घोषणा-पत्र पर आगे चर्चा के आधार पर रॉय इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि पार्टी राजनीति और उनकी कल्पना के आदर्श लोकतन्त्र के बीच परस्पर संगति नहीं है। इसलिए दिसम्बर 1948 में रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी ने कलकत्ता में अपने चौथे सम्मेलन में राजनीतिक दल के रूप में कार्य करना छोड़कर, अपने को रैडिकल मानवतावादी आन्दोलन में बदलने का निर्णय लिया। तदनुसार उन्नीसवीं और बीसवीं थीसिस और घोषणा-पत्र से अन्तिम तीन पैराग्राफों को भी संशोधित कर दिया गया। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि अपने संशोधित रूप में ''22 थीसिस'' रॉय के नवमानवतावादी दर्शन का सार और रैडिकल मानवतावादी आन्दोलन की आधारशिला है।

अंतिम दिन

1946 में रॉय देहरादून में इंडियन रिनेसाँस इंस्टिट्यूट की स्थापना की। इसका मुख्य उद्देश्य भारतीय नवजागरण आन्दोलन को संगठित करना था। 1948 में रॉय ने अपने बृहत् ग्रंथ Reason, Romanticism and Revolution (638 पृष्ठ) पर काम करना

शुरू किया, और अप्रैल, 1952 में, इसे लिखकर पूरा किया। 1952 में ही रॉय इंटरनेशनल ह्यूमैनिस्ट एण्ड एथिकल यूनियन (IHEU) के उद्घाटन सम्मेलन में हिस्सा लेने के लिए एम्स्टरडैम जाने वाले थे। इससे पहले वे थोड़े समय आराम के लिए एलेन रॉय के साथ मसूरी गए। वहीं पहाड़ी रास्तों पर चलते हुए, वे 11 जून, 1952, को लगभग 50 फीट नीचे गिर पड़े। इस कारण, रॉय दम्पती एम्स्टरडैम नहीं जा पाए और अंततः लम्बी बीमारी के बाद 25 जनवरी, 1954 को एम. एन. रॉय की मृत्यु हो गयी।

× × ×

दिसम्बर, 1942 में लखनऊ में रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के अखिल भारतीय सम्मेलन में रॉय ने घोषित किया कि न केवल युद्ध में फासिस्ट शक्तियों का पराजित होना सुनिश्चित हो गया है, वरन् फासिस्ट-विरोधी युद्ध के कारण ग्रेट ब्रिटेन एवं मित्र देशों में जो सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन उपस्थित हुए हैं, उनके परिणामस्वरूप भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।

ये दोनों अनुमान सत्य सिद्ध हुए। इतिहासकार इस बात पर सहमत हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध में अंतरराष्ट्रीय फासिस्टवाद की पराजय के कारण स्वतंत्रता को प्रोत्साहन देने वाली शक्तियों का उदय हुआ। अधिकांशतः उनके परिणामस्वरूप भारत को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। वास्तव में भारत ही नहीं, वरन् संपूर्ण विश्व-भर में उपनिवेशवाद की समाप्ति का यही एक कारण था।

राय को ज्यों ही यह स्पष्ट हो गया कि विश्वयुद्ध में फासिस्ट शक्तियों की पराजय सन्निकट है, उन्होंने भारत के युद्धोपरान्त पुनर्निर्माण पर अपना ध्यान केन्द्रित कर डाला। उन्होंने दो आलेख तैयार कराये—पहला, 'पीपुल्स प्लान फॉर इकानामिक डेवलपमेंट ऑफ इण्डिया' (जनयोजना) तथा दूसरा 'ड्राफ्ट कांस्टिट्यूशन ऑफ फ्री इण्डिया' (स्वतंत्र भारत के संविधान का मसौदा)। इन आलेखों द्वारा राय ने देश की आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं को हल करने की दिशा में अपना मौलिक योगदान दिया। रॉय ने तद्युगीन प्रचलित आर्थिक चिंतन के विपरीत 'पीपुल्स प्लान' में कृषि उत्पादन एवं लघु उद्योगों को प्रधानता दी। 'पीपुल्स प्लान' में उत्पादन का उद्देश्य लाभ के लिए न मानकर उपभोग के लिए माना गया। आर्थिक योजना का उद्देश्य जनता की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना माना, अर्थात् भोजन, आवास, शिक्षा एवं चिकित्सा की सुविधाएँ प्रदान करना। 'ड्राफ्ट कांस्टिट्यूशन ऑफ फ्री इण्डिया' में भारत के 'राज्य' की परिकल्पना एक ऐसी संरचना के रूप में की गयी जिसमें केन्द्रसत्ता देश-भर में फैली जन-समितियों के जाल पर आधारित हो तथा जन-समितियों को व्यापक अधिकार प्राप्त हों, यथा कानून-निर्माण में पहल करना, विचाराधीन विधेयकों पर सम्मति प्रदान करना, प्रतिनिधियों का प्रत्याह्वान करना तथा

महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय मसलों पर जनमत-संग्रह करना। परवर्ती काल में जय प्रकाश नारायण ने 'लोक-समितियों' के जिस विचार को लोकप्रिय बनाया, वह प्रमुखतया रॉय के 'ड्राफ्ट कांस्टिट्यूशन ऑफ फ्री इण्डिया' से लिया गया था।

रॉय के वैचारिक विकास-क्रम में नव मानवतावादी चिन्तन के विकास का समारम्भ रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ताओं के एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन शिविर द्वारा हुआ, जो कि देहरादून के पास गढ़ी में 8 मई से 18 मई, 1946 तक आयोजित किया गया था। इस शिविर में 182 से भी अधिक सदस्य उपस्थित हुए थे। रॉय ने शिविर में अपने भाषणों में इंगित किया कि साम्यवाद अब कोई अप्रत्यक्षीकृत स्वप्नलोक नहीं है, सोवियत रूस में जो कुछ घटित हो रहा है, उससे चोर के पाँव प्रत्यक्ष दिखाई देने लगे हैं। अब उसकी अविश्वसनीय ध्वजा की छाया में मुक्तिदायी क्रान्ति किसी प्रकार संभव नहीं है। हमें उच्चतर आदर्श की प्राप्ति के लिए कार्यरत होना होगा और यह आदर्श है मानव-स्वाधीनता की प्राप्ति। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि साम्यवाद के सिद्धान्त एवं व्यवहार का कारण मानव-प्रगति में विचारों के सर्वोपरि महत्त्व को न समझ पाना है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि भौतिकवाद मानव-इतिहास के विकास में विचारों के योगदान को असंगत नहीं दर्शाता, क्योंकि विचारों का उद्‍गम मानव के भौतिक अस्तित्व से ही होता है। गढ़ी शिविर में दिए गए उनके भाषणों का संकलन 'न्यू ऑरिएण्टेशन' नामक ग्रन्थ में हुआ है।

–न्यायमूर्ति विट्ठल महादेव तारकुण्डे

स्वामी सहजानन्द सरस्वती

❑ वाल्टर हाउजर

स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने अपनी कार्यकर्ता की भूमिका को सुपरिचित खेतिहर और राजनीतिक शब्दावली में प्रतिपादित किया। लेकिन अगर हम चौथे दशक के बिहार और भारत में सामाजिक और कृषि-विषयक परिवर्तन के वाहक के रूप में इस शानदार व्यक्तित्व को समझना चाहते हैं तो हमें उस सांस्कृतिक परिवेश को समझना होगा, जिसमें उनकी सामाजिक प्रतिबद्धताओं का निर्माण हुआ था। समाज-सुधार की भारतीय परम्परा में उनकी जड़ें बहुत गहरी थीं। यही वह परम्परा थी, जिसने इर्द-गिर्द की दुनिया के बारे में सहजानन्द के विचारों को बहुत-कुछ निरूपित किया और उस राजनीति को बहुत कुछ निर्धारित किया जिसमें वे संलग्न रहे।

सहजानन्द सरस्वती ने 1907 में काशी के अपारनाथ मठ में संन्यास का व्रत लिया था। दंडी संन्यासियों के दशनामी पंथ में उनके प्रवेश की इस घटना को मैं सुधारक के रूप में सहजानन्द के जीवन की छानबीन का महत्त्वपूर्ण प्रस्थान बिन्दु समझता हूँ। यह जीवन धार्मिक शब्दावली में व्यक्त होता था मगर इसके केन्द्रीय मुद्दे सामाजिक, राजनीतिक और अन्ततः कृषि-विषयक थे। इन संघर्षों का कार्यक्षेत्र पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार तथा खेतिहर चरण में अन्ततः पूरा भारत था।

7 वर्षों तक सहजानन्द एक संन्यासी के धार्मिक जीवन में रमे रहे। हिन्दू धर्म के प्राचीन ग्रंथों का गहन अध्ययन, चिंतन और मनन इसमें शामिल था। 1914 में उनका चिंतन-मनन और निवृत्ति के जीवन से अलग भूमिहार ब्राह्मणों में समाज-सुधार के उनके प्रयास, राष्ट्र की स्वाधीनता के व्यापकतर हित में राजनीतिक सुधार में उनकी भूमिका और अंत में भारत के किसानों और फिर खेत मजदूरों को आर्थिक और सामाजिक न्याय दिलाने के उद्देश्य से जुझारू किसान आन्दोलन में उनकी सक्रियता इस ध्येय में उत्तरोत्तर शामिल होने वाले तत्त्व हैं।

सहजानन्द के अनुभवों में अस्मिता के परस्पर विरोधी मुद्दों की एक व्यापक शृंखला पाई जाती है। बल्कि इनको अस्पष्टताएँ कहना अधिक सटीक होगा। प्रस्तुत

विवेचना को आलोचनात्मक शक्ति ठीक इन्हीं अस्पष्टताओं से प्राप्त होती है जो संन्यासी बनकर भूमिहारों के पक्ष में आवाज उठा रहे जुझौतिया ब्राह्मण सहजानन्द तथा सबसे अधिक स्पष्टता के साथ भूमिहारों की सामाजिक स्थिति संबंधी हितों के समर्थक उस शैव दशनामी संन्यासी सहजानन्द में पाई जाती है, जिन्होंने फिर लगानदार किसानों के हित-साधन को अपना ध्येय बना लिया था। उनमें से अनेक किसान भूमिहार भूस्वामियों के प्रभुत्वशाली वर्ग के लगानदार थे। इनमें अगर कुछ खुद भी भूमिहार थे तो अनेक तो वास्तव में कुर्मी, कोइरी, यादव आदि मँझोली जातियों के काश्तकार थे और इस प्रकार अक्सर वे हिन्दू वैष्णव पंथ के समर्थक होते थे, जहाँ अनेक सांस्कृतिक और सामाजिक भेद पाटे जा रहे थे। ये उन अनेक संक्रमणों में से कुछ के सूचक थे, जिनसे सहजानन्द लगातार न्याय और समता के हित में अपने परिवर्तन और रूपान्तरण भरे जीवन के दौरान गुजरे।

स्वामी सहजानन्द एक परम्परागत रास्ते से, अर्थात् असहयोग आन्दोलन के प्रभाव के कारण राजनीति में आए। अपने अनेक राजनीतिक समकालीनों की तरह सहजानन्द एक निम्नमध्यवर्गीय ग्रामीण परिवार के थे। इसी तरह अपने अनेक सहयोगियों की तरह वे एक पेशेवर पृष्ठभूमि से राजनीति में आए, भले ही उनके सिलसिले में यह पृष्ठभूमि धर्म की थी। उनका जीवन इसी रूपान्तर के कारण उल्लेखनीय था जो उनकी शुद्ध धार्मिक प्रतिबद्धता से पहले समाज-सुधार, फिर राजनीति और अन्ततः कृषक समाज में मूलभूत परिवर्तन की समझौताविहीन प्रतिबद्धता की दिशा में आया।

सहजानन्द का जन्म पूर्वी संयुक्त प्रान्त के गाजीपुर जिले के देवा गाँव में 22 फरवरी, 1889 में हुआ। देवा एक छोटा-सा गाँव था जो आजमगढ़ मार्ग पर गाजीपुर शहर से 30 किलोमीटर या जैसा कि सहजानन्द ने **मेरा जीवन संघर्ष** में लिखा है, बीस मील दूरी पर स्थित था। गाजीपुर वाराणसी से पश्चिमोत्तर में और उससे लगा हुआ जिला है। यह बिहार के शाहाबाद जिले से भी लगा हुआ है जिसे अक्सर सहजानन्द की कर्मभूमि कहा जाता है। यह उनकी काफी आरंभिक सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र था। वे पाँच भाइयों में सबसे छोटे थे। उनसे पहले के दो भाई तभी मर गए थे जब सहजानन्द बच्चे थे। बहन कोई न थी। फलस्वरूप सहजानन्द के जीवित वंशज उनके दो सबसे बड़े भाइयों के वंशज हैं। लगता है इस घरेलू इतिहास की दो घटनाओं ने उनके बाद के निजी और बौद्धिक जीवन पर कुछ प्रभाव अवश्य डाला था। सहजानन्द को नवरंग राय का नाम दिया गया था। उनके पिता बेनीराम दो भाइयों में सबसे छोटे थे और इन दोनों भाइयों ने दो बहनों से विवाह किया था। यह सम्बन्ध बड़े महत्त्व का सिद्ध हुआ, कारण कि सहजानन्द की माता की मृत्यु 1892 में हो गई, जब वे 3 वर्ष के शिशु थे; फिर उनका पालन-पोषण उनके पिता के बड़े भाई की पत्नी अर्थात् उनकी ताई ने बिलकुल अपने बेटे की तरह किया

और ये उनकी मौसी भी थीं। इन हालात में भावात्मक बन्धन एक प्रकार से दोहरी शक्ति रखते थे, खासकर इन पाँच भाइयों में सबसे छोटे के लिए। इसकी पुष्टि सहजानन्द ने स्वयं की है। वे कहते हैं कि वे अपने पूरे बचपन में अपनी मौसी को ही अपनी माता समझते रहे और वे भी उनको अपना औरस पुत्र मानती रहीं। यह वैयक्तिक और भावात्मक सम्बन्ध सहजानन्द के घर और गाँव छोड़ने और काशी में संन्यास का व्रत लेने चल पड़ने के कुछ ही समय बाद मौसी की मृत्यु से टूट गया।

सहजानन्द के दादा का नाम श्री ठाकुर प्रसाद राय था। सहजानन्द ने लिखा है कि देवा में उनकी निजी जोत के अलावा एक छोटी-सी जमींदारी भी थी और यह भी कि उनके दादा के समय में ये छोटी जोतें परिवार की तात्कालिक आर्थिक जरूरतों को पूरा करने के लिए काफी थीं। लेकिन परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ी और इन जोतों का बँटवारा हुआ तो उपलब्ध संसाधन लाजिमी तौर पर और सीमित हो गए। इसका मतलब यह था कि जमींदारी से जो भी मामूली आय होती थी उसके अलावा अपनी काश्त पर परिवार की निर्भरता बढ़ी। लेकिन इसके कारण विद्यालय जाने से ये वंचित नहीं हुए। गाजीपुर में हिंदी मिडल स्कूल तथा जर्मन मिशन इंग्लिश हाई स्कूल, दोनों में उनका स्थान उत्कृष्ट रहा। 1904 में संयुक्त प्रान्त में वे हिंदी मिडल स्कूल परीक्षा में सातवें स्थान पर रहे। 2 साल बाद मैट्रिक से पहले की छात्रवृत्ति-परीक्षा में भी वे इसी प्रकार सफल रहे। पढ़ाई के इन वर्षों में सहजानन्द गणित और संस्कृत की ओर खास तौर पर आकृष्ट रहे। 1907 में, अर्थात् 18 वर्ष की आयु में संन्यास का व्रत लेने के कारण वे मैट्रिक की परीक्षा में नहीं बैठ सके।

लगता है कि अपने पूरे बचपन के दौरान सहजानन्द हिन्दू कर्मकाण्ड की ओर आकृष्ट रहे। यह वह प्रतिबद्धता थी जिसे उपनयन संस्कार के बाद उन्होंने विशेष लगन के साथ निबाहा। उनकी इस प्रवृत्ति को उनके ही गाँव के एक सरयूपारीण ब्राह्मण श्री हरिनारायण पांडेय से प्रोत्साहन मिलता रहा जो अंततः सहजानन्द के संन्यास व्रत लेने के प्रमुख कारण बने। दूसरा घरेलू प्रभाव 1905 में सहजानन्द, अर्थात् नवरंग रॉय का विवाह था। इस घटना के अगले वर्ष उनकी पत्नी की मृत्यु तथा 1907 में उनके दूसरे विवाह के बारे में परिवार की योजनाओं की जानकारी ने उस निश्चय को दृढ़ किया जो सहजानन्द के निजी और बौद्धिक जीवन में लंबे समय से विकसित होता आ रहा था, कि वे गाँव और परिवार का त्याग करके तपस्वी और संन्यासी का जीवन स्वीकार करें।

अपने बौद्धिक विकास की इस आरम्भिक अवस्था में भी जब कि वे अभी गाँव में ही थे, सहजानन्द औपचारिक धार्मिक संस्थाओं के प्रति एक ''स्वाभाविक अनादर'' का भाव रखते थे; कम से कम अपने संस्मरणों में उन्होंने ऐसा ही विचार व्यक्त किया है। पुरोहितों, गुरुओं और दूसरे उपदेशकों के प्रति जनता की अंधभक्ति से वे खास तौर पर दुखी थे क्योंकि वे इनको अपनी पुश्तैनी सामाजिक स्थिति के

सहारे धार्मिक शोषण करने वालों से अधिक कुछ नहीं समझते थे। सहजानन्द ने फरवरी 1907 में काशी के अपारनाथ मठ में संन्यास लिया, जहाँ उनको दशनामी पंथ में दीक्षित किया गया। जुझौतिया ब्राह्मण होने के कारण उनको सरस्वती का उपनाम दिया गया। दशनामी पंथ में जो तीन उपनाम केवल ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित होते हैं, यह उनमें से एक था। इन्हीं तीन उपनामों वाले ब्राह्मण कर्मकांडी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दंड या लाठी भी धारण करते थे। यह एक ऐसा तथ्य था जिसने सहजानन्द के बाद के जीवन में एक व्यापक अर्थ ग्रहण किया। उनको सहजानन्द का नया नाम दिया गया और इस प्रकार देवा गाँव के नवरंग राय स्वामी सहजानन्द सरस्वती बन गए। संन्यास लेने के बाद सहजानन्द 7 वर्षों तक ध्यान तथा संस्कृत व्याकरण और शास्त्रों के अध्ययन में डूबे रहे। उन्होंने आगे चलकर कहा कि उन्होंने भारत को जानने के लिए संस्कृत का अध्ययन किया।

यही वह आलोचनात्मक बौद्धिक रुझान था जिसने इन वर्षों में सहजानन्द को पहले-पहल सार्वजनिक शास्त्रार्थों में घसीटा। वे खास तौर पर संयुक्त प्रांत और बिहार में भारत धर्म महामंडल, सनातन धर्मसभा और अन्य धार्मिक संगठनों के सम्मेलनों में सक्रिय भाग लेते रहे। 1914 तक, अर्थात् 25 वर्ष की आयु में ही वे इन प्रान्तों में काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। लोकसेवा तथा विशेष रूप से सामाजिक-राजनीतिक सुधार के प्रति सहजानन्द की प्रवृत्ति तब तीव्र हो गई, जब उनको दिसंबर 1914 में पूर्वी संयुक्त प्रांत के बलिया में आयोजित भूमिहार ब्राह्मण महासभा के वार्षिक सम्मेलन को संबोधित करने के लिए आमंत्रित किया गया। यह देखकर कि भूमिहारों को उनके आसपास के ब्राह्मणों का व्यापकतर समाज सांस्कृतिक रूप से "उत्पीड़ित, अपमानित करता है और हीन समझता है" और भूमिहार इस स्पष्ट भेदभाव का जवाब देने में असमर्थ हैं, वे बड़े उद्विग्न हुए। सहजानन्द के सामने सवाल यह था कि एक संन्यासी के रूप में क्या उन्हें भूमिहारों की ओर से आवाज उठानी चाहिए और इस प्रकार निवृत्ति, ध्यान और बौद्धिक खोजबीन का जीवन त्याग देना चाहिए? उन्हें जवाब पाने में देर नहीं लगी। घटनाओं के अनुभव और ग्रंथों से प्राप्त समर्थन, दोनों ने स्वामीजी के मन के निश्चय को पक्का कर दिया। उनके शब्दों में ये ग्रंथ स्पष्ट रूप से कहते थे कि "जनता की सेवा करना ईश्वर की सेवा और भक्ति करने के बराबर है।" सहजानन्द के लिए कर्तव्य का पथ स्पष्ट था। ध्यान के जीवन और शास्त्रों के अध्ययन के बजाय अब लोकसेवा का जीवन अपनाना होगा। जिसे उन्होंने भूमिहार ब्राह्मणों में आत्मसम्मान की भावना को पुनर्जागृत करना कहा है, उसके लिए समाज-सुधार के प्रयास, राष्ट्रीय स्वाधीनता के व्यापकतर संघर्ष में एक सुस्पष्ट भागीदारी और अंत में भारतीय किसानों के लिए सामाजिक और आर्थिक न्याय की लड़ाई लड़ने के लिए जुझारू किसान आन्दोलन में उनकी सक्रियता इसी प्रक्रिया के उत्तरोत्तर विकसित होते तत्त्व थे। सहजानन्द ने माना कि ये स्वाधीनताएँ अविभाज्य

हैं, चाहे वे सांस्कृतिक और राजनीतिक हों या सामाजिक और आर्थिक। "हमें पूरे देश के उत्थान के लिए काम करना होगा। बहरहाल, स्वाधीनता के संघर्ष का अगर यह अर्थ नहीं है तो और क्या है? मेरे विचार में इस संघर्ष का मूल तत्त्व और सच्ची समाजसेवा यह है कि जो लोग अपने अधिकारों से वंचित कर दिए गए हैं, उनको इन अधिकारों को फिर से पाने के लिए तैयार किया जाए।" सहजानन्द का सरोकार उस हरेक क्षेत्र में न्याय की स्थापना करने से था, जहाँ अन्याय पाया जाता हो। यह वह प्रतिबद्धता थी जिसे उन्होंने लोकसेवा के अपने पूरे जीवन में निबाहा।

भूमिहार ब्राह्मणों के हित के प्रति उनका आकर्षण एक गहरे सामाजिक और भावात्मक अपनत्व की उपज था, जिसकी जड़ें उनके बचपन में थीं। उनके परिजन जुझौतिया ब्राह्मण थे जिनको 1931 ई. में ए. एच. ब्लंट ने सरयूपारीण ब्राह्मणों और कान्यकुब्ज (अर्थात् कनौजिया) ब्राह्मणों की ही तरह "ब्राह्मणों की उपजाति" कहा था। सहजानन्द के पूर्वज कई पीढ़ियों पहले बुन्देलखंड से गाजीपुर आए थे। स्वामीजी के अनुसार जुझौतिया गाजीपुर में बहुत छोटा-सा समुदाय थे जहाँ उन्होंने कालक्रम में पड़ोसी गाँवों के भूमिहार ब्राह्मणों के साथ रोटी-बेटी के सम्बन्ध स्थापित कर लिये। लेकिन संख्या में अधिक ये भूमिहार उनकी जाति को हीन मानते थे जिसके कारण उनके गाँव के लोग "खुद को जुझौतिया कहने में शरमाते थे।" लेकिन सहजानन्द और सम्भवतः उनके अनेक जातिभाई न केवल इस हीन स्थिति को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे, बल्कि जुझौतिया ब्राह्मण के रूप में सहजानन्द अपने ब्राह्मणत्व की अखंडता को सिद्ध करने के लिए प्रतिबद्ध थे तथा जुझौतियों और भूमिहारों के ऐतिहासिक सम्बन्धों के कारण इसके लिए भी तैयार थे कि वे कालान्तर में भूमिहारों की ब्राह्मण पहचान को भी साबित करें। सामाजिक अंतःक्रिया के अनेक पीढ़ियों के इतिहास ने ऐसी प्रक्रियाओं को जन्म दिया था जिन्हें ब्लंट ने जातिगत सम्मिलन (कास्ट एक्रीशन) और जातिगत विखंडन (कास्ट फिशन) कहा है। इनके कारण जुझौतिया ब्राह्मण पूर्वी संयुक्त प्रांत और बिहार में तो निश्चित रूप से अपने को भूमिहार ब्राह्मण मानने लगे थे, इसकी पुष्टि काफी कुछ सहजानन्द के लेखन से और उनके जन्मस्थान देवा में उनके परिवार और जातिभाइयों से प्राप्त नवीनतम साक्ष्यों से भी होती है।

इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अंतिम और बीसवीं सदी के आरंभिक वर्षों में भूमिहार ब्राह्मणों के सामने सामाजिक स्थिति संबंधी ऐसे ही मुद्दे थे, जिनको सहजानन्द ने अपने मुद्दे बना लिये। वे अपने या अपने भूमिहार ब्राह्मण नातेदारों के लिए हीन स्थिति के इस कलंक को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इस समस्या पर उनका दृष्टिकोण उनके स्वभाव के अनुरूप ही बिलकुल साफ था—

> **मेरे शैशव से ही ब्राह्मणत्व और ब्राह्मण-गर्व मेरे रोम-रोम में व्याप्त रहा। मेरी प्रकृति और मेरा आचरण पूरी तरह इसी तथ्य से नियंत्रित थे। अन्दर से कोई आवाज मुझसे बराबर कहती रही कि मेरे पूर्वज इतने मूर्ख न थे कि बुंदेलखंड**

में अपने जुझौतिया भाइयों को छोड़कर भूमिहारों से मिलजुल जाते, जब तक कि वे भूमिहारों में अपने बराबर का ब्राह्मणत्व नहीं पाते। मैं अन्यथा सोचने में असमर्थ था। इसलिए मेरा यह अडिग विश्वास था कि ये भूमिहार उतने ही श्रेष्ठ थे जितने मैथिल, कान्यकुब्ज या कोई और ब्राह्मण।

इन विचारों और छवियों के प्रति सहजानंद की प्रतिक्रिया दोहरी थी। एक तो उन्होंने शास्त्रों के उद्धरण दिए कि ''दान लेना और पुरोहित-कर्म का प्रतिपादन ब्राह्मणों के लिए अनिवार्य नहीं है'', बल्कि ''ब्राह्मणों के लिए भी कृषि पुरोहिती से अधिक वांछित है और कृषि के अभाव में ही ब्राह्मण को पुरोहित-कर्म करने का अधिकार है।'' दूसरे, उन्होंने भूमिहारों के ब्राह्मणत्व को पुष्ट करने के लिए विभिन्न हिन्दी और अंग्रेजी स्रोतों के हवाले दिए और इससे भी बढ़कर यह कि पूरे बिहार और संयुक्त प्रान्त में उन्होंने बारीकी से जाँच-पड़ताल की और भूमिहारों, मैथिलों, कान्यकुब्जों, सरयूपारीणों और अन्य ब्राह्मणों के बीच विवाह-सम्बन्धों के एक लम्बे-चौड़े तंत्र का अस्तित्व दिखाया। इनमें दरभंगा महाराज के श्रोत्रिय गोत्रियों के साथ भूमिहार ब्राह्मणों के विवाहसम्बन्ध भी शामिल थे और मैथिल ब्राह्मणों में महाराज का सामाजिक स्थान सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। इस प्रस्तुति का तर्क दोटूक था कि अगर ये उच्चस्थ ब्राह्मण जातियाँ भूमिहारों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करती हैं, तो सामाजिक परिभाषा के अनुसार भूमिहार भी ब्राह्मण ही होने चाहिए। सहजानन्द ने इन खोजों के परिणाम 1917 में अपनी रचना **'भूमिहार ब्राह्मण परिचय'** में प्रकाशित किए, जिसका दूसरा विस्तारित संस्करण **'ब्रह्मर्षि वंश विस्तर'** शीर्षक से प्रकाशित हुआ। सहजानन्द के दावों ने प्रतिक्रिया का तूफान खड़ा कर दिया और साथ ही यह सवाल भी कि अगर भूमिहार सचमुच ब्राह्मण हैं तो वे दान क्यों नहीं स्वीकार करते या खुद पुरोहित-कर्म न करके अपने कर्मकांड के प्रतिपादन के लिए दूसरे ब्राह्मणों पर क्यों निर्भर रहते हैं?

लेकिन सहजानन्द दबनेवाले नहीं थे। उन्होंने उतनी ही दृढ़ता से और साक्ष्यों के साथ दावा किया कि भूमिहार सचमुच पुरोहित हैं और उन्हें कहीं अधिक संख्या में पुरोहित होना भी चाहिए। अपनी दो पुस्तिकाओं **झूठा भय** और **मिथ्या अभिमान** तथा **ब्राह्मण समाज की स्थिति** में उन्होंने भूमिहार ब्राह्मणों के पुरोहित-कर्म के अनेक उदाहरण दिए और भूमिहारों से आग्रह भी किया कि ''उनके आत्मसम्मान का तकाजा है कि वे पुरोहिती स्वीकार करें।'' सहजानन्द लिखते हैं कि ''इससे ब्राह्मण पुरोहित जल-भुन गए और उन्होंने (फिर) भूमिहारों के विवाह-संस्कार, श्राद्ध और दूसरे कर्मकाण्ड सम्पन्न कराना बन्द कर दिया।'' इससे मजबूर होकर भूमिहारों ने पुरोहिती वृत्ति को अपनाया।

सहजानन्द के लिए अन्वेषण और सार्वजनिक शास्त्रार्थ के इन वर्षों का परिणाम यह हुआ कि उनको विश्वास हो गया कि ''(इन प्रश्नों पर) उनकी आस्था और अंतरात्मा की वाणी शत-प्रतिशत सही थी।'' लेकिन सहजानन्द के कार्यों ने विवादों का तूफान

खड़ा कर दिया था। भूमिहारों के ब्राह्मणत्व और पुरोहिती के अधिकरों के दावे करने के कारण वे अपने विरोधियों के बीच बड़े पैमाने पर बदनाम हो गए, लेकिन इससे भी अहम बात यह थी कि उनके समर्थन का दायरा और भी बढ़ा। उनके दावे वास्तव में ब्राह्मण पुरोहितों के कर्मकांडीय एकाधिकार पर ही नहीं, बल्कि उनकी धार्मिक सत्ता पर भी सीधा हमला थे, जो सांस्कृतिक दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण था।

लेकिन सहजानन्द ने इस टकराव को उसकी तार्किक सीमा तक ले जाने के निश्चय को कमजोर नहीं पड़ने दिया। व्यावहारिक स्तर पर वे युवा भूमिहार ब्राह्मणों को पुरोहिती में दक्ष बनाने के उपाय और साधन तलाशने लगे। चूँकि अधिकांश भूमिहार संस्कृत नहीं जानते थे और न ब्राह्मण पुरोहित युवा भूमिहारों को इस भाषा या कर्मकाण्ड का ज्ञान देने को तैयार थे, इसलिए सहजानन्द ने स्वयं ये दोनों काम करने का बीड़ा उठाया। एक तरफ उन्होंने हिंदी में हिंदू कर्मकांड के बारे में **कर्मकलाप** शीर्षक से 1200 पृष्ठों की एक भारी-भरकम पुस्तक लिखी, जिसका जल्द ही दूसरा संस्करण छपा और फिर अनेक संस्करण छपे। साथ ही उन्होंने संस्कृत के अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ प्रदान करके और विद्यालयों को बढ़ावा देकर इस भाषा के ज्ञानार्जन को आगे बढ़ाया। इस प्रयास का चरम बिन्दु संस्कृत बाल विद्यालय था, जिसे सहजानन्द ने 1927 में पटना जिले में मनेर से पश्चिम स्थित बिहटा के सीताराम आश्रम में स्थापित किया।

लेकिन सहजानन्द का संघर्ष केवल ब्राह्मण पुरोहितों से ही नहीं था। दीर्घकालिक सन्दर्भ में उन्होंने इससे भी प्रबल संघर्ष उन भूमिहार भूस्वामी कुलीनों के खिलाफ चलाया जो भूमिहार ब्राह्मण महासभा पर हावी थे और जो समझते थे कि भूमिहारों को सहजानंद द्वारा पुरोहित और इसलिए दान लेने वाला कहा जाना अपमानजनक है। भूमिहार ब्राह्मण महासभा के ''जमींदारों, राजाओं और महाराजाओं'' के खिलाफ इसी संघर्ष ने अन्ततः सहजानन्द के राजनीतिक जीवन की दिशा और मर्म को निर्धारित किया। भूमिहार ब्राह्मण महासभा 1890 के दशक से ही तीन मुख्य उद्देश्यों के लिए कार्यरत थी और इससे वह अन्य जातियों के उन संगठनों से भिन्न नहीं थी जिनका सरोकार उस समय के विकासशील राजनीतिक परिवेश में एक पहचान योग्य सार्वजनिक छवि को निरूपित करना और सामने रखना था। भूमिहार ब्राह्मण महासभा के कार्यक्रम का समाज सुधार वाला घटक शिक्षा पर और इसलिए विद्यालयों की स्थापना पर जोर देता था। लेकिन एक शक्तिशाली, कुलीन और भूस्वामी अभिजात वर्ग महासभा की आत्मछवि का केन्द्रीय तत्त्व था। इस सामाजिक और सांस्कृतिक छवि का एक राजनीतिक पक्ष भी था। यह पक्ष था भूस्वामित्व के स्थायित्व और सम्राट के प्रति निष्ठा का और यह निष्ठा महासभा के वार्षिक प्रस्तावों में जमकर दिखाई जाती थी तथा सबसे शक्तिशाली और सबसे सम्मानित भूमिहार कुलीनों के प्रतिनिधिमंडलों द्वारा वाइसराय तक पहुँचाई जाती थी।

तीसरे दशक के मध्य तक अभिजात भूमिहारों से सहजानन्द का टकराव अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। तब संयुक्त प्रान्त और बिहार के सबसे शक्तिशाली भूस्वामियों में से अनेक महासभा के प्रमुख नेता थे। महासभा को संरक्षण देने वाले बिहारी जमींदारों में प्रमुख थे मकसूदपुर के राजा चंदेश्वर प्रसाद नारायण सिंह और टेकारी के महाराजकुमार श्री गोपाल शरण सिंह। इन दोनों की जागीरें गया जिले में थीं। तीसरे थे सर गणेश दत्त सिंह जो तीसरे दशक की सुधारोत्तर लेजिस्लेटिव काउंसिल में स्थानीय स्वशासन मंत्री थे और कई बार महासभा के अध्यक्ष रहे थे। पटना जिले के पश्चिमी भाग में स्थित धरहरा के जमींदार भी भूमिहार ब्राह्मण महासभा की राजनीति में सक्रिय थे; इनकी जोतें उस आश्रम के आसपास ही थीं जिसे सहजानन्द ने 1927 में स्थापित किया था।

इस प्रकार एक बहुत ही वास्तविक अर्थ में दूसरे और तीसरे दशकों में ही सहजानन्द बिहार के जमींदार भूस्वामियों के विरोध में खड़े थे, भले ही यह विरोध सांस्कृतिक छवि और सामाजिक स्थिति की शब्दावली में व्यक्त होता रहा हो। एक और स्तर पर यह विरोध वास्तव में कृषक वर्गीय शब्दावली में था और खुले तौर पर राजनीतिक तथा मोटे तौर पर सामाजिक और आर्थिक भी था। विरोध के ये ढर्रे 1925 और 1926 में भूमिहार ब्राह्मण महासभा की बैठकों में उभरकर सामने आए। पटना में महासभा की 1926 की वार्षिक बैठक में सहजानन्द ने सफलता के साथ भूमिहार ब्राह्मणों तथा उनकी युवा और ''शिक्षित पीढ़ी'' को बड़ी संख्या में लामबंद किया। नतीजा यह हुआ कि महासभा के इतिहास में एक राष्ट्रवादी कांग्रेसी पहली बार उसका अध्यक्ष चुना गया। ये थे पश्चिमी संयुक्त प्रान्त के मेरठ जिले के असौढ़ा निवासी चौधरी रघुवीर नारायण सिंह। इसी सम्मेलन में महासभा ने पहली बार पुरोहिती संबंधी एक प्रस्ताव पारित किया। यह स्वामी सहजानन्द के लिए एक ऐसा अभियान था जो 11 वर्षों से जारी था और इसे सफलता भूमिहारों की उस नई पीढ़ी के ठोस समर्थन के कारण मिली, जो इन प्रस्तावों में अपनी सांस्कृतिक छवि, अपनी सामाजिक स्थिति और अपने आर्थिक-राजनीतिक हितों को इस प्रकार व्यक्त होते देख रहे थे जो अभिजात भूमिहारों की पुरानी पीढ़ी के हितों की अभिव्यक्ति से अलग और विशिष्ट थी। यही समय था जब सहजानन्द की समाज-सुधार की धारणा में राजनीतिक, आर्थिक और कृषि-विषयक सुधार भी आ जुड़े।

इस रूपान्तरण की शक्ति 1927 में महसूस की गई, जब सहजानन्द के आश्रम के आसपास स्थित गाँवों के लगानदार किसान स्वामीजी के पास आए और पश्चिमी पटना स्थित धरहरा के ठीक उन्हीं जमींदारों के दमन से मुक्ति दिलाने की गुहार करने लगे, जिनका सहजानन्द ने भूमिहार ब्राह्मण महासभा में जोरदार विरोध किया था। इन हालात में इस घटना की तार्किकता और नाटकीयता इस तथ्य में स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई कि 1927 में सहजानन्द से सम्पर्क करने वाले किसानों में यादव

किसान प्रमुख थे। मँझोली जाति के काश्तकारों के रूप में यादव बिहार की अकेली सबसे बड़ी जाति हैं और पटना जिले के इस भाग के लगानदार किसानों में उनकी संख्या बहुत अधिक है। यह बात भी उल्लेखनीय है कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम और बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में अपनी वैष्णव पहचान की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के आन्दोलन में यादवों ने प्रमुख भाग लिया था। बिहटा के इस टकराव के कारण भूमिहार जमींदारों से सहजानन्द का अलगाव मुकम्मल हो गया। उनके शब्दों में, ये जमींदार उनके ''सबसे भयानक दुश्मन'' बन गए। अब सहजानन्द जो भेद करने लगे वह सभी जमींदारों और सभी किसानों का भेद था। सहजानन्द के चिन्तन में जाति और वर्ग मिलकर अब सामाजिक और आर्थिक शोषण की एक ही श्रेणी बन चुके थे। उनके शब्दों में सीताराम आश्रम ''क्रान्ति का प्रतीक'' बन गया था। यह बात क्रान्ति शब्द के पूरे अर्थ में सही थी।

भूमिहार ब्राह्मण महासभा की कार्यवाहियों में राजनीति से स्वामी सहजानन्द का जो सीमित परिचय हुआ था, वह 1918 के बाद कहीं अधिक व्यापक मुद्दों की ओर मुड़ गया। सहजानन्द का ध्यान पंजाब की घटनाओं ने खींचा और उन्होंने कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन की पूरी कार्यवाही को पढ़ा। फिर उन्होंने सितम्बर 1920 में कलकत्ता में सम्पन्न कांग्रेस के विशेष अधिवेशन की कार्यवाहियों को भी पढ़ा, जहाँ गाँधी के असहयोग का प्रस्ताव स्वीकार किया गया था। उन्होंने आगे चलकर कहा, ''मैं धीरे-धीरे सक्रिय राजनीति के क्षेत्र की तरफ धकेला जा रहा था। असंतोष की जिस लहर ने एक छोर से दूसरे छोर तक देश को उद्वेलित कर दिया था, उससे मैं अप्रभावित रहता, यह बिलकुल असम्भव था। फलस्वरूप मैं आन्दोलन में शामिल हो गया।''

गाँधी से उनकी मुलाकात पटना में दिसम्बर 1920 में हुई। यही वह मुलाकात थी जिसने ''राजनीति में कूदने'' के उनके निश्चय को पुष्ट किया, '' इसलिए नहीं कि इससे मेरे देश का कुछ भला होगा, बल्कि इसलिए कि केवल तभी मैं संन्यासी के रूप में सेवा के सच्चे अर्थ को समझ सकूँगा।'' इस मुलाकात से उन पर जो प्रभाव पड़े, वे शीघ्र ही कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में उनकी भागीदारी से और पुष्ट हुए। गाँधी के नेतृत्व की पुष्टि करने तथा उनके कार्यक्रम को कांग्रेस और देश का कार्यक्रम बनाने में नागपुर अधिवेशन अनेक अर्थों में एक मोड़ का सूचक था। उनके शब्दों में, नागपुर में ही कांग्रेस ने ''याचना की पुरानी पद्धति को त्यागा... और इसके बजाय आत्मसम्मान का रास्ता अपनाया। पहली बार यह तय किया गया कि अगर सरकार देश की वाजिब माँगों को पूरा करने से इनकार करे तो हम उसे चुनौती दें। इस प्रकार भारत को एक नया जीवन प्राप्त हुआ।'' 1921 के अहमदाबाद अधिवेशन में ऐसे ही उत्साह और उमंग का बोलबाला रहा। सहजानन्द ने आगे चलकर लिखा, ''कांग्रेस में छाए भारी उत्साह का वर्णन कोई नहीं कर सकता; लहर-दर-लहर

उत्साह नजर आता था।'' सहजानन्द आगे लिखते हैं—गाँधीजी बोलते समय एक मेज पर बैठे थे। उनका पूरा शरीर और खासकर उनका चेहरा आभापूर्ण दिखाई देता था। लगता था कि एक महामानव के रूप में कोई शक्ति सरकार को कड़ी चुनौती दे रही है और उसे चेता रही है कि वह होशियार रहे। वे घंटों तक बोलते रहे। पूरी निस्तब्धता छाई हुई थी। उनको मैंने फिर कभी इतना भावुक होकर बोलते नहीं सुना। उनके मुँह से निकला एक-एक शब्द सरकार के खिलाफ बिजली की कड़क जैसा था। लगता था कि विध्वंस के देवता शिव गरज रहे हैं और जल्द ही महाप्रलय होने वाला है।

ये भारतीय राजनीति में भारी उथल-पुथल के दिन थे और सहजानन्द ने तन-मन से खुद को इसमें झोंक दिया। स्वामीजी के लिए राजनीति सक्रियता की राजनीति ही हो सकती थी। उन्होंने लिखा है कि ''अपनी प्रकृति से ही मैं हमेशा संघर्ष से भरी स्थितियों का इच्छुक रहा हूँ। जब भी संघर्ष का अभाव रहा, मैं फौरन विरक्त हो गया। लेकिन जैसे ही कांग्रेस ने 1930 में दोबारा संघर्ष का आरम्भ किया, मैंने फौरन अपनी दूसरी सारी गतिविधियाँ रोक दीं और जिस किसान सभा और सीताराम आश्रम से मेरा इतना गहरा लगाव था, उनको भी छोड़कर आन्दोलन में कूदने की तैयारी करने लगा।''

लेकिन सहजानन्द के लिए स्वाधीनता आन्दोलन के सक्रिय पुनरारम्भ की सम्भावना का अंत निराशा में हुआ। इससे कांग्रेसियों और कांग्रेस की राजनीति से उनका मोहभंग हुआ, उनका उत्साह और उनका मोहभंग जनवरी 1930 में स्पष्ट हो चुका था, जब सहजानन्द ''आन्दोलन में कूदने'' के लिए तैयार थे।

उन्होंने जिस चीज को कांग्रेसियों का दिखावा और छलावा कहा है, उसकी वे अधिकाधिक आलोचना करने लगे। लेकिन अंततः स्वाधीनता आन्दोलन की प्रकृति और मर्म को लेकर स्वयं गाँधी से उनका गहरा मतभेद हो गया। यही वह मोहभंग था जिससे सहजानन्द कांग्रेस के अंदर ही रहकर उसके सख्त विरोधी बन गये। विरोधी की यह भूमिका निश्चय ही उनके लिए अधिक सहज थी और इससे वे स्पष्ट रूप से अधिक कारगर होते थे। उनके विचार में जनसेवा तभी सम्पन्न होती जब वे किसी विशेष अन्याय पर अपना ध्यान केन्द्रित करते। इसका अर्थ अंततः किसान राजनीति या, उनके अपने शब्दों में, रोटी की राजनीति हो गया। सहजानन्द का इस राजनीति की ओर संक्रमण एक स्वाभाविक संक्रमण था। यह संक्रमण स्वतंत्रता की राजनीति के दायरे में रहकर हुआ तथा उनके बिहटा स्थित आश्रम में और उसके इर्द-गिर्द कार्यकलाप के साथ आगे बढ़ा। यह 1933 में अपनी चरम सीमा पर पहुँचा, जब पुनर्गठित बिहार प्रांतीय किसान सभा का निर्माण हुआ। उसके बाद सहजानन्द किसानों के सामाजिक और आर्थिक शोषण की समस्याओं को हल करने के प्रयास में पूरी तरह डूब गए। अंततः वे चौथे दशक के अंतिम और पाँचवें दशक के आरंभिक वर्षों

में सबसे गरीब किसानों और खेत मजदूरों के शोषण की समस्याओं से जूझने लगे। सहजानन्द के लिए अन्य सभी चिंताएँ अंततः इसी एकमात्र और सबसे महत्त्वपूर्ण सरोकार से निर्धारित होती थीं। इस प्रक्रिया में वे अपने युग के किसान हितों के सबसे प्रमुख प्रवक्ता बन गए।

सहजानन्द ने संस्कृत का अध्ययन भारत को समझने के लिए किया। अपने राजनीतिक जीवन के आरंभिक चरण में वे हिंदी ही नहीं, अंग्रेजी के समाचार-पत्र भी अपनी अंग्रेजी में और धार लाने तथा अपने युग के सार्वजनिक घटनाक्रम से परिचय पाने के लिए पढ़ते थे। अंततः उनकी सबसे आम भाषा निश्चय ही देहात के उन किसानों की भाषा होती थी जिनके साथ उन्होंने आखिरकार अपने को जोड़ लिया था। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सहजानन्द सीधे-सादे और आलंकारिक ढंग से भी अनेक भाषाएँ बोलते थे। इनके सहारे उन्होंने उन विशेष स्थानीय, क्षेत्रीय और देशी हितों का प्रतिनिधित्व और पुनर्निरूपण किया, जिन्होंने किसी विशेष काल में उनकी बौद्धिक और राजनीतिक प्रवृत्ति को अपनी ओर खींचा। गाजीपुर के ग्रामीण, घरेलू लालन-पालन से आगे बढ़कर उन्होंने धार्मिक चिंतन-मनन का जीवन अपनाया, धर्म से जातिगत राजनीति की दिशा में बढ़े, फिर जातिगत राजनीति से आगे बढ़कर स्वाधीनता आन्दोलन की राष्ट्रीय राजनीति में पहुँचे, इसके बाद वे किसान सभा की किसान राजनीति में और अंततः मूलगामी कृषि-विषयक राजनीति में पहुँचे। लेकिन उनके लिए मुद्दा सिर्फ परिवर्तन नहीं था—हालाँकि यह अपने आपमें प्रभावशाली था—बल्कि यह था कि वे जिस परिवर्तन को उचित समझते थे, उसकी राह में आने वाली हर बाधा से जूझने को तैयार थे। चाहे निम्न माने जाने वाले ब्राह्मणों के हित में ब्राह्मणों और पुरोहितों से भिड़ने का सवाल हो या शोषित किसानों के हित में अभिजात भूस्वामियों से, जो अक्सर खुद भी भूमिहार ब्राह्मण होते थे, जूझने का सवाल हो, या अंततः गाँवों के गरीबों के हित में धनी किसानों से टकराने का सवाल हो, उन्होंने ऐसी ही तत्परता दिखाई। जैसा कि इन दृष्टांतों से और सबसे अधिक जिन गाँधी को वे कभी पूजते थे उन्हीं के साथ उनके टकराव से भी पता चलता है, सहजानन्द स्वतंत्र विचारों के आत्मविश्वास संपन्न व्यक्ति थे। इस अर्थ में वे घोर प्रतिरोधी थे।

यही वह स्थान है जिसे सहजानन्द ने 61 वर्षों के जीवन में अपने लिए अर्जित किया और जिसे उन्होंने 1907 और 1950 के बीच के वर्षों में एक ऐसी शब्दावली में निरूपित किया जो निश्चित रूप से उनकी अपनी थी। यह वह शब्दावली थी, जिसका विकास गंभीर रूपांतरण और परिवर्तन के विचारों ने किया था और जिसका केन्द्र सामाजिक न्याय, आर्थिक समता तथा अंततः शील और मानवीय गरिमा के भावों में था।

× × ×

(राघव शरण शर्मा द्वारा लिखित—'सहजानन्द स्वामी समग्र' की भूमिका से) स्वामी सहजानन्द सरस्वती अपने युग-धर्म के अवतार थे। वे निःसंग थे। अपने समय की पदचाप की आकुल पहचान थे। किसान विस्फोट के प्रतीक थे। किसान आन्दोलन के पर्यायवाची थे। उत्कट राष्ट्रवादी थे। राष्ट्रवादी वामपंथ के अग्रणी सिद्धान्तकार, सूत्रकार एवं संघर्षकार थे। ये दुर्द्धर्ष व्यक्तित्व के धनी थे। सामाजिक न्याय के प्रथम उद्घोषक थे। संगठित किसान आन्दोलन के जनक एवं संचालक थे। अथक परिश्रमी थे। तेजस्वी व्यक्तित्व के स्वामी थे। वेदान्त और मीमांसा के महान् पण्डित थे। मार्क्सवाद के ठेठ देसी संस्करण थे। ऐसे किसान क्रान्तिकारी थे, जिनकी वाणी में आग होती थी एवं क्रिया में विद्रोह। आडम्बरविहीन थे। उत्पीड़न के खिलाफ दुर्वासा थे, परशुराम थे। स्वामीजी में खाँटी खरापन, खुरदरापन, बेधड़कपन, बेलौसपन था। अजीब मस्ती के धनी थे, धुनी थे जो ठान लिये तो करके ही दम लेने वाले। लल्लो-चप्पो से जल-भुन जाने वाले थे। उनके पास दोस्त-दुश्मन की एक ही पहचान थी—किसानों के प्रति उनका व्यवहार। किसानों के सवाल पर, आजादी के सवाल पर समझौताविहीन संघर्षरत योद्धा थे। वे दलितों के योद्धा संन्यासी थे। भारत के पूरे राजनीतिक क्षितिज पर वे ही एक अकेला, भिन्न, अलग, विशिष्ट, अलबेला व्यक्ति नजर आते हैं जिन्होंने पूरे जीवन में कभी भी असत् से समझौता नहीं किया। यही कारण था कि सुभाषचन्द्र बोस और योगेन्द्र शुक्ला ऐसे राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी इनके चरण चूमते थे। बेनीपुरी, दिनकर, रेणु, अज्ञेय, प्रभाकर माचवे, राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन, मुल्कराज आनन्द, महाश्वेता देवी, उग्र, रामनरेश त्रिपाठी, मन्मथनाथ गुप्त, ए. आर. देसाई, सरदेसाई, राजनाथ पाण्डेय, शिवकुमार मिश्र, केशव प्रसाद शर्मा ऐसे साहित्यकार इनसे जुड़े रहे एवं अधिकांश ने इन्हें अपनी रचना के केन्द्र में रखा। मगर, स्वामीजी को जितना आदर सुभाषचन्द्र बोस, इन्दुलाल याग्निक, यदुनन्दन शर्मा, राहुल सांकृत्यायन दे दिया, उतना उन लोगों ने किसी और को नहीं दिया।

विचारणीय बात है—आखिर क्या बात थी स्वामीजी में, जिसके कारण सुभाषचन्द्र बोस हृदय से यह समझते थे और कलम से अभिव्यक्त भी करते थे कि कोई 1939-40 में देश में क्रान्ति करने की, पूरे देश में आन्दोलन करने की, पूरे देश को नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता रखता है तो वह व्यक्ति है स्वामी सहजानन्द सरस्वती। इन्हीं के नेतृत्व में आजादी का दूसरा पर्व सफलतापूर्वक लड़ा जा सकता है। सुभाषचन्द्र बोस स्वामीजी को उग्र-वामपंथ का अग्रणी चिन्तक एवं क्रान्तिकारी धारा का पथप्रदर्शक समझते थे।

जवाहर लाल नेहरू

❑ राजेन्द्र कुंभज

जवाहर लाल नेहरू चहुमुखी प्रतिभा के धनी, भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के हीरो, स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री थे, जिन्होंने 17 वर्ष तक देश का नेतृत्व किया। उनकी गुटनिरपेक्षता की नीति ने भारत को दुनिया में तीसरी शक्ति के रूप में स्थापित किया। वहीं उन्होंने पंचशील की नीति के द्वारा संपूर्ण दुनिया को संकीर्णताओं से मुक्त कर मानवीय जीवन जीने की खुशहाल राह दिखायी।

अयं निजो परो वेति गणना लघुचेतसाम्, उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् की उक्ति उनके जीवन में स्पष्ट परिलक्षित होती है। सच तो यह है कि उन जैसा कुशल और निर्भीक नेतृत्व करने वाला मानवता का प्रखर प्रवक्ता इतिहास के पन्नों में ढूँढ़ने से भी मुश्किल से मिलेगा। यह राय उनके समकालीन कुछ प्रमुख महापुरुषों और विविध क्षेत्रों के प्रमुख व्यक्तियों द्वारा उनके विविध आयामों पर व्यक्त विचारों पर आधारित है। भारत को यह गर्व और गौरव मिला है कि बुद्ध, अशोक, अकबर और महात्मा गाँधी की परंपरा में जवाहरलाल जैसा रत्न प्राप्त हुआ, जिसने अपनी वाणी और कर्म से न केवल वर्तमान वरन् भविष्य के लिए भी ऐसे विचार और मान्यताएँ दीं जिनके द्वारा हम अपने देश का सुदृढ़ निर्माण कर सकें।

विलायत से अपनी शिक्षा और अध्ययन समाप्त कर वे भारत आये व 1916 में गाँधीजी से मिले। तब उन्हें गाँधीजी पिछड़े और दकियानूसी विचारों के जान पड़े। जल्दी ही गाँधीजी के क्रियाशील व्यक्तित्व व साध्य-साधन की शुद्धता से इतने प्रभावित हुए कि मतभेद एक ओर रखकर गाँधीजी का सच्चाई के साथ अनुसरण करने लगे।

व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन में प्रथम सत्याग्रही थे श्री विनोबा भावे और दूसरे सत्याग्रही नियुक्त हुए थे जवाहरलाल; किन्तु सत्याग्रह करने से पूर्व ही उन्हें गिरफ्तार कर 4 वर्ष का कारावास दिया गया। व्यक्तिगत सत्याग्रही का अधिकार गाँधीजी उन्हें ही देते थे जो उनके मतानुसार उनके समस्त सिद्धान्तों का व्यावहारिक आचरण करते थे।

गाँधीजी ने आगे चलकर उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। आजादी मिलते ही दिये गये उनके ओजस्वी भाषण में देश निर्माण का दर्द दर्ज है। वे कहते हैं—हम भारत और भारत की जनता और उससे भी बढ़कर मानवता की सेवा के लिए सब कुछ न्योछावर करने की प्रतिज्ञा करते हैं। भारत की सेवा करने का मतलब करोड़ों पीड़ितों की सेवा है। मतलब गरीबी, अशिक्षा, रोग और अवसर की असमानता का खात्मा। हमारी पीढ़ी के सबसे बड़े आदमी गाँधीजी की आकांक्षा थी कि हर आँख का आँसू पोंछ दिया जाये। शायद यह हमारी ताकत के बाहर हो, लेकिन जब तक आँसू और वेदना रहेगी, तब तक हमारा काम पूरा नहीं होगा। जिस भारतीय जनता के हम नुमायन्दे हैं, उससे अपील करते हैं कि वह हमें विश्वास और भरोसे के साथ इस महान् कार्य में सहयोग दें। हमें स्वतंत्र भारत की ऐसी आलीशान इमारत बनाना है, जिसमें भारत के हर बच्चे के रहने की जगह हो, हमें भारत के नव निर्माण के साथ विश्व के मार्गदर्शन का कार्य मिला है।

गुटनिरपेक्षता एवं पंचशील की नीति विश्व-शांति के लिए उनकी अनुपम देन है जिसके द्वारा उन्होंने किसी गुट में शामिल न होकर, निर्गुट शक्ति से शक्ति-संतुलन बनाकर, विश्व को युद्धों से बचाया और सारे उपायों से शांति की स्थापना के लिए आपसी झगड़ों का विचार-विनिमय द्वारा निराकरण किया।

पंचशील के पाँच सिद्धान्तों की उत्पत्ति इन्हीं मुद्दों से हुई। ये सिद्धान्त 29 अप्रैल, 1954 को निर्धारित हुए—

1. एक दूसरे की सार्वभौमिकता और प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान।
2. अनाक्रमण।
3. दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना।
4. समानता और पारस्परिक हितों का सम्मान।
5. शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व।

उन्होंने अपनी विदेश नीति के संबंध में कहा कि "सबसे पहले ये बात मान लेनी चाहिए कि अणु बमों की खोज और वैज्ञानिक तरक्की की वजह से अन्तरराष्ट्रीय मसलों को हल करने के लिए युद्ध करीब-करीब बेकार हो चुका है क्योंकि आज लड़ाई का मतलब है सारी दुनिया की बर्बादी", जिसमें किसी भी राष्ट्र या राष्ट्रों के गुट को जीतने या फायदा उठाने की कोई गुंजाइश नहीं है।

हम आज जीवित हैं क्योंकि विश्वव्यापी विनाश करने की क्षमता रखने वाला विश्वयुद्ध नहीं हुआ। महान् दार्शनिक वैज्ञानिक बर्ट्रेंड रसेल ने कहा था, "नेहरू निर्मित गुटनिरपेक्ष नीति ने एक से अधिक बार दुनिया को तीसरे विश्वयुद्ध से बचाया।" उनके मंत्रि मण्डल में रहे वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के प्रसिद्ध शिक्षाविद् डॉ. सी. डी. देशमुख ने लिखा, "नेहरू, जो वैज्ञानिकों में वैज्ञानिक, लेखकों में लेखक, इतिहासकारों में इतिहासकार और राजनीतिज्ञों में साफ-सुथरे राजनीतिज्ञ थे, इन्हीं विशेषताओं ने उन्हें

विश्व इतिहास में बेजोड़ महापुरुष बना दिया।" विज्ञानचेतना के द्रष्टा तथा विश्वशान्ति के प्रबल पक्षधर नेहरू के सुझाव व विशेष आग्रह पर डॉ. दौलत सिंह कोठारी ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में **'एक्सप्लोजन एण्ड देयर इफेक्ट्स'** पुस्तक की रचना की। उस पर नेहरूजी ने कहा— इसे पढ़कर लोग जानेंगे, कि हम कैसी दुनिया में रहते हैं और यदि हम नाभिकीय आयुधों से खेलने लगे तो दुनिया का भविष्य क्या होने वाला है? दुनिया के अस्तित्व को ही खतरा हो जायेगा।

वे सांप्रदायिकता को पिछड़ेपन का तमगा मानते थे। सांप्रदायिकता उन्हें जहर लगती थी। वे धार्मिक पाखण्डों, कर्मकाण्डों और अंधविश्वासों के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने कहा—जब-जब लोगों में धर्म के नाम पर कट्टरता पनपी है तब-तब इंसानियत लहूलुहान हुई है। देश के बँटवारे में लाखों लोगों, विशेषकर महिलाओं, बच्चों का कत्लेआम हुआ। करोड़ों लोग देश छोड़ने के लिए मजबूर हुए। ये हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिकता के कारण हुआ। धार्मिक कट्टरता से उपजी सांप्रदायिकता का वे डटकर मुकाबला करते रहे क्योंकि उसे वे राष्ट्रीय एकता में सबसे बड़ा रोड़ा मानते थे।

आज सभी धर्मनिरपेक्ष ताकतों को एक होकर सांप्रदायिक दलों के रजिस्ट्रेशन को चुनाव आयोग व सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती देकर रद्द कराना चाहिए।

अन्य महापुरुषों की दृष्टि में

जवाहर लाल अपने ढंग के बेजोड़ शूर हैं। देश-भक्ति के बारे में उनसे बढ़कर और कौन है? जवाहर लाल स्फटिक के सदृश शुद्ध हैं। सच्चाई के विषय में तो शंका की जगह ही नहीं। वे एक निडर, दोषों से रहित सेनापति हैं। जवाहर लाल तो बेताज बादशाह हैं, जो हिन्दुस्तान को तो अपनी सेवा देना ही चाहते हैं, उसके द्वारा समस्त संसार को भी अपनी सेवा देना चाहते हैं।

—महात्मा गाँधी

जवाहर लाल नेहरू ने राजनीतिक संघर्ष के क्षेत्र में, जहाँ प्रायः छल और आत्मप्रवंचना चरित्र को विकृत कर देती है, शुद्ध आचरण का आदर्श निबाहा है। उन्होंने कभी सत्य से मुख नहीं मोड़ा, चाहे उसमें कितना ही खतरा रहा हो। न उन्होंने कभी झूठ के साथ कोई समझौता किया, चाहे उसमें कितनी ही सुविधा रही हो। उनकी प्रभावशाली बुद्धि हमेशा कूटनीति के उस मार्ग से मुखर अवज्ञापूर्वक हट जाती रही है, जहाँ सफलता सस्ती और तुच्छ होती है।

—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

गाँधीजी के बाद उन्हीं का एक नाम है जो हिन्दुस्तान का नाम है। मैंने ऐसा राजनीतिज्ञ नहीं देखा जो घृणा व दुर्भावना से इतना मुक्त हो।

—आचार्य विनोबा भावे

पिछले 30 वर्षों से कुछ अधिक से भारत का इतिहास जवाहर लाल नेहरू के जीवन और कार्यकलाप से अनिवार्यतः सम्बद्ध रहा है। देश के स्वतंत्रता युद्ध में वे अग्रगण्य रहे हैं। अनेक वर्षों से कांग्रेस, उसकी अखिल भारतीय समिति और कार्यकारिणी समिति द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव उन्हीं के प्रस्तुत किए हुए रहे हैं और कांग्रेस की मुख्य नीति घोषणा के मसौदे भी उन्होंने तैयार किए हैं। उनके नेतृत्व में देश को बड़े-बड़े और महत्त्वपूर्ण निर्णय करने पड़े और उन निर्णयों के दूरव्यापी परिणाम भोगने पड़े हैं। साधारण मनुष्य इतने बड़े दायित्व के भार के नीचे टूट जाता, लेकिन वे चट्टान की तरह दृढ़ रहे।

–डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

दृढ़ और निष्कपट योद्धा की भाँति उन्होंने विदेशी शासन से अनवरत युद्ध किया। जवाहर लाल के ज्वलन्त आदर्शवाद, जीवन में कला और सौंदर्य के प्रति प्रेम, दूसरों की प्रेरणा और स्फूर्ति की अद्‌भुत आकर्षण शक्ति और संसार के प्रमुख व्यक्तियों की नजर में विशिष्ट रूप से चमकने वाले व्यक्तित्व ने एक राजनीतिक नेता के रूप में उन्हें क्रमशः उच्च से उच्चतर शिखरों पर पहुँचा दिया। उनके चरित्र और कृतित्व का बहुमुखी प्रसार अंकन से परे है।

–सरदार बल्लभभाई पटेल

जवाहर लाल नेहरू हमारी पीढ़ी के एक महानतम व्यक्ति थे। वे एक ऐसे अद्वितीय राजनीतिज्ञ थे कि मानव-जाति के प्रति उनकी सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। स्वाधीनता संग्राम के योद्धा के रूप में यशस्वी थे और आधुनिक भारत के निर्माण के लिए उनका अवदान अभूतपूर्व था। उनके जीवन और उनके कार्यों का गहरा प्रभाव हमारे चिन्तन, हमारे सामाजिक संगठन और हमारे बौद्धिक विकास पर पड़ा है। नेहरू के सक्रिय और सार्वदेशिक नेतृत्व के बिना भारत के स्वरूप का चिन्तन लगभग असम्भव- सा लगता है।

–डॉ. राधाकृष्णन

वे अपने देश के महान् सेवक और एशिया और विश्व के एक विशिष्ट राजनेता हैं। नेहरू को न केवल इतिहास का ज्ञान है जो कि राजनेताओं के लिए प्रायः महत्त्वपूर्ण होता है, वरन् इससे भी अधिक बहुत कुछ उनके ज्ञान-भंडार में है। वे तो इतिहास का दर्शन भी जानते हैं। इसीलिए वर्तमान एवं भविष्य की प्रवृत्तियों की नब्ज पकड़ लेते हैं। साथ ही वे एक साहसी पुरुष भी हैं।

–श्रीमती भंडारनायके
(सीलोन की प्रधानमंत्री)

श्री नेहरू आधुनिक युग के असाधारण राजनेता के रूप में विख्यात हैं, जिन्होंने जनगण के बीच में मैत्री एवं सहयोग को दृढ़ बनाने के लिए तथा मानव-जाति की

प्रगति के लिए संघर्ष में सारा जीवन लगा दिया। वे समस्त विश्व में शांति के लिए संघर्ष करने वाले जोशीले सेनानायक थे। राष्ट्रों के मध्य शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्तों को साकार बनाने के लक्ष्य के कट्टर हिमायती थे।

–श्री ख्रुश्चेव
(सोवियत रूस के प्रधानमंत्री)

हमारे समय में युद्ध की समस्या अन्य सभी समस्याओं पर छा गई है। राष्ट्रों के दो प्रबल गुट, जिनके पास मानव-जाति के संहार के लिए व्यापक शस्त्रास्त्र हैं तथा जो समझौते की आवश्यकता से बिल्कुल बेखबर-से हैं, आमने-सामने ताल ठोक रहे हैं। गुटों से पृथक् रहने वाले देशों में भारत सबसे महान् एवं महत्त्वपूर्ण देश है, भारत ने विश्वयुद्ध टालने के लिए बहुत कुछ किया है और कर सकता है। भारत और विश्व नेहरू का ऋणी है, मानव इतिहास के इस कठिन समय में नेहरू शांति और स्थिर बुद्धि के लिए विख्यात हैं।

–अर्ल बर्ट्रेण्ड रसेल

सही अर्थ में वे न केवल भारत के वरन् कल के विश्व के प्रधानमंत्री हैं। उनकी मानवीयता, अन्तरराष्ट्रीयवाद, आदर्शवाद, रूढ़िमुक्तता, वैज्ञानिक भावना और इतिहासज्ञता उन्हें यह योग्यता प्रदान करती है। हम उनकी महानता को ऐहिक पैमाने से नहीं नाप सकते। हम इस संसार के छोटे-छोटे जीव हैं, जिनकी अर्जुन की भाँति लघुदृष्टि है। हमारे लिए नेहरू गिद्ध की पैनी और दूरदृष्टि वाले सर्वज्ञाता कृष्ण हैं।

–अल्बर्ट आइंस्टाइन

भारतीय स्वाधीनता संग्राम तथा अन्तरराष्ट्रीय मामलों में उल्लेखनीय योगदान के सन्दर्भ में गाँधीजी के साथ श्री नेहरू को भी मैं बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति मानता रहा हूँ। शांति के लिए उनके अथक प्रयासों का मैं सदैव प्रशंसक रहा हूँ। किसी भी राजनेता एवं व्यक्ति की महानता इस बात से आँकी जाती है कि तत्कालीन समाज के आधारभूत मूल्यों अर्थात् स्वतंत्रता, शान्ति एवं समृद्धि के प्रति अपनी जनता की रचनात्मक अभिलाषाओं एवं प्रयासों का वह कहाँ तक प्रतिनिधित्व कर सकता है।

–श्री मार्शल टीटो
(युगोस्लाविया के राष्ट्रपति)

जवाहर लाल नेहरू का जीवन विविध रूपों में संपूर्णता एवं समृद्धि का प्रतीक रहा है। उनके जीवन में भारत की आत्मा रम गई है, सच तो यह है कि श्री नेहरू भारतीय जनता के सुख-सपनों के द्रष्टा ही नहीं वरन् मानव-चेतना के प्रतीक हैं। विशेषकर उन सबके, जिन्होंने भारतवासियों के समान ही अनुभव किए हैं, वैसी ही समस्याओं का सामना किया है। श्री नेहरू ने एक ओर तो अपनी जनता तथा एशिया

अफ्रीका की जनता की आकांक्षाओं का बखूबी प्रतिनिधित्व किया है तो दूसरी ओर उन्होंने विश्व की जनता के स्वप्नों एवं आकांक्षाओं की जानकारी अपनी तथा एशियाई और अफ्रीकी जनता को दी।

–कर्नल नासिर
(अरब गणराज्य के राष्ट्रपति)

बीसवीं सदी के महान् रचनाकार बर्नार्ड शॉ इस बात से हतप्रभ हैं कि नेहरू लेखक और कवियों जैसा मानव हृदय पाकर भी इतने बड़े राजनीतिज्ञ कैसे बन गये।

ये कुछ झलकियाँ हैं नेहरू के व्यक्तित्व के कुछ आयामों की। क्या हम उनकी देश और दुनिया को दी गयी देन से उऋण हो सकते हैं?

–राजेन्द्र कुंभज
जयपुर गेट, सांगानेर, जयपुर
मोबाइल : 9460723700

भारतरत्न भीमराव आम्बेडकर

❑ ईश कुमार गंगानिया

भारतरत्न बाबा साहब डॉ. आम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल, सन् 1891 में सूबेदार रामजी सपकाल की चौदहवीं संतान के रूप में एक महार (कबीरपंथी) परिवार में हुआ। यह वह दौर था जब परिवार आर्थिक संकट से गुजर रहा था और भारतीय समाज छुआछूत, अस्पृश्यता, जातिप्रथा तथा रूढ़िवाद का भयंकर रूप से शिकार था। भीमराव जब केवल 5 वर्ष के थे, उनकी माता का देहान्त हो गया। पिता जब दूसरी पत्नी घर ले आए तो परिवार में विवाद हुआ। बालक भीम का इस उम्र में एक अलग व क्रान्तिकारी तेवर पहली बार सामने आता है। अपने विरोध के चलते पढ़ाई छोड़, वह स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने के लिए खेतों में काम करते हैं, स्टेशन पर हमाली करते हैं और बम्बई जाकर कारखाने में काम करने का सपना पालते हैं और अंततः पुनः पढ़ाई करने का संकल्प लेते हैं।

बचपन से ही उनकी नजर बड़ी पैनी थी। बाजार में दुकानदार द्वारा माँ को कपड़ा दूर से दिखाए जाने, स्कूल में भेदभाव, हज्ज़ाम द्वारा बाल न काटने और गाड़ीवान द्वारा बदतमीजी, ऐसी घटनाएँ हैं जिन्होंने भीम के बाल मन पर ऐसे चाबुक का काम किया, जिसका दर्द वे आजीवन महसूस करते रहे। डॉ. आम्बेडकर को अंग्रेजी, गणित व पाठ्यक्रम से अतिरिक्त पुस्तकें पढ़ने व संग्रह करने के शौक का श्रेय उनके पिता को जाता है। एलफिंस्टन कॉलेज में भी उन्हें शिक्षक और विद्यार्थियों से अस्पृश्यता का दंश झेलना पड़ा। परिणामस्वरूप, उनके बाल मन में पढ़ाई के प्रति एक जुनून-सा पैदा हो गया और वे मुम्बई के एक कमरे के मकान में दो-दो बजे तक जागकर पढ़ने लगे।

1907 में मैट्रिक पास करने पर एक समारोह हुआ और कृष्णाजी अर्जुन केलुसकर ने उन्हें स्वलिखित 'बुद्धचरित' भेंट की। इस पुस्तक ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। इस दौरान दो घटनाएँ घटीं। एक, 17 वर्ष के भीमराव का 9 वर्ष की रमाबाई से विवाह हुआ और दूसरे, पिता की तबीयत के साथ-साथ घर-परिवार की आर्थिक स्थिति

भी खराब हो गई। लेकिन जैसे-तैसे उन्होंने बारहवीं कक्षा पास की। छात्रवृत्ति के दम पर उनका अध्ययन आगे चला और उन्होंने खूब मेहनत करके बी.ए. पास किया।

डिग्री पास करने पर उनकी बड़ौदा सरकार में लेफ्टिनेंट के पद पर नियुक्ति हुई। नौकरी आरम्भ ही की थी कि सूबेदार जी बीमार पड़ गए और अंततः उनकी मृत्यु हो गई। पिता को खोकर भीमराव की मानो दुनिया ही लुट गई। छात्रवृत्ति के दम पर ही विदेश में शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। 1915 में 'प्राचीन भारतीय व्यापार' नामक प्रबंध एम. ए. के लिए लिखा। जून 1916 में 'भारत में जाति' विषय पर प्रबंध लिखा। छात्रवृत्ति की अवधि समाप्त हो जाने के कारण उन्हें पढ़ाई अधूरी छोड़कर भारत लौटना पड़ा। हिन्दू लॉज या धर्मशाला में जगह नहीं मिली। इसलिए एक पारसी धर्मशाला में नाम बदलकर रहे, यहाँ से भी अपमानित होकर भागना पड़ा। 'मूकनायक' (पाक्षिक) पत्र का प्रकाशन किया। पुनः इंग्लैण्ड में उच्च शिक्षा के लिए गए। लंदन में उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स एंड पॉलिटिकल साइंस में प्रवेश लिया और इसके साथ-साथ बैरिस्टर के पाठ्यक्रम में प्रवेश लिया। सुबह एक कप चाय व मुरब्बा लगा एक पाव का टुकड़ा खाकर निकलते तो पाँच बजे तक पढ़ते रहते। रात के भोजन में एक कप पेय और दो बिस्कुट लेते। फिर पढ़ने का दूसरा दौर शुरू करते और सुबह तक पढ़ते रहते। इस बार छात्रवृत्ति नहीं थी, पिता भी नहीं थे। इसलिए अपना पेट काटकर अध्ययन जारी रखा।

उन्होंने 'डॉक्टर ऑफ साइंस' की उपाधि के लिए 'द प्राब्लम ऑफ रूपी' नामक शोध-प्रबंध लिखा तथा बैरिस्टर की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। 29 जुलाई, 1924 को 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' का जन्म हुआ। इसका उद्देश्य अछूतों में शिक्षा प्रसार के लिए हॉस्टल, वाचनालय, शैक्षणिक वर्ग व स्वाध्याय संघ स्थापित करना था। चवदार तालाब आन्दोलन किया और आत्मोद्धार के इस आन्दोलन में आम्बेडकर ने सीढ़ी से नीचे तालाब में उतरकर अंजुलि से जल पिया, जिसका अनुसरण प्रचंड जनसमुदाय ने किया।

सनातनी लोगों द्वारा वीरेश्वर के मंदिर में प्रवेश की अफवाह के कारण आन्दोलन हिंसक हो गया और अछूतों को जीवन के सभी क्षेत्रों में हिंसा का सामना करना पड़ा। लेकिन डॉ. आम्बेडकर ने खूनी संघर्ष को टाल दिया और शान्ति का मार्ग अपनाकर मुकदमा चलाकर सात लोगों को चार महीने की सश्रम कारावास की सजा कराई। महार आन्दोलन से उनमें संगठन क्षमता का विकास हुआ और सवर्णों के अत्याचार के विरुद्ध लामबंदी की शुरुआत हुई। डॉ. आम्बेडकर ने 'मूकनायक' के बाद 3 अप्रैल, 1927 को 'बहिष्कृत भारत' नामक पाक्षिक पत्र आरम्भ किया। मन्दिर प्रवेश आन्दोलन हुआ। सामाजिक व राजनीतिक संगठनों का समय-समय पर उदय हुआ। पूना पैक्ट और हिन्दू कोड बिल उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। जीवनपर्यन्त चलने वाले सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक आन्दोलनों ने, ऐसा

लगता है जैसे उन्हें आन्दोलनों व संघर्षों का पर्याय बना दिया। इसमें पुरुषों और महिलाओं ने जमकर भागीदारी की। 06-12-1956 को आखिरी साँस लेने से पहले दिन के 12.15 बजे तक वे 'बुद्ध एण्ड हिज धम्म' पर काम करते रहे। आखिरकार कल्प पुरुष, धम्मचक्र प्रवर्तक, बोधिसत्व, भारतीय संविधान के पिता, महामानव, डॉ. भीमराव आम्बेडकर हमसे शारीरिक रूप से विदा हो गए लेकिन आज भी वे इंसानियत के रखवालों के लिए कभी न खत्म होने वाले ऊर्जा-स्रोत के रूप में मौजूद हैं और हमेशा रहेंगे।

व्यक्तित्व

बाबा साहब का बहुआयामी व्यक्तित्व किसी व्यक्ति या पुस्तक के आधार पर निर्मित नहीं हुआ था। यह अध्ययन की निरन्तरता, परिस्थितियों के सूक्ष्म अवलोकन व विश्लेषण, गंभीर चिंतन-मनन तथा नैतिकता व कठोर अनुशासन का साझा परिणाम था, इसकी झलक हमें 1948 में टॉलस्टाय के संबंध में शारदा कबीर को लिखे पत्र में इस प्रकार मिलती है—टॉलस्टाय मेरा नायक नहीं है। वास्तव में कोई भी लेखक मेरा नायक नहीं है। मैं किसी भी लेखक से जो ग्रहण करने लायक व आगे विचार करने लायक होता है, उसे ग्रहण कर लेता हूँ और उसको आत्मसात् करके अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता हूँ, यह किसी की नकल करना नहीं है।...मेरा व्यक्तित्व अपना निजी व मौलिक है।

परिस्थितियों के विश्लेषण व उसके अनुरूप निर्णय लेने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। जब वे लंदन में थे पैसे और समय का उनके पास बेहद अभाव था, ऐसी परिस्थिति में ब्रिटिश संग्रहालय में वे सुबह 8 बजे से शाम 5 बजे तक किताबों में खोए रहते थे और समय व पैसा बचाने के लिए अपना लंच व डिनर भी छोड़ देते थे। सिर्फ नाश्ता ही उनके लिए पर्याप्त रहता था। जब उनके पुनर्विवाह की परिस्थिति पैदा हुई तो तर्कयुक्त अंदाज में कहते हैं कि मुझे कोई संदेह नहीं है कि एक नर्स को रखना और हाउस कीपर को रखना, किसी षड्यंत्र को जन्म देगा। बेहतर तरीका शादी है। यशवंत की माँ के देहान्त के बाद मैंने तय किया कि मैं शादी नहीं करूँगा। लेकिन परिस्थितियों ने मुझे विश्लेषण के लिए बाध्य किया है। डॉक्टर कहते हैं कि आपके पास दो विकल्प हैं या तो शादी कर लो या जल्दी मौत को स्वीकार कर लो। अपने निर्णय लेने व उन्हें सम्मान देने की उनमें जोरदार क्षमता थी।

निर्भीकता व देश-प्रेम उनके व्यक्ति की एक अलग विशेषता थी। 1932 में पुणे में गोलमेज सम्मेलन से लौटने पर स्वागत समारोह में डॉ. आम्बेडकर बताते हैं—कुछ दिनों के बाद जब धूल छँट जाएगी और गोलमेज सम्मेलन की कार्यवाही को भावी इतिहासकारों, हिन्दुओं की भावी पीढ़ियों द्वारा निष्पक्ष भाव से देखा जाएगा तो वे मेरी राष्ट्र के प्रति सेवा को सराहेंगे।...यह मेरा ईमानदार संकल्प है कि जिन

अछूतों के बीच में मैं पैदा हुआ हूँ, मेरी परवरिश हुई है और रह रहा हूँ, उनकी सेवा व अधिकारों के लिए मरूँगा। मैं अपने नेक लक्ष्य से अपने विरोधियों के हिंसक व अपमानित करने के कारनामों से रत्तीभर भी विचलित नहीं हूँगा।

1942 में 'थॉट्स ऑन पाकिस्तान' पर अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ. आम्बेडकर कहते हैं कि मैं मानता हूँ कि कुछ मुद्दों पर मेरा जातिवादी हिन्दुओं से विवाद/मतभेद है। लेकिन मैं आपके सामने शपथ लेता हूँ कि मैं अपनी मातृभूमि के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दूँगा। वे भारतीयता को राष्ट्र की सर्वोच्च प्राथमिकता मानते हुए कहते हैं कि मैं चाहता हूँ कि सारे लोग भारतीय पहले और भारतीय अंत में हों और भारतीय के अतिरिक्त और कुछ न रहें।

उन्हें व्यक्ति पूजा व अपनी तारीफ तक पसंद नहीं थी। इस सम्बन्ध में 1933 में जी आई पी रेलवे की सभा में कहते हैं—'यह भाषण मेरे कार्यों व मेरे बारे में अतिशयोक्तिपूर्ण बातों से भरा है। इसका मतलब यह हुआ कि आप मेरे जैसे साधारण आदमी का अपमान कर रहे हैं। यदि आप नायक पूजा पैदा होने से पहले ही इसे बेरहमी से खत्म नहीं करेंगे तो यह विचार आपको तबाह कर देगा। आप एक व्यक्ति में अपनी सुरक्षा व मुक्ति सुनिश्चित करना चाहते हैं। परिणामस्वरूप आप अपनी सुरक्षा व अपने कर्तव्य के प्रति एक अलग प्रकार की गैर-जिम्मेदारी के शिकार हो रहे हैं। यदि आप इस प्रकार के विचारों से ग्रस्त रहेंगे...आपका संघर्ष शून्य में तब्दील हो जाएगा। व्यक्ति पूजा और अपनी जिम्मेदारियों के प्रति उपेक्षा या जिम्मेदारियों से विमुखता के विचारों ने हिन्दू समाज को तबाह किया है और यही हमारे देश के पतन के लिए भी जिम्मेदार है, तुम्हें अपनी गुलामी का उन्मूलन स्वयं करना है। इस उन्मूलन के लिए किसी भगवान या सुपरमैन पर निर्भर मत रहो। यही नहीं 1946 में जब उनसे उनके जन्मदिन पर घर पर उपस्थित रहने के लिए कहा गया तो उन्होंने 'मुझे भगवान मत बनाओ' कहते हुए मना कर दिया।

खुद्दारी व सामाजिक न्याय की भावना बाबा साहब में जैसे कूट-कूटकर भरी थी। 1946 में सेंट्रल लेजिस्लेटिव एसेम्बली में सिद्धार्थ कॉलेज के सम्बन्ध में 'इंडियन फाइनेंस बिल' पर मदन मोहन मालवीय से वाद-विवाद करते हुए कहते हैं—मैं अपने हिन्दू मित्रों को बताना चाहता हूँ कि मैं उनके दान पर नहीं रहूँगा। मुझे उनकी चेरिटी नहीं चाहिए। मैं इस देश का नागरिक हूँ। भारतीय खजाने से जो भी अधिकार व लाभ अन्य समुदाय स्वयं ले रहे हैं, मैं उन्हें लेने का अधिकारी हूँ। अनुसूचित जातियाँ अपने अधिकारों पर खड़ी होना चाहती हैं, अगर उनके दावों को विरोध का सामना करना पड़ा तो अपने अधिकार पाने के लिए वे अपना खून बहाने से नहीं हिचकेंगी।

राजनीतिक दृष्टि

बाबा साहब के लिए राजनीति का वह अर्थ नहीं रहा जो आज की मूल्य-विहीन राजनीति

का मूलाधार हो गया है। AISCF के लखनऊ सम्मेलन में दिए गए विचारों के सम्बन्ध में नेहरू, पटेल और डॉ. आम्बेडकर के बीच मचे बवाल पर 1948 में डॉ. आम्बेडकर कानून मंत्री पद से अपने त्यागपत्र में राजनीति का मतलब बताते हुए कहते हैं—"राजनीति मेरे लिए कभी खेल नहीं रहा। यह एक अभियान है। मैंने अपनी सारी व्यक्तिगत जरूरतें/ इच्छाएँ और अपना पूरा जीवन अनुसूचित जाति की बेहतरी के लिए लगा दिया है।

डॉ. आम्बेडकर आजादी के आन्दोलन में व्याप्त जातिवाद को समझते थे। 1919 में उन्होंने 'एक महार' नाम से द टाइम्स ऑफ इंडिया में लेख लिखा कि होम रूल के सम्बन्ध में जितना अधिकार मराठाओं और ब्राह्मणों का है, उतना अछूतों का भी है। इसलिए अछूत जातियों को पहले ऊपर उठाया जाना चाहिए। उनका मानना था कि भारत के लिए राजनीतिक रूप से स्वतंत्र होना पर्याप्त नहीं है। इसे भारतीय राष्ट्र होने के लिए इसके प्रत्येक नागरिक को धार्मिक, राजनीतिक अधिकार होने चाहिए ताकि प्रत्येक व्यक्ति को विकास के समान अवसर प्राप्त हों। स्वराज आन्दोलन के संबंध में वे कहते हैं कि स्वराज हमारे ऊपर राज्य होगा पर हम ऐसा स्वराज चाहते हैं जिसमें हमारा राज्य हो।

डॉ. आम्बेडकर कांग्रेस पार्टी को ब्राह्मण, बनियों की पार्टी बताते हुए 1938 में चिपलन में किसानों को कहते हैं कि मैं आपमें से प्रधानमंत्री देखना चाहता हूँ। मैं मुट्ठीभर बनियों व ब्राह्मणों का राज्य नहीं चाहता लेकिन आपका यानी 80 प्रतिशत जनता का राज्य चाहता हूँ। 1948 में देश के कानून मंत्री होने के बावजूद AISCF के लखनऊ सम्मेलन में वे पिछड़ों व अनुसूचित जाति को साथ आने व बहुमत बनाने की बात करते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि उनकी समस्याएँ एक जैसी हैं। वे 1951 में रामदासपुर, पंजाब में चुनाव अभियान के दौरान कहते हैं—राजनीतिक शक्ति के बिना इस संसार में हमारा अस्तित्व नहीं रह सकता, यदि असेम्बली और संसद में हमारे सच्चे प्रतिनिधि नहीं भेजे जाएँगे, हमारे सारे प्रयास व्यर्थ होंगे और यदि ऐसा होगा तो इससे कुछ न कुछ निकलकर जरूर आएगा।

1953 में AISCF की अपने घर अलीपुर रोड पर आयोजित सभा में संगठन के सम्बन्ध में वे बताते हैं कि संगठन की शक्ति इसके सदस्यों की संख्या पर नहीं बल्कि उनकी ईमानदारी, वफादारी व अनुशासन पर निर्भर करती है। सभी को संगठन के प्रति ईमानदार व वफादार रहना चाहिए।

लोकतंत्र के विषय में भी बाबा साहब की सोच कुछ अलग ही थी। 1938 में उद्योग विवाद बिल के अवसर पर उन्होंने लोकतन्त्र के संबंध में अपनी राय रखते हुए कहा कि लोकतंत्र उस श्रमिक वर्ग, जो शिक्षा से वंचित है, जीवन के साधनों से वंचित है, किसी संगठन की शक्ति से वंचित है, बौद्धिकता से वंचित है, को गुलाम बनाता है। मैं मानता हूँ कि यह लोकतंत्र नहीं बल्कि लोकतन्त्र के नाम पर उपहास

है। लेकिन ऐसा नहीं है कि डॉ. आम्बेडकर का लोकतंत्र में विश्वास नहीं था, यह बराबर था। वे लोकतंत्र यानी वास्तविक लोकतंत्र की रक्षा के पक्षधर थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय वे कहते हैं कि हमारे ऊपर एक जबरदस्त जिम्मेदारी आ पड़ी है कि मानवीय संबंधों को नियंत्रित करने वाला तत्त्व लोकतंत्र धरती से समाप्त न हो जाए...हमें दूसरे लोकतांत्रिक देशों के साथ मिलकर एक लोकतांत्रिक विश्व का आधार तैयार करना है...यदि लोकतंत्र रहा तो हमें यकीन है कि हम इसका फल जरूर चखेंगे। यदि लोकतंत्र समाप्त होगा तो यह हमारा विनाश होगा। इस पर किसी को संदेह नहीं हो सकता।

यही नहीं लोकतंत्र कैसा हो, इस विषय पर 1951 में मनमाड, नासिक में वे कहते हैं—कोई भी पार्टी लोगों की भलाई के लिए आगे आएगी, उसे ज्योतिबा फुले की पॉलिसी, विचारधारा व प्रोग्राम को अपनाना होगा क्योंकि यही सच्चे लोकतंत्र का मार्ग है। 1952 में वे पुणे में वकीलों की सभा के सामने वाल्टर बगहॉट और अब्राहम लिंकन की लोकतंत्र के सम्बन्ध में दी गई परिभाषा से अपने को अलगाते हैं। लेकिन वे ज्योतिबा फुले की विचारधारा को और अधिक विस्तार देते हुए कहते हैं—लोकतंत्र शासन का वह स्वरूप व प्रणाली है जिसमें बिना किसी खून-खराबे के लोगों के आर्थिक व सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जा सकता है।

सर्वविदित है कि गाँधीजी व डॉ. आम्बेडकर का सम्बन्ध आजीवन छत्तीस का रहा। 1933 में गाँधी के हरिजन अखबार निकालने के संदर्भ में डॉ. आम्बेडकर कहते हैं—आउट-कास्ट जाति प्रथा का अधिशेष है। जब तक जाति प्रथा रहेगी, तब तक आउट-कास्ट भी रहेंगे। जाति उन्मूलन के सिवाय आउट-कास्ट के सशक्तिकरण का कोई विकल्प नहीं। 1935 में गाँधी के धर्म संबंधी विचारों पर प्रतिक्रिया देते हुए डॉ. आम्बेडकर कहते हैं कि मैं गाँधीजी से सहमत हूँ कि व्यक्ति के लिए धर्म जरूरी है लेकिन मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि यह धर्म पैतृक व पूर्वजों का हो। 1942 में आल इंडिया डिप्रेस्ट क्लास कॉन्फ्रेंस नागपुर में राजनीतिक सत्ता के संबंध में बोलते हुए डॉ. आम्बेडकर हिन्दू धर्म से किसी प्रकार के संबंध को नकारते हुए कहते हैं कि मेरी राजनीति की कुंजी इस प्रस्ताव में निहित है कि अस्पृश्य हिन्दुओं की कोई शाखा या उपशाखा नहीं है, वे भारत के राष्ट्रीय जीवन के एक अलग व विशिष्ट तत्त्व हैं। अछूतों को भारत के हिन्दुओं की तरह अलग से अधिकार प्राप्त हैं।

गाँधीजी की मृत्यु के उपरांत भी बाबा साहब अपनी स्पष्ट-बयानी के तहत 2 अगस्त, 1948 में कहते हैं कि आप जानते हैं कि मैं मि. गाँधी का कोई आभारी नहीं हूँ और उन्होंने मेरे आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक मेकअप में कोई योगदान नहीं दिया है। जो कुछ मैं हूँ उसके लिए मैं एक व्यक्ति गौतम बुद्ध का आभारी हूँ...मेरे अपने विचार के अनुसार महान् लोग देश की महान् सेवा से महान् बनते

हैं लेकिन खास अवसरों पर वे अपने देश की प्रगति में बड़ी बाधा भी उत्पन्न करते हैं। महात्मा गाँधी इस देश के लिए एक सकारात्मक खतरा बन गए थे। उन्होंने सभी स्वतंत्र विचारों को बाधित कर दिया था।

अछूतोत्थान

बाबा साहब अछूतोत्थान को व्यक्ति व समाज के लिए ही नहीं, बल्कि राष्ट्र व मानवता के उत्थान के लिए भी अनिवार्य मानते थे। इसके लिए उनका मूल मंत्र 'शिक्षित बनो, संघर्ष करो और संगठित हो', आज भी उतना ही कारगर है, जितना उस जमाने में था। उनके अनुसार शिक्षा विभाग का उद्देश्य लोगों को सामाजिक व नैतिक बनाना है। गौरतलब यह भी है कि वे चरित्र को शिक्षा से अधिक मानते थे। शिक्षा से उनका मतलब किताबी ज्ञान व डिग्रियों तक सीमित नहीं था बल्कि परिस्थिति के प्रति जागरूक होना भी था। यह जागरूकता उनके चिंतन व निर्णयों में कदम-कदम पर मौजूद रहती है। अछूतों की वर्तमान स्थिति के विषय में बाबा साहब कहते हैं—जितनी जल्दी आप इस विश्वास से मुक्त हो जाओगे कि आपकी दुर्दशा पूर्व-निर्धारित है, उतना ही अच्छा होगा। यह विचार कि तुम्हारी गरीबी अनिवार्य है, पैदाइशी है और निवारण न किए जाने वाली है, यह एकदम आधारहीन एवं दोषपूर्ण है।

डॉ. आम्बेडकर समता के प्रखर पक्षधर थे। उन्होंने 'समता समाज संघ' की स्थापना की। इसका मूल सिद्धान्त यह रहा कि सभी व्यक्ति समान हैं और अपने व्यक्तित्व के विकास व समृद्धि के लिए समान अवसरों के अधिकारी हैं। बहिष्कृत भारत के संपादकीय में सत्याग्रह का मतलब समझाते हुए कहते हैं कि जहाँ समानता है, वहाँ लोगों की भलाई है और जहाँ लोगों की भलाई है, वहाँ सच्चा कार्य और आग्रह है, ऐसे कार्य के लिए सत्याग्रह है। 1927 में महार आन्दोलन के उद्देश्य को रेखांकित करते हुए उन्होंने कहा था—हमारा उद्देश्य अपनी नियोग्यताओं को दूर करना ही नहीं बल्कि सामाजिक क्रांति लाना है, जो सभी को समान अवसर प्रदान कर सर्वोच्च हैसियत तक पहुँचा सके और जहाँ तक सामाजिक अधिकारों की बात है, जाति जैसी मानव निर्मित बाधाओं को दूर कर सके ताकि आदमी-आदमी में किसी प्रकार का भेद-भाव न रहे।

गौरतलब है कि जब डॉ. आम्बेडकर मंदिर प्रवेश की बात कर रहे थे तो जातिवादी हिन्दुओं के बीच अपनी सम्मानजनक जगह तलाश कर रहे थे। लेकिन धीरे-धीरे जब कारवाँ आगे बढ़ने लगा तो उन्हें यह एहसास होने लगा कि यह सब व्यर्थ है। इसलिए 1930 में नासिक में कालाराम मंदिर के सत्याग्रह के दौरान डॉ. आम्बेडकर ने कह दिया कि आज हम मंदिर में प्रवेश करने वाले हैं। लेकिन मंदिर प्रवेश से सारी समस्याएँ हल नहीं हो जाएँगी। हमारी समस्या बड़ी विकट व विशाल है। यह सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व शैक्षिक है। कालाराम मंदिर प्रवेश का मुद्दा हिन्दुओं

से अपील करना है। जातिवादी हिन्दुओं ने हमें सदियों से वंचित रखा है। चाहे वही हिन्दू हमें मानवीय अधिकार देना चाह रहे हैं लेकिन मंदिर प्रवेश सत्याग्रह में यह सवाल उठेगा कि क्या हिन्दू मानसिकता के लोग हमें इंसान स्वीकार करने को तैयार हैं, यह सवाल इस सत्याग्रह में परखा जाएगा। पर मंदिर में प्रवेश से हमारी समस्या का समाधान नहीं होने वाला। इससे हमारे जीवन में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आने वाला। लेकिन यह जातिवादी हिन्दुओं की नीयत को परखने का साधन है कि वे नए युग की जरूरतों व महत्त्वाकांक्षाओं के अनुरूप हमें स्वीकार करने को तैयार हैं? यानी मानव से मानव के रूप में व्यवहार करना, उसे मानवीय अधिकार दिया जाना, मानवीय सम्मान को परखा जाना।

1935 में उनके नेतृत्व में नासिक रोड पर अछूतों के सम्मेलन ने हिन्दू, देवी-देवताओं, धर्मग्रन्थों, पुजारियों, तीर्थों और मन्दिर प्रवेश के प्रचार को त्यागने का संकल्प लिया था। नासिक में कुछ अछूतों ने अपने पैतृक देवताओं व धार्मिक पुस्तकों को आग लगा दी। यह उनकी नास्तिकता का एक प्रकार से पहला सार्वजनिक प्रदर्शन था।

जनवरी 1936 में ही बाबा साहब ने धर्मांतरण की जमीन तैयार कर दी थी जब उन्होंने कहा था कि मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि हिन्दू धर्म से पूर्ण विरक्ति ही हमारी समस्याओं का सर्वोत्तम विकल्प है। हिन्दू धर्म को त्यागने व अन्य धर्म को अंगीकार के संदर्भ में बाबा साहब ने लोगों को आगाह किया कि 'किसी भी धर्म यानी ईसाई, इस्लाम या सिख को अंगीकार करें, हमें अपने हितों के लिए सब जगह संघर्ष करना पड़ेगा।' कोई भी ईसाइयों और मुसलमानों के धन के लालच में न फँसे। कोई भी व्यक्ति इन धर्मों के व्यक्तियों को कोई आश्वासन न दे।... 'धर्म ऐसी वस्तु नहीं है जिसे खरीदा जा सके। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए मानसिक शांति प्रदान करने और समाज में दुख-दर्द के निवारण के लिए है। यह पैसा व नाम अर्जित करने के लिए नहीं है। यह मानसिक व सामाजिक बंधनों से मुक्ति का मार्ग है।'

धर्मांतरण के पक्ष में बोलते हुए उन्होंने अपनी इच्छा जाहिर की कि सभी अछूत जातियों को धर्मांतरण करना चाहिए। उन्होंने आगाह किया कि जो जातियाँ धर्मांतरण नहीं करेंगी, वे प्रगतिशील हुए बगैर रह जाएँगी। उन्होंने अछूतों को सलाह दी कि वे अपनी क्षमता, नैतिक उत्थान, निःस्वार्थता व सामाजिकता के लिए धर्मांतरण करें। ...सिर्फ राजनीतिक शक्ति व धर्मांतरण ही गरीबी, निःसहायता व हीनताबोध से मुक्ति दिला सकते हैं। स्वयं पेरियार ने भी 24-04-1936 में 'थिया युवाजन समाज' की वार्षिक सभा में कह दिया था कि थियाओं को डॉ. आम्बेडकर के धर्मांतरण आन्दोलन पर विचार करना चाहिए क्योंकि वह सही है। 1936 में कल्याण में धर्मांतरण न करने वालों को नसीहत देते हुए उन्होंने कहा था कि सिर्फ वे, जो अपनी गुलामी से प्रेम करते हैं, इस धर्म में रह सकते हैं। यदि आपके पूर्वजों की तरह, आप भी

अपने आपको नीचा समझते हैं व निरादर को स्वीकार करते हैं तो आप निरंतर घृणा के पात्र बने रहेंगे। न कोई आपको सम्मान देगा और न आपकी कोई मदद करेगा। इस अपमान व नीचता की स्थिति को स्वर्णिम स्थिति में बदलने के लिए धर्मांतरण बेहद जरूरी है। आपको अपनी जिम्मेदारियों को समझना है और उस रास्ते को अपनाना है जो मैं आपको दिखा रहा हूँ। यदि आप इसे पूरी निष्ठा के साथ अपनाते हैं, तो अपने लक्ष्यों की प्राप्ति करना मुश्किल नहीं होगा।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए वे 1936 में ही नायगाँव में महार सम्मेलन में मुक्ति किस प्रकार हो, के संबंध में बताते हैं—यदि आपको आत्म-सम्मान हासिल करना है, अपना धर्म बदल लो; यदि आप स्वतंत्रता की इच्छा रखते हैं, अपना धर्म बदल लो; यदि आपकी इच्छा एक ऐसे समाज-निर्माण की है जो सहयोग और भाईचारे को सुनिश्चित करता है, अपना धर्म बदल लो; यदि आपको पॉवर चाहिए, अपना धर्म बदल लो; और यदि आप यह चाहते हैं जिस दुनिया में आप रहते हैं, वह खुशहाल हो, तो अपना धर्म बदल लो। अपने भाषण के अंत में वे तथागत बुद्ध का संदेश उद्धृत करते हुए कहते हैं—**अप्प दीवो भव।** निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि महार और कल्याण आन्दोलन जब जातिवादी समाज का अछूतों के प्रति मन बदलने में नाकामयाब हो गए थे, तब नायगाँव कॉन्फ्रेंस अछूतों के धर्मांतरण के निष्कर्ष पर पहुँची।

वे धर्म की उपयोगिता बताते हुए कहते हैं—मेरी शिक्षा का जो लाभ समाज को हो रहा है, उसके लिए मैं अपने अंदर की धार्मिक भावनाओं का ऋणी हूँ। मैं धर्म चाहता हूँ परन्तु धर्म के नाम पर पाखंड नहीं चाहता। कौन-सा धर्म अंगीकार करें और कौन-सा नहीं, इस विषय में भी वे अपने विचार कुछ इस प्रकार रखते हैं—इस्लाम व ईसाइयत में धर्मांतरण अछूतों को डि-नेशनालाइज (राष्ट्रविहीन) कर देगा। दूसरे विभिन्न धर्मों में बँटवारा इनकी शक्ति को विभाजित कर इन्हें शक्तिहीन बना देगा। 1950 में 'सिलोन दलित फैडरेशन' द्वारा आयोजित सभा में टाउन हाल, कोलंबो में बोलते हुए वे कहते हैं कि 35 वर्षों के राजनीतिक संघर्ष, हिन्दुओं से लड़ाई और विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि बौद्धधर्म के अतिरिक्त अछूतों की मुक्ति का अन्य कोई विकल्प नहीं है। सिर्फ बौद्धधर्म में ही अछूतपन से मुक्ति का कभी न खत्म होने वाला विकल्प है। यदि आप आर्थिक गुलामी से स्वतंत्रता और समानता चाहते हैं तो बौद्धधर्म के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। बौद्धधर्म के समर्थन में वे आगे कहते हैं—जब रोजमर्रा की जिंदगी में दिमागी अशुद्धता, दुष्कर्म और नैतिक मूल्यों की उपेक्षा जारी है, जब तक इंसान को यह नहीं मालूम कि इंसान से कैसे व्यवहार किया जाता है और जब तक आदमी-आदमी के बीच बाधा उत्पन्न की जाती रहेगी, भारत कभी भी खुशहाल नहीं हो सकता। इन सभी मुसीबतों से मुक्ति के लिए भारत को बौद्धधर्म का अंगीकार

जरूरी है। बौद्धधर्म एकमात्र ऐसा धर्म है जो नीति संबंधी सिद्धान्तों पर आधारित है और शिक्षा देता है कि आम आदमी की बेहतरी व खुशहाली के लिए कैसे कार्य करें।

वे बौद्ध धर्म को भी अलग नजरिए से देखते थे। 12-5-1956 में वे बी बी सी पर व्हाई आई लाइक बुद्धिज्म के जवाब में कहते हैं—मैं बुद्धिज्म को इसलिए प्राथमिकता प्रदान करता हूँ क्योंकि यह एक साथ तीन सिद्धांत देता है, जो अन्य कोई धर्म नहीं देता। सभी दूसरे धर्म अपने आपमें ईश्वर, आत्मा और पुनर्जन्म को लेकर परेशान हैं। बुद्धिज्म प्रज्ञा (सम्यक् समझ) और करुणा की शिक्षा देता है। यह समता की शिक्षा देता है। यही है जो व्यक्ति के लिए इस पृथ्वी पर अच्छाई और खुशी चाहता है। बुद्धिज्म के यही तीन सिद्धान्त मुझे अपील करते हैं। बुद्धिज्म के यही तीन सिद्धान्त दुनिया को अपील करते हैं। न तो भगवान और न ही आत्मा समाज को बचा सकते हैं। बाबा साहब जोर देकर कहते हैं कि बुद्धिज्म मार्क्सवाद का पूरा जवाब है—बुद्धिस्ट कम्यूनिज्म रक्तहीन क्रान्ति ला सकता है।

जहाँ एक ओर बाबा साहब बुद्ध धम्म की खुले मन से प्रशंसा करते हैं, वहीं दूसरी ओर वे संघ की खामियों को बड़े तीखे अंदाज में व्यक्त करते हुए 12-10-1956 को श्याम होटल में भिक्कू चन्द्रमणी के सामने संघ में जाने से एकदम मना करते हुए कहते हैं—'मैं बुद्ध की शरण में जाऊँगा। मैं धम्म की शरण में जाऊँगा।' लेकिन मैं संघ की शरण में नहीं जाऊँगा। इस पर सभी भिक्खु और कार्यकर्ता स्तब्ध रह गए। बाबा साहब ने पुनः दोहराया—'संघ बहुत भ्रष्ट है, मुझे पूरा यकीन है कि मैं संघ की शरण में नहीं जाऊँगा।' किसी का भी एक शब्द कहने का साहस नहीं हुआ। बाबा साहब ने पुनः कहा—कल तक, मैं आपका इस विषय पर निर्णय चाहता हूँ। लेकिन मैं पूरी तरह आश्वस्त हूँ कि मैं संघ में शरण नहीं लेने जा रहा हूँ, आपको इसके अनुसार व्यवस्था करनी है। अंततः 14 अक्टूबर, सन् 1956 के दिन उन्होंने नागपुर की दीक्षाभूमि में होने वाली सभा में लगभग पाँच लाख लोगों के साथ बौद्ध धर्म को 22 प्रतिज्ञाओं के साथ अंगीकार किया। ये 22 प्रतिज्ञाएँ वे हैं जो इसे पूर्ण नास्तिकता की ओर ले जाती हैं—

1. मैं ब्रह्मा, विष्णु और महेश में कोई विश्वास नहीं करूँगा और न ही मैं उनकी पूजा करूँगा।

2. मैं राम और कृष्ण, जो भगवान के अवतार माने जाते हैं, में कोई आस्था नहीं रखूँगा और न ही मैं उनकी पूजा करूँगा।

3. मैं गौरी, गणपति और हिन्दुओं के अन्य देवी-देवताओं में आस्था नहीं रखूँगा और न ही मैं उनकी पूजा करूँगा।

4. मैं भगवान के अवतार में विश्वास नहीं करता हूँ।

5. मैं यह नहीं मानता और न कभी मानूँगा कि बुद्ध विष्णु के अवतार थे, मैं इसे पागलपन और झूठा प्रचार-प्रसार मानता हूँ।

6. मैं 'श्राद्ध' में भाग नहीं लूँगा और न ही पिंड-दान दूँगा।

7. मैं बुद्ध के सिद्धांतों और उपदेशों का उल्लंघन करने वाले तरीके से कार्य नहीं करूँगा।

8. मैं ब्राह्मणों द्वारा निष्पादित होने वाले किसी भी समारोह को स्वीकार नहीं करूँगा।

9. मैं मनुष्य की समानता में विश्वास करता हूँ।

10. मैं समानता स्थापित करने का प्रयास करूँगा।

11. मैं बुद्ध के आष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करूँगा।

12. मैं बुद्ध द्वारा निर्धारित पारमितों का पालन करूँगा।

13. मैं सभी जीवित प्राणियों के प्रति दया और प्यारभरी दयालुता रखूँगा और उनकी रक्षा करूँगा।

14. मैं चोरी नहीं करूँगा।

15. मैं झूठ नहीं बोलूँगा।

16. मैं कामुकतापूर्ण अपराध नहीं करूँगा।

17. मैं शराब, ड्रग्स जैसे मादक पदार्थों का सेवन नहीं करूँगा।

18. मैं महान् आष्टांगिक मार्ग के पालन का प्रयास करूँगा एवं सहानुभूति और प्यारभरी दयालुता का दैनिक जीवन में अभ्यास करूँगा।

19. मैं हिन्दू धर्म का त्याग करता हूँ जो मानवता के लिए हानिकारक है और उन्नति और मानवता के विकास में बाधक है क्योंकि यह असमानता पर आधारित है और स्व-धर्म के रूप में बौद्ध धर्म को अपनाता हूँ।

20. मैं दृढ़ता के साथ यह विश्वास करता हूँ कि बुद्ध का धम्म ही सच्चा धर्म है।

21. मुझे विश्वास है कि मैं इस धर्म-परिवर्तन के द्वारा एक नया जन्म ले रहा हूँ।

22. मैं गम्भीरता एवं दृढ़ता के साथ घोषित करता हूँ कि मैं इस धर्म-परिवर्तन के बाद अपने जीवन का बुद्ध के सिद्धान्तों व शिक्षाओं एवं उनके धम्म के अनुसार मार्गदर्शन करूँगा।

अंततः 24-11-1956 को भिक्खुओं और लोगों को सारनाथ में संबोधित करते हुए कहते हैं—"बुद्ध के धम्म को अंगीकार करने के उपरांत सभी लोग एक हो गए हैं। उनमें असमानता का कुछ नहीं बचा है। बौद्ध धर्म सिर्फ अछूतों के लिए नहीं है बल्कि यह पूरी मानव जाति के लिए कल्याणकारी है। सवर्ण हिन्दुओं को भी इसे अंगीकार करना चाहिए। बौद्धों को कभी भी हिन्दुओं के मन्दिरों में नहीं जाना चाहिए।

बाबा साहब अछूत छात्रों को दो कार्य सौंपते हैं; एक, जो अवसर उपलब्ध हों उनमें यह सिद्ध करें कि वे बुद्धि व क्षमता में किसी से कमतर नहीं हैं। दो, वे

सिर्फ व्यक्तिगत खुशियों के लिए कार्य नहीं करें बल्कि अपने समुदाय को स्वतंत्र कराने, सशक्त बनाने व सम्मानित करने के लिए नेतृत्व करें। डॉ. आम्बेडकर लिखते हैं कि आर्थिक समानता के बिना सामाजिक समानता व सामाजिक स्वतंत्रता दोनों खोखली हैं। इसलिए आन्दोलन आर्थिक पक्ष पर भी होना चाहिए, तभी सामाजिक व अन्य मोर्चों पर भी सफलता मिलने की संभावनाएँ बढ़ेंगी।

1947 में बाबा साहब अपने 55वें जन्म दिन पर 'नवयुग' के विशेषांक में महानता हासिल करने के संबंध में लिखते हैं—महानता सिर्फ संघर्ष और बलिदान से हासिल की जा सकती है। इसलिए संघर्ष करो, कष्ट उठाओ। कोई भी दबा-कुचला व्यक्ति महानता हासिल नहीं कर सकता यदि वह संघर्ष और पीड़ा के लिए तैयार नहीं है। उसे अपना भविष्य बनाने के लिए वर्तमान की सुख-सुविधाओं को त्यागने के लिए तैयार रहना चाहिए। मेरा संदेश है संघर्ष, और और अधिक संघर्ष, कुर्बानी, और और अधिक कुर्बानी। बिना कुर्बानियों की गिनती किए। संघर्ष सिर्फ संघर्ष, यही तुम्हारा सशक्तिकरण करेगा। इसके अतिरिक्त कुछ नहीं।

आज निस्संदेह बाबा साहब का आन्दोलन भटक गया है। उनके तथाकथित अनुयायियों ने आम्बेडकर को वहाँ लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ हिन्दूवाद व पुरोहितवाद पहले से मौजूद हैं। जैसे हिन्दूवादी पुरोहित अपने देवी-देवताओं व भगवान के नाम पर राजनीति व धंधा करते हैं, वही काम तथाकथित आम्बेडकरवादियों ने शुरू कर दिया है। कहने की जरूरत नहीं कि यह कार्य बाबा साहब के समय में ही शुरू हो गया था। 31-7-1956 को जब नानक चंद रत्तू ने बाबा साहब की पीड़ा का कारण जानने का आग्रह किया तो बाबा साहब द्वारा रत्तू को दिए जवाब में हमें इसका प्रमाण मिलता है। बाबा साहब आँखों से बहते आँसुओं और दर्द व पीड़ा से रुँधे गले से कहते हैं—आप लोग नहीं जानते कि मेरी परेशानी व उदासी की वजह क्या है। मेरे दिमाग में पहली चिंता यह है कि मैं अपने जीवन का लक्ष्य पूरा नहीं कर सका हूँ। मैं अपने लोगों को अन्य समुदायों के साथ समानता के स्तर पर राजनीतिक सत्ता का उपभोग करते हुए शासक श्रेणी के रूप में देखना चाहता था। अब मैं बीमारी के कारण लगभग खत्म हो गया हूँ। और बिस्तर से लग गया हूँ। जो कुछ भी हासिल कर पाया हूँ, उसका लाभ कुछ शिक्षित लोग उठा रहे हैं जिन्हें अपने दबे-कुचले भाइयों से कोई हमदर्दी नहीं है और वे अपनी धोखेबाजीपूर्ण गतिविधियों के कारण व्यर्थ सिद्ध हो रहे हैं। उन्होंने मेरी कल्पना को हैरान कर दिया है। वे अपने व अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए जी रहे हैं। उनमें से कोई भी सामाजिक कार्य करने को तैयार नहीं है। वे अपनी तबाही के मार्ग पर बढ़े जा रहे हैं।

जे. बी. ॲस. हाल्डेन

वैज्ञानिक जान बर्डन सैन्डर्सन हाल्डेन (नव. 5,1892—दिस. 1,1964) अपनी आनुवंशिकी खोजों, अनीश्वरवादिता, कम्युनिस्ट पार्टी-सदस्यता तथा इंग्लैण्ड की नागरिकता छोड़ भारत में आकर यहीं का हो जाने के लिए जाने जाते हैं। वे अपने क्रान्तिकारी विचारों पर अंत तक डटे रहे, पर सन् 1950 में उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता छोड़ दी। वे जनसंख्या आनुवंशिकी के जनक माने जाते हैं।

जे. बी. ॲस. हाल्डेन का जन्म ऑक्सफोर्ड में स्काटिश मूल के माता-पिता, लुइसा कैथलीन हाल्डेन व जान स्काट हाल्डेन से हुआ था। पिता वैज्ञानिक व दार्शनिक थे, पर माँ एक रूढ़िवादी महिला थी। परिवार कभी सामंती सुख-सुविधाओं वाला भी रहा था। बालक पर वैज्ञानिक पिता का प्रभाव पड़ा और वह भी वैज्ञानिक बन गया। वे प्रथम विश्वयुद्ध के समय अंग्रेजी सेना में थे, पर ईटन और न्यू कॉलेज, ऑक्सफोर्ड में पढ़े इस बालक को सेना रास नहीं आई। युद्ध समाप्त होते-होते ही वे बौद्धिक क्षेत्र में लौट आए। सन् 1919-22 में वे न्यू कॉलेज में फेलो रहे, फिर कैम्ब्रिज चले गए। यहाँ ट्रिनिटी कॉलेज में बायोकेमिस्ट्री के रीडर हो गए और सन् 1932 तक पढ़ाते रहे। इन 9 वर्षों के समय में उन्होंने किण्वक (एनज़ाइम) और आनुवंशिकी, विशेषकर आनुवंशिकी के गणितीय पक्ष पर निरन्तर प्रयोग किए। इस बीच उन्होंने अपनी शोधों पर कई लेख छपवाए। नतीजतन वे यूनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन में प्रोफेसर नियुक्त हो गए। 4 साल बाद वे यहीं जीव सांख्यिकी के प्रोफेसर हो गए। यहीं पर उन्होंने पहली बार यह कहा था कि इंग्लैंड का कोयला भंडार सीमित है अतः उसे ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों के विकास पर ध्यान देना होगा तथा कोयला भंडारों के उपभोग को सीमित रखना होगा। उन्होंने हाइड्रोजन उत्पादक वायु मिलों का जाल बिछाने का भी प्रस्ताव रखा। सन् 1925ई. में जी. ई. ब्रिग्स के साथ अध्ययन कर हाल्डेन ने कण्वक गतिविज्ञान पर नई शोध प्रस्तुत की जो बाद में इस क्षेत्र में ब्रिग्स-हाल्डेन इक्वेशन नाम से जानी गई। इस खोज ने पिछली कई खोजों को संशोधित किया था। मानव आनुवंशिकी के क्षेत्र में तो उन्होंने शोधों की झड़ी ही लगा दी।

इस क्षेत्र में उन्होंने कई नए शब्दों व शब्द समूहों का पहली बार प्रयोग किया, जो बाद में आनुवंशिक विज्ञान के क्षेत्र में मान्य परिभाषिक शब्द बने। वे उस सिद्धान्त के प्रतिपादक थे जिसे बाद में हाल्डेन सिद्धान्त के नाम से जाना गया। इसके अनुसार किसी प्राणी का आकार व भार उस प्राणी के अंगों व आंगिक उपादानों का निर्धारण करता है। वैज्ञानिक प्रयोगों की उन्हें इतनी धुन थी कि कई बार तो उन्होंने अपने व शिष्यों तक के प्राण खतरे में डालकर प्रयोग किए।

सन् 1952 ई. में उन्हें रॉयल सोसाइटी का डार्विन मेडल मिला। सन् 1956 ई. में एन्थ्रोपोलोजिकल इन्स्टीट्यूट ने हक्सले मेमोरियल मेडल दिया। यू. एस. अकादमी ऑफ साइन्सेज ने उन्हें किम्बर एवार्ड दिया। सन् 1958 ई. में लाइनियन सोसायटी ऑफ लंदन ने प्रतिष्ठित डार्विन-वैलेस मेडल दिया। सामान्य पुरस्कारों की संख्या तो अनगिनत है।

हाल्डेन ने 34 वर्ष की आयु में सन् 1926 में कार्लोट नामक एक पत्रकार को उसके पति से तलाक दिलवाकर उससे विवाह किया। 16 वर्षों के सम्बन्धों के बाद उसे तलाक दे दिया और फिर दूसरा विवाह हेलेन स्पर्वे से किया। उनका पहला विवाह, बेहद विवादास्पद रहा था और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने इस विवाद के चलते इन्हें अपने यहाँ से बर्खास्त तक करने का विचार कर लिया था।

प्रथम विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद हाल्डेन ने घोषित किया कि वे समाजवाद में विश्वास करते हैं। बाद में उन्होंने स्वयं को कम्युनिस्ट घोषित कर दिया। वे कम्युनिस्टों के अखबार डेली वर्कर के संपादक मंडल के अध्यक्ष भी बन गए। सन् 1937 ई. में वे खुलकर रूसी सरकार का समर्थन करने लगे थे। सन् 1942 ई. में उन्होंने ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ले ली। बाद में रूस में स्टालिन के अत्याचारों और आनुवंशिकीविदों के उत्पीड़न के विरोध में उन्होंने पार्टी की सदस्यता तो छोड़ दी पर मार्क्सवादी सदैव बने रहे।

सन् 1956 में हाल्डेन लंदन छोड़कर कलकत्ता आ गए। यहाँ उन्होंने इण्डियन स्टैटिस्टिकल इन्स्टीट्यूट में नौकरी कर ली। वे इंग्लैंड द्वारा स्वेज़ कैनाल प्रकरण में हस्तक्षेप से नाराज थे तथा भारत के वातावरण को अच्छा व लोकतांत्रिक मानते थे। वे यहाँ अपना पूरा समय शोधकार्यों में देते थे। उनकी दूसरी पत्नी भी अपना समय शोधकार्यों में देती थी। सन् 1961 ई. में हाल्डेन व इन्स्टीट्यूट के निदेशक, पी. सी. महलनवीस में झगडा बढ़ गया तो हाल्डेन उड़ीसा के बायोमीट्री रिसर्च सेन्टर चले गए। उन्होंने भारत की नागरिकता ले ली। वे कहते थे कि उन्हें भारत की नागरिकता पर गर्व है।

सन् 1924 में हाल्डेन के लेख 'साइन्स एण्ड द फ्यूचर' में गर्भधारण एवं मानवीय यौन सम्बन्धों पर उनके विचारों पर काफी गम्भीर प्रतिक्रिया हुई थी। इसी प्रकार गर्भ में शिशु के विकास (एक्टोजेनेसिस) और परखनली में शिशु के विकास सम्बन्धी

उनके विचारों को प्रारम्भ में भयावह माना गया था। सृजनिकी पर आज भी उनके विचार धर्मविरुद्ध माने जाते हैं। उन पर अंग्रेजी में कहे जाने वाले साइन्टिज़्म (मानवीय जीवन का प्रयोगशालीकरण) अति वैज्ञानिकवादिता के आरोप प्रायः लगते रहे हैं।

दिसंबर 1, 1964 ई. को हाल्डेन की मृत्यु हो गई। वे लम्बे समय से कैंसर से पीड़ित थे। मृत्यु के समय वे पूरी तरह प्रसन्न मुद्रा में थे। उन्होंने मृत्युशैया पर एक विनोदपूर्ण कविता लिखी। जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ हैं–

" ...I know that cancer often kills,
But so do cars and sleeping pills;
And it can hurt one till one sweats,
So can bad teeth and unpaid debts.
A spot of laughter, I am sure,
Often accelerates one's cure;
So let us patients do our bit
To help the surgeons make us fit."

प्रकाशन

- साइन्स ॲण्ड फ़्यूचर (1924)
- ए मैथमेटिकल थियरी ऑफ नेचुरल ॲण्ड आर्टिफ़िसियल सैलेक्शन
- ए नोट ऑन द काइनेटिक्स ऑफ एन्जाइम ॲक्शन (1925)
- कालीनिकस : ए डिफेन्स ऑफ केमिकल वेरिफ़ेयर (1925)
- पासिबिल वर्ल्ड्स ॲण्ड अदर एसेज़ (1928)
- एनीमल बायोलोजी (1929)
- एन्ज़ाइम्स (1930)
- द इनईक्वलिटी ऑफ मैन एण्ड अदर एसेज़ (1932)
- द काज़ेज़ ऑफ इवोल्यूशन (1932)
- साइंस ॲण्ड ह्यूमन लाइफ (1933)
- साइन्स एण्ड द सुपरनेचुरल : करेस्पान्डेन्स विद एरनोल्ड लन् (1935)
- फैक्ट्स ॲण्ड फेथ (1934)
- माई फ्रेण्ड मि. लीकी (1937)
- एयर रेड प्रिकाशन्स (1938)
- मार्क्सिस्ट फिलॉसफी ॲण्ड द साइंस (1939)
- साइंस ॲण्ड एवरी डे लाइफ (1940)
- साइंस इन पीस ॲण्ड वार (1941)

- न्यू पाथ्स इन जेनेटिक्स (1941)
- हेरेडिटी ॲण्ड पालिटिक्स (1943)
- वाई प्रोफेशनल वर्कर्स शुड बी कम्यूनिस्ट्स (1945)
- ॲडवेन्चर्स ऑफ ए बायलोजिस्ट (1947)
- साइन्स ॲडवान्सेज (1947)
- ह्वाट इज़ लाइफ (1947)
- एवरीथिंग हॅज़ ए हिस्ट्री (1951)
- द ओरिजिन ऑफ लाइफ, न्यू बायोलोजी (1954)
- ओरिजिन ऑफ मैन (1955)

महापंडित राहुल सांकृत्यायन

❑ **मधुरेश**

इतिवृत्त

- 9 अप्रैल, 1893 को मातृग्राम पन्दहा, जिला आज़मगढ़ उत्तर प्रदेश में जन्म। मूलनाम—केदारनाथ; पिता—गोवर्धन पांडेय (ग्राम—कनैला, आज़मगढ़); माता—कुलवंती देवी। चार भाइयों और एक बहन में सबसे बड़े। नाना—रामशरण पाठक, जिनके द्वारा सुनाये गये किस्से-कहानियों और आपबीती से उन्हें छोटी उम्र से ही घुमक्कड़ी का चस्का लगा।
- नवंबर, 1898, में पदन्हा से डेढ़ किलोमीटर दूर, रानी की सराय की पाठशाला में प्रवेश।
- 11 वर्ष की आयु में, 1904 में, विवाह। इस विवाह ने ही बाद में उनके मन में विवाह-संस्था के प्रति विद्रोह-भाव पैदा किया।
- 1907 में निजामाबाद में मिडिल की परीक्षा के बाद आटा-दाल बेचकर कायदे से पहली संक्षिप्त बनारस-यात्रा की। पिछली यात्रा में, विंध्याचल जाते हुए, बिसाती से ली गयी दो-दो पैसे की उर्दू की किताबों में से एक शे'र पढ़कर नाना के दिये गये घुमक्कड़ी के संस्कार और गहरे हुए—

  सैर कर दुनिया की गाफ़िल ज़िंदगानी फिर कहाँ?
ज़िन्दगानी ग़र रही तो नौजवानी फिर कहाँ?
- 1910 में वैराग्य-भावना से अयोध्या, हरिद्वार, गंगोत्री-जमुनोत्री और केदार-बद्रीनाथ की यात्रा।
- 1911-'12 काशी में पढ़ाई।
- 1912-'13 में परसामठ (बिहार) में साधु और महंत के उत्तराधिकारी। यहीं नया नाम रामउदार दास धारण किया।
- 1913-'14 में दक्षिण भारत की यात्रा।

- जनवरी, 1915 में, प्रयाग के माघ-मेले के अवसर पर, पं. मदनमोहन मालवीय का भाषण सुनकर राष्ट्रीय-सामाजिक कार्य की ओर आकृष्ट। इसी क्रम में स्वामी 'दयानन्द के भिक्षु' बने। आर्य मुसाफिर विद्यालय, आगरा में प्रवेश। आर्यसमाज के उत्साही प्रचारक। मेरठ से प्रकाशित 'भास्कर' के दो अंकों में पहला लेख केदारनाथ पांडेय के नाम से प्रकाशित। इसी वर्ष आगरा के एक प्रेस के लिए कुरान की अरबी आयतों का अनुवाद किया।
- 1916 में आर्यसमाज के तत्कालीन गढ़ लाहौर पहुँचकर, डी. ए. वी. कॉलेज में, विशारद में प्रवेश। नये संपर्कों की दृष्टि से एक व्यापक क्षेत्र की प्राप्ति। इसी वर्ष ग्रीष्मावकाश में लखनऊ बौद्ध-विहार में भदंत बोधानन्द से भेंट। काशी में पिता के अन्तिम दर्शन। 50 वर्ष की आयु पूरी होने तक आज़मगढ़ ज़िले की सीमा में प्रवेश न करने की प्रतिज्ञा की।
- 1917-'21 पंजाब से बंगाल तक घुमक्कड़ी की। लाहौर और काशी में अध्ययन भी किया। एक बार फिर दक्षिण भारत की यात्रा और तिरुमिशी एवं कुर्ग में संक्षिप्त प्रवास।
- 1921 में असहयोग आन्दोलन के दौरान राजनीति में प्रवेश; छपरा, बिहार को अपना कार्यक्षेत्र बनाकर सामाजिक-राजनीतिक रूप से सक्रिय।
- 1922 में राजनीतिक कार्य के लिए पहली जेल-यात्रा। बक्सर जेल में छह महीने रहे। जिला कांग्रेस के मंत्री। गया-कांग्रेस में सक्रिय सहयोग।
- 1923-'25 में हज़ारीबाग जेल में। गिरफ्तारी से पूर्व नेपाल-यात्रा। जेल में गम्भीर अध्ययन और लेखन। 'बाईसवीं सदी' की रचना।
- 1927-'28 में श्रीलंका में संस्कृत का अध्ययन। बौद्ध-साहित्य एवं पालि भाषा का गंभीर अध्ययन। सितम्बर '28 में विद्यालंकर विहार, श्रीलंका द्वारा 'त्रिपिटाचार्य' की उपाधि।
- 1929-'30 में पहली तिब्बत यात्रा। सवा साल वहाँ रहे। विधिवत् एवं व्यवस्थित रूप से साहित्यिक जीवन की शुरुआत। फरवरी '30 में, उनकी अनुपस्थिति में काशी की पंडित-सभा में, 'महापंडित' की उपाधि और मान-पत्र प्रदान किए गये।
- 22 जून, सन् '30, तिब्बत से श्रीलंका, प्रवज्या ग्रहण की और रामोदार दास से राहुल सांकृत्यायन बने।
- 5 जुलाई, सन् '32 को भदंत आनंद कौसल्यायन के साथ भिक्षु वेश में पहली यूरोप यात्रा— आनन्द जी ने महाबोधि सभा श्रीलंका की ओर से बौद्ध-प्रचारक के रूप में यात्रा की। राहुलजी प्रचारक के रूप में न जाकर उनके साथ थे।

- नवंबर '32 में प्रसिद्ध भारतविद् सिल्वॉ लेबी से पेरिस में भेंट।
- 1934 में दूसरी तिब्बत यात्रा।
- 1935 में, जापान, कोरिया, मंचूरिया, सोवियत संघ और ईरान की यात्रा।
- 1936 में तिब्बत की तीसरी यात्रा।
- 1937 में सोवियत संघ की दूसरी यात्रा। लेनिनग्राद में ऐलेन कोजेरावस्काया (लोला) इंदो-तिब्बती विभाग की सचिव, से मैत्री एवं अनौपचारिक विवाह।
- 1938 में तिब्बत की चौथी यात्रा। राहुल की इसी यात्रा के दौरान सोवियत संघ में 5 सितम्बर, '38 को पुत्र ईगोर राहुलोविच का जन्म। राहुल को इसकी सूचना 14 मार्च, सन् '39 को मिली। तब वे अमवारी के किसान-आन्दोलन का नेतृत्व करने के कारण छपरा-जेल में थे। अपने पुत्र ईगोर को वे पहली बार अपनी तीसरी सोवियत-यात्रा में, जून '45 में देख पाये।
- 1939 में किसान-आंदोलन और अमवारी सत्याग्रह में सक्रिय। जेल-यात्रा। बिहार की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना और सदस्यता।
- 1940-'42, हज़ारी-बाग जेल में।
- 1943 में 24 वर्ष बाद जन्म-ग्राम पंदहा में प्रवेश। उत्तराखंड की यात्रा। 1944 में सोवियत-यात्रा की तैयारी। वीजा आदि की व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण छह मास तक ईरान में रुके रहे। यहाँ सामग्री-संकलन में व्यस्त रहे और आगे चलकर इसी सामग्री के आधार पर 'मधुर स्वप्न' की रचना की।
- 1945-'47, लेनिनग्राद, विश्वविद्यालय के प्राध्यापक के रूप में सोवियत संघ की यात्रा। 'रूस में पच्चीस मास' इसी प्रवास का लेखा-जोखा है। लोला एवं ईगोर के साथ गृहस्थी। इसी प्रवास में अपनी अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी रचना 'मध्य एशिया का इतिहास' के लिए सामग्री का विशाल भंडार संकलित किया। सोवियत प्रशासन के कड़े और शंकालु रवैये के कारण इस क्षेत्र की यात्रा की सुविधा न मिल पाने का उन्हें जीवन-भर दुःख रहा। 17 अगस्त, सन् '47 को इंग्लैंड की राह स्वदेश वापसी। कुछ दिन बम्बई में रहने के बाद देश-यात्रा की। सितम्बर '47 में इलाहाबाद में आयोजित प्रगतिशील लेखक सम्मेलन की अध्यक्षता की। भाषा-नीति के कारण कम्युनिस्ट पार्टी से निष्कासन।
- 1949 में परिभाषा-निर्माण के कार्य में कलिम्पोंग में कमला परियार से संपर्क। इसी वर्ष अगस्त में नयी गृहस्थी की भूमिका।
- 11 जुलाई '50 को मसूरी में घर लेकर वहीं निवास। 8 वर्ष वहीं रहे।
- 18 दिसंबर '50 को कुछ मित्रों की उपस्थिति में कमला से मसूरी में विधिवत् विवाह।

- 20 सितम्बर '53, पुत्री जया का जन्म।
- 31 जनवरी '55 को पुत्र जेता का जन्म।
- 5 फरवरी '55 को पुनः कम्युनिस्ट पार्टी में।
- 1958 के मध्य 'हर्न-क्लिफ'—मसूरी का आवास सात हज़ार में बेच दिया। इसी वर्ष 'मध्य एशिया का इतिहास' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार। इसी वर्ष जून में चीन-यात्रा।
- सितम्बर '59 में विद्यालंकार विहार, श्रीलंका में दर्शन के महाचार्य नियुक्त। अकेले ही वहाँ गये। परिवार दार्जिलिंग में रहा।
- 1960 में श्रीलंका-प्रवास में ही स्मृतिक्षीणता की शिकायत शुरू।
- 11 दिसम्बर '61 को कलकत्ता में स्मृति-लोप का आघात। इसी बीमारी के दौरान विद्यालंकार विहार, श्रीलंका द्वारा 'साहित्य-चक्रवर्ती' (डी. लिट.) की मानद उपाधि से सम्मानित। भारत सरकार द्वारा 'पद्मभूषण' से सम्मानित।
- 1962-63 में सात माह सोवियत संघ में चिकित्सा। अस्पताल में लोला एवं इगोर आते थे, लेकिन राहुलजी पहचान पाने की स्थिति में नहीं थे।
- 14 अप्रैल '63 को, 70 वर्ष की आयु में, दार्जिलिंग के एक अस्पताल में निधन।

राहुलजी का जीवन-संघर्ष

राहुल सांकृत्यायन पर लिखे गए अपने संस्मरण में कवि दिनकर ने उनकी कृच्छ्र और अविश्वसनीय ढंग से काम करने की क्षमता का उल्लेख किया है। आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए यह विश्वास कर पाना भी कठिन होगा कि अपनी रूपाकृति से बुद्ध जैसे लगने वाले इस आदमी ने सचमुच अकेले इतना काम किया, जो शायद दस लोग मिलकर भी नहीं कर सकते। उनके कार्य के क्षेत्र इतने भिन्न और परस्पर विरोधी थे कि किसी एक आदमी के लिए उन पर काम करना असंभव था।

राहुलजी ने कोई औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की। उन्होंने जो कुछ किया वह उनके अपने परिश्रम और अध्यवसाय का फल था। उन्होंने बीहड़ और दुर्गम क्षेत्रों में यात्राएँ करके बौद्ध धर्म और साहित्य के पुनरुद्धार की दिशा में जो कार्य किया उसने अध्ययन और विचार की दिशा ही एक तरह से बदल दी। जैसा कि उन्होंने स्वयं इस ओर संकेत करते हुए लिखा है कि उनके पहले इस क्षेत्र में केवल 'त्रिपिटक' का अनुवाद ही सुलभ था जबकि उनसे पालि के सुव्यवस्थित अध्ययन और उसके साहित्य एवं संस्कृति की खोज का कार्य वैज्ञानिक ढंग से शुरू हुआ। इसके लिए उन्होंने जो कायिक कष्ट झेला-भोगा उसके बारे में कुछ लोगों ने संकेत किया है—कुछ उनकी जीवन-यात्रा के आरंभिक खंडों में भी संकलित है। दिनकर

के ही साक्ष्य पर वह कई-कई दिन कमरे में बन्द रहकर निरन्तर काम में जुटे रहते थे। दिन में औसतन सोलह घंटे काम का नियम तो उनकी दिनचर्या का हिस्सा बन चुका था। बैठे-बैठे काम करते-करते थक जाने पर, उस छोटे-से बंद कमरे में ही टहलकर वह अपने को ताजा करने की कोशिश कर लेते थे। उनकी ताजगी का स्रोत काम की दिशा बदल देना भर होता था। लिखने से थक जाने पर पढ़ने लगना या फिर अगले काम की योजना पर कार्य करने लगना। वह खाने-पीने के शौकीन थे, इसका अनुमान उनकी जीवन-यात्रा में अच्छे भोजन के प्रति उनकी गहरी रुचि से लगाया जा सकता है। लेकिन काम के बीच भोजन की चाह भी कभी आड़े नहीं आई। हाथ के काम को प्रमुखता देकर उन्होंने और सारे कामों को गौण मानकर उसके साथ वैसा ही सलूक शुरू कर दिया था। मनोरंजन की तो बात ही अलग है, नहाने और खाने में भी समय का उपयोग वह कृपणता से करते थे। दिनकर ने ही उनकी उत्कट कार्य-शैली पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि कई-कई दिन के लिए वह रोटी बनाकर भीगे कपड़े में लपेटकर रख लिया करते थे। बाद में सूख जाने पर वह उसे पानी में डालकर घोल लेते थे और एक चुटकी नमक मिलाकर पी लेते थे। उनके काम का यह वही दौर था जब उन्होंने सेकंडों का नहीं तो मिनटों का हिसाब जरूर रखने की कोशिश की।

17 अगस्त, सन् 1947 को जब वे पच्चीस मास सोवियत संघ में बिताने के बाद इंग्लैंड की राह भारत लौटे तो उनके साथ मध्य एशिया के इतिहास पर काम के विचार से, अपनी योजना के लिए लिखे गए नोट्स के साथ रूसी और अन्य भाषाओं की लगभग पाँच मन किताबें थीं। इंग्लैंड की राह आने का कारण भी यही था कि देश के नए हुए विभाजन के बाद उन्हें यह आशा नहीं थी कि अपनी इस सारी कमाई के बाद वह पाकिस्तान होकर सुरक्षित भारत पहुँच सकते हैं। इस सारी सामग्री को लेकर भी उनके मन में अनेक शंकाएँ थीं और लाने की परेशानी के ख़याल से बहुत छँटाई के बाद जो किताबें अपने साथ लाए थे, वह उस विशाल ज्ञान-भंडार का एक हिस्सा मात्र था, जो उन्होंने अपने काम के लिए सोवियत संघ में देखा-पढ़ा था।

यह एक तरह से उनकी अंतिम सोवियत-यात्रा थी। यद्यपि उनका परिवार, पत्नी लोला और पुत्र ईगर लेनिनग्राद में ही थे। सोवियत संघ में ही रहने और बस जाने का दबाव भी उन पर कम नहीं था—लेकिन वे रचनात्मक काम के लिए बेचैन थे। सोवियत संघ में रहकर वे पढ़ और पढ़ी गई सामग्री के नोट्स तो ले सकते थे, वही करते भी रहे थे, लेकिन पांडुलिपि की सुरक्षित वापसी को लेकर उनके मन में गहरी शंकाएँ थीं। सोवियत संघ का अभेद्य ढाँचा और व्यक्ति पर संदेह करने की प्रवृत्ति से, वे बहुत प्रसन्न नहीं थे और प्रायः हमेशा ही, उसके समर्थन के बावजूद, उसके प्रति एक प्रकार की खीझ भी उनके मन में स्पष्ट दिखाई देती थी। देश लौटकर

वे कहीं व्यवस्थित होकर काम करना चाहते थे। उम्र उनकी 50 वर्ष से ऊपर हो रही थी और सोवियत-प्रवास के कारण उनकी जो योजनाएँ छूटीं और अधूरी थीं, उन्हें लेकर उनके मन में पर्याप्त बेचैनी थी। काम कर पाने की दृष्टि से वे ठंडी और पहाड़ी जगह पसन्द करते थे, जहाँ गर्मियों में समय नष्ट किए बिना व्यवस्थित ढंग से काम किया जा सके। इस विचार से उन्होंने अपने लिए दार्जिलिंग को चुना था। निरन्तर काम में लगे रहने और शारीरिक विश्राम के अभाव के परिणामस्वरूप मधुमेह की शिकायत उन्हें शुरू हो गई थी। उनका अपना लेख बहुत खराब था। प्रायः ही उनके लिखे को पढ़ पाना कठिन था। वैसे भी पानी के बंद स्रोत के खुलने जैसी उनकी अदम्य सृजनात्मक ऊर्जा किसी सहायक की तलाश में थी। इसी काल में कमला परियार नामक एक नेपाली युवती, जो साधारण शक्ल-सूरत की बहुत दुबली-पतली लड़की थी, उनके संपर्क में आई। इंसुलीन की सुई लगाने से लेकर उनकी रचनाओं के लिखने और टाइप आदि में उसकी सहायता ने उनके काम को आसान ही नहीं बनाया, उसकी गति भी बढ़ाई। कमला से उनकी यह निकटता एक ऐसी अपरिहार्यता में बदल गई कि दो सालों के निकट संपर्क के बाद राहुलजी ने विधिवत् अत्यन्त सादे ढंग से, अपने कुछ मित्रों की उपस्थिति में उससे विवाह कर लिया। कमला से उनकी निकटता और सहयोग के दौरान लोला का कोई समाचार नहीं मिला था। एक तरह से वह संबंध छिन्न हो चुका था। लेकिन कमला के साथ नए सिरे से अपनी गृहस्थी जमा लेने के बाद, काफी पहले लिखा गया लोला का पत्र उन्हें मिला। राहुल को अपनी गृहस्थी रूस में छोड़ने पर भी यह संतोष था कि साम्यवादी व्यवस्था वाला देश होने से उन लोगों के लिए किसी किस्म की परेशानी नहीं होगी। लोला विश्वविद्यालय में ही पढ़ाती थी और ईगोर को लेकर सारा दायित्व सरकार का था। लेकिन एक भावात्मक रिश्ता था जिसे अनहुआ नहीं किया जा सकता था।

राहुल और कमला का संबंध किसी रागात्मक लगाव से अधिक संपर्क और साहचर्य से उपजा संबंध था। छोटी-मोटी सहायता की आश्वस्ति और दैनंदिन सुविधाओं ने राहुल के मन में उसके लिए स्थायी जगह बना दी। दोनों की उम्र में भी एक पीढ़ी से अधिक का अंतर था। साहचर्य के बाद भी राहुल ने कमला को लगभग 2 वर्ष का समय दिया कि वह सोच-विचार कर निर्णय ले सके। इस दौरान, सन् '47 में सोवियत संघ से लौटने के बाद से लोला और ईगोर का कोई पत्र उन्हें 6 वर्ष तक नहीं मिला। जब वह कमला के साथ गृहस्थी बसाकर मसूरी में रहने लगे थे, तब अचानक एक दिन उन्हें लोला का पत्र मिला। इस पत्र के द्वारा उन्हें पुत्र की पंद्रहवीं वर्षगाँठ की सूचना भी मिली। उसके उत्तर में उन्होंने अपने पुत्र को बहुत वत्सल भाव से पत्र लिखा और बधाई का तार भी दिया। लेकिन लोला के पत्र को लेकर कमला में एक सामान्य स्त्रियोचित प्रतिक्रिया ही हुई—ईर्ष्या के साथ अपने

भविष्य के प्रति एक आशंका भी। इसके कुछ दिन बाद लोला का दूसरा पत्र आने पर तो स्थिति बाकायदा रोने-धोने पर पहुँच गई। राहुल अब उम्र और स्वास्थ्य की दृष्टि से सोवियत संघ वापस जाने की बात सोच भी नहीं सकते थे। अपने विशाल अध्ययन और अनुभव भंडार को सहेजकर अब वे जमकर कुछ करना चाहते थे, उनकी इस इच्छा ने ही नए सिरे से परिवार की सुविधा का मोह उनमें जगाकर इस नए संबंध के लिए प्रोत्साहित किया था। कमला और अपनी सद्यःजात पुत्री जया में रमे रहकर वे अपने सर्जनात्मक कार्य में लगे थे। ईगोर का बचपन और विकास उन्होंने नहीं देखा था, शायद इसीलिए जया के प्रति वे बहुत मोहासक्त थे। कहीं से लौटकर दो-चार दिन में ही, उसके विकास और परिवर्तन को वे बहुत भावुक आसक्ति से देखते-परखते थे। हिमाचल प्रदेश की अपनी यात्रा में तो उसकी अस्वस्थता का पत्र मिलने पर वे बेचैन होकर सचमुच लौटने का मन बनाने लगे थे। बच्ची के कद और वजन में होने वाली बढ़त उन्हें अलौकिक सुख से भर देती थी। लेकिन मसूरी के बाद कलिंगपोंग में स्थायी निवास का निर्णय कमला का ही था। वे यह भी सोचते थे कि उनके बाद कमला को ही रहना है, अतः उसकी सुविधा और पसन्द की बात ही मुख्य है। कमला पढ़-लिखकर आत्मनिर्भर बन सके, यह उनकी हार्दिक इच्छा थी। इसके लिए उन्होंने आवश्यक सुविधाएँ भी जुटाईं और पढ़ाई-लिखाई के लिए उसे प्रेरित भी किया। लिखने-पढ़ने के प्रति उदासीन रहकर कढ़ाई-बुनाई में लगे रहना या फिर घंटों रेडियो सुनते रहना उन्हें अच्छा नहीं लगता था।

लोला के पत्रों को लेकर कमला की प्रतिक्रिया से राहुल का परेशान होना स्वाभाविक था। जिस उद्देश्य से उन्होंने कमला को अपनाया था, वह अब गले की हड्डी की तरह कष्टकारी बनने लगा था। ऐसी ही स्थिति में अपनी मनोव्यथा प्रकट करते हुए राहुल ने लिखा, ''13 नवंबर '53 को लेनिनग्राद से चिट्ठी आई और फोटो आया। उसे देखकर कमला बहुत उद्विग्न हुई। बहुत रोई। मैंने अपने भावों को प्रकट करते हुए कहा, मैं कह चुका हूँ कि जया को और तुमको मेरी आवश्यकता है। मैं रूस जाने की इच्छा नहीं रखता लेकिन उनकी इच्छा थी, मैं पत्र-व्यवहार करना भी त्याग दूँ। क्या इससे आत्महत्या आसान नहीं है। जो पिता ईगोर का प्रत्याख्यान कर सकता है, उस पर क्या विश्वास किया जा सकता है? जिस समय कमला से सम्बन्ध स्थापित हुआ, उस समय क्या आशा थी कि रूस से फिर सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा? अब यदि यह हुआ तो ईगोर के साथ नाता तोड़ना मानवता के खिलाफ है। यदि कमला यही चाहती है तो भी कोई भयंकर कदम उठाने से पहले माँ-बेटी का कोई प्रबंध तो कर डालना ही होगा...'' (मेरी जीवन-यात्रा-5, पृ. 229)। यह 'भयंकर' कदम राहुल के लिए क्या हो सकता है? इस मानसिक तनाव को झेलने की अपेक्षा आत्महत्या के आसान होने की बात वह पहले ही लिख चुके हैं। हो सकता है उनके मन में ऐसी कोई बात घुमड़ रही हो। लेकिन राहुल जैसा व्यक्ति आत्मघात तक

पहुँचेगा, यह कल्पना थोड़ी कष्टकर लगती है—गहरी मनोव्यथा और उद्वेग की स्थिति में वैसा सोचने तथा लिखने के बावजूद दूसरा विकल्प शायद कमला से संबंध-विच्छेद का उनके मन में रहा हो। यह भी संभव है कि कमला ने क्रोध में उन पर ऐसा ही कुछ आरोप लगाते हुए कहा-सुनी की हो और राहुल बहुत निश्छल भाव से वस्तुस्थिति को स्वीकार करने की ओर प्रवृत्त हुए हों। इसके कुछ समय बाद, जब जेता गर्भ में आ चुका था, फिर ईगोर का पत्र आता है। राहुल उसे कमला को देखने को देते हैं तो पता चलता है कि वह उसे पहले ही देख चुकी है। "फिर वही आग्रह उसको कभी पत्र न लिखें।" यद्यपि मैं समझता था, कमला के भावों का सबसे ज्यादा ख़याल करना होगा। सिर्फ उनके लिए ही नहीं, बल्कि बच्चों के लिए भी। पर यह समझ में नहीं आता कि ईगोर की चिट्ठियों से उसमें क्या बाधा पड़ सकती है? मैं जानता हूँ कि जया और उसके आने वाले अनुज को ही मुझे अपना बाकी जीवन देना है, क्योंकि वह ऐसे देश में पैदा हुए हैं जहाँ बच्चे राष्ट्र के अवलंब की कोई आशा नहीं रख सकते। पर ईगोर भी मेरा पुत्र है, पिता से सलाह-मशविरे की तो आशा करता है। यदि मैं पत्रों का जवाब न दूँ, तो यह मेरे ऊपर भारी लांछन होगा। क्या करूँ, आग्रह हो या दुराग्रह, कमला की बात माननी पड़ेगी, यही दिखाई देता है" (वही, पृ. 359)। यही वस्तुतः राहुल ने किया भी। बढ़ती उम्र में जो दायित्व, स्थिरता और सुविधा के विचार से उन्होंने अपने ऊपर लिया था, अंत तक उसको पूरा किया। उनकी सबसे बड़ी चिंता कमला और बच्चों के सुरक्षित भविष्य की चिंता ही थी। हो सकता है इस तनाव ने उन्हें अकेला कर दिया हो। अंतिम काल में उनका स्मृति-भ्रंश और प्रयत्नों के बावजूद अनेक राजनीतिक कारणों से लोला और ईगोर से भेंट किए बिना ही प्राण-त्याग की उनकी त्रासदी उनके प्रति मन में गहरा अवसाद पैदा करती है। यह भी संभव है कि उनका यह द्वंद्व उन्हें अंदर ही अंदर काटता और खोखला करता रहा हो और जैसा कि महादेवी वर्मा ने प्रसाद के सन्दर्भ में लिखा है—महावृक्ष की धीरे-धीरे अंदर ही अंदर कटती हुई जड़ों को कोई देख नहीं सका और एक दिन धड़ाम से उसके गिर पड़ने पर ही पता चला कि क्या हुआ है।

अपनी घुमक्कड़ी के कारण राहुल सांकृत्यायन को अर्थोपार्जन की अधिक चिंता कभी नहीं रही। घुमक्कड़ जीवन में सिर्फ एक सिद्धान्त के अमल को उन्होंने बहुत उपयोगी पाया कि घुमक्कड़ को किसी काम से संकोच नहीं करना चाहिए। यही भरसक उन्होंने किया। लेकिन सोवियत संघ से लौटने के बाद पहले अपने अकेले के लिए और फिर सद्‌गृहस्थ बनने पर परिवार के लिए एक निश्चित आय आवश्यक थी। थोड़ा-बहुत हिसाब प्रकाशकों से किया भी जिससे खर्चा चलने लगा। इस बीच अवरुद्ध सर्जना के स्रोत नए सिरे से फूटने से रचनात्मक सक्रियता बढ़ी थी। मोटे तौर पर पाँच सौ रुपये महीने की औसत आय जरूरी थी। जिन पुस्तकों पर उन्होंने वर्षों परिश्रम किया था, 'मध्य एशिया का इतिहास'; और 'नेपाल' आदि, उनके भी प्रकाशन

की कोई समुचित व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। 'नेपाल' की तैयारी के लिए जाने पर नेपाल से लौटते हुए सन् '53 में, पटना में मोहनलाल बिश्नोई के यहाँ चाय थी। उन्होंने आग्रहपूर्वक 'नेपाल' प्रकाशनार्थ माँगी। अपनी नई नेपाल-यात्रा में बहुत-से आँकड़ों सहित राहुल उसे लिख रहे थे। उन्होंने उसके आरंभिक सौ पृष्ठ उसी समय दे दिए और शेष पांडुलिपि बाद में दी। पुस्तक बड़ी थी। संभवतः दो खंडों में उसके प्रकाशन की योजना थी। लेकिन राहुल के जीवन-काल में ही नहीं, आज तक वह अप्रकाशित है। सन् '56 में उसकी अधूरी छपाई से खिन्न होकर राहुल ने लिखा : 304 पृष्ठ छापकर न आगे बढ़ने का नाम लेते हैं, न पीछे, लेखक क्या करे? इतनी मेहनत करके नए आँकड़ों के साथ जिस पुस्तक को तैयार करके दिया, वह खटाई में पड़ी हुई है। उन्हें टेक्स्ट बुक और दूसरी छपाइयों से फुरसत नहीं है। कोफ्त होती है। ख़याल आता है कि कब ऐसी स्थिति से छुटकारा मिलेगा (वही, पृष्ठ 193)।

कलकत्ता के एक प्रकाशक को अपनी अनेक पुस्तकें देकर अग्रिम तौर पर पच्चीस हजार रुपये की बात उन्होंने तय की। दस हजार पहले और पंद्रह हजार बाद में लेकर उन्होंने मसूरी का मकान खरीदकर स्थायी निवास की व्यवस्था की। यशपाल और अश्क के अपने प्रकाशनों के उदाहरण उनके सामने थे। अतः स्वयं भी इस दिशा में बढ़ने का प्रयास किया। लेकिन यहाँ कमला से उन्हें वैसा सक्रिय सहयोग नहीं मिल सकता था जैसा प्रकाशवती और कौशल्या से यशपाल और अश्क को मिला था। फिर भी राहुल सांकृत्यायन ने 'वोल्गा से गंगा' का अंग्रेजी संस्करण 'राजस्थानी रनिवास' और 'बहुरंगी मधुपुरी' मसूरी से स्वयं प्रकाशित कीं। लेकिन वे इसमें अधिक समय देने की स्थिति में नहीं थे क्योंकि अपने रचनात्मक कार्य में वे अवरोध नहीं चाहते थे। इसी कारण सुविधा की दृष्टि से एक आदमी रखा गया। लेकिन यह आदमी उनकी स्थिति का लाभ उठाकर रुपया लेकर भाग गया और प्रकाशन की यह योजना यहीं पर ठप्प हो गई। अपने इस अनुभव पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा : 'प्रकाशन वही कर सकता है जिसके पास काफी पूँजी है, और सारा समय उसके लिए दे सकता है। हमारे पास दोनों नहीं थे। कई लेखकों ने अपने प्रकाशन खोले हैं और उनमें यशपाल और अश्कजी जैसे असफल भी नहीं रहे हैं। पर, लेखकों के लिए अच्छा यही होगा कि यदि वे कलम रखने के लिए तैयार नहीं हैं, तो प्रकाशन में हाथ न लगाएँ...'(वही, पृष्ठ 359)। अपने प्रकाशन की किताबों के एवज में दिल्ली से दूसरे प्रकाशनों की पढ़ने योग्य वह ढेरों किताबें लाए। इस प्रकार अध्ययन के लिए पुस्तकें जुटाने में प्रकाशन का अप्रत्यक्ष सहयोग उन्हें मिला।

राहुल सांकृत्यायन औसतन 1 वर्ष में ढाई-तीन हजार पृष्ठ लिखते थे। इससे कम में उन्हें संतोष नहीं होता था। घर-गृहस्थी चलाने के लिए आर्थिक सुरक्षा जरूरी थी और आय का एकमात्र साधन उनका लेखन ही था। रामवृक्ष बेनीपुरी ने सन् '54 में मसूरी आने पर, अपनी ग्रंथावली के प्रकाशन और हिंदी-जगत् द्वारा उसके

समुचित स्वागत किए जाने पर जब संतोष व्यक्त किया तो राहुल को बहुत प्रसन्नता हुई। सन् '54 में ही, अपने बारे में उन्होंने लिखा... '3 जुलाई को किताब महल की रॉयल्टी का हिसाब आया। मालूम हुआ, पिछले साल 1700 रुपये की आमदनी हुई अर्थात् उसके बल पर हम मासिक डेढ़ सौ रुपया भी खर्च नहीं कर सकते। कभी-कभी सोचता था, समय ऐसा भी देखा जबकि पचास रुपये से भी मेरा काम चल जाता, पर उस समय मैं घुमक्कड़ था, निर्द्वन्द्व था, अपनी चादर के अनुसार ही पैर फैला सकता था, अब तो वह बात नहीं...' (वही, पृष्ठ 301)।

जैसा औरों के साथ भी होता है, राहुल के साथ प्रायः ही ऐसा होता था कि किसी काम की छोटी-सी योजना बनाकर वह काम शुरू कर देते थे और फिर वह उस काम के दौरान, जैसे-जैसे वह आगे बढ़ते जाते थे, काम बड़ा होता जाता था और उनकी मूल योजना से कहीं बृहत् रूप धारण कर लेता था। 'सरहपा' के साथ ऐसा ही हुआ था। निराला के असंबद्ध प्रलाप के प्रसंग में उन्हें सरहपा प्रायः याद आते हैं। वह 1200 वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। निराला की भाँति ही असंबद्ध प्रलापी थे। लेकिन जब संबद्ध बातें करते तो जैसे मुँह से मोती झरते। सरहपा राहुल सांकृत्यायन के प्रिय नायक थे। यदि रांगेय राघव की भाँति वह जीवनचरितात्मक उपन्यास की ओर मुड़े होते तो उन्होंने सरहपा को केन्द्र में रखकर कुछ अवश्य लिखा होता।

सरहपा नालंदा में पढ़कर महापंडित हुए, वहीं सालों अध्यापक भिक्षु रहे। लेकिन अपने समय के पाखंडों को पचा न पाने के कारण भिक्षुओं के वेश और आडंबर भी उन्होंने उतार फेंके। पंडिताई के सम्मान को सलाम किया। जैसे लोगों की घृणा को आमंत्रित करने के लिए ही बेहद शराब पीने लगे और बाण का फल बनाने वाली (सिकलीगर की) तरुण कन्या के साथ हो लिये। शर बनाने के कारण ही वह सरहपा कहलाए। उनकी वह तरुण संगिनी सिद्धों की 'भाषा' में उनकी 'महामुद्रा' थी। राहुल निराला के लिए भी ऐसी ही महामुद्रा की तजवीज पेश करते हैं। यदि ऐसा हुआ होता तो निराला कदाचित् मानसिक विक्षेप के शिकार नहीं होते। लोगों को झटका देने की सरहपा की प्रवृत्ति और ढोंग एवं आडम्बर के विरुद्ध उनकी विद्रोही मुद्रा, कहीं-न-कहीं स्वयं राहुल के अपने व्यक्तित्व से मेल खाती थी। इसीलिए उनके प्रति राहुल सांकृत्यायन का आकर्षण आसानी से समझा जा सकता है। सरहपा की अपभ्रंश रचनाओं के आधार पर हिंदी-साहित्य की आदि सीमा को वह 200 वर्ष पीछे ले जाने का आग्रह करते हैं।

लेकिन सरहपा की योजना पर काम शुरू करते हुए उन्हें इन सारी बातों का आभास नहीं था। अपनी तिब्बत-यात्रा में वे सरहपा के दोहों की जो तालपोथी सान्क्या से लाए थे, बागची की प्रति से उसका मिलान करने पर पता चला कि तिब्बत से लाई गई पोथी का विशेष महत्त्व है। प्रबोधचंद्र बागची के दोहा कोश में 112 दोहे, तिब्बती अनुवाद में 134 और उनकी इस पोथी में 163 दोहे हैं—'मैंने तालपत्र से

उसे उतारना शुरू किया और महसूस किया कि इसे संपादित करना चाहिए। उस वक्त तो यही ख़याल आया था कि एक संक्षिप्त भूमिका के साथ इसे प्रकाशित कर दिया जाए। लेकिन, जब उसमें लगा तो काम अपने आप ही दूर तक खींच ले गया। अपभ्रंश भाषा, सरह की कविता तथा दर्शनिक विचारों पर छोटी भूमिका नहीं लिखी जा सकती थी। वह काफी बढ़ गई। फिर ख़याल आया कि सरह के 14-15 अपभ्रंश ग्रंथ तिब्बती में अनुवादित हैं। क्यों न सरह की सभी अपभ्रंश कविताओं को हिंदी में कर दिया जाए। फिर उसको भी हाथ में ले लिया...' (वही, पृष्ठ 321)।

राहुल के काम करने का यह सामान्य ढंग था। स्पष्ट ही बिना आर्थिक निश्चिंतता के यह सब नहीं किया जा सकता था। प्रायः ही प्रकाशकों के आश्वासन ऐसी दलदल की तरह होते थे, जिसमें गिरकर रचना का निकलना मुश्किल होता था। 'नेपाल' को लेकर कई जगह उन्होंने बहुत पीड़ा के साथ इस तथ्य का उल्लेख किया है। हिमालय पर उनकी एक बृहत् कार्य-योजना थी, जिसे पूरा करने के लिए, सामग्री- संकलन की दृष्टि से, उन्हें प्रायः यात्रा पर जाना होता था। घर-परिवार की चिंता थी ही। इन्हीं सब कारणों से बाद में उन्होंने किताब महल, इलाहाबाद के श्रीनिवास अग्रवाल से एक समझौता किया। रायल्टी के 20 प्रतिशत के बदले वह 15 प्रतिशत लेने को तैयार हो गए, लेकिन रायल्टी के हिसाब से प्रतिमाह पाँच सौ रुपये नियमित देने की बात तय हुई। उन्हें लगा कि शुरू में शायद इतनी रायल्टी नहीं बन सकेगी; लेकिन धीरे-धीरे स्थिति काबू में आ जाएगी और प्रकाशक से जो लेंगे उसे एक ही वर्ष की रायल्टी के हिसाब से पूरा किया जा सकेगा। लेकिन अंत तक राहुल आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित अनुभव नहीं कर सके...''आदमी अकेले रहते वक्त, विशेषकर घुमक्कड़, आर्थिक चिंताओं में नहीं पड़ सकता। कम-से-कम मेरा तजुर्बा यही था। लेकिन घरबार, बाल-बच्चे होने पर वैसी बेपरवाही नहीं रह सकती। उसे कल की चिंता होती है, और उस वक्त की भी जब वह नहीं रहेगा। मेरे दिमाग में यही विचार चक्कर काट रहे थे। यद्यपि किताब महल वालों ने रायल्टी को 20 सैकड़ा से 15 सैकड़ा कर लेने पर 500 रुपया मासिक नियमित रूप से देने के लिए वचन दे दिया था। चीन या चेकोस्लोवाकिया की बात कहने पर कमला टस से मस नहीं होतीं और कहतीं—'औरों के भी तो बच्चे हैं?' हाँ, हम कहते 'कम-से-कम 2 वर्ष के लिए चलो।' पर उन्हें तो 'हमें हैं प्यारी हमारी गलियाँ' याद आता है। वह समझती हैं कि एम. ए. करने में एक ही साल है। कलिंगपोंग में पढ़ाने का काम पकड़ लूँगी। पर पढ़ाई में सौ-डेढ़ सौ रुपये मासिक से अधिक नहीं मिलेगा, जिसमें से आधा तो मकान के किराए में ही चला जाएगा'' (वही, पृष्ठ 407)। यह उस आदमी की चिंता है जिसने अपने काम में ही अपने को पूरी तरह गला दिया था और 60 वर्ष की उम्र में चौदह-सोलह घंटे काम करना उसके स्वभाव में शामिल था। अंत में वे लंका और चीन गए भी, लेकिन तब तक उनका

स्वास्थ्य इतना बिगड़ चुका था कि इसका कोई लाभ उन्हें नहीं मिल सका और लौटकर वे फिर वापस आ गए।

विरोध और लांछनों के बीच अपना काम करते रहना राहुल ने अपना स्वभाव बना लिया था। इस मामले में वे यशपाल और रांगेय राघव से थोड़ा अलग थे। उन्होंने न तो यशपाल की तरह अपने विरोधियों की 'ऐं-ऐं' का उत्तर दिया और न ही रांगेय राघव की भाँति 'प्रगतिशील साहित्य के मानदंड' के स्तर की कोई लंबी बहस शुरू की। इस संदर्भ में उनका आचरण प्रसाद के गौतम बुद्ध जैसा दिखता है—शत्रु के प्रति उदासीन रहना ही शत्रुता की पराकाष्ठा है। वैसे तो अनेक क्षेत्रों में, अनेक मुद्दों पर, उनका विरोध करने वाले लोग थे, लेकिन अपने ही मार्क्सवादी शिविर में रामविलास शर्मा और भगवतशरण उपाध्याय ने उनका तीव्र विरोध किया। भाषा-नीति के प्रश्न पर उन्हें पार्टी से निकाला भी गया और बाद में, अजय घोष के काल में, वह पुनः पार्टी में आए। बिना किसी वितंडावाद के वे पार्टी से अलग हो गए, यद्यपि 'अपनी' पार्टी से अलग होने का दुख उन्हें हमेशा ही गहरे तक सालता रहा। अपनी उसी भाषा-नीति पर स्थिर रहने के बावजूद वह पुनः पार्टी में लिये गए और बीच के अंतराल के लिए, जिस अवधि में वह पार्टी में नहीं थे, अजय घोष ने खासा पश्चात्ताप भी किया।

रामविलास शर्मा के विरोध में आक्रामकता और कटुता अधिक थी। उन्होंने राहुल सांकृत्यायन को 'समाजवाद का शत्रु' घोषित किया और प्रायः हर मुद्दे पर उनका विरोध किया। भाषा-नीति को लेकर कम्युनिस्ट पार्टी से राहुल के निष्कासन के प्रसंग में उनकी सक्रिय और महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। परिभाषाओं के मामले में उन्होंने राहुल को रघुवीर के साथ जोड़कर उनकी भाषा-नीति की आलोचना की, जबकि राहुल सांकृत्यायन स्वयं हमेशा रघुवीर के घोर विरोधी रहे। उससे हुई आय और प्राप्त सरकारी सुविधाओं को लेकर भी रामविलास शर्मा ने कुछ व्यक्तिगत किस्म की अशोभनीय टिप्पणी की थी—जब कि हिंदी साहित्य सम्मेलन और पुरुषोत्तमदास टंडन की नीतियों और कार्य-पद्धति के प्रति राहुल सांकृत्यायन के मन में हमेशा ही गहरा असंतोष था। लेकिन सारे आरोपों और लांछनों का उत्तर राहुल आश्चर्यजनक चुप्पी से देते हैं। खिन्न होकर रामविलास शर्मा के विषय में अपनी डायरी में उन्होंने लिखा, "किसी पत्रिका में डॉ. रामविलास शर्मा के लेख पर नजर गई। मतभेद होना कोई बुरी बात नहीं और उसकी नुक्ताचीनी की जाए, इसका भी मैं स्वागत करता हूँ। उन्होंने मर्यादा तोड़कर यह काम किया था, मुझे उकसाया भी था, लेकिन मैंने उसका जवाब देना पसंद नहीं किया, दूसरों ने ही जवाब दिया। अब देखा—उन्होंने लिखा था—सरकार राहुलजी और डॉ. रघुवीर को लाखों रुपये देकर परिभाषाएँ बनवा रही है। इस सफेद झूठ का भी कोई अंत नहीं। ऐसा आदमी कैसे क्रान्ति का भक्त हो सकता है? मुझे एक प्रतिभाशाली आदमी के इस पतन पर बहुत अफसोस हुआ (वही, पृष्ठ 303-304)।"

स्वतंत्र भारत में राहुल सांकृत्यायन अंग्रेजी के वर्चस्व से क्षुब्ध थे। जब भी वे दिल्ली आते थे, अंग्रेजी के बने रहने और बढ़ने पर उन्हें क्लेश होता था। वह मातृभाषाओं में प्रारम्भिक शिक्षा के पक्षपाती थे। उर्दू को वे हिंदी की ही एक शैली मानते थे और चाहते थे कि उर्दू साहित्य नागरी लिपि में प्रकाशित हो, जिससे उसे अधिक बड़ा पाठक-वर्ग मिल सके। आज उनकी इस नीति पर अमल करते हुए ही गालिब, मीर और फैज़ तथा अभी हाल में ही इब्ने इंशा, सज्जाद ज़हीर और मंटो आदि को नागरी लिपि में प्रकाशित करके उनकी बात की सच्चाई देखी जा चुकी है। उर्दू लिपि के बहिष्कार पर भी उनका जोर नहीं था। लेकिन उनके हिंदी-प्रेम को बहुधा ही उर्दू-विरोध के रूप में प्रचारित किया गया। उनकी अपनी भाषा में उर्दू-फारसी के बेहिसाब शब्द मिलते हैं और व्यवहार के स्तर पर कहीं उर्दू के प्रति उनमें किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नज़र नहीं आता। वे हिंदी में प्रयुक्त उर्दू शब्दों के नीचे नुक्ता अलबत्ता नहीं लगाते और इससे ही वे उन्हें हिंदी शब्दों के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। परिभाषाओं के निर्माण के संबंध में उनका यह आग्रह अवश्य था चूँकि यह कार्य समस्त भारतीय भाषाओं में होना है, एकरूपता और सरलता की दृष्टि से, इस काम के लिए संस्कृत को ही आधार बनाया जाना चाहिए।

अपने साथियों और उनके उकसाने पर पार्टी ने जो सुलूक उनके साथ किया, उसे उन्होंने धैर्यपूर्वक स्वीकार किया। पार्टी से निष्कासित कर दिए जाने के बाद भी वे कम्युनिस्ट आन्दोलन और उसकी नीतियों से जुड़े रहे। हिंदी क्षेत्र में कम्युनिस्ट आंदोलन के प्रसार-प्रचार के लिए अपनी सामर्थ्य-भर हर सम्भव प्रयास उन्होंने किया। अपने ऊपर लगाए गए सारे आरोपों-लांछनों और विरोधों का उत्तर उन्होंने अपनी रचनात्मक सक्रियता से दिया। अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित एक निष्ठावान व्यक्ति ही, क्षुद्र विवादों की चिन्ता किए बिना, यह सब कर सकता था जो राहुल सांकृत्यायन ने किया।

372, छोटी बम्मनपुरी
बरेली-243003
मोबाइल : 9319838309

गुरबक्श सिंह 'प्रीत लड़ी'

❑ **आर. पी. गाँधी**

गुरबक्श सिंह का जन्म जिला—सियालकोट (पाकिस्तान) में 26 अप्रैल, 1895 में हुआ। पिता श्री बिशौरा सिंह, माता श्रीमती मालिनी कौर। जब गुरबक्श सिंह 7 वर्ष के थे तो पिताजी की मृत्यु हो गई। दसवीं तक शिक्षा जिला सियालकोट में ही हुई। उसके बाद एफ. सी. कॉलेज, लाहौर में प्रवेश लिया परन्तु आर्थिक संकट के कारण पढ़ाई बीच में ही छोड़नी पड़ी। 14 रुपये मासकि पर क्लर्क की नौकरी करने लगे। पढ़ने की लगन के कारण 1913 में थामसन इंजीनियरिंग कॉलेज, रुड़की में दाखिला ले लिया। यहाँ से सिविल इंजीनियरिंग में डिप्लोमा प्राप्त किया। 1912 में श्रीमती जगजीत कौर से शादी हुई जिससे इनकी पाँच सन्तानें हुईं! दो बेटे—नवतेज सिंह और दिलबर सिंह तथा तीन बेटियाँ—उमा, उर्मिला और प्रतिमा हुईं।

सिविल इंजीनियरिंग में डिप्लोमा लेने के बाद वे प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान सेना में भर्ती हो गए। पढ़ने में इतनी लगन थी कि ईरान मोर्चे पर जाते हुए इन्होंने गर्म कपड़े तो छोड़ दिए परन्तु श्रीगुरु ग्रन्थ साहिब को लोहे के एक छोटे बॉक्स में डालकर ले गए। कारण ज्यादा वजन ले जाने पर पाबन्दी थी। ईरान में युद्ध के दौरान इनका तम्बू सबसे सुन्दर होता था। वहाँ ये 'सुन्दर तम्बू वाले' गुरबक्श सिंह के नाम से प्रसिद्ध थे। पढ़ने के लिए तम्बू में ही जमीन खोदकर बेंच और मेज बना रखे थे। जब युद्ध की समाप्ति हुई तो सिख फौजियों ने जीत का जश्न मनाने के लिए गुरबक्श सिंह से गुरु ग्रन्थ साहिब ले आये और गुरु ग्रन्थ साहिब की शान के लिए पीढ़ी, तकिए, रूमालें सबका प्रबन्ध किया। गुरु ग्रन्थ को अपना मुख्य गुरु मान जीत का जुलूस निकाला गया। इसके उपरान्त गुरु ग्रन्थ वापिस गुरबक्श सिंह के पास पहुँचा दिया गया। गुरबक्श सिंह के पास एक ईरानी लड़का नौकर था, जो गुरुबक्श सिंह को अपने घर आने का कई बार निमन्त्रण दे चुका था। लड़के का पिता राजमिस्त्री का कार्य करता था और भवन निर्माण के दौरान ऊँचाई से गिरने पर उसकी दोनों टाँगें बेकार हो गई थीं। ईरानी नौकर के घर में उसके छोटे भाई

का जन्म हुआ था। जब गुरुबक्श सिंह ईरानी लड़के के घर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि लड़के की माँ जमीन पर सोई है और छोटा बच्चा भी जमीन पर पड़ा है। गुरबक्श सिंह ने वापिस अपने तम्बू में आकर अपने बिस्तर में से दो चादरें निकालीं और गुरु ग्रन्थ साहिब के लिए बनाई गयी पीढ़ी, तकिए और रूमालें ईरानी लड़के को भेंट किए और गुरु ग्रन्थ साहिब को वापिस लोहे के बॉक्स में रख लिया। ईरानी लड़के ने पहले तो इनकार किया, लेकिन गुरुबक्श सिंह के समझाने पर कि मैं नहीं बल्कि कुरान-पाक ही आपको ये दे रहा है, लड़के ने वह सामान स्वीकार किया। इस पर गुरुबक्श सिंह का कहना है कि मुझे इस बात का डर लगा रहता था कि अगर कोई श्रद्धालु सिख मेरे घर आ गया तो गुरु ग्रन्थ साहिब को इस प्रकार लोहे के बॉक्स में देखकर मुझे शर्मिन्दा करेगा। परन्तु किसी के पास भी फुर्सत न थी। कोई तो ईरानी औरतों के पीछे घूम रहा था और कोई ईरानी कालीन खरीदने में लगा था। केवल मेरे जैसा नास्तिक ही ऐसे समय में गुरु ग्रन्थ साहिब को पढ़ सकता था।

ईरान में ही गुरुबक्श सिंह की एक ईसाई मिशनरी से मुलाकात हो गई थी जिसने गुरबक्श की आगे पढ़ने की ललक को देखते हुए अमेरिका जाकर पढ़ाई जारी करने में सहायता की। एक दिन गुरबक्श सिंह सिनेमा देखने के लिए गए तो वहाँ पर इनको हाल में पगड़ी के साथ प्रवेश करने की अनुमति नहीं मिली। परन्तु गुरबक्श को पगड़ी उतारकर फिल्म देखना पसन्द न था, इसलिए बिना फिल्म देखे घर वापिस आ गए। अगले दिन गुरबक्श ने अखबार के एक कॉलम में एक लेख लिखा 'तुम्हारे दर पर एक परदेसी'। इस निबन्ध की बहुत सराहना हुई। कुछ अमेरिकन महिलाओं ने इनको मिलकर प्रेरित किया कि तुम एक अच्छे लेखक साबित हो सकते हो। इसका परिणाम यह निकला कि गुरबक्श सिंह एक इंजीनियर से एक लेखक बन गए।

भारत वापिस आकर 1933 में 'प्रीत लड़ी' नाम की पत्रिका आरम्भ की। इस पत्रिका ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। बुद्धिजीवी लोगों द्वारा पत्रिका और लेखक की सराहना हुई। अधिक संख्या में पत्रिका के पाठक बने। इनकी भाषा में मधुर रस था जिससे पाठक आनन्द प्राप्त करता था। रूढ़िवादी सोच के ऊपर उठकर इन्होंने धर्म-निरपेक्षता तथा आपसी भाईचारे के प्रति बहुत-कुछ लिखा। एक पुस्तक में एक स्थान पर कहते हैं, ''हमने लड़कर भी देख लिया, आओ गले मिलना सीख लो। जब कोई किसी को डण्डा मारता है तो डण्डा मारने वाले के दिल में एक डर समाया रहता है कि जिसको मैंने डण्डा मारा तो मौका मिलने पर वह भी मुझे बक्शेगा नहीं। अगर तुमने किसी के जख्मों पर मरहम-पट्टी की है तो तुम्हारे मन में एक संतुष्टि मिलेगी कि तुम्हारी आवश्यकता पड़ने पर कोई मरहम-पट्टी करेगा।''

इनका उपन्यास 'बिन ब्याही माँ' एक शानदार रचना है जो आजकल के हालात पर भी खरी उतरती है। पुरुष-प्रधान समाज आज भी नारी को भोग की वस्तु समझता

है। उसको अपने अस्तित्व और अस्मिता को बचाने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। अपने जमाने में यह रचना बहुत बिकी और पाठकों ने इसे बहुत पसंद किया। इन्होंने 27 निबन्ध-संग्रह लिखे जो सभी शानदार रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त नाटक, कहानी-संग्रह, उपन्यास और पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं। पत्रिकाओं में 'प्रीत लड़ी' व 'बाल-सन्देश' शामिल हैं। इनकी निबन्ध-रचना 'नए शिवाले' स्कूलों में भी पढ़ाई जा रही है।

'नवे शिवाले' के पहले लेख में उन्होंने लिखा है कि चारदीवारी में बन्द जो मूर्ति थी और मैं उसको सब-कुछ ही समझ बैठा था। शिवाले के दरवाजे के छोटे से सुराख से जब रोशनी अन्दर आई तो मुझे अनुभव हुआ कि यह सिवाय पत्थर के कुछ टुकड़ों के कुछ भी नहीं। जब दरवाजा खोल बाहर निकला तो मैंने अनुभव किया कि जिसको मैं एक बन्द कोठरी में ढूँढ रहा था, वह तो बहुत ही विशाल है, अनन्त है जिसकी कोई सीमा नहीं। ऐसे निबन्धों की सहायता से गुरबक्श सिंह 'प्रीत लड़ी' ने चारों ओर फैले अन्ध-विश्वासों के गहरे अन्धकार को दूर कर प्रकाश फैलाने का काम किया।

1938 में लाहौर और अमृतसर के बीच 15 एकड़ जमीन खरीदकर प्रीत नगर की स्थापना की, जो 1947 तक बना रहा, जहाँ पर उन्होंने भारत से पाकिस्तान जाने वाले हजारों शरणार्थियों को सुरक्षा प्रदान की। उनको सुरक्षित लाहौर पहुँचाया गया। 1940 में प्रीत नगर से 'बाल-सन्देश' नाम की पत्रिका शुरू की। प्रीत नगर समाजवादी व्यवस्था का एक शानदार उदाहरण था। एक बार पंडित जवाहर लाल नेहरू को भी प्रीतनगर जाने का अवसर प्राप्त हुआ। इस नगर की व्यवस्था को देखकर पं. नेहरू बहुत प्रभावित हुए थे।

सीमा पर होने के कारण प्रीत नगर अशान्त हो गया और 1947 के बाद उजड़ गया। गुरबक्श सिंह वहाँ से दिल्ली चले गए। वहाँ पर इनका दिल न लगा और 1960 में पुनः प्रीत नगर आकर इसकी पुनः स्थापना की। इसके पश्चात् वे अपनी मृत्यु के समय 1977 तक यहीं पर रहे। इनकी मृत्यु के बाद 'प्रीत लड़ी' का संचालन इनके बड़े बेटे नवतेज सिंह ने किया। नवतेज को जीभ का कैंसर होने के कारण उनकी मृत्यु हो गई। नवतेज की मृत्यु के बाद 'प्रीत लड़ी' का संचालन नवतेज के बेटों ने अपने हाथ में लिया। नवतेज का एक बेटा अमृतसर में इसलिए मार दिया गया कि उसके सिर पर केश न थे और दूसरा बेटा मुजफ्फर नगर में इस कारण मार दिया गया कि उसके सिर पर केश थे। दूसरा बेटा जो डॉक्टर था, दंगाइयों से पीड़ित लोगों की सेवा के लिए मुजफ्फर नगर गया था। इन दिनों 'प्रीत लड़ी' का संचालन गुरबक्श सिंह के पोते की पत्नी पूनम कर रही है।

गुरबक्श के जीवन की दो छोटी घटनाओं का वर्णन किए बिना इनके बारे में लिखा गया निबन्ध अधूरा रह जाएगा। इनकी ननिहाल अमृतसर में थी। ये एक

बार ननिहाल गए हुए थे। ये कमरे में खिड़की से बाहर झाँक रहे थे। वहाँ गली से एक युवती पानी की मटकी लेकर गुजर रही थी। युवती ने गुरबक्श सिंह से पूछा, ''बे ठण्डा पानी पिएगा?'' गुरबक्श को कुछ नहीं सूझा। वह जूठे बर्तनों में से एक जूठा गिलास उठा लाया। उसने उसके गिलास में ठण्डा पानी उँडेल दिया। गुरबक्श का यह कहना है कि मैं उस जूठे गिलास में ठण्डा, सुच्चा पानी गटागट पी गया।

एक बार गुरबक्श से किसी ने पूछा 'दार जी, तुम रात को सज-सँवरकर क्यों सोते हो? उनका उत्तर था, ''रात को मुझे कोई अपना प्रिय मिलने आ जाए तो मुझे बिखरा हुआ देखकर कहीं वापिस न लौट जाए।''

50, लक्ष्मीनगर, यमुना नगर (हरियाणा)
मोबाइल : 9315446140

अब्राहम टी. कोवूर

❑ डॉ. जी. विजयम्

डॉ. अब्राहम टी. कोवूर एक उत्कृष्ट बुद्धिवादी व अनीश्वरवादी थे। उन्होंने अंधविश्वास और चमत्कारों के विरुद्ध तथा इनके प्रभावों से मानव मस्तिष्क को आज़ाद कराने के अनवरत संघर्ष चलाए। उन्होंने दुनिया के सामने प्रदर्शित किया कि भारत न केवल एक धर्म-प्रधान देश है वरन् वह नास्तिकता, बौद्धिकता व मानववाद की भी धरती है।

आधुनिक भारत में नास्तिकता, मानववाद और बुद्धिवाद के चार उत्कृष्ट व्यक्तित्व हमारे सामने आते हैं—पेरियार ई. वी. रामास्वामी, ॲम. ॲन. रॉय, गोरा और अब्राहम टी. कोवूर। गैर-धार्मिक जीवन जीने वाले लोगों के मस्तिष्क पर उन्होंने अपने विचारों की अमिट छाप छोड़ी और उन्होंने लोगों को धर्म तथा अंधविश्वासों की जकड़न से बाहर आने को प्रोत्साहित किया। वे नास्तिकता, बुद्धिवाद और मानववाद को आम आदमी तक ले गए। उन्होंने लोगों को यह समझाने में कोई कोशिश नहीं छोड़ी कि चमत्कारों में विश्वास रखने वाले मस्तिष्क उनकी प्रगति में सबसे बड़ी बाधा हैं।

भारत में नास्तिकता, बुद्धिवाद, मानववाद व स्वतंत्र चिंतन की एक लम्बी परम्परा रही है। धर्मनिरपेक्षता भारतीय स्वभाव में सदैव अन्तर्निहित रही है। सांख्य दर्शन, चार्वाकों और लोकायतों की परंपरा तथा बौद्धों के अज्ञेयतावाद और सामाजिक एकता के सिद्धान्त, जिन्होंने प्राचीन भारत के मस्तिष्क को गहराई तक प्रभावित किया, की हमारी गौरवपूर्ण परम्परा है। जब-जब धार्मिक परम्पराओं की जकड़न असह्य हो गई, समाज-सुधारकों ने विद्रोह का झंडा उठाया और उन्होंने लोगों को इस धार्मिक कट्टरता की जकड़न से बाहर आने का रास्ता दिखाया। कबीर, वामन, नारायण गुरु, सहोदरन आयप्पन, राजा राममोहन रॉय, महात्मा फुले, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, कुन्दुकुरी वीरेशलिंगम, महादेव गोविंद रानाडे, पंडिता रमाबाई, महर्षि कर्वे जैसे समाज-सुधारकों तथा बहुत से अन्य लोगों ने अपने-अपने समय की धार्मिक कट्टरता को ढीला करने तथा परिस्थितियों को सुगम बनाने में सकारात्मक भूमिका निभाई। उन्होंने सड़ाँध के बीच ताजी हवा बहाने तथा जीवन में विश्वास व उद्देश्यात्मकता के नए बीज बोने का काम किया। पश्चिम के विज्ञान व धर्म के बीच के झगड़ों के विपरीत भारत में धर्म और सामाजिक-सुधार के झगड़े हुए। समाज-सुधारकों ने यहाँ पुरानी पड़ चुकी रूढ़ियों और रिवाजों को खुली चुनौतियाँ दीं। इस प्रकार 19वीं सदी के भारतीय समाज-सुधारकों ने नास्तिकता, बुद्धिवाद व मानववाद के लिए पहले से ही उपजाऊ भूमि तैयार कर ली थी। गाँधी के नेतृत्व में चलने वाला राष्ट्रीय आन्दोलन केवल राष्ट्रीय आज़ादी का आन्दोलन नहीं था, वरन् उसने समाज में उदारता का वातावरण भी पैदा किया। डॉ. बी. आर. आम्बेडकर के मानव अधिकारों, समानता और सामाजिक न्याय के लिए किए गए विद्रोह और धार्मिक ग्रंथों और कट्टरता-विरोधी संघर्षों ने बहुत से लोगों को अपने पारंपरिक विचारों को पुनरीक्षित करने व बदलने को विवश किया। जवाहर लाल नेहरू के मानववादी, समाजवादी व साम्यवादी विचारों ने भी लोगों के चिन्तन व आचरण को नया रूप देने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

इस पृष्ठभूमि में, पेरियार रामास्वामी, ॲम. ॲन. रॉय, गोरा और अब्राहम टी. कोवूर ने नास्तिकता, मानवतावाद और तर्कवादी विचारों को प्रमुखता देकर समूचे आन्दोलन को नया मोड़ दिया। उन्होंने लोगों के सामने एक वैकल्पिक जीवन-पद्धति प्रस्तुत की।

अब्राहम टी. कोवूर का जन्म केरल राज्य के तिरुवल्लप में 10 अगस्त, 1898 ई. को एक आर्थोडॉक्स ईसाई परिवार में हुआ था। उनकी माँ का नाम मरियम था। पिता रेव. कोबूर मलाबार की सीरियन चर्च के धर्माध्यक्ष थे। ऐसे माता-पिता की संतान के नास्तिक होने की सम्भावना की कल्पना शायद ही कोई कर सकता था।

कोवूर की हाई स्कूल तक की शिक्षा तिरुवल्ला में और उच्च शिक्षा कोलकाता में हुई। उन्होंने केरल लौटकर अध्ययन का कार्य प्रारम्भ किया। सन् 1928 ई. में वे जाफना (सीलोन) में एक कॉलेज में वनस्पति विज्ञान के प्रवक्ता हो गए। यहाँ कॉलेज में उन्हें छात्रों को बाइबिल पढ़ाने का काम सौंपा गया। वे पढ़ाते तो परिश्रम से थे, पर पढ़ाने में बाइबिल की उनकी विवेचना में छात्र नास्तिक होने लगे। प्रबंधकों ने उनसे यह नया काम वापस ले लिया। कोवूर ने प्रार्थना व वर्षा के सम्बन्धों का मजाक उड़ाया। छात्रों में वे बेहद लोकप्रिय थे।

सन् 1953 ई. में कोवूर कॉलेज की नौकरी से सेवानिवृत्त हो गए। उन्होंने श्रीलंका रेशनलिस्ट एसोसिएशन की स्थापना की। वे इसे नास्तिक संगठन नाम देना चाहते थे पर उनके मित्रों ने उपर्युक्त नाम पर ही जोर दिया। यह संगठन चमत्कारों के वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करते हुए अंधविश्वासों का खंडन करता।

कोवूर के काम में उनकी पत्नी कुन्जम्मा इनकी पूरी मदद करती थीं। उन्होंने सेवानिवृत्ति के बाद श्रीलंका की नागरिकता ले ली, पर भारत से निरन्तर भरपूर सम्बन्ध बनाए रक्खे।

जब कोवूर के बेटे आरिस पेरिस में बस गए तो उन्होंने योरुप की यात्रा की। वहाँ उन्होंने बुद्धिवादियों, मानववादियों और नास्तिकों से मुलाकातें कीं। इंग्लैंड में जब वे सांसद, लार्ड फेनर ब्रोकवे से मिले तो उन्होंने प्रश्न किया कि अंधविश्वासों से लथपथ भारत प्रगति कैसे कर सकता है? कोवूर ने निश्चय किया कि वे तमाम अंधविश्वासों के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ करेंगे। सन् 1963 ई. में उन्होंने एक लाख रुपये के इनाम की घोषणा उस व्यक्ति के लिए की जो अपने दैवी शक्ति सम्पन्न होने के दावे या अपने चमत्कार को साबित कर दे। उन्होंने 22 ऐसे चमत्कार गिनाए जिन्हें साबित करने पर इनाम मिलना था—

1. सीलबंद नोटों के क्रमांक पढ़ना।
2. नोट की सच्ची प्रतिकृति बनाना।
3. ईश्वर की मदद से जलते अंगारों पर 30 सेकंड स्थिर खड़े रहना और तलवों में छाले न पड़ना।
4. शून्य में किसी वस्तु को उत्पन्न करना।
5. मात्र मनोशक्ति से ठोस वस्तु को मोड़ना या चलाना।
6. दूरसंवेदन शक्ति से अन्य व्यक्ति के विचार जानना।
7. किसी कटे अंग को ईश-प्रार्थना, दैवीशक्ति, पवित्र जल, पवित्र भभूति या आशीर्वाद से एक इंच तक बढ़ा देना।
8. यौगिक शक्ति से हवा में लटकना।
9. यौगिक शक्ति से 5 मिनटों तक हृदयगति को रोकना।
10. पानी पर चलना।
11. शरीर को एक स्थान पर छोड़कर अन्यत्र प्रकट होना।
12. यौगिक शक्ति से 30 मिनट तक साँस न लेना।
13. अतीन्द्रिय चिंतन से ज्ञान पाना।
14. प्रेतात्मा के प्रभाव या पुनर्जन्म के कारण अपरिचित भाषा में बोलना।
15. ऐसी प्रेतात्मा को प्रस्तुत करना जिसका फोटो लिया जा सके।
16. चित्र खिंचने के बाद फिल्म से गायब होना।
17. दैवीशक्ति द्वारा बंद कमरे से बाहर निकल जाना।
18. किसी वस्तु की मात्रा या भार बढ़ा देना।
19. छिपी वस्तु ढूँढ लेना।
20. पानी को पेट्रोल या शराब में बदल देना।
21. शराब को रक्त में बदल देना।
22. हस्तरेखा विशेषज्ञ या ज्योतिषियों द्वारा अपनी शक्तियों मात्र से किसी के जन्म की तारीख, समय व स्थान बता देना।

कोवूर की इस चुनौती का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। अन्य समकालीन

नास्तिकों ने और भी साहस के साथ चुनौतियाँ देना प्रारम्भ कर दिया। चूँकि न तो चमत्कार सच्चे होते हैं और न ही उनका दावा करने वाले, कोवूर की चुनौती स्वीकार करने कोई भी चमत्कारी कभी भी सामने नहीं आया।

कोवूर की महानता केवल यही नहीं थी कि उन्होंने देवत्व का दावा करने वालों को चुनौती दी, वरन् उन्होंने भोली-भाली जनता को ठगने वाले देवत्वधारी ठगों को नंगा करने के काम को अपना मिशन बना लिया। वे अपने भाषणों, प्रदर्शनों, सभाओं, लेखों आदि से देवत्वधारी पुरुषों के विरुद्ध निरंतर वातावरण बनाते रहे। आपातकाल (1975-77) के दिनों में वे पूरे भारत में घूमे और करामाती बाबाओं को खूब चुनौतियाँ दीं, पर एक भी बाबा अपनी करामातों को सिद्ध करने सामने नहीं आया। तार्किक बुद्धिवादियों ने पूरे भारत में कोवूर का खूब स्वागत किया। यह उनकी बड़ी सफलता थी।

उन दिनों बेंगलूरू विश्वविद्यालय के कुलपति, प्रो. एच. नरसिम्हैया ने एक वैज्ञानिक समिति बनाई। उसे यह काम सौंपा गया कि वह जाँचे जा सकने वाले अंधविश्वासों की प्रामाणिकता की जाँच करे। जाँच की जद में आने के डर से साँईं बाबा ने उन्हें कुलपति के पद से ही हटवा दिया। इससे पता चलता है कि दैवीशक्ति का दावा करने वाले ढोंगियों और राजनीतिज्ञों में कैसी दुरभिसन्धि है और राजनीतिज्ञों की मदद से ही इन ढोंगियों के धन्धे चलते हैं।

धर्म के धंधेबाजों और राजनीतिज्ञों, दोनों का ही निहित स्वार्थ है कि आम आदमी अंधविश्वासों का शिकार बना रहे। कोवूर अंधविश्वासों के मिथकों को तोड़ना चाहते थे जिससे भोलीभाली जनता को देव-पुरुषों के चंगुल से मुक्त कराया जा सके। यही नहीं, कोवूर अंधविश्वासों को मानवाधिकारों और लोकतंत्र का शत्रु मानते थे। उन्होंने लोगों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए भी काम किया। उन्होंने पुनर्जन्म के झूठ पर मलयालम में एक फिल्म भी बनाई। पुनर्जन्म नाम की यह फिल्म बेहद शिक्षाप्रद थी।

कोवूर ने कई प्रेतों की कथाओं की पड़ताल की और उन्हें एकदम झूठ साबित किया। उन्होंने प्रेत मनोविज्ञान के गूढ़ रहस्यों को आम आदमी तक पहुँचाने के प्रयास किए। उन्होंने द सीलोन रेशनलिस्ट क्रानिकल' नाम की पत्रिका निकाली, जो उनकी पड़तालों की नियमित रपटें छापा करती थी। कोवूर के भाषण व लेख कई भाषाओं में अनुवादित किए गए। इससे बड़े पैमाने पर लोगों को अतीन्द्रिय रहस्यों व चमत्कारों के पीछे के तथ्यों के बारे में जानकारियाँ मिलीं। जैको प्रकाशन द्वारा प्रकाशित कोवूर की पुस्तकें, ''बिगोन गॉडमेन—एनकाउन्टर्स विद स्पिरिचुअल फ्राड्स'' और ''गाड्स, डीमन्स ॲण्ड स्पिरिट्स'' लोगों की बौद्धिक पिपासा को तृप्त करने में काफी मदद करने वाली पुस्तकें हैं।

कोवूर ने बुद्धिजीवियों के साथ-साथ आम आदमी को प्रभावित किया ही, साथ

ही कई लोगों ने उनसे प्रभावित होकर स्वयं भी चमत्कारों और धर्मगुरुओं को कटघरे में खड़े करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। कई जादूगरों, नास्तिक कार्यकर्ताओं व विज्ञान-प्रेमियों ने भी यह काम अपने हाथों में ले लिया।

यह बात सर्वज्ञात है कि भारत में धर्मगुरुओं, राजनीतिज्ञों, व्यापारियों, नौकरशाहों तथा माफिया गिरोहों में गहरे रिश्ते हैं। ये सभी एक-दूसरे से साँठ-गाँठ रखकर अपने-अपने काले धन्धे चलाते रहते हैं। धर्मगुरुओं के चमत्कारों को छूते ही उनके सभी छिपे लाभार्थी उनकी रक्षा में सक्रिय हो जाते हैं। कोवूर ने यह तथ्य बखूबी समझा था और समस्या के इस पक्ष को भी जनता में ले गए थे। कोवूर के अनन्य सहयोगी प्रेमानन्द ने न केवल उनके जीवन काल में वरन् उनके बाद भी उनके मिशन को आगे बढ़ाने का काम जारी रक्खा। प्रेमानन्द को सन् 1997 ई. के राष्ट्रीय विज्ञान विकास पुरस्कार से नवाज़ा गया।

कोवूर ने भारत व श्रीलंका में अपने प्रिय विषय पर समान सक्रियता से काम किया। उन्होंने विज्ञान के साथ-साथ मनोविज्ञान के आधार को भी अपनाया। निर्णयों तक पहुँचने के लिए उन्होंने फ्रायड के मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों का भी सहारा लिया।

सन् 1970 ई. में गोरा जब विश्वभ्रमण पर गए तो उनकी यात्रा का अंतिम छोर कोलम्बो था। कोवूर ने कोलम्बो में उनकी सभा की अध्यक्षता की। लवणम् और हेमलता लवणम् कोवूर के आमन्त्रण पर श्रीलंका गए। कोवूर स्वयं सन् 1976 ई. में नास्तिक केन्द्र आए और गोरा की पुस्तक ''सुपरस्टिशन्स ॲण्ड ॲथीस्ट आउटलुक'' का विमोचन किया। नास्तिक केन्द्र का कोवूर से निरन्तर गहरा रिश्ता रहा। लवणम् और मैं कोवूर के भाषणों को उनकी सभाओं में अनुवादित किया करते थे। विजयवाड़ा में सन् 1972 ई. में प्रथम विश्व नास्तिक सम्मेलन हुआ था। कोवूर ने इस सम्मेलन को सफल बनाने के लिए अथक सहयोग दिया था।

कोवूर एक व्यावहारिक आदर्शवादी थे। वे सिद्धान्तों पर दृढ़ रहते और दूसरों के लिए निरन्तर आदर्श प्रस्तुत करते रहते थे। सन् 1974 ई. में उनकी पत्नी का देहान्त हुआ, उन्होंने उनकी आँखें व शरीर दोनों मेडिकल कॉलेज को दान कर दिए।

कोवूर का सक्रियता भरा जीवन सितम्बर 18, 1978 ई. को कोलम्बो में समाप्त हो गया। वे अपनी आँखें व शरीर पहले ही कोलम्बो मेडिकल कॉलेज को वसीयत कर गए थे। ट्रिस्टन मेडिकल कॉलेज ने उनके अस्थि पंजर को सुरक्षित रख छोड़ा है। उनकी मृत्यु की खबर भारत व अन्यत्र दुःख के साथ सुनी व पढ़ी गयी।

कोवूर का सक्रियता भरा नास्तिक जीवन लोगों, विशेषतया नई पीढ़ी के लिए सदैव ही प्रेरणा का स्रोत बना रहेगा।

नास्तिक केन्द्र, बैंज सर्कल, विजयवाड़ा-520010
मोबाइल : 9848458220

के. शिवराम कारंत

आधुनिक भारत के रवीन्द्रनाथ टैगोर कहे जाने वाले कोटा शिवराम कारंत कन्नड़ भाषा के महान् लेखक, सामाजिक कार्यकर्ता, पर्यावरणविद्, फिल्मकार, यक्षगान, कलाकार व विचारक थे। उनका जन्म कर्नाटक राज्य के उडुपी जिले में उडुपी के पास के गाँव कोटा में 10 अक्टूबर, 1902 ई. को माँ लक्षमम्मा के गर्भ से हुआ था। पिता थे शेष कारंत।

कोटा कारंत अपने माता-पिता की पाँचवीं संतान थे। उनके बड़े भाई, के. आर. कारंत, राजनीति में थे और मद्रास प्रेसीडेन्सी की सरकार में मंत्री रहे थे।

कारंत की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की सरकारी प्राथमिक पाठशाला में हुई। डिग्री शिक्षा इन्होंने असहयोग आन्दोलन में शामिल होने के लिए छोड़ दी। बाद में उन्होंने खादी तथा स्वदेशी आन्दोलन में भी काम किया। वे गाँधीजी से काफी प्रभावित थे। 30 वर्ष की उम्र पूरी करने पर उन्होंने लीला से शादी कर ली। इसके बाद वे अपना सारा समय प्रायः लेखन व अन्य बौद्धिक गतिविधियों को ही देने लगे।

कारंत को कन्नड़ भाषा के महान् उपन्यासकारों में माना जाता है। उन्होंने कर्नाटक की कला व संस्कृति को अभूतपूर्व समृद्धि दी। उनके उपन्यासों में से कई, यथा—मरळि मण्णिगे, बेट्टद जीव, अकिद मेले, मूकज्जिकनसुगकु, मैं मंगळ, सुकिपल्लि, अदे अरुअदे मर, शनीश्वरन, नेरकिनल्लि, कुडियरकूसु, स्वप्नद होके, सरसम्मन समाधि और चोमनडुडि आज भी व्यापक स्तर पर पढ़े जाते हैं और उन पर चिंतन-मनन किया जाता है। उन्होंने कुल मिलाकर 47 उपन्यास लिखे। वे हर वर्ष एक उपन्यास अवश्य लिखते थे। यक्षगान के पुनरुत्थान में उनका योगदान सदैव याद किया जाएगा। यक्षगान बयलत (1957) कन्नड़ और यक्षगान (1975) इस विधा पर उनकी दो पुस्तकें हैं। यक्षगान के संगीत आधार तथा प्राचीन प्रसंगों पर खोजपरक लेखन का उनका प्रयास इस क्षेत्र का पहला गंभीर प्रयास था। बैले तथा कई अन्य आधुनिक नृत्यों पर आधारित कई प्रयोगों द्वारा उन्होंने इस मध्ययुगीन अर्धलोकशैली को पुनर्जीवित

करने का साहसिक प्रयास किया। वे यक्षगान मंडलियों को यूरोप ले गए और वहाँ उनकी प्रस्तुतियाँ दीं। सन् 1930-40 में उन्होंने अपने उपन्यासों का स्वयं ही प्रकाशन किया। उनका यह प्रयास असफल रहा। उन्हें इस प्रयास में भारी घाटे उठाने पड़े। उन प्रकाशनों में पुस्तकों के मुखपृष्ठ उनके स्वयं के बनाए चित्रों पर आधारित होते थे। यह एक अनोखा प्रयास था। 95 वर्ष की आयु में उन्होंने एक पुस्तक चिड़ियों पर लिखी। इसे मनोहर ग्रंथमाला, धारवाड़ ने प्रकाशित किया (2002 ई.)।

उपन्यासों के अतिरिक्त कारंत ने 31 नाटक भी लिखे। लघुकथाएँ, लेख, रेखाचित्र, कला पुस्तकें, कला का विश्व इतिहास, चालुक्य स्थापत्य कला, बाल ज्ञान कोश, विज्ञान का विश्वकोश, बाल पुस्तकें (240), यात्रा-वृत्तांत, पक्षी ज्ञान व आत्मकथा (दो भागों में) आदि मिलाकर कुल 417 पुस्तकों का विशाल भंडार उनके नाम है।

कृतियों का प्रभाव

'मोकंज्जिय कन्सुगुकु...(एक मौन दादी के सपने) के लिए उन्हें 1978 ई. का ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया। इसमें कथा एक दादी के चारों ओर घूमती है। वह जीवन के, धर्म और समाज के सभी पक्षों के विभिन्न पहलुओं पर गौर करती है। वह पोते सुबन्ना से निरन्तर बातें करती है। वार्ता में वे तमाम विषय आते हैं जिनसे सुबन्ना का निरन्तर सामना होता रहता है। वह तमाम अंधविश्वासों पर दादी से प्रश्न करता है। दादी उसके हर प्रश्न का तथ्यात्मक जवाब देती है। सुबन्ना जंगल में जाकर मानव अस्थियाँ इकट्ठा कर मनुष्य की सभ्यता के विकास पर प्रश्न पूछता है। दादी अपनी अतीन्द्रिय शक्ति से मानव सभ्यता के लम्बे विकास-क्रम को पूरी कुशलता से समझा देती है। यह पुस्तक मानव सभ्यता के विकास पर अपने किस्म का एक अद्वितीय ग्रंथ है तथा कन्नड़ में तो अपने किस्म की पहली पुस्तक भी। उनकी चोमन डूडी पर तो फिल्म भी बन चुकी है।

कारंत ने एक बार राजनीति में आकर आम आदमी के जीवन को बेहतर बनाने का भी प्रयास किया। पर्यावरण को विषय बनाकर वे लोकसभा का चुनाव भी लड़े। उनका चुनाव चिह्न हाथी था। उन्होंने वोट अच्छे पाए पर चुनाव हार गए। उन्होंने जिद बनाकर चुनाव-प्रचार करने से इनकार कर दिया था। कर्नाटक में करवार के निकट कडगा में परमाणु प्लान्ट का उन्होंने कड़ा विरोध किया। उनका आन्दोलन असफल हो गया। वे एक तेजतर्रार पर कटु वक्ता थे। इन्हीं भाषणों के कारण उन्हें भार्गव (परसुराम) का उपनाम भी मिला था।

अपने पर्यावरण प्रेम के चलते एक बार उन्होंने चीते के दो बच्चों को पाला था। शिकारियों ने उनकी माँ को मार डाला था। उन्होंने बाल ट्रेन पर प्रयोग किए। बाद में बंगलौर में उन्हीं के सिद्धान्त पर गब्बन पार्क में बाल ट्रेन बनाई गई। उनका पुत्र उल्लास आज भी अपने पिता के पर्यावरण कार्य में लगा हुआ है।

उन्हें 1958 में साहित्य अकादमी अवार्ड से व 1978 में ज्ञानपीठ पुरस्कार से नवाजा गया, उनके उपन्यास 'बेटादाजीवा' पर बनी फिल्म के लिए 2011 में राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार भी दिया गया। सरकारी उपाधि 'पद्मभूषण' उन्होंने 1975 में इंदिरा गाँधी द्वारा आपात्काल की घोषणा के विरोध में लौटा दी थी।

शिवराम कारंत पर अब तक उच्च श्रेणी के लेखकों द्वारा 87 पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। एशिया में यह एक रिकॉर्ड है। मंगलोर विश्वविद्यालय में उनके नाम पर सेन्टर फॉर ॲडवान्स स्टडीज़ (1990) की भी स्थापना की गयी है।

गोपाराजू रामचन्द्र राव गोरा

❑ **अबू अब्राहम**

जुलाई 25, 1975 ई. को एक महान् आदमी का निधन हो गया। भारत के राष्ट्रीय प्रेस ने उसके निधन को मात्र तीन पंक्तियों के समाचार में निपटा दिया। ऐसा होते हुए भी उस आदमी की महानता अपनी जगह है।

गोरा (गोपाराजू रामचन्द्र राव) का आकस्मिक निधन उस समय हुआ, जब वे विजयवाड़ा में एक सभा में व्याख्यान दे रहे थे। वे आजीवन गाँधीवादी रहे, परन्तु वे अनीश्वरवादी भी थे।

मैं पहली बार उनसे सन् 1969 में दिल्ली में गाँधी शताब्दी समारोह में गाँधी पर एक व्याख्यान में मिला था। तब से हम दोनों ने बहुत घंटे साथ-साथ बिताए थे। इन मुलाकातों में हमने गाँधीवाद, अनीश्वरवाद, ग्रामीण समस्याओं, संघवाद और दलविहीन लोकतन्त्र पर भरपूर विचार-विमर्श किए थे। दो बार, एक बार नागपुर में और दोबारा बंगलूरू में, हमने छोटे राज्यों के विचार पर विमर्श किया था। वे राज्यों के पुनर्गठन के इच्छुक थे। ऐसा वे सत्ता के विकेन्द्रीकण के लिए चाहते थे।

वे सदैव रेलवे की तृतीय श्रेणी में यात्रा करते थे। पिछले साल बंगलूरू में मैंने उन्हें लम्बी रेल यात्रा के बाद काफी थका-थका देखा। मैंने उन्हें प्रथम श्रेणी में यात्रा का सुझाव दिया, क्योंकि उन्हें आमंत्रित करने वाली संस्थाएँ प्रथम श्रेणी का किराया देने को तैयार रहती थीं। वे मेरे सुझाव को मानने को तैयार नहीं थे। वे केवल तृतीय श्रेणी का किराया ही स्वीकार करते थे।

हम अक्सर कुछ बातों पर तर्क-वितर्क करते थे। मैं कहता था कि फूल बागों में अच्छे लगते हैं। वे कहते : बागों में फूलों की जगह सब्जियाँ क्यों न उगाई जाएँ। वे फूलों के हारों को पसन्द नहीं करते थे। वे फलों व सब्जियों की मालाएँ पसंद करते थे। मेरा अनीश्वरवाद उनके अनीश्वरवाद से अलग था। मैं ईश्वर में रहस्यवादी विश्वास रखता हूँ। वे कहते कि यह तर्कहीन है और एक व्यर्थ की कल्पना मात्र है।

इस वर्ष के प्रारम्भ में मैंने विजयवाड़ा के छोर पर बसे पतामाता में उनके साथ पूरा एक दिन बिताया। वहाँ तथा पास के गाँवों में हम उनके मित्रों व गाँववालों से मिलने गए। वे वहाँ पिछले करीब 40 वर्षों से अनीश्वरवादी आन्दोलन का एक केन्द्र चला रहे थे। उनके विरोधी उन्हें 'पागल' करार देते हैं।

ब्राह्मणवाद में डूबे एक कस्बे में वे हरजिनों से काफी नज़दीकी सम्बन्ध रखते थे। उनकी सन्तानों ने हरिजनों से ही विवाह सम्बन्ध बनाए थे। इसके लिए उनकी निन्दा की गई व ब्राह्मणवादियों ने उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया। इस पर भी वे किसी के विरुद्ध कुछ नहीं कहते। वे गाँधी की तरह सदैव बिना किसी दुर्भाव के प्रसन्न ही रहते। उनकी निडरता अपार थी।

हर महीने पूर्णिमा की रात (बिजली की बचत के लिए) वे अंतरजातीय सह-भोज का आयोजन करते थे। ब्राह्मण, हरिजन, ईसाई व मुसलमान सभी आते व इस भोज में शामिल होते। गाय और सुअर का मांस, दोनों ही परोसे जाते। खाने या न खाने पर कोई पाबंदी या मनाही नहीं थी। यह आयोजन प्रतीकात्मक होता था। 2 साल पहले कुछ लोगों ने इस सहभोज में बाधा डाली। इससे वे थोड़ा चिंतित हुए पर बाद में घटना का जिक्र हँसकर ही करते थे।

गोरा अपने इर्द-गिर्द के लोगों में अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करते थे। वे विधवाओं को पुनर्विवाह में मदद देते थे। जातिप्रथा व छुआछूत के विरुद्ध वे अथक तौर पर सक्रिय रहते थे। वे गाँवों में शौचालयों के निर्माण पर जोर देते थे।

यह बात मुझे स्पष्ट नहीं है कि वे अनीश्वरवाद और समाज-सुधार में से किसको प्राथमिकता देते थे। उनके लिए यह दोनों बातें एक-दूसरे से जुड़ी हुई थीं। उनकी समझ थी कि अनीश्वरवाद के बगैर भारत में सामाजिक परिवर्तन लाना कठिन है। यहाँ वे गाँधीजी से अलग थे। गाँधीजी के लिए ईश्वर को अस्वीकार करना जीवन को ही अस्वीकार करने के समान था।

सन् 1930 ई. में गोरा ने गाँधीजी को साबरमती पत्र लिखकर पूछा था कि वे ईश्वर व जीवन की समरूपता को स्पष्ट करें। गाँधीजी ने साधारण उत्तर दिया था, ''ईश्वर मानव समझ से परे है।''

सन् 1940 ई. तक गोरा एक कॉलेज में प्रवक्ता थे। इस साल उन्हें अनीश्वरवादी विचारों के लिए सेवा से बर्खास्त कर दिया गया। वे तत्काल ग्रामोत्थान में जुट गए। उन्होंने गाँधीजी को सन् 1941 ई. में ईश्वर के प्रश्न पर व्यक्तिगत भेंट के लिए लिखा। गाँधीजी ने लिख भेजा कि उनके पास समय नहीं है।

सन् 1942 ई. के भारत छोड़ो आन्दोलन के दौरान गोरा कई बार जेल भेजे गए। इसी बीच वे सेवाग्राम गए और गाँधीजी से मिले। ''मैं एक अनीश्वरवादी से क्या बातें करूँ?'' गाँधीजी ने कहा और फिर दोनों हँस पड़े। फिर दोनों में काफी वार्ता हुई। गोरा का कहना था कि अनीश्वरवादिता मनुष्य को जाति व धर्म से एकदम

मुक्त कर देती है। फिर हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई या ब्राह्मण और हरिजन कोई विभाजन नहीं रह जाता। मनुष्य विशुद्ध मनुष्य ही रह जाता है। ईश्वर का रहस्यवादी जाल एक व्यर्थ की कल्पना मात्र है। ईश्वरवाद की समाप्ति हरिजनों को भी उनकी भाग्यवादी अवसन्नता से मुक्ति प्रदान करती है। अंत में गाँधीजी ने उनसे कहा कि वे अनीश्वरवाद के फैलाव के विरुद्ध व्रत करेंगे। गोरा ने गाँधीजी को उत्तर दिया कि वे उनके ईश्वरवाद के विरुद्ध अनशन करेंगे। गाँधीजी हँसे व बोले, ''बड़ा अडिग विश्वास है आप का!''

इसके बाद गोरा प्रायः सेवाग्राम जाते रहे व गाँधीजी से मिलकर वार्ताएँ करते रहे। इन बातों का विवरण ''ॲन ॲथीस्ट विद गाँधी' में प्रकाशित है। नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद ने इसे छापा है। के. जी. मशरूवाला ने इसका आमुख लिखा है।

सन् 1946 ई. में गाँधीजी गोरा की पुत्री मनोरमा की शादी में शामिल हुए। उसने एक हरिजन से सेवाग्राम आश्रम जाकर शादी की थी। धीरे-धीरे गोरा व गाँधीजी में व्यक्तिगत निकटता बढ़ रही थी। बाद में गाँधीजी का कहना था, ''मैं नहीं कह सकता कि मेरा ईश्वरवाद सही और तुम्हारा अनीश्वरवाद गलत है।''

गोरा ने एक पत्रिका ''द ॲथिस्ट'' प्रारम्भ की थी। उनकी मृत्यु के बाद भी पत्रिका का प्रकाशन जारी है।

: 2 :

गोपाराजू रामचन्द्रराव, जो अधिकतर गोरा के नाम से ही जाने जाते हैं, का जन्म आन्ध्र प्रदेश के मध्यवर्ग के एक रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार में 15 नवम्बर के दिन 1902 में हुआ था। उनके पूर्वज मूलतः गुंटूर जिले के कोलकलूर गाँव के निवासी थे, जो बाद में अपनी जीविका के लिए विजयनगरम रियासत में बस गये। उनके पिता गोपाराजू व्यंकट सुब्बा राव छत्रपुर में वन विभाग में क्लर्क रहे, जो उस समय मद्रास प्रेसिडेंसी में था और अब उड़ीसा में है। बाद में उनका प्रोन्नति के साथ करनूल में स्थानान्तरण हो गया। उनके तबादलों से बच्चों की पढ़ाई में आने वाली बाधाओं को देखते हुए वे अन्ततः काकीनाड़ा में राजस्व विभाग के क्लर्क होकर बस गये। व्यंकट सुब्बाराव परंपरावादी ब्राह्मण होते हुए भी विचारों से उदार थे, जो राम, रहीम और यहोबा में अन्तर नहीं करते थे। उनके मुँह से सहज निकलने वाले शब्द 'शिवशंभो' के नाम से ही वे अपने परिवेश में जाने जाते थे। गोरा अपने समय के समाज-सुधार आन्दोलनों और गाँधीजी की गतिविधियों से प्रभावित हुए। उनकी नास्तिकता धीमे-धीमे विकसित हुई। शुरू में जगन्नाथ स्वामी के दस दिनों तक चलने वाले उत्सव में बड़े उत्साह से शामिल होते थे, शिखा और यज्ञोपवीत धारण करते थे। पर ज्यों-ज्यों वे बड़े हुए कुछ घटनाओं ने उनकी आस्तिकता पर

चोट पहुँचाई। उनकी बड़ी बहिन कृष्णवेणी के तीन बच्चे उनकी तमाम पूजा-अर्चना और मानवता के बावजूद एक के बाद एक बीमार हुए और मर गए। फिर उनके कॉलेज में एक विद्यार्थी ने अनुत्तीर्ण होने पर, आत्मविश्वास की कमी के कारण आत्महत्या कर ली। इस घटना ने उन्हें यह विचार दिया कि जीवन की चुनौतियों का सामना करने के लिए तरुणों में साहस और आत्मविश्वास विकसित करना बहुत जरूरी है। 20 वर्ष की आयु में गोरा का विवाह विजयनगरम के एक ब्राह्मण परिवार की 10 वर्षीया कन्या सरस्वती के साथ पूरे रीति-रिवाजों और धूमधाम के साथ कर दिया गया। शादी के बाद गोरा ने एम. ए. करने के लिए मद्रास के प्रेसीडेंसी कॉलेज में प्रवेश लिया। पर उनकी शैक्षणिक उपलब्धि इतनी साधारण रही कि उनके सामने रोज़गार का संकट आ खड़ा हुआ। निदान गोरा अपने एक पूर्व अध्यापक शेशय्या के पास तिरुपति चले गये और उनके घर का कामकाज करने लगे। यहीं उनकी नास्तिकता विकसित हुई। वह भभूत का तावीज, जो वे कई बरसों से पहनते थे, उन्होंने उतार फेंका और आश्चर्य की बात है कि शीघ्र ही उन्हें मदुराई के अमेरिकन मिशन कॉलेज की प्राध्यापकी मिल गई। इस घटना ने उनका ईश्वर में विश्वास घटाया और आत्मविश्वास बढ़ाया। गोरा कॉलेज में जीवविज्ञान पढ़ाते थे, विज्ञान ने उन्हें यह बोध दिया कि किसी सत्य को तब तक सत्य मत मानो जब तक वह प्रमाणित न हो जाय। वैज्ञानिक मिजाज ने उन्हें रूढ़ियों और धार्मिक विश्वासों के प्रति संदेहशील बना दिया। इस बीच उन्हें मदुराई में कोई अच्छा मकान नहीं मिल रहा था। खोज के क्रम में उन्हें एक तेरह कमरों का विशाल मकान दिखाई दिया, जो प्रेतग्रस्त माना जाने के कारण बरसों से खाली था। गोरा अब तक इस तरह के अन्धविश्वासों से मुक्त हो चुके थे। इसलिए उन्होंने तत्काल बहुत ही कम किराये पर उसके दो कमरे ले लिये। भुतहा मकान में रहने के उनके साहसपूर्ण निर्णय ने उनके मित्रों और परिचितों के बीच उन्हें परिवर्तन का हरकारा बना दिया। इस बीच अमेरिकन मिशन कॉलेज के प्रिन्सिपल ने उनके सामने यह प्रस्ताव रखा कि यदि वे ईसाई धर्म स्वीकार कर लें तो उन्हें उच्च शिक्षा के लिए विदेश भेजा जा सकता है। गोरा ने इस बीच हिन्दू, ईसाई और इस्लाम धर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया था और इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सभी अर्थहीन अनुष्ठानों और अवैज्ञानिक विश्वासों के कमोबेश बराबर शिकार है और कोई किसी से बेहतर नहीं है। इसके अलावा उन्हें अपने भौतिक लाभ के लिए, नाम को ही सही, धर्मपरिवर्तन पहले दर्जे की अवसरवादिता लगी, तो उन्होंने प्रस्ताव ठुकराकर कॉलेज से त्यागपत्र दे दिया और कोयम्बटूर के कृषि महाविद्यालय में शोध-सहायक का काम करने लगे। यहाँ भी वे अधिक देर नहीं टिक पाये, क्योंकि कॉलेज के अंग्रेज़ मालिक के अभिमानी स्वभाव से वे समायोजन नहीं कर पाये और वे कोलम्बो के बौद्ध समाज द्वारा संचालित आनन्द कॉलेज में चले गए। इस बीच जिस पी. आर. कॉलेज, काकीनादा में वे

पढ़ते थे, में प्रवक्ता की जगह खाली हुई और वे 1928 में अपनी मातृसंस्था में आ गये।

अगस्त 1928 की पूर्णिमा को यज्ञोपवीत परिवर्तन के अनुष्ठान के समय गोरा ने अब जनेऊ नहीं पहनने की घोषणा की और इससे उनके पिता इतने आहत हुए कि उन्होंने गोरा को पत्नी और बच्चे सहित घर से निकाल बाहर किया। पूरे ढाई साल बाद एक संन्यासी के समझाने पर पिता के घर उनका आना-जाना फिर से शुरू हुआ। 1932 में कॉलेज की पत्रिका में उनका एक लेख 'ईश्वर की धारणा' प्रकाशित हुआ और परिणामस्वरूप वे कॉलेज से निकाल दिये गये। तब आंध्र विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति (बाद में भारत के उपराष्ट्रपति) सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने हस्तक्षेप किया और जुलाई 1933 में उनकी नियुक्ति हिन्दू कॉलेज, मछली पट्टनम में हो गयी। यहाँ रहते हुए उन्होंने नास्तिकता और वैज्ञानिक भौतिकवाद का प्रचार जारी रखा और विद्यार्थियों का एक बड़ा समूह उनका अनुयायी होकर आंदोलित हो उठा। निदान 1939 में उन्हें इस कॉलेज से भी निकाल दिया गया, पर विद्यार्थियों के आन्दोलन के सामने प्रबन्धन को झुकना पड़ा और वे फिर से बहाल कर दिये गये। पर प्राचार्य ने उनके नास्तिकता के प्रचार कार्य और अन्य समाज-सुधारक गतिविधियों पर प्रतिबंध लगा दिया। अन्ततः 1940 में गोरा ने हमेशा के लिए अध्यापकी छोड़कर पूरी तरह समाज-परिवर्तन के कार्य में लगने का निश्चय कर लिया।

जीवन की अन्तिम नौकरी छोड़ने के बाद पूरी तरह स्वतंत्र होकर वे कृष्णा जिले के मुदुनूर गाँव में अपनी पत्नी और बच्चों के साथ आ जमे, जो उन दिनों राजनीतिक गतिविधियों का एक अच्छा-खासा केन्द्र था, और जहाँ उनके अनेक परिचित थे और बहुत लोग उन्हें चेतनाशील और लोकप्रिय शिक्षक के रूप में जानते थे। दो फूस की झोंपड़ियाँ उनके लिए तैयार की गयीं और गोरा ने उन्हीं में अपना 'नास्तिक केन्द्र' स्थापित किया। यह अगस्त 1940 की बात है। गाँव में उन्होंने एक प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र खोला, जिसमें तरुण और प्रौढ़ लगभग सौ ग्रामीणों को वे विज्ञान और मानविकी की विभिन्न शाखाओं की बुनियादी शिक्षा देने लगे। यहाँ गोरा और उनका परिवार अपनी रोजमर्रा की जरूरतों के लिए ग्रामीणों के स्वैच्छिक अनुदानों पर ही निर्भर था। मुदुनूर में उनकी पत्नी सरस्वती ने पूरी प्रतिबद्धता के साथ उनके समाज-कार्य में हिस्सा बँटाना शुरू किया। यहीं उन्होंने सूर्य-ग्रहण के साथ जुड़े अन्धविश्वासों को तोड़ने के लिए 18 गर्भवती स्त्रियों को ग्रहण के दौरान सामान्य गतिविधियाँ जारी रखने और बाहर निकलने के लिए प्रेरित किया। जल्द ही गाँव 'ईश्वर-विहीन' गाँव कहलाने लगा और 1941 की जनगणना में गाँव के 142 लोगों ने अपने को जाति-धर्म मुक्त नास्तिक के रूप में दर्ज करवाया।

'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' के आन्दोलन के दिनों में मुदुनूर गाँव राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया, खासतौर से तोड़-फोड़ की गतिविधियों का और 26 जनवरी, 1943 को गोरा गिरफ्तार कर लिये गये। उन पर मुकदमा चला और वे अलीपुर कैम्प जेल में डाल दिये गये। श्रीमती सरस्वती गोरा ने महिला सत्याग्रहियों के एक जत्थे का नेतृत्व किया और वे भी अप्रैल में गिरफ्तार कर ली गयीं।

1933 में गाँधीजी जब काकीनाड़ा आये थे, गोरा ने उनके वैयक्तिक स्वेच्छा सेवी की तरह कार्य किया था। 1946-48 में उन्होंने आल इंडिया कांग्रेस कमेटी के एक संगठक के रूप में कार्य किया। पर गाँधी की हत्या के बाद उन्होंने अपने आप को कांग्रेस से अलग कर लिया लेकिन सर्वोदय के लोगों के सहयोग में गाँधीजी द्वारा शुरू किये गये रचनात्मक कार्यों में जुटे रहे। अब उन्होंने दलविहीन जनतंत्र को अपनी राजनीतिक सक्रियता का केन्द्र बनाया। पार्टियों पर आधारित जनतंत्र में उन्हें लगा सभी दलों में कुर्सी प्राप्त करने की होड़ लगी रहती है, जनता के प्रतिनिधियों के पास जनता की समस्याएँ हल करने का समय ही नहीं रहता। जनवरी 1949 में उन्होंने एक तेलुगु साप्ताहिक 'संगम' का प्रकाशन शुरू किया कि आर्थिक समता के लिए काम किया जा सके, बाद में उसका नाम ही 'आर्थिक समता' कर दिया गया। 1951 में गोरा ने गाँधीजी से जुड़े रचनात्मक कार्यकर्ताओं की एक कॉन्फ्रेंस गुडीवाड़ा में आयोजित की और 'गाँधी संघम' नाम से एक संगठन की नींव रक्खी। इस संगठन के मंच से गोरा ने यह माँग रक्खी कि चुने हुए जन-प्रतिनिधियों को अपनी जीवन शैली से सादगी की मिसाल पेश करनी चाहिए, तृतीय श्रेणी में यात्रा करनी चाहिए, अपने वेतन-भत्ते कम करने चाहिए आदि। गाँधी संघम ने मंत्रियों और राज्यपालों के तामझाम और फिजूलखर्ची के खिलाफ कई बार प्रदर्शन, धरने और सत्याग्रह भी आयोजित किये। जुलाई, 26, 1975 के दिन बिना किसी बीमारी के विजयवाड़ा में 'ग्रामीण भारत में सामाजिक परिवर्तन' विषय पर एक सार्वजनिक सभा में भाषण करते हुए एकाएक मस्तिष्क आघात से उनका निधन हो गया और वे मंच पर ही गिर पड़े। उन्होंने एक साहसिक सामाजिक क्रान्तिकारी का जीवन जिया और अन्तिम क्षण तक लड़ते हुए मरे।

(डॉ. सुनंदा सेठ की पुस्तक 'गोरा : ए सोशल रिवोल्यूशनरी' से संकलित)

यशपाल

❑ **मधुरेश**

3 दिसम्बर, 1903 ई. फिरोजपुर छावनी में जन्म। पिता श्री हीरालाल साधारण कारोबारी व्यक्ति। छोटी-सी दुकान, बिना लिखा-पढ़ी के कर्ज देते थे। 2-3 हजार गज जमीन और कच्चा मकान ही जिनकी कुल सम्पत्ति थी। माता श्रीमती प्रेमदेवी छावनी के प्रसिद्ध आर्य अनाथालय में अध्यापिका थीं। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। 7-8 वर्ष की अवस्था में गुरुकुल काँगड़ी में प्रवेश, क्योंकि माताजी उन्हें स्वामी दयानन्द के आदर्शों के अनुरूप एक तेजस्वी वैदिक प्रचारक बनाना चाहती थीं।

1917 में 14 वर्ष की अवस्था में सातवीं कक्षा में पढ़ते समय असाध्य रोग के कारण गुरुकुल से लाहौर आ गए। लाहौर में डी. ए. वी. स्कूल में छात्र रहे।

1917 में रोलट एक्ट के विरोध में कांग्रेस के आन्दोलन से प्रभावित। इसी के परिणामस्वरूप फिरोजपुर छावनी में कांग्रेसी और स्वदेशी आन्दोलन में सहयोग। उसके बाद आन्दोलन के सक्रिय और कर्मठ कार्यकर्ता। यहीं से राजनीतिक चेतना और सक्रियता की ठोस बुनियाद पड़ी।

1921 में फिरोजपुर छावनी के मनोहरलाल मेमोरियल स्कूल में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक पास की; जिले में प्रथम स्थान प्राप्त किया। वजीफा मिलने के बावजूद असहयोग आन्दोलन के कारण सरकारी कॉलेज में भरती होने से इनकार कर दिया। गाँधीजी की चौरी-चौरा नीति से निराश और बाद में लाला लाजपत राय द्वारा स्थापित नेशनल कॉलेज में भरती। यहीं भगतसिंह, सुखदेव, भगवतीचरण आदि से परिचय और मित्रता हुई। क्रान्तिकारी गुप्त प्रयत्नों की योजनाओं और संगठन में भाग लिये।

नेशनल कॉलेज के अध्यापक, प्रसिद्ध कवि और लेखक श्री उदयशंकर भट्ट के प्रोत्साहन से पहली कहानी बरेली से प्रकाशित पत्रिका 'भ्रमर' में छपी, 1924 में।

1929 में लाहौर बम फैक्टरी के पकड़े जाने पर सुखदेव गिरफ्तार हो गए और यशपाल फरार। दिसम्बर 1929 में वाइसराय लार्ड इरविन की गाड़ी के नीचे बम विस्फोट में प्रमुख भाग लिया।

फरारी की स्थिति में, जनवरी 1930 में, भगवतीचरण के साथ मिलकर, हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातंत्र सेना के घोषणापत्र 'फिलॉसफी ऑफ दि बम' का लेखन। थोड़ा आगे चलकर, लुई फिशर की पुस्तक 'गाँधी और लेनिन' का स्वतंत्र अनुवाद। यह पुस्तक श्री ऋषभचरण जैन ने लेखक का नाम बदलकर प्रकाशित की परन्तु बाद में भेद खुल जाने पर जब्त कर ली गई।

फरवरी 1931 में, आजाद की शहादत के बाद, हिन्दुस्तानी समाजवादी प्रजातंत्र सेना के कमांडर-इन-चीफ निर्वाचित। लाहौर और दिल्ली षड्यन्त्रों के मुकदमे में फरारी के कारण गिरफ्तारी के लिए सरकार की ओर से पाँच हजार के इनाम का विज्ञापन।

23 जनवरी, 1932 को इलाहाबाद में पुलिस से भिड़ंत। कारतूस समाप्त हो जाने पर गिरफ्तार।

7 अगस्त, 1936 को बरेली जेल में प्रकाशवतीजी से विवाह।

नवम्बर 1938 में 'विप्लव' का प्रकाशन प्रारम्भ। 'चक्कर क्लब', 'मार्क्सवाद की पाठशाला' और 'सिंहावलोकन' के कुछ अंश पत्रिका के प्रमुख आकर्षण थे। सामग्री तैयार करने से लेकर छपाई की व्यवस्था, डिस्पैच और बिक्री के झंझटों—सब कुछ के लिए दो ही व्यक्ति थे—यशपाल और प्रकाशवतीजी। लेकिन अपनी विशेषता के कारण 'विप्लव' का अभूतपूर्व स्वागत हुआ।

नवम्बर 1939, दीपावली से, 'विप्लव' का उर्दू संस्करण भी 'बाग़ी' नाम से निकलने लगा।

1939 में ही अधिकांश जेल में लिखी और कुछ बाद में लिखी कहानियों का पहला संग्रह 'पिंजरे की उड़ान' नाम से प्रकाशित। प्रकाशन स्वयं ही किया, विप्लव प्रकाशन के नाम से।

फिर एक के बाद एक कई किताबें आईं। 1940 में 'न्याय का संघर्ष' और 'मार्क्सवाद'। मई 1941 के आरम्भ में पहला उपन्यास 'दादा कॉमरेड' और 1942 में दूसरा कहानी-संग्रह 'दो दुनिया'।

1943 में 'देशद्रोही' का प्रकाशन हुआ और बाद में इसी वर्ष कहानी-संग्रह 'ज्ञानदान' का भी।

1944 में एक और कहानी-संग्रह आया 'अभिशप्त'।

1945 में बौद्धकालीन ऐतिहासिक परिवेश पर लिखा गया प्रसिद्ध उपन्यास 'दिव्या' प्रकाशित हुआ।

1946 में दो और कहानी-संग्रह प्रकाशित हुए—'भस्मावृत्त चिनगारी' और 'तर्क का तूफान'। इसी वर्ष लघु उपन्यास, 1945 में नाविक विद्रोह की पृष्ठभूमि पर 'पार्टी कॉमरेड' भी छपा।

मार्च 1949 में 'मनुष्य के रूप' प्रकाशित। इसी वर्ष जून में प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार वर्दी कैर्वावायेव के उपन्यास 'डिसाइसिव स्टैप' का स्वतंत्र अनुवाद 'पक्का

कदम' के नाम से प्रकाशित। उपन्यास का अन्तिम अध्याय समाप्त करते समय हमारे स्वतंत्र देश की सरकार द्वारा, मार्क्सवादी विचारों से सहानुभूति के कारण गिरफ्तारी। इस गिरफ्तारी पर साहित्यिक और राजनीतिक क्षेत्रों में आपत्ति होने और अस्वास्थ्य के कारण छः मास बाद नगर निर्वास के परदे में रिहाई।

1950 में कहानी-संग्रह 'फूलों का कुर्ता' और 'धर्मयुद्ध' प्रकाशित हुए। राजनीतिक निबंधों के दो संग्रह 'बात-बात में बात' और 'रामराज्य की कथा' भी इसी वर्ष छपे।

1951 में कहानी-संग्रह 'उत्तराधिकारी' और 'चित्र का शीर्षक' प्रकाशित हुए। राजनीतिक निबंधों और संस्मरणों का संग्रह 'देखा! सोचा! समझा!' तथा 'सिंहावलोकन' का पहला भाग भी इसी वर्ष प्रकाशित हुए।

1952 में 'सिंहावलोकन' का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ और एकमात्र नाटक 'नशे-नशे की बात' भी। इसी वर्ष दिसम्बर में पहली यूरोप यात्रा—स्विट्जरलैंड, ऑस्ट्रिया, रूस और इंग्लैंड में चार-पाँच मास बिताने के बाद मई 1953 में वापसी।

1953 में इसी विदेश यात्रा के आधार पर पूँजीवादी और समाजवादी व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' यात्रावृत्त के रूप में प्रकाशित हुआ।

1954 में एक और कहानी-संग्रह आया—'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूं'।

1955 में 'सिंहावलोकन' का तीसरा भाग प्रकाशित हुआ और कहानी-संग्रह 'उत्तमी की माँ' भी। इसी वर्ष देव पुरस्कार मिला। अमेरिकी उपन्यास लेखिका पर्लबक के उपन्यास 'पैवेलियन ऑफ विमेन' का अनुवाद 'जनानी ड्योढ़ी' एशिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ से प्रकाशित। इसी वर्ष जून में काबुल की राह दूसरी बार रूस की यात्रा। रूस के विभिन्न स्थानों में चार मास रहकर फिनलैंड, स्वीडेन, इंग्लैंड होते हुए अक्टूबर के अन्त में वापसी।

1956 में शान्ति समस्या को लेकर दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास, 'अशोक की कलिंग विजय' की पृष्ठभूमि में, 'अमिता' प्रकाशित हुआ जो पंडित नेहरू से बहुत से राजनीतिक मतभेदों के बावजूद विश्वशान्ति के लिए उनके प्रयत्नों की सराहना में उन्हें ही समर्पित किया गया। इसी वर्ष भारत में अंग्रेजी उपन्यास लेखिका कमला मार्कंडेय के उपन्यास 'नेक्टर इन द सीव' का अनुवाद 'चलनी में अमृत' प्रकाशित हुआ—एशिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ से ही। रूसी उपन्यास लेखिका गालिना निकोलोयवा के उपन्यास 'हार्वेस्ट' का अनुवाद 'फसल' के नाम से पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष चेकोस्लोवाकिया के निमंत्रण पर चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी तथा रूमानिया की यात्रा।

1958 में बृहद्काय उपन्यास 'झूठा सच' का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। एक कहानी-संग्रह 'ओ भैरवी' भी आया और यात्रावृत्त 'राहबीती' भी।

1960 में 'झूठा सच' का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। उज्बेकी उपन्यासकार

अकसद मुख्तार के उपन्यास 'थ्री सिस्टर्स' का स्वतंत्र अनुवाद 'जूलेखाँ' भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ।

1962 में कहानी-संग्रह 'सच बोलने की भूल'।

1963 में लघु उपन्यास 'बारह घंटे'। यह उपन्यास आँख के कष्ट के कारण बोलकर लिखाया था।

फरवरी 1965 में कहानी-संग्रह 'खच्चर और आदमी' प्रकाशित हुआ। कालिदास के नाटक 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के आधार पर उपन्यास 'अप्सरा का श्राप' भी इसी वर्ष छपा।

1968 में लघु उपन्यास 'क्यों फँसे!' और कहानी-संग्रह 'भूख के तीन दिन'।

1970 में छठी विदेश यात्रा—रूस, इंग्लैंड, अमेरिका आदि की।

1973 में मारीशस की यात्रा। उसके परिणामस्वरूप लिखा गया यात्रावृत्त 'स्वर्गोद्यान बिना साँप' संक्षिप्त रूप में 'सारिका' के कुछ अंकों में निकला। इसके अलावा पिछले 4 वर्षों का श्रम बड़ा उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' इसी वर्ष प्रकाशित।

फरवरी 1974 में आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट् की मानद उपाधि।

1975 में लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद से 'स्वर्गोद्यान बिना साँप' पुस्तक रूप में प्रकाशित।

'मेरी तेरी उसकी बात' पर 1976 में मरणोपरांत साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। निधन 26 दिसम्बर, 1976। यशपालजी अन्तिम साँस तक रचनारत रहे।

यशपाल का रचना-संसार

अपने सक्रिय राजनीतिक जीवन में भी अपने लिखने-पढ़ने के कारण, अपने क्रान्तिकारी साथियों के बीच यशपाल ने एक अलग पहचान बनाई थी। सन् 1929 में पार्लियामेंट में बम फेंकते हुए भगतसिंह ने जो पर्चा 'फिलॉसफी ऑफ द बम' शीर्षक से बाँटा था, उसके लिखे जाने में भगवतीचरण के साथ यशपाल का भी योगदान था। जेल से भगतसिंह ने यशपाल को सुझाव दिया था कि वे कुछ दिन खूब गंभीरता से पढ़ें और फिर कहानियाँ लिखें। अपने लंबे जेल जीवन में, जनवरी 1932 से मार्च 1938 के बीच, उन्होंने जेल में कहानियाँ भी लिखीं और प्रकाशवती को लंबे पत्र भी, जिनसे बरेली सेंट्रल जेल में ही उनका विवाह 7 अगस्त, सन् 1936 को हुआ था। इन पत्रों में, सेंसर के बावजूद उनकी रचनात्मक छटपटाहट को बहुत आसानी से पढ़ा जा सकता है। यह सब उन्होंने तब किया, जब उनके जेल से बाहर आ जाने पर किसी लायक रह जाने की कोई आशा भी उन्हें नहीं थी। तब 14 बरस की सजा कम नहीं होती थी। आगे भविष्य की कोई आशा नहीं थी क्योंकि क्रान्तिकारियों के प्रति ब्रिटिश सरकार का रवैया किसी से छिपा नहीं था। जेल-जीवन में यशपाल ने जो कहानियाँ लिखी थीं। वे पिंजरे में बंद एक ऐसे व्यक्ति की कहानियाँ थीं जो लेखक

के रूप में अपनी कोई पहचान बना पाने से पूर्व ही समाप्त हो सकता था। यह पिंजरे में बंद पक्षी की उड़ान की तड़पती आत्मा की बेचैन और मजबूर अभिव्यक्ति थी—कल्पना के आकाश में उड़कर वर्तमान को सहने और झेलने की एक रचनात्मक कोशिश।

जेल की यातना और उत्पीड़न के परिणामस्वरूप उन्हें यक्ष्मा हो गया था। गिरफ्तारी से पहले, बम बनाने की प्रक्रिया में, एसिड के दुष्प्रभाव से उनके फेफड़े अप्रभावित नहीं रहे थे। सन् 1937 में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बन जाने के बाद, अन्य क्रान्तिकारियों की रिहाई के बावजूद, यशपाल को नहीं छोड़ा गया था क्योंकि ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में वे एक खतरनाक क़ैदी थे। मार्च 1938 में, अनेक अड़चनों के बीच, जैसे-तैसे उनकी रिहाई के बाद भी उनके पंजाब-प्रवेश पर प्रतिबंध था। अपनी रिहाई के बाद संयुक्त प्रांत में रहकर, उन्हें इलाज कराना था और उसी बीच अपने भविष्य और जीवन-निर्वाह के संसाधनों की टोह लेनी थी। जो एकाध जेवर प्रकाशवती के पास था, उसे बेचकर भवाली में उनके इलाज की व्यवस्था की गई और स्वास्थ्य में सुधार हो जाने पर उसी वर्ष अर्थात् नवम्बर, 1938 में उन्होंने 'विप्लव' का प्रकाशन शुरू किया।

यशपाल के जीवन की इस पृष्ठभूमि को समझे बिना उनके रचना-संसार की उस आत्मीय प्रकृति को नहीं समझा जा सकता जो उनके रचना-कर्म की मुख्य पहचान है। इसके कारण ही न सिर्फ उन्हें एक बड़ा पाठक-वर्ग मिला, जो क्रमशः और बढ़ता व फैलता गया, बल्कि परवर्ती पीढ़ी के लेखकों पर उनके इस रचना-कर्म का गहरा, संक्रामक और जादुई प्रभाव भी पड़ा। यशपाल के रचना-संसार की आत्मीयता के स्रोत कहीं न कहीं वैचारिकता के उस धुलाव में भी देखे जाने चाहिए, जहाँ वे विचार को अनुभूति में ढालकर अपने जीवनानुभव को एक व्यापक समाज से जोड़ने की कोशिश करते हैं। विचार के ताप के बीच में वे अनुभूति के छींटों से अपनी रचनात्मक राह तैयार करते हैं। लेकिन फिर भी उनका वैचारिक ताप जब-तब लोगों को जलाता और झुलसाता रहा है। अपनी विश्व दृष्टि में यशपाल बहुत स्पष्ट हैं। वे भौतिकवादी हैं, लेकिन आदर्शहीन नहीं हैं। धर्म, वर्णव्यवस्था, जातिवाद, सांप्रदायिकता वाली सामाजिक संरचना में आधारभूत परिवर्तन को वे अपनी रचना-यात्रा का प्रस्थान-बिन्दु मानकर चलते हैं। ईश्वरवाद और पुनर्जन्म की अवधारणाओं को अस्वीकार करते हुए वे इसी दुनिया में मनुष्य के बेहतर और सार्थक जीवन के लिए रचनात्मक संघर्ष करते हैं। उनकी यात्रा विचार की दिशा में इकहरी नहीं होती। वे विचार को अनुभूति में रचा-बसाकर उसे एक आत्मीय छवि देते हैं। विचार को विश्वसनीय और प्रामाणिक बनाने के लिए वे रचना पर निष्ठा और परिश्रम के साथ काम करने वाले लेखक हैं। सन् 1929 से 1933 के बीच राजनीतिक परिदृश्य को उसकी समूची मानसिकता और बदलाव की गहरी छटपटाहट के बाद अंकित करते हैं। राजनीतिक दृष्टि से यह वह समय था जब महात्मा

गाँधी की अगुआई में अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धान्तों से लोगों को निराशा होने लगी थी। पंजाब और उत्तर प्रदेश में सक्रिय क्रान्तिकारी संगठन विघटन की प्रक्रिया में थे। अब भगतसिंह और उनके साथियों के उपलब्ध दस्तावेजों से यह स्पष्ट है कि ये लोग मार्क्सवाद और बोल्शेविक क्रान्ति की ओर गहराई से आकृष्ट हो रहे थे। यशपाल स्वयं उन लोगों में से थे जिनकी आस्था क्रान्ति के आतंकवादी उपायों से उठ चुकी थी और जो व्यापक जन-सम्पर्क एवं जन-सहयोग के माध्यम से सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन की दिशा में गंभीरतापूर्वक विचार कर रहे थे। 'दादा कॉमरेड' का हरीश यशपाल का प्रतिनिधि पात्र ही नहीं है, यह दूर तक उनका प्रतिरूप भी है। उपन्यास में यशपाल के निजी अनुभव-प्रसंगों को आसानी से पहचाना जा सकता है। इस उपन्यास का महत्त्व एक ओर यदि क्रान्ति में आतंकवाद के बहिष्कार की दृष्टि से है, जिसे दादा और हरीश के परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों के माध्यम से अंकित किया गया है, वहीं यह वर्ग-समाज में स्त्री की नियति को भी परिभाषित करता है। इसकी नायिका शैल के रूप में यशपाल एक आत्म-सजग और अपने संदर्भ में निर्णय-सक्षम युवती की कल्पना करते हैं। शरच्चन्द्र के 'पथेरदावी' में क्रान्तिकारी-जीवन के आदर्श के कल्पित अंकन के मुकाबले यहाँ यशपाल के निजी अनुभव-प्रसंग उपन्यास को एक आत्मीय संस्पर्श देते हैं।

जब 'विप्लव' में 'सिंहावलोकन' का धारावाहिक प्रकाशन हुआ तो क्रान्तिकारी आन्दोलन के इन संस्मरणों को इनकी वस्तुपरकता के लिए ही जाना गया था। इनके प्रकाशन से 'विप्लव' के प्रचार-प्रसार में भी अन्तर पड़ा था। चाहे अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के रूप में, एक आन्दोलन के तौर पर, आर्यसमाज की आलोचना हो, उसकी क्षयशील, प्रतिगामी और राष्ट्रविरोधी सोच के संदर्भ में या फिर क्रान्तिकारियों के उच्छल त्याग और उत्सर्ग की गाथा हो—सब कहीं यशपाल अनुभूति में घुलाकर ही अपने विचार को संप्रेषित करते हैं। हिन्दू संगठन और विचार के प्रति लाला लाजपत राय की आसक्ति देखते हुए उनके प्रति इन क्रान्तिकारी युवकों की विरक्ति का उल्लेख यशपाल बिना किसी छिपाव-दुराव के करते हैं। लेकिन साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में लाला लाजपत राय पर हुए लाठीचार्ज के विरोध में यही युवक लालाजी की हत्या का बदला लेते हैं। इसका कारण लालाजी के प्रति किसी व्यक्तिगत श्रद्धा से अधिक ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध एक व्यापक उद्देश्य के लिए अपनी एकजुटता का प्रदर्शन था। 'सिंहावलोकन' भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन को रूखा, तथ्यों और आँकड़ों को ही सबसे बड़ा सच मानकर चलने वाला इतिहास नहीं है। उसमें यशपाल और समूचे क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए समर्पित युवकों के विचार, जीवन और संघर्ष को उत्कट वस्तुनिष्ठता के साथ ही गहरी अन्तरंगता के साथ प्रस्तुत किया गया है। अपने इन संस्मरणों में यशपाल अपने साथियों को भी बराबर का भागीदार बनाते हैं। बल्कि 'सिंहावलोकन' के पहले खण्ड में स्वयं यशपाल से कहीं अधिक चर्चा भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु, बटुकेश्वर दत्त, आजाद और भगवतीचरण की है।

वे भरसक इन सबके सामाजिक और पारिवारिक सूत्रों को भी समेटकर चलते हैं। ताकि इन क्रान्तिकारी युवकों के उत्सर्ग और समर्पण को एक वास्तविक परिप्रेक्ष्य मिल सके। अपनी जीवन-गाथा में उनकी भागीदारी का तर्क देते हुए यशपाल लिखते हैं, 'यद्यपि मैं मुख्यतः अपनी ही कहानी लिख रहा हूँ, परन्तु हम सबका व्यवहार एक-दूसरे के प्रभाव पर निर्भर करता था।'

अपने क्रान्तिकारी जीवन और साथियों के इन संस्मरणों के लिखे जाने के उद्देश्य पर टिप्पणी करते हुए यशपाल लिखते हैं कि क्रान्तिकारी आन्दोलन को बढ़ाने और हानि पहुँचाने वाली दोनों ही तरह की प्रवृत्तियों, घटनाओं और उनसे संबंधित साथियों का वर्णन मैंने किया है। उन घटनाओं पर लीपा-पोती कर भड़कीले आवरण चढ़ाने की कोई कोशिश नहीं की गई है क्योंकि इससे किसी को कोई लाभ नहीं हो सकता। 'सिंहावलोकन' की उपयोगिता का निष्कर्ष वस्तुतः उन सफलताओं और असफलताओं के विश्लेषण में है जिन्होंने इस आन्दोलन को प्रभावित किया। स्मृति और इतिहास को जोड़कर यशपाल इस आन्दोलन के एक आत्मीय और वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन की राह संभव करते हैं।

यशपाल का 'झूठा सच' भीष्म साहनी के 'तमस' की तरह एक बहुत विलंबित रचना का उदाहरण भले ही न हो लेकिन यशपाल के रचना-कर्म के संदर्भ में फिर भी वह पर्याप्त विलंब से लिखा गया उपन्यास अवश्य है। यशपाल 23 जनवरी, सन् 1932 को इलाहाबाद में पुलिस से भिड़ंत के बाद गिरफ्तार हुए थे। भगतसिंह की गिरफ्तारी, मुकद्दमे और अन्ततः फाँसी दिए जाने वाले दौर में वे फरारी का जीवन बिता रहे थे। यही वह समय था जब लाहौर से उनका संपर्क एक तरह से समाप्त ही हो गया था। सन् 1938 में उनकी रिहाई के समय उनके पंजाब जाने पर प्रतिबंध था। अपनी बातचीत में वे जब-तब इस बात का उल्लेख करते थे कि सन् 1938 के बाद से सिर्फ दो-तीन बार ही पंजाब गए थे। तब चुपके से दोबारा लाहौर भी हो आए थे। तब उन्हें लाहौर की बढ़ी हुई रंगीनी देखकर हैरत हुई थी जिसके कारण लाहौर को पूर्व का पेरिस कहा जाना अत्युक्तिपूर्ण नहीं लगता था। सन् 1947 में स्वाधीनता, विभाजन और सांप्रदायिक उन्माद के दौर में वे अधिकतर लखनऊ में ही थे। पंजाब से लुटे-पिटे लोगों के जत्थे लखनऊ भी आ रहे थे। प्रकाशवती और यशपाल लखनऊ में शरणार्थी शिविरों और सिख गुरुद्वारों द्वारा चलाए जाने वाले लंगरों के सतत और सक्रिय सम्पर्क में थे। लोगों की सहायतार्थ वहाँ जाना उन दिनों इन लोगों की दिनचर्या का एक हिस्सा था। 'झूठा सच' का लिखा जाना भले ही सन् 1956 में कभी शुरू हुआ हो लेकिन उसके बीज पंजाब से पहुँचने वाले इन जत्थों को देखकर और उनमें से बहुतों की आपबीती सुनकर ही उनके मन में पड़े थे।

'झूठा सच' में जिस लाहौर का वर्णन उन्होंने इतने महाकाव्यात्मक विस्तार

से जिस गहरी हार्दिकता के साथ किया है, अचरज होने पर भी सच यही है कि सन् 1930-1931 के बाद, सन् 1945 तक उन्होंने उसे सिर्फ दो बार ही देखा था। 'झूठा सच' की उनकी रचनात्मक तैयारी अपनी प्रकृति में बहुत कुछ वैसी ही थी जैसी 'देशद्रोही' और 'दिव्या' की थी। सन् 1943 में जब 'देशद्रोही' प्रकाशित हुआ, यशपाल ने सोवियत संघ नहीं देखा था। वे वहाँ पहली बार सन् 1952 में गए—कई और यूरोपीय देशों की पहली विदेश यात्रा में। 'देशद्रोही' की तैयारी में उन्होंने सोवियत व्यवस्था सम्बन्धी ढेरों पुस्तकों और स्थानों और रास्तों की जानकारी के लिए एटलसों और नक्शों का महीनों अध्ययन किया था। इस सारी तैयारी का उपयोग वे अपने नायक भगवानदास खन्ना के प्रसंग में करते हैं जो अफगानिस्तान के रास्ते अन्ततः सोवियत संघ पहुँचता है। राहुल सांकृत्यायन ने 'देशद्रोही' पढ़कर विशेष संतोष व्यक्त किया था और कहा था कि यशपाल के तथ्यात्मक ब्योरों में उन्हें सिर्फ एक ही असंगति दिखाई दी थी। वह यह कि वहाँ पुलिस की वर्दी नीली होती थी जबकि यशपाल ने अपने देश की पुलिस की वर्दी की तरह उसे खाकी ही दिखाया था।

लगभग यही स्थिति 'दिव्या' के साथ भी थी। 'दिव्या' की पृष्ठभूमि, वातावरण और पात्रों की वास्तविकता की दृष्टि से उन्होंने उपलब्ध साहित्य के अतिरिक्त बौद्धकाल से संबंधित दर्शन, संस्कृति और इतिहास का गंभीर अध्ययन किया और अजंता एवं एलोरा की यात्राएँ कीं। बौद्धकाल पर लिखने वाले अनेक प्रसिद्ध इतिहासविदों से उन्होंने सहायता ली और लखनऊ बौद्ध विहार के भदंत बोधानंद के भी वे निकट सम्पर्क में रहे। जब 'देशद्रोही' और 'दिव्या' में अनदेखे स्थलों और काल को, अपनी रचनात्मक तैयारी के आधार पर वे जीवंत कर सकते थे तो 'झूठा सच' के लाहौर से तो उनका गहरा, आत्मीय, वास्तविक और भावात्मक सम्बन्ध रहा था।

कभी जेम्स ज्वाइस के 'युलिसिस' के संदर्भ में कहा गया था कि यदि अकस्मात् किसी बम विस्फोट में डबलिंग नष्ट हो जाए तो भी 'युलिसिस' के आधार पर उसका पुनर्निर्माण किया जा सकता है। यशपाल के 'झूठा सच' में लाहौर की स्थिति भी बहुत कुछ ऐसी ही है। लगभग अन्त तक लाहौर को लेकर एक अनिश्चय की स्थिति बनी रही थी। जुलाई के प्रथम सप्ताह में ही किसी कदर यह लगने लगा कि अब लाहौर पाकिस्तान में ही जाएगा। लाहौर में अस्सी प्रतिशत जायदाद हिन्दुओं की थी। पंजाब के और भागों के मुकाबले यहाँ हिन्दुओं की मुसलमानों से खूब राह-रस्म थी। लोगों के मन में यह बात बैठी हुई थी कि ऐसे में कौन छोड़कर जाएगा और क्यों जाएगा? लोग यही समझते थे कि थोड़े समय की बात है फिर सब कुछ ठीक हो जाएगा। भोला पाँधे की गली के लोगों ने तय कर लिया था कि मर जाएँगे लेकिन अपना घर-द्वार नहीं छोड़ेंगे। लेकिन फिर जल्दी ही पूर्व से मुसलमानों और पश्चिम से हिन्दुओं के जत्थे लाहौर पहुँचने लगे।

बड़े और पैसे वाले आदमी इस अनिश्चय और अफरा-तफरी में लाहौर छोड़कर

बाहर जा रहे थे। डॉ. प्राणनाथ की हवेली में आग लगा दिए जाने से उसका पूरा परिवार लखनऊ चला गया था और वह स्वयं सेवाय होटल में रहने चला गया था। यशपाल गहरी आत्मीयता और संलग्नता के साथ लाहौर को चित्रित करते हैं। लाहौर के गली-कूचे, पार्क-रेस्टोरेंट, स्कूल-कॉलेज, सड़कें-मुहल्ले, पर्व-त्योहार और मौसम—कुछ भी यशपाल से छूटा नहीं है। आश्चर्य होता है कि यह वही लाहौर है जिसे, दो छोटे-छोटे अपवादों को छोड़कर 25 वर्ष पूर्व यशपाल ने देखा और जिया था। वे यह दिखाना और बताना नहीं भूलते कि किस तरह एक लाहौर में ही दो लाहौर मौजूद हैं। एक लाहौर अनारकली, ग्वालमंडी और मालरोड का है और दूसरा भोला पाँधे की गली, मोरी गेट और लुहारी दरवाजे का। किसी दूसरे शहर की तरह यह भी स्पष्ट रूप से दो वर्गों और दो स्तरों में बँटा शहर है। जब जयदेव के विवाह के बाद भागवंती स्कूल जाती लड़की को सड़क पर देखने का सुझाव देती है तो तारा इस पर आपत्ति करती है। ऐसे कहीं लड़की देखी जाती है? तारा कई बार लड़के-लड़की की भेंट-मुलाकात और बातचीत पर जोर देती है तो माँ गुस्से से कहती है, 'फिट्टे मुँह, यह सगाई क्या हुई! यह तो आशनाई हुई! ऐसा अनारकली ग्वालमंडी, मालरोड के घरों में हो सकता है। यहाँ गली-मुहल्ले के लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे?'

हिंसा और सांप्रदायिक उन्माद की क्रमशः उग्र होती आँधी में हर अगला दिन लाहौर के लिए एक नए दुर्भाग्य की सूचना लेकर आता है। शाहलमी में लगाई गई आग तीन दिन तक जलती रहती है। उसके बाद पूरे शहर में जैसे आतंक छा जाता है। शाहलमी की प्रतिक्रिया में शहर के दूसरे भागों में भी दंगे भड़कते हैं—कर्फ्यू और पुलिस की गश्त के बावजूद। सब लोग जानते हैं कि अफसर निस्संकोच अपने-अपने संप्रदाय का पक्षपात कर रहे हैं—जैसे समूची नौकरशाही 'हिंदू' और 'मुस्लिम' में बँट गई है। प्रायः हर क्षेत्र में इस सांप्रदायिक ध्रुवीकरण को यशपाल बहुत गहरी और पैनी दृष्टि से देखते हैं। लाहौर की चिंता जैसे समूचे देश की चिंता में ढल जाती है। नेताओं के गैरजिम्मेदार वक्तव्यों और कार्रवाइयों से सामान्य जनता कैसे प्रभावित होती है, इसका बहुत सूक्ष्म निरीक्षण उपन्यास में मौजूद है।

इस लाहौर को एक बार फिर यशपाल ने सन् 1955 में देखा था—काबुल की राह मॉस्को जाते हुए। अप्रत्याशित संयोग से, पाकिस्तान हाई कमीशन के एक साहित्य-प्रेमी अधिकारी ने पाकिस्तान की राह काबुल जाने का वीजा बनवा दिया था। यशपाल को यह बदला हुआ लाहौर मेले की जगह मरघट जैसा लगा था 'उजाड़ रेलवे स्टेशन, शाहलमी दरवाजे का गुंजान तंग बाजार, परी महल, मच्छी हट्टा, रंग महल के बाजार-मोहल्ले जो विभाजन के दंगों में जला दिए गए थे, सड़क के दोनों ओर मलबे के ढेरों के मैदान दिखाई दिए' (झूठा सच के संस्मरण, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, सं. भीष्म साहनी, संस्करण 1980, पृ. 112) इस उजड़े बेरौनक और उदास लाहौर को देखकर उन्हें अपने सपनों और सक्रियता के दौर का लाहौर याद आता है—गहरे अवसाद और

टीस के साथ। लेकिन यह अवसाद यशपाल को भावुक नहीं बनाता, न ही नास्टेलजिक। यह उन्हें विभाजन और सांप्रदायिक उन्माद की वस्तुनिष्ठ पड़ताल तक ले जाता है। यही संतुलन, गहरी आत्मीयता और वस्तुनिष्ठता के बीच का संतुलन, उनके रचना-संसार को एक अंतरंग दुनिया में ढालता और बदलता है। लेकिन इससे कहीं उनके विचार और विश्लेषण की राह बाधित नहीं होती। अनुभूति और विचार, स्मृति और इतिहास के बीच गहरे संतुलन की यशपाल कहीं उपेक्षा नहीं करते। स्मृति उन्हें भावुक नहीं बनाती और विचार कहीं उन्हें बाहर से लाना नहीं होता। विचार उनकी अनुभूति का ही एक अविभाज्य अंग है जिसका सपना कभी उन्होंने इस सामाजिक संरचना में परिवर्तन के संदर्भ में देखा था। इस सपने को अपने समूचे जीवन उन्होंने अपनी त्वचा और मज्जा में घुला-मिला अनुभव किया। वह जितना सच तब था, उससे अधिक सच आज है।

शहीदेआज़म भगतसिंह

❑ **शिव वर्मा**

एक दिन प्रातः जब मैं अपने कमरे में बैठा कॉलेज का काम पूरा कर रहा था तो सुना बाहर पड़ोसी से कोई मेरा पता पूछ रहा है। अपना नाम सुनकर मैं बाहर निकल आया। देखा, मैली शलवार-कमीज पहने कम्बल ओढ़े एक सिख नौजवान सामने खड़ा है—लम्बा कद, खूब गोरा रंग, छोटी-छोटी आँखें, चुभती हुई पैनी निगाह, खूबसूरत चेहरे पर हल्की-हल्की छोटी-सी दाढ़ी, केश और पगड़ी।

आगन्तुक दोनों हाथ फैलाकर मुझसे ऐसे लिपट गया मानो कोई बहुत पुराना दोस्त हो। फिर मेरा हाथ खींचते हुए उसने कमरे में ऐसे प्रवेश किया जैसे कमरा मेरा नहीं उसी का था। छोटे कमरे की जगह की तंगी के कारण मैंने चारपाई निकालकर जमीन पर ही बिस्तर लगा रक्खा था। उसने बगैर किसी तकल्लुफ के निस्संकोच बिस्तरे पर आसन लगा लिया और मेरा हाथ खींचकर पास बिठलाते हुए बोला—''मेरा नाम रंजीत है। मैं दो-चार दिन यहीं रहूँगा। दिल्ली के तुम्हारे दोस्त से मैं तुम्हारे और जयदेव के बारे में सुन चुका हूँ। मैं भी तुम्हारी ही डगर का राहगीर हूँ।'' फिर कुछ सोचकर पूछा, ''विजय और सुरेन्द्र पाण्डे को जानते हो?''

रंजीत के सहज व्यवहार, निष्कपट हँसी और मुस्कराती हुई आँखों ने पहली ही मुलाकात में मेरे सब हथियार छीन लिये थे और अब मेरे लिए उस पर अविश्वास करना असम्भव था। रोक-थाम के मेरे सारे बाँध टूट गये और मैंने भी उसी सहज भाव से कह दिया कि ''हाँ जानता हूँ।''

रंजीत मेरे कमरे में जितने दिन रहा प्रायः रोज ही विजय और सुरेन्द्र पाण्डे आते रहे। वह काकोरी के अभियुक्त पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल को जेल से छुड़ाने की योजना पर विचार-विमर्श करने आया था। तीन-चार दिन रहने के बाद बिस्मिल से सम्पर्क स्थापित कर योजना पक्की कर रखने का भार विजय पर छोड़ वह पंजाब वापस चला गया।

रंजीत के चले जाने के बाद मुझे पता चला कि उसका असली नाम भगतसिंह

है और वह पहले भी कानपुर में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के पास 'प्रताप' में काम कर चुका है। कानपुर में 'प्रताप' में काम शुरू करने से पहले कुछ दिन उसने अखबार बेचकर भी निर्वाह किया था। यह भी पता चला कि बिस्मिल को जेल से छुड़ाने का एक प्रयास पहले भी हो चुका था जिसे किन्हीं कारणोंवश बीच में ही छोड़ देना पड़ा था। उसमें भाग लेने के लिए भगतसिंह और सुखदेव के साथ पंजाब के कई और साथी भी आये थे। उसी दिशा में अब यह उसका दूसरा प्रयास था।

भगतसिंह मेरे कमरे में अपना अधिकतर समय पढ़ने में व्यतीत करता था। विक्टर ह्यूगो, हालकेन, टॉलस्टाय, दोस्तोएवस्की, गोर्की, बर्नार्ड शा, डिकेन्स आदि उसके प्रिय लेखक थे। पढ़ने से जब उसकी तबीयत ऊबती तो वह छात्रावास के पीछे गंगा के किनारे जाकर बैठ जाता या मुझे और जयदेव को कॉलेज से फुरसत होती तो हम लोगों से गप्पें लगाता। उसकी बातचीत का विषय अधिकतर उसकी पढ़ी हुई पुस्तकें होतीं। यह उनके बारे में बतलाता और फिर जोर देता कि हम भी उन्हें पढ़ें।

एक दिन वह बोला, ''हीरे इमारत की खूबसूरती बढ़ा सकते हैं, देखने वालों को चकाचौंध कर सकते हैं, लेकिन वे इमारत की बुनियाद नहीं बन सकते, उसे लम्बी उम्र नहीं दे सकते, सदियों तक अपने मजबूत कंधों पर उसके बोझ को उठाकर उसे सीधा खड़ा नहीं रख सकते। अभी तक हमारे आन्दोलन ने हीरे कमाए हैं, बुनियाद के पत्थर नहीं बटोरे। इसीलिए इतनी कुर्बानी देने के बाद भी हम अभी तक इमारत क्या उसका ढाँचा भी नहीं खड़ा कर पाये। आज हमें बुनियाद के पत्थरों की जरूरत है।''

1926 में भगतसिंह, भगवती चरण, यशपाल आदि ने लाहौर में नौजवान भारत सभा की स्थापना की थी। यह क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक प्रकार का खुला मंच था जिसका काम था आम सभाओं, बयानों, पर्चों आदि के माध्यम से क्रान्तिकारियों के उद्देश्य और उनके विचारों का प्रचार करना। शोषण, दरिद्रता, असमानता आदि की संसारव्यापी समस्या पर अध्ययन एवं विचार कर वे लोग इस परिणाम पर पहुँचे थे कि भारत की पूर्ण स्वाधीनता के लिए केवल राजनीतिक ही नहीं बल्कि आर्थिक स्वाधीनता भी आवश्यक है। मैजिक लैण्टर्न द्वारा क्रान्तिकारी शहीदों के चित्रों का प्रदर्शन और उसके साथ-साथ कमेण्टरी के रूप में क्रांतिकारी आन्दोलन के संक्षिप्त इतिहास से जनता को अवगत कराना भी उनका एक काम था। प्रचार का वह एक सशक्त माध्यम था।

शचीन्द्र नाथ सान्याल के माध्यम से श्री राधामोहन गोकुलजी और सत्यभक्त से भगतसिंह का सम्पर्क काकोरी कांड से पहले ही स्थापित हो चुका था और यह चारों समाजवाद तथा कम्युनिज्म पर काफी विचार-विनिमय कर चुके थे। स्वर्गीय श्री गणेशशंकर विद्यार्थी के नेतृत्व में हम लोगों ने कानपुर मजदूर सभा में भी दिलचस्पी लेनी आरम्भ कर दी। आगे चलकर भगतसिंह ने हमारे उस रुझान को बल दिया और समाजवाद का अध्ययन तथा उस पर बहस आदि करने की प्रेरणा प्रदान की।

उसका कहना था कि अंग्रेजी दासता के विरुद्ध संघर्ष तो हमारे युद्ध का पहला मोर्चा है। अन्तिम लड़ाई तो हमें शोषण के विरुद्ध ही लड़नी पड़ेगी। चाहे वह शोषण मनुष्य द्वारा मनुष्य का हो या एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का हो। यह लड़ाई जनता के सहयोग के बगैर नहीं लड़ी जा सकती। इसलिए हमें हर सम्भव उपाय से जनता के अधिक से अधिक निकट पहुँचने का प्रयास करते रहना चाहिए। नौजवान भारत सभा की स्थापना, मजदूर सभा में काम, पत्र-पत्रिकाओं में लेख-मालाएँ, मैजिक लैण्टर्न का प्रयोग, पर्चे और पैम्फलेट आदि इसी प्रयास के अंग थे।

भगतसिंह से पहले प्रचार तथा जनसम्पर्क की दिशा में इतना बड़ा तथा संगठित कदम क्रान्तिकारियों ने नहीं उठाया था। यहाँ तक कि पकड़े जाने के बाद अदालत तक को उसने मुख्यतया अपने विचारों के प्रचार के साधन के रूप में ही इस्तेमाल किया। वह अच्छा योद्धा ही नहीं, अच्छा प्रचारक भी था।

कलम का धनी तो वह था ही। हिन्दी, उर्दू, पंजाबी और अंग्रेजी पर उसका समान अधिकार था। उन दिनों कामरेड सोहन सिंह जोश अमृतसर में 'किर्ती' नाम से गुरुमुखी तथा उर्दू में एक मासिक पत्रिका निकालते थे। भगतसिंह उनमें नियमित रूप से लिखता था। विभिन्न नामों से 'किर्ती' में क्रान्तिकारी शहीदों की जो जीवनियाँ प्रकाशित हुई थीं, उनमें से अधिकांश भगतसिंह की ही कलम की देन थीं। हिन्दी में उसने अधिकतर 'प्रताप' तथा 'प्रभा' (कानपुर), 'महारथी' (दिल्ली) और 'चाँद' (इलाहाबाद) में ही लिखा।

अंग्रेजी में लिखे हुए उसके लेख, अदालती वक्तव्य, पत्र, पर्चे आदि उसकी सशक्त शैली के प्रमाण हैं। नौजवान भारत सभा के घोषणा-पत्र का अंग्रेजी मसविदा भगवती चरण ने भगतसिंह के साथ मिलकर 1928 में तैयार किया था। भाषा, शैली तथा देश के उस समय के राजनीतिक स्तर को देखते हुए विचारों की परिपक्वता की दृष्टि से उस घोषणा-पत्र का आज भी एक ऐतिहासिक महत्त्व है। असेम्बली में बम फेंकने के बाद पकड़े जाने पर अदालत में उसने जो बयान दिया था, वह तो उसी समय एक अन्तरराष्ट्रीय ख्याति का दस्तावेज बन गया था।

उसे पढ़ने-लिखने का भी बेहद शौक था। वह जब भी कानपुर आता तो अपने साथ दो-चार पुस्तकें अवश्य लाता। बाद में फरार जीवन में जब उसके साथ रहने का अवसर मिला तो देखा कि पिस्तौल और पुस्तक का उसका चौबीस घंटे का साथ था। मुझे एक भी अवसर याद नहीं पड़ता जब मैंने उसके पास कोई-न-कोई पुस्तक न देखी हो।

भगतसिंह से पहले क्रान्तिकारियों का देशव्यापी कोई एक संगठन न था। बंगाल में अनुशीलन, युगान्तर आदि संस्थाएँ थीं, पंजाब में गदर पार्टी का काम था, उत्तर प्रदेश और बिहार में मुख्यतया हिन्दुस्तान प्रजातंत्र संघ काम करता था। शहीदों पर सबका समान अधिकार होते हुए भी उनमें आपसी सहयोग प्रायः नहीं के बराबर

ही रहता था। भगतसिंह सबको मिलाकर एक देशव्यापी संगठन कायम करना चाहता था। इसी उद्देश्य से सितम्बर 1928 में उसने दिल्ली में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि क्रान्तिकारियों की एक मीटिंग का आयोजन किया, जिसमें उत्तर प्रदेश (उस समय संयुक्त प्रांत), बिहार, पंजाब और राजस्थान से दस प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। बंगाल के अधिकांश क्रान्तिकारी उस समय जेल में थे। जो बाहर थे, उनमें से जिनसे हमारा सम्पर्क हुआ, वे हमारे समाजवादी विचारों और संगठन के जनवादी सुझावों से सहमत न थे। उन्होंने मीटिंग में भाग लेने से इनकार कर दिया था।

दिल्ली मीटिंग का नेतृत्व भगतसिंह ने ही किया और उसके सुझाव पर समाजवाद को दल का घोषित लक्ष्य स्वीकार कर उसका नाम 'हिन्दुस्तान प्रजातंत्र संघ' से बदलकर 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ' कर दिया गया।

मीटिंग का दूसरा महत्त्वपूर्ण फैसला था संगठन का जनवादीकरण। भगतसिंह किसी एक व्यक्ति को आन्दोलन का सर्वेसर्वा मानकर उसकी अच्छाइयों या बुराइयों की दया पर सब कुछ छोड़ देने का विरोधी था। उसके सुझाव पर आन्दोलन के संचालन के लिए एक केन्द्रीय कमेटी का गठन किया गया और नीति के प्रश्नों पर इस कमेटी को ही सर्वोपरि माना गया। इस मीटिंग में सुखदेव, फणीन्द्र घोष, कुन्दनलाल और शिव वर्मा क्रमशः पंजाब, बिहार, राजस्थान और उत्तर प्रदेश (उस समय संयुक्त प्रांत) के संगठनकर्ता चुने गये और भगतसिंह तथा विजय कुमार सिन्हा को प्रचार तथा अन्तःप्रान्तीय सम्पर्कों का भार सौंपा गया था। इन छः तथा आजाद को लेकर केन्द्रीय कमेटी का गठन किया गया था। मीटिंग में जयदेव कपूर, सुरेन्द्रनाथ पाण्डे, ब्रह्मदत्त मिश्र और बिहार के मनमोहन बैनर्जी भी सम्मिलित हुए थे।

दल के सेनापति को चुनने की भी परम्परा अपनाई गयी और आजाद हमारे प्रथम निर्वाचित सेनापति बने।

30 अक्टूबर, सन् 1928 को साइमन कमीशन लाहौर पहुँचा। एक विशाल जनसमुदाय ने काले झण्डों से उसका स्वागत किया। अधिकारी पागल हो उठे। जुलूस पर अन्धाधुन्ध लाठीचार्ज के फलस्वरूप लाला लाजपत राय बुरी तरह आहत हुए और कुछ ही दिनों बाद 19 नवम्बर, 1928 को उनका देहान्त हो गया। इस घटना से सारे देश में क्रोध की लहर दौड़ गयी, चारों ओर क्षोभ का वातावरण फैल गया।

लालाजी की मृत्यु से ठीक एक महीने बाद भगतसिंह और राजगुरु ने लाहौर पुलिस के केन्द्रीय दफ्तर से निकलते समय सांडर्स (डिप्टी सुपरिन्टेण्डेण्ट पुलिस) को, जिसके हाथों से लाठियाँ खाकर लालाजी आहत हुए थे, गोली से मार दिया।

राष्ट्र के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए लालाजी के हत्यारे को मारना आवश्यक है। यह प्रस्ताव भगतसिंह का ही था। फिर भी सांडर्स की हत्या के बाद कई दिनों तक उसका मन बड़ा उद्वेलित-सा रहा। यह क्रान्तिकारी था किन्तु रक्त का प्यासा न था। उसका उद्देश्य तो समस्त मानवता को सुखी बनाना और इस नाते

मनुष्य मात्र के प्राणों से मोह भी स्वाभाविक था। क्रान्तिकारी हत्यारे नहीं थे, वे मानवता के पुजारी थे, इस नाते मनुष्य के प्राण लेने में उन्हें स्वाभाविक दुख होता था, इस सम्बन्ध में क्रान्तिकारियों की भावनाओं को स्पष्ट करते हुए पार्टी की ओर से दिल्ली असेम्बली में जो पर्चे बाँटे गये थे, उनमें कहा गया था—''हम मनुष्य के जीवन को पवित्र समझते हैं। हम ऐसे उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रखते हैं जिसमें व्यक्ति को पूर्ण शान्ति और स्वतंत्रता का अवसर मिल सके। हम इन्सान का खून बहाने की अपनी विवशता पर दुखी हैं परन्तु क्रान्ति द्वारा सबको समान स्वतंत्रता देने और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त कर देने के लिए क्रान्ति में कुछ न कुछ रक्तपात अनिवार्य है।''

भगतसिंह के प्रस्ताव पर केन्द्रीय समिति ने असेम्बली में ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल पर मतदान हो जाने के बाद उसका परिणाम घोषित होने से ठीक पहले सरकारी पक्ष की ओर दर्शक दीर्घा से बम फेंकने का निश्चय किया। इन बमों का उद्देश्य प्रस्तावित बिलों के विरुद्ध भारतीय जनता में कितना गहरा असन्तोष है, इसका प्रदर्शन मात्र था। दूसरे शब्दों में उनका उद्देश्य बहरों के कान खोलना था, किसी के प्राण लेना नहीं। समिति ने यह भी निश्चय किया कि बम फेंकने के बाद वहीं पर दीर्घा से पर्चे फेंककर अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण भी कर दिया जाये।

भगतसिंह यह भी चाहता था कि जो साथी बम फेंकने जायें वे वहीं आत्मसमर्पण कर दें और पकड़े जाने पर अदालत के माध्यम से अपने उद्देश्य की घोषणा करें। वह अदालत को राजनीतिक प्रचार के मंच के रूप में इस्तेमाल करना चाहता था। आरम्भ में केन्द्रीय समिति के दूसरे साथी उसके इस प्रस्ताव के पक्ष में न थे। वे एक बयान के लिए दो व्यक्तियों को खोना नहीं चाहते थे। बाद में भगतसिंह के अकाट्य तर्कों से प्रभावित होकर उन्होंने इस पर अपनी सहमति दे दी।

असेम्बली में बम फेंकने के काम को भी भगतसिंह स्वयं ही करना चाहता था। उसका अनुमान था कि उक्त काम के राजनीतिक महत्त्व को अदालत के मंच से जितनी स्पष्टता के साथ देश के सामने वह स्वयं रख सकेगा, उतनी स्पष्टता से दूसरा कोई साथी नहीं रख सकेगा। भगतसिंह का यह अनुमान सही भी था। लेकिन हम जानते थे कि पकड़े जाने पर भगतसिंह को निश्चित रूप से मौत की सजा दी जायेगी, अस्तु उसके अनुमान से सहमत होते हुए भी उसे जाने देने के लिए हममें से कोई भी राजी न हुआ। काफी तर्क के बाद भी जब वह केन्द्रीय समिति से अपनी बात न मनवा सका तो उसने बहुमत के सामने सिर झुका दिया और समिति ने दो अन्य साथियों के नाम तय कर दिये।

इस फैसले के दो-तीन दिन बाद ही पंजाब से सुखदेव आ गया। उसे जब हमारे फैसले का पता चला तो वह बहुत बिगड़ा। उसका कहना था कि जिस उद्देश्य से हम यह काम करने जा रहे हैं, उसे भगतसिंह के अतिरिक्त और कोई साथी पूरा

नहीं कर सकेगा। व्यर्थ में दो साथियों की कुर्बानी भी दी जाए और काम भी न बने, इसके वह पक्ष में न था। इस सम्बन्ध में उसकी और भगतसिंह की विस्तार के साथ पहले ही बात हो चुकी थी और वे दोनों सौ फीसदी एक मत थे। उसकी माँग पर केन्द्रीय समिति की बैठक दुबारा बुलाई गयी। इस बार भगतसिंह ने जिद पकड़ ली और अन्त में बाध्य होकर हमें उसकी बात मान लेनी पड़ी। समिति ने भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त के नामों की अनुमति दे दी। इस ऐक्शन के बाद हम भगतसिंह को हमेशा के लिए खो देंगे, इस एक विचार ने हमारे बीच उदासी का वातावरण पैदा कर दिया।

बम कहाँ फेंके जायेंगे और किस स्थान से फेंके जायेंगे, इसका निर्णय करने के लिए जयदेव ने असेम्बली भवन (अब लोकसभा भवन) के नक्शे का अध्ययन पहले ही कर लिया था। पाँच-छः दिन लगातार दर्शक दीर्घा में बैठकर उसने मौके की जाँच भी कर ली थी। मतदान से एक दिन पूर्व भगतसिंह को साथ ले जाकर उसकी सारी स्थिति उसे समझा दी। दूसरे दिन उसने तीन पासों की व्यवस्था की और दोनों साथियों को दर्शक दीर्घा तक पहुँचाकर उनके पास वापस ले लिये। यह पास एक कांग्रेसी एम. एल. ए. के हस्ताक्षर से प्राप्त हुए थे, अस्तु बाहर आकर जयदेव ने उन्हें जला दिया।

ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल पर सदस्यों ने मतदान किया। अध्यक्ष श्री विट्ठल भाई पटेल परिणाम की घोषणा करने वाले थे कि सरकारी पक्ष की पिछली बेंच की ओर से जोर से धड़ाके की आवाज हुई। भवन धुएँ से भर गया, चारों ओर भगदड़ मच गयी और जब धुआँ कुछ कम हुआ तो देखा गया कि कुछ ही समय पूर्व जो भवन संसद सदस्यों तथा दर्शकों से खचाखच भरा था वह खाली हो गया था। भवन में केवल तीन ही व्यक्ति रह गये थे, अध्यक्ष पटेल, मोती लाल नेहरू और सरकारी पक्ष के नेता सर जेम्स क्रेयर। वे अपने-अपने स्थानों पर मूर्तियों की भाँति खड़े थे। और दर्शक दीर्घा में रह गये थे दो नौजवान जिनके नारों से संसद गूँज रहा था। सर्वहारा वर्ग चिरजीवी हो, साम्राज्यवाद का नाश हो और इन्कलाब जिन्दाबाद के नारों के साथ वे संसद भवन में पर्चे फेंक रहे थे। वे यदि चाहते तो भीड़ के साथ आसानी से बाहर निकल सकते थे, लेकिन वे भागे नहीं।

दल ने इन दोनों साथियों को जिस काम के लिए बलिदान किया था, उसे उन्होंने पूरे उत्तरदायित्व के साथ निबाहा। अदालत के सामने भगतसिंह और दत्त ने दल के सिद्धान्तों एवं विचारों को स्पष्ट करते हुए जो बयान दिया था, उसे एक प्रकार से उस समय क्रान्तिकारी आन्दोलन का घोषणा-पत्र कहा जा सकता है।

दत्त के साथ एक संयुक्त वक्तव्य में भगतसिंह ने कहा—''हम मानवीय जीवन को अकथनीय पवित्रता देते हैं और मानवता की सेवा में किसी को हानि पहुँचाने की अपेक्षा शीघ्र ही अपने स्वयं के जीवन को होम कर देंगे। हम साम्राज्यवादी सेना

के भाड़े के सैनिकों की तरह नहीं हैं, जिन्हें बिना किसी अफसोस के हत्या करने का अनुशासन सिखाया जाता है। हम जीवन का आदर करते हैं और जहाँ तक बनता है, उसे बचाने की कोशिश करते हैं।''

हाईकोर्ट के सामने क्रान्ति की परिभाषा देते हुए उसने कहा—''क्रान्ति संसार का नियम है, यह मानवीय प्रगति का रहस्य है।'' लेकिन ''उसमें रक्तरंजित संघर्ष अनिवार्य नहीं है, और न उसमें व्यक्तिगत प्रतिहिंसा की ही कोई जगह है। वह बम और पिस्तौल का सम्प्रदाय नहीं है।...क्रान्ति का विरोध करने वाले लोग केवल पिस्तौल, बम, तलवार और रक्तपात को ही क्रान्ति का नाम दे देते हैं, परन्तु क्रांति इन चीजों में ही सीमित नहीं है। ये चीजें क्रान्ति का उपकरण हो सकती हैं परन्तु इन उपकरणों के उपयोग के पीछे क्रान्ति की वास्तविक शक्ति जनता द्वारा समाज की आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन करने की इच्छा ही होती है। हमारी आधुनिक परिस्थितियों में क्रान्ति का उद्देश्य कुछ व्यक्तियों का रक्तपात करना नहीं, मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की प्रथा को समाप्त कर इस देश के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त करना है।''

दिल्ली के बाद हम लोग लाहौर षड्यंत्र केस में अभियुक्त की हैसियत से अदालत में फिर मिले।

10 जुलाई, 1929 को जब हमारा केस आरम्भ हुआ तो भगतसिंह भूख हड़ताल पर था। उसे असेम्बली केस में आजीवन कारावास की सजा हो चुकी थी और अब सम्राट के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने के अभियोग में हमारे साथ उस पर दुबारा केस चलना था।

खाना छोड़े उसे एक महीने से ऊपर हो चुका था फिर भी वह अदालत आया। जिस समय स्ट्रेचर पर डालकर उसे अदालत लाया गया तो उसे देखकर हम सबकी आँखों में आँसू आ गये। वह हमारा पहले वाला भगतसिंह नहीं था जिसका खूबसूरत, स्वस्थ एवं बलिष्ठ शरीर हमारे बीच चर्चा का विषय बना रहता था। अदालत में जिस भगतसिंह से हमारी मुलाकात हुई वह पहले वाले भगतसिंह की परछाईं मात्र रह गया था—पीला और कमजोर। कई महीनों की निरन्तर जेल यातनाओं और लम्बी भूख हड़ताल ने उसके बलिष्ठ शरीर को काँटा बना दिया था।

मिलने पर लगभग तीन दिनों तक हम लोग इस बात पर बहस करते रहे कि अदालत के सामने हमारी सफाई की नीति क्या होनी चाहिए। भगतसिंह इतना कमजोर हो गया था कि बातचीत के दौरान थोड़ी-थोड़ी देर के बाद उसे आराम कुर्सी पर लेटकर सुस्ताना पड़ जाता था। उस सबके बाद भी उसने बहस में भाग लिया और निर्णायक भूमिका अदा की।

सरकार की एक योजना के अनुसार सभी अभियुक्तों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया। पहली श्रेणी उन लोगों की थी, जिनका केस वकील द्वारा लड़ा

जाना था। इसमें पाँच साथी थे—देशराज भारती, प्रेमदत्त, मास्टर आज्ञाराम, अजय घोष और किशोरी लाल। दूसरी श्रेणी थी शत्रु की अदालत को मान्यता न देने वालों की। इनका काम था हर उपयुक्त अवसर पर अदालती अभिनय के ढकोसले पर सैद्धान्तिक प्रहार करना। इन साथियों ने ट्रिब्यूनल के सामने पहले ही दिन जो बयान दिया उसके बारे में अदालत के जजों ने लिखा था कि ''वह ब्रिटिश सरकार पर हिंसात्मक राजनीतिक हमला था। चूँकि खुली अदालत में इस भाषण का, जो कि राजद्रोहात्मक प्रचार के अतिरिक्त और कुछ भी न था, पढ़ा जाना बहुत ही अनुचित था, इसलिए ट्रिब्यूनल ने उसका पढ़ा जाना रोक दिया।'' बयान के अन्त में कहा गया था, ''इन कारणों से हम इस हास्यास्पद अभिनय का अंग बनने से इनकार करते हैं और आगे से हम इस अदालत की कार्यवाही में किसी प्रकार का हिस्सा नहीं लेंगे।'' इनमें थे महावीर सिंह, बी. के. दत्त, डॉ. गया प्रसाद, कुन्दनलाल और जतीन्द्र नाथ सान्याल और तीसरी श्रेणी उन लोगों की थी जो अपना केस स्वयं लड़ रहे थे। इनका काम था सरकारी गवाहों से जिरह करना, मुखबिरों तथा गवाहों के मुँह से अपनी बात कहलवाना। उनकी हर बात का उद्देश्य होता था प्रचार। इस ग्रुप के साथियों के नाम थे—भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु, शिव वर्मा, जयदेव कपूर, विजयकुमार सिन्हा, कमलनाथ तिवारी और सुरेन्द्रनाथ पाण्डे।

अदालत के मंच को प्रचार के साधन के रूप में इस्तेमाल करने की हमारी यह योजना बहुत सफल रही।

10 जुलाई को जब हमारा केस आरम्भ हुआ तो भगतसिंह और दत्त भूख हड़ताल पर थे। 13 जुलाई, 1929 को बाकी साथियों ने भी भगतसिंह और दत्त द्वारा उठाई माँगों के लिए भूख हड़ताल आरम्भ करने का निश्चय किया। जेलों में राजनीतिक बन्दियों के साथ जो अमानवीय एवं अपमानजनक व्यवहार होता था, पकड़े जाने पर हमें उसके खिलाफ भी संघर्ष करना होगा। यह फैसला केन्द्रीय कमेटी ने बाहर रहते ही कर लिया था।

भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी की सजा मिलने के बाद उनसे अन्तिम विदाई लेकर हम लोग चलने लगे तो हममें से एक (जयदेव कपूर) ने भगतसिंह से पूछा, ''सरदार, तुम मरने जा रहे हो। मैं जानना चाहता हूँ कि तुम्हें इसका अफसोस तो नहीं है?''

प्रश्न सुनकर पहले तो सरदार ठहाका मारकर हँसा फिर गम्भीर होकर बोला, ''क्रान्ति के मार्ग पर कदम रखते समय मैंने सोचा था, यदि मैं अपना जीवन देकर देश के कोने-कोने तक इन्कलाब जिन्दाबाद का नारा पहुँचा सका तो मैं समझूँगा कि मुझे अपने जीवन का मूल्य मिल गया। आज फाँसी की इस कोठरी में लोहे के सींखचों के पीछे बैठकर भी मैं करोड़ों देशवासियों के कण्ठों से उठती हुई उस नारे की हुंकार सुन सकता हूँ। मुझे विश्वास है कि मेरा यह नारा स्वाधीनता संग्राम की

चालक शक्ति के रूप में साम्राज्यवादियों पर अन्त तक प्रहार करता रहेगा।'' फिर कुछ रुककर अपनी स्वाभाविक मुस्कराहट के बीच उसने आहिस्ता से कहा, ''और इतनी छोटी जिन्दगी का इससे अधिक मूल्य हो भी क्या सकता है?''

और फिर 23 मार्च, 1931 को सन्ध्या समय सरकार ने उनसे साँस लेने का अधिकार छीनकर अपनी प्रतिहिंसा की प्यास बुझा ली। अन्याय और शोषण के विरुद्ध विद्रोह करने वाले तीन और तरुणों की जिन्दगियाँ जल्लाद के फंदे ने समाप्त कर दीं।

फाँसी के तख्ते पर चढ़ते हुए भगतसिंह ने एक अंग्रेज मजिस्ट्रेट को सम्बोधित करते हुए कहा, ''मजिस्ट्रेट महोदय, आप वास्तव में बड़े भाग्यशाली हैं, क्योंकि आपको यह देखने का अवसर प्राप्त हो रहा है कि एक भारतीय क्रान्तिकारी अपने महान् आदर्श के लिए किस प्रकार हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करता है।''

(संस्मृतियों से)

यह सत्य है कि अपनी विचारयात्रा के अन्तिम दौर में भगतसिंह मार्क्सवादी विचारधारा के काफी निकट आ गये थे, वे मजदूरों और किसानों की सुसंगठित क्रान्ति की ही नहीं, सर्वहारा के अधिनायकत्व की भी बात करने लगे थे, पर जैसा कि **'भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज'** (राहुल फाउण्डेशन, लखनऊ) के सम्पादक सत्यम कहते हैं, इस तथ्य पर जोर देना ही चाहिए कि भारत के अधिकांश विलायतपलट कम्युनिस्ट नेताओं की तरह उन्होंने मार्क्सवादी शास्त्रों के अध्ययन और ब्रिटिश तथा सोवियत पार्टियों के विश्लेषणों को आधार बनाकर भारतीय परिस्थितियों को देखने और कार्यभार तय करने के बजाय स्वयं अपनी दृष्टि और अध्ययन के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद, कांग्रेस, गाँधीजी आदि का मूल्यांकन किया। ॲप्रोच की यह मौलिकता विशेष रूप से भारत जैसे देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए मूल्यवान साबित हो सकती थी, जहाँ अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व का अंधानुकरण लगातार एक गंभीर बीमारी के रूप में मौजूद रहा है। इस मामले में भगतसिंह, भगवतीचरण बोहरा आदि की विकास-प्रक्रिया माओत्से तुंग और हो-ची-मिन्ह के अधिक निकट जान पड़ती है, जिन्होंने अपने-अपने देशों की ठोस परिस्थितियों का स्वयं अध्ययन किया और क्रान्ति की रणनीति तथा मार्ग का निर्धारण किया।

आज जब भगतसिंह के समय का बोल्शेविक ढंग का समाजवाद मुख्यतः जनवादी मान-मूल्यों की निरन्तर अवहेलनाओं के कारण, समता-स्थापन के नाम पर मनुष्य की मूलभूत स्वतन्त्रता के दमन के कारण, ढह चुका है, यह बात याद दिलाना जरूरी लगता है कि स्वतन्त्रता उनके लिए कितना महत्त्वपूर्ण मूल्य था। स्वतन्त्रता को वे प्रत्येक मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित करते हैं। क्योंकि वे अराजकतावाद के माध्यम से मार्क्सवाद तक पहुँचे थे, इसलिए स्वतन्त्रता के प्रति उनके प्रेम और राजसत्ता के प्रति उनकी घृणा ने उन्हें कहीं भी मार्क्सवादी जड़सूत्रवाद का शिकार

नहीं होने दिया। दिल्ली असेम्बली में बाँटे गये परचे का एक वाक्य है 'हम मनुष्य के जीवन को पवित्र समझते हैं। हम ऐसे उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रखते हैं, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण शान्ति और स्वतन्त्रता का अवसर मिल सके।' उनकी जेल डायरी जहाँ एंगेल्स और लेनिन के उद्धरण नोट करती है वहाँ विपुल मात्रा में अमेरिकन, आयरिश और फ्रांसीसी क्रान्तिकारियों, विचारकों और कवियों को भी उद्धृत करती है। इनमें स्वतन्त्रता के परम उपासक अमेरिकी कवि वाल्ट व्हिटमन, रूसी कवि-वैज्ञानिक मोजोरोव और अंग्रेज कवि वर्ड्सवर्थ, बायरन और टेनीसन मुख्य हैं। फिर मार्क्सवाद की समकालीन सैद्धान्तिक आलोचना से भी वे नावाकिफ नहीं थे, इसका प्रमाण है उनकी जेल डायरी के पृष्ठ 102 (75) पर ब्लादीमीर जी. सिखोविच की पुस्तक 'मार्क्सवाद बनाम समाजवाद' के सम्बन्ध में उनकी टिप्पणी।

इन सब तथ्यों पर विचार करते हुए भगतसिंह को यदि मार्क्सवादी ही कहना हो, तो एक स्वयंचेता या स्वातंत्र्यचेता मार्क्सवादी कहा जा सकता है। रूढ़िवादी मार्क्सवादियों की तरह वे हिंसा को क्रान्ति का अनिवार्य घटक या साधन नहीं मानते। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—'हिंसा तभी न्यायोचित हो सकती है जब किसी विकट आवश्यकता में उसका सहारा लिया जाय। अहिंसा सभी जन-आन्दोलनों का अनिवार्य सिद्धान्त होना चाहिए।' यह वाक्य विशेष तौर से उनके नायकत्व को नये सिरे से भुनाने के लिए अधीर नक्सलवादियों के लिए मनन करने योग्य है। मानव-रक्त की पवित्रता में विश्वास रखने वाले और क्रान्ति की बलिवेदी पर दूसरों का नहीं, स्वयं अपना ही रक्त चढ़ाने वाले भगतसिंह हिन्दी के कालजयी निबन्ध 'सच्ची वीरता' के लेखक प्रोफेसर पूर्णसिंह की परिभाषा पर पूरी तरह खरे उतरने वाले सच्चे वीर थे। उन्होंने तलवार उठाने की बजाय हर जोखिम के सामने अपना सिर आगे किया। दकियानूस गाँधीवादी दृष्टि के लिए वे बम और पिस्तौल के पुजारी रहे हों पर एक सुसंस्कृत गाँधीय नजरिया उनके असेम्बली की खाली बेंचों पर निशाना साधकर बम फेंकने और फिर बिना भागे तथा बिना संघर्ष किए गिरफ्तार हो जाने की घटना को सच्चे सत्याग्रह के एक अनोखे उदाहरण के रूप में देखने से नहीं बच सकता।

भगतसिंह और गाँधीजी के बीच के मतभेदों को आम तौर पर बढ़ा-चढ़ा कर देखने की प्रवृत्ति अनेक लेखकों में दिखाई देती है पर इस सन्दर्भ में इस तथ्य पर भी ध्यान देना चाहिए कि न केवल उन्होंने 1924 में लिखे अपने निबन्ध 'विश्वप्रेम' में उन्हें भी विश्वप्रेम की देवी के उपासकों में सम्मानपूर्वक याद किया है, बल्कि जून 1928 में 'किरती' की सम्पादकीय टिप्पणी 'सत्याग्रह और हड़तालें' में गाँधीजी और सरदार पटेल के नेतृत्व में चल रहे किसानों के बारदोली सत्याग्रह का पूरे समर्थन के स्वर में विवरण भी प्रस्तुत किया है।

अन्त में हम भगतसिंह पर एक प्रभावक पुस्तक 'युगद्रष्टा भगतसिंह और उनके मृत्युंजय पुरखे' की लेखिका उनकी भतीजी वीरेन्द्र संधू के शब्दों में कह सकते हैं—

''भगतसिंह हिमालय की ऐसी चट्टान थे जिस पर हथौड़े की चोट काम नहीं करती, पर जिसमें निर्मल शीतल जल अवश्य बहता है। उनके जीवन का गहन विश्लेषण कर ऐसा लगता है कि वे ज्वाला, आँसू और मुस्कान के प्रयाग थे। जो आदमी भरी अदालत में रो पड़ा उसने ही दिल्ली जेल से अपने पिता के नाम यह पत्र लिखा था कि अगर आप मिलने के लिए आयें तो अकेले ही आ जायें। वालिदा साहिबा को साथ न लाइयेगा। खामखाह वे रो देंगी और मुझे भी कुछ तकलीफ जरूर होगी। जो आदमी मृत्यु के प्रति निर्लिप्त है और निर्लिप्त भी क्या, उसके आगमन की योजनापूर्वक व्यवस्था कर रहा है, वह माँ के आँसुओं के प्रति निर्लिप्त तो है ही नहीं, उनके प्रति आशंका से प्रभावित है। यह मृत्युंजय भगतसिंह का मानवीय रूप है। वे तरल प्रवाही भी हैं, गरलपायी भी और अनलदाही भी। वे स्वयं आँसुओं की तरह कोमल हैं, गरल की तरह घातक हैं, अनल की तरह दाहक हैं। वे किसी श्रेष्ठ राष्ट्र के नागरिकों में श्रेष्ठ स्थान पर बैठने योग्य हैं, तो विश्व के श्रेष्ठ क्रान्तिकारियों में श्रेष्ठ क्रान्तिकारी कहलाने योग्य भी।''

–सम्पादक

दामोदर धर्मानन्द कोशाम्बी

दामोदर धर्मानन्द कोशाम्बी एक भारतीय गणितज्ञ, सांख्यिकीविद्, मार्क्सवादी इतिहासकार और बहुश्रुत विद्वान् थे, जिन्होंने आनुवंशिकी के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किए। वे मुद्राशास्त्र में अपने कार्यों तथा प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के अपने समालोचनात्मक संपादनों के लिए विशेष तौर पर जाने जाते हैं। उनके पिता, धर्मानन्द कोशाम्बी ने प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन बौद्धों के पालि ग्रन्थों के सन्दर्भ में किया था। दामोदर ने पिता का अनुसरण करते हुए उनका अध्ययन प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ में किया। उन्होंने अपने इस अध्ययन में अपने ऐतिहासिक भौतिकवादी (मार्क्सवादी) दृष्टिकोण का भी उपयोग किया। वे भारतीय इतिहास लेखन के मार्क्सवादी स्कूल के संस्थापक पितामह माने जाते हैं।

वे अपने समकालीन भारतीय प्रधानमंत्री, पं. जवाहर लाल नेहरू के आलोचक थे। उनका कहना था कि लोकतांत्रिक समाजवाद का बहाना बनाकर वे भारत में पूँजीवाद को प्रोत्साहन दे रहे थे। वे सन् 1949 ई. की चीनी क्रान्ति के प्रशंसक थे। वे विश्व शांति आन्दोलन के उत्साही कार्यकर्ता थे। प्रो. इरफान हबीब की राय में कोशाम्बी उन पहले व्यक्तियों में थे जिन्होंने इतिहास के विकास के अध्ययन में पहली बार किसानों व मज़दूरों के अध्ययन को भी जोड़ा।

कोशाम्बी का जन्म जुलाई 31, 1907 ई. को एक मराठी परिवार में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा भारत में ही हुई पर सन् 1918 में मात्र 11 वर्ष की आयु में वे अपने पिता के साथ कैम्ब्रिज (अमेरिका) चले गए। वहाँ उनके पिता की नियुक्ति बौद्ध ग्रंथ 'विशुद्धिमग्ग' के समालोचनात्मक प्रकाशन के लिए हुई थी। यहीं कोशाम्बी ने 1 वर्ष ग्रामर स्कूल में अध्ययन किया और फिर हाई स्कूल 1920 में कैम्ब्रिज स्कूल से पास किया। यहाँ वे कैम्ब्रिज ब्वाय स्काउट्स के भी सदस्य बने। अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् नार्बर्ट वीनर से यहीं सह-छात्र के रूप में उनकी दोस्ती प्रारम्भ हुई।

कोशाम्बी अपनी अंतिम स्कूल परीक्षा में बेहद अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए।

अतः वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश परीक्षा की अनिवार्यता से छूट के साथ सीधे प्रवेश पा गए (1924)। लेकिन कुछ ही समय बाद वे वहाँ की शिक्षा छोड़ वापस भारत आ गए, जहाँ गुजरात विश्वविद्यालय में उसके पिता ने नई नियुक्ति पा ली थी। वे गाँधीजी के निकट संपर्कियों में शामिल थे। सन् 1926 ई. में वे पुनः हार्वर्ड लौट गए और वहाँ मैथमेटिक्स के अध्ययन में जुट गए। सन् 1929 ई. में उन्होंने सर्वाधिक अंकों के साथ बी. ए. की डिग्री प्राप्त कर ली। नतीजतन 'फी बेटा कप्पा सोसाइटी' ने उन्हें राष्ट्रीय सम्मान देकर अपना आजीवन सदस्य बना लिया। लेकिन वे शीघ्र ही चीन सरकार के तकनीकी सलाहकार बनकर भारत लौट आए। बाद में वे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में मैथमेटिक्स व जर्मन पढ़ाने के लिए नियुक्त हो गए। सन् 1930 ई. में अपने ही बल पर 'इण्डियन जर्नल ऑफ फिजिक्स' में अपना शोध-लेख, ''प्रोशेसन्स ऑफ ऐन इलिप्टिक ऑर्बिट'' छपवाया। यह बड़ी प्रतिष्ठा की बात थी।

सन् 1931 में कोशाम्बी ने एक धनी परिवार की उत्कृष्ट बाला, नलिनी मडगावकर से विवाह कर लिया। इसी दौरान अलीगढ़ विश्वविद्यालय में गणित पढ़ा रहे प्रो. आन्द्रे वील ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया। यहाँ उन्होंने 2 वर्षों में 8 शोध लेख विभिन्न भाषाओं (फ्रेन्च, इटालियन और जर्मन) में प्रकाशित किए। इससे उनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई।

सन् 1933 ई. में वे पुणे के फरगुशन कॉलेज में आ गए। यहाँ उन्होंने 12 वर्षों तक मैथमेटिक्स पढ़ाई। यहाँ उन्होंने सन् 1944 ई. में 4 पृष्ठों का एक खोजपत्र प्रकाशित किया। शीर्षक था, ''द ऍस्टीमेशन ऑफ मैप डिस्टेन्स फ्राम रिकम्बीनेशन वैल्यूज इन एनाल्स ऑफ यूजेनिक्स'', जिसके आधार पर बाद में कोशाम्बी मैप फंक्शन सिद्धान्त का नाम पड़ा। इसी दौरान कोशाम्बी ने एक के बाद एक कई शोधपत्र प्रकाशित किए जिन्होंने सांख्यिकी, समुद्र विज्ञान, रसायन यांत्रिकी और ज्ञान के कई क्षेत्रों पर स्थायी प्रभाव डाला। इन सभी खोजों का योगदान अब और भी ज्यादा माना जाने लगा है।

मुद्राशास्त्र के क्षेत्र में कोशाम्बी की खोजें उन्हें इतिहास के अध्ययन की ओर ले गई। उन्होंने प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन किया और संस्कृत कवि भर्तृहरि की 'शतकत्रयी' व 'सुभाषिताज़' प्रकाशित की (1945-48)। इन्हीं अध्ययनों के दौरान वे देश के स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़ गए और उन्होंने भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी के मुखर पक्षधर बनकर उसके समर्थन में कई राजनीतिक लेख भी लिखे। सन् 1945 ई. में होमी जे. भाभा ने कोशाम्बी को 'टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ फण्डामेण्टल रिसर्च' में आने का निमन्त्रण दिया, जो उन्होंने स्वीकार कर लिया। देश की आज़ादी के बाद वे कम्प्यूटर के अध्ययन के लिए इंग्लैण्ड व अमेरिका गए। इसी दौरान भारतविद् ए. आई. बासम से उनकी प्रगाढ़ मित्रता स्थापित हुई।

जब वे पुनः भारत लौटे तो शीत-युद्ध उग्र था। वे विश्व शांति आन्दोलन से निरन्तर जुड़ते गए। इसी जुड़ाव के कारण उन्होंने चीन, रूस व हेलसिंकी की यात्राएँ कीं। वे परमाणु ऊर्जा के विपरीत सौर ऊर्जा जैसे पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों के विकास के पक्षधर थे, जो भारत के सत्ता प्रतिष्ठान के संचालकों की समझ से परे थी। इस दौरान भी वे निरंतर अध्ययन में जुटे थे। सन् 1956 में छपी, 'ऍन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री' इन्हीं अध्ययनों का परिणाम थी। इस बीच वे चीन व भारत के विकास के तुलनात्मक मूल्यांकन में चीन के निरन्तर प्रशंसक बनते जा रहे थे। भारत के सत्ता वर्ग को इससे नाराज़गी हो रही थी। परिणामतः सन् 1962 ई. में वे टाटा इन्स्टीट्यूट व भाभा दोनों से अलग हो गए। इस अलगाव की शांति के दिनों में उन्होंने ''द कल्चर ऍण्ड सिविलाइजेशन ऑफ एन्शिएन्ट इन्डिया'' नामक खोजपूर्ण पुस्तक की रचना की (1965)। पुस्तक का कई योरुपीय भाषाओं में अनुवाद हुआ और उसकी व्यापक प्रशंसा हुई।

कोशाम्बी का विस्तृत अध्ययन क्षेत्र निरन्तर बढ़ता जा रहा था कि जून, 29, 1966 ई. को पुणे में उनका निधन हो गया। सरकारी संस्था विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने मृत्यूपरांत उन्हें सन् 1980 ई. में हरिओम आश्रम एवार्ड प्रदान किया। मृत्यु के समय वे नृतत्वशास्त्र के गम्भीर अध्ययन में लगे हुए थे।

हम ऊपर बता चुके हैं कि भारतीय इतिहास के लेखक के रूप में कोशाम्बी ने उसे एक क्रान्तिकारी मार्क्सवादी दिशा दी। उन्होंने भारतीय इतिहास के राष्ट्रवादी तथा साम्राज्यवादी स्कूलों के लेखकों को एकदम नकार दिया। वे उसे कुछ बड़े लोगों के दृष्टान्तों का विवरण बनाए हुए थे। कोशाम्बी ने उसे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व राजनीतिक परिवर्तनों व विकास के आयामों के अध्ययन का रूप प्रदान किया। प्रो. ए. आई. वासम के अनुसार, ''ऍन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री'' एक युग प्रवर्तक रचना है। ...इसने दुनिया भर के हजारों इतिहास के छात्रों को इतिहास के अध्ययन की नई दृष्टि, नया प्रोत्साहन और नई प्रेरणा दी है।'' प्रो. इरफान हबीब के अनुसार दक्षिण-पूर्व के इतिहास का कोई भी विद्यार्थी कोशाम्बी के विचारों का कितना भी विरोधी हो पर उनके विचारों को नजरअंदाज करने की गलती कदापि नहीं कर सकता। कोशाम्बी ने पहली बार इतिहास के अध्ययन में आधुनिक गणित, सांख्यिकी व सिक्कों के भार का तार्किक अध्ययन प्रस्तुत किया और इन माध्यमों से उन्होंने उनके कालनिर्धारण का जो कार्य किया, वह अभूतपूर्व था।

गणित संबंधी अनेक शोध-पत्रों के अतिरिक्त कोशाम्बी ने इतिहास, समाज और संस्कृति पर निम्नलिखित पुस्तकें लिखीं–

- ऍन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री (1956) पोपुलर बुक डिपो, मुंबई।

- इक्सैस परेटिंग एसेज : स्टडीज इन द फार्मेशन ऑफ इण्डियन कल्चर (1957), पीपुल्स बुक हाउस, पुणे।
- द कल्चर ॲण्ड सिविलाइजेशन ऑफ ऐन्शिएन्ट इण्डिया इन हिस्टोरिकल आउटलाइन (1965) राउट लैज ॲण्ड के गन, लंदन।
- कम्बाइन्ड मेथड्स इन इण्डोलोजी ॲण्ड अदर राइटिंग्स (2002) ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।
- द आक्सफर्ड इण्डिया कोशाम्बी (2009). सम्पादक—बी. चट्टोपाध्याय, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली।

मख़्दूम मोहियुद्दीन

आन्ध्र के क्रान्तिकारी कवि मख़्दूम मोहियुद्दीन—पूरा नाम : अबू सईद मोहम्मद मख़्दूम मोहियुद्दीन हुज़्री—का जन्म 4 फरवरी, 1908 के दिन तत्कालीन हैदराबाद रियासत के मेडक जिले के गाँव अंडोले में हुआ था। वे एक क्रान्तिकारी, उर्दू कवि के अलावा भारतीय साम्यवादी दल के एक सक्रिय कार्यकर्ता थे और हैदराबाद के निजाम के विरुद्ध 1946-47 में कम्युनिस्ट पार्टी के द्वारा चलाए गये सशस्त्र संघर्ष के एक अग्रणीय नायक भी। हैदराबाद रियासत में कम्युनिस्ट पार्टी और प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापक भी वे ही थे।

गाँव के स्कूल में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद मख़्दूम हैदराबाद शहर में आ गये और 1936 में उन्होंने उस्मानिया विश्वविद्यालय से उर्दू में परास्नातक की डिग्री प्राप्त की। इन्हीं दिनों वे भारत के और हैदराबाद रियासत के स्वाधीनता आन्दोलन में कूद पड़े। हैदराबाद के आखिरी निजाम उस्मान अली खान ने एक समय उन्हें जान से मार देने का आदेश निर्गत कर दिया था, पर वे भूमिगत लड़ाई लड़ते हुए, बचे रहे। 1944 में उनका पहला काव्य-संकलन 'सुर्ख सवेरा' और 1961 में दूसरा 'गुल-ए-तार' प्रकाशित हुआ। उनकी कविताओं का समग्र संकलन 'बिसात-ए-रक्स' 1969 में प्रकाशित हुआ और उसी वर्ष के साहित्य एकेडमी पुरस्कार से नवाजा गया। इन काव्य-संकलनों के अलावा उन्होंने रवीन्द्रनाथ टैगोर पर एक प्रबन्ध और 'होश के नाखून' नाम से एक नाटक भी लिखा। उनकी अनेक नज़्में और ग़ज़लें हिन्दी की कुछ फिल्मों में भी प्रयोग की गयीं। इनमें एक 'चमेली के मंडवे तले' और 'फिर छिड़ी रात, बात फूलों की' खूब लोकप्रिय हुई।

मख़्दूम के पिता का निधन तभी हो गया था, जब वे 6 वर्ष के थे। उनकी माँ ने दूसरा विवाह कर लिया और उनका लालन-पालन उनके मामा ने किया और उन्हें भली-भाँति शिक्षित होने की सुविधा दी। मख़्दूम का विवाह राबिया बेगम से हुआ और उनके तीन बच्चे हुए। एक बेटी ज़किया बेगम और दो बेटे—नुसरत मोहियुद्दीन और जफर मोहियुद्दीन। बड़ा बेटा जो स्टेट बैंक, हैदराबाद का मुलाजिम

रहा, साम्यवादी दल का सदस्य और उर्दू का कवि था। दूसरा बेटा हैदराबाद की एक कोयला खान कम्पनी में मुलाजिम है। 1964 में पार्टी में विभाजन के दौरान वे मूल पार्टी में ही रहे। 25 अगस्त, 1969 के दिन जब वे सी. पी. आई. की राष्ट्रीय परिषद् की बैठक में भाग लेने दिल्ली आये, हृदयाघात से उनका निधन हो गया।

4 और 5 फरवरी, 2008 में हैदराबाद में उनकी जन्मशती मनायी गयी, जिसमें हैदराबाद विश्वविद्यालय के उपकुलपति सैयद हसनैन, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय के कुलपति और कथाकार विभूतिनारायण राय तथा सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. पी. एम. भार्गव जैसे लोग उपस्थित थे।

4 मई, 2008 को मोन्ट्रियाल (कनाडा) में उनकी जन्मशती मनायी गयी जिसमें शहर की प्रसिद्ध गायिका हिता रघुनाथन ने उनकी कई कविताएँ गाकर सुनायीं—

आपकी याद आती रही रातभर
चाँदनी दिल दुखाती रही रातभर।
गाह जलती हुई, गाह बुझती हुई
शम्मा-ए-ग़म झिलमिलाती रही रातभर।
फिर सबा साया-ए-शाख़-ए गुल के तले
कोई किस्सा सुनाती रही रातभर।
कोई खुशबू बदलती रही पेरहन
कोई तस्वीर गाती रही रातभर।
जो न आया उसे कोई जंजीरेदर
हर सदा पर बुलाती रही रातभर।

दया वर्मा ने उनके जीवन और कार्य पर अपना आलेख पढ़ते हुए तेलंगाना के किसानों के सशस्त्र मुक्ति आंदोलन में उनकी भूमिका स्पष्ट की। उन्होंने बताया कि वे स्पेन के गृहयुद्ध में फ्रेंको की तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष करने वाले गणतंत्रवादियों का साथ देना चाहते थे, पर रोक दिए गये। 46-50 के तेलंगाना आन्दोलन में कम्युनिस्ट पार्टी ने निजाम की रियासत के तीन हजार गाँवों को निजाम के हथियारबन्द रज़ाकारों से मुक्त कर लिया, खुद मख़्दूम ने तेलंगाना के एक क्षेत्र में "पारिताला गणराज्य" का उद्घाटन किया। पर जनरल चौधरी के नेतृत्व में भारतीय सेना ने आन्दोलन को कुचल दिया। मख़्दूम ने बम्बई में शरण ली और अपनी प्रसिद्ध कविताएँ 'तेलांगाना' और 'ये जंग है जंगे आज़ादी' लिखीं। 52 के चुनावों में मख़्दूम आंध्र का विधान सभा चुनाव जीतकर उसके कम्युनिस्ट विधायकों के नेता चुने गये। अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वे कम्युनिस्ट पार्टी की मज़दूर यूनियन के कर्मठ नेता रहे।

ई. ॲम. ॲस. नम्बूदिरीपाद

प्रचलित नाम ई. ॲम. ॲस., पूरा नाम एलाम्कुलम मनक्कल शंकरन नम्बूदिरीपाद का जन्म मार्च 13, 1909 ई. को तत्कालीन अंग्रेज़ी राज्य के पेरिन्तलम तालुका (अब मल्लाथुरम् जिला) में हुआ था।

पिता परमेश्वरम् नम्बूदिरीपाद उच्च, ब्राह्मण जाति के जमींदार थे। अपने प्रारम्भिक जीवन में ही वे वी. टी. भट्टातिरिपाद व एम. आर. भट्टातिरिपाद के सम्पर्क में आ गए। वे नम्बूदिरीपाद ब्राह्मणों में प्रचलित रूढ़ियों तथा जाति प्रथा के विरुद्ध युवकों को संगठित करते थे, तो ई. ॲम. ॲस. भी इस संगठन में शामिल हो गए और वल्लुवनादु योगक्षेम सभा के सदस्य बन गए। इसी दौरान वे कांग्रेस के सदस्य बने और स्वतंत्रता आन्दोलन में कूद पड़े।

सन् 1934 ई. में 25 वर्ष की आयु में वे कांग्रेस के अंदर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनाने वाले प्रमुख नेताओं में थे। वे सन् 1934 ई. से सन् 1940 ई. तक कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के महासचिव रहे। सन् 1929 ई. में वे मद्रास विधान सभा के सदस्य चुने गए।

कांग्रेस समाजवादी पार्टी से सम्बन्धों तथा देश के मेहनतकशों के प्रति आत्मीयता के कारण वे देश के कम्युनिस्ट आन्दोलन से जुड़ गए। इस बीच वे कम्युनिस्ट साहित्य के गंभीर अध्ययन में लगे रहे और केरल में कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक बने। चूँकि प्रारम्भ में सी. पी. आई. एक प्रतिबंधित संगठन था, उन्हें कुछ समय भूमिगत भी रहना पड़ा।

सन् 1957 ई. में केरल विधान सभा चुनाव में नम्बूदिरीपाद के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी ने चुनाव जीता और नम्बूदिरीपाद दुनिया की पहली ऐसी कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार के प्रमुख बने जो जनता के वोट से सत्ता में आई थी। उनकी भारत की पहली गैर कांग्रेसी सरकार थी। नम्बूदिरीपाद की इस केरल सरकार ने इतने व्यापक भूमि व शिक्षा सुधार किए कि भारत भर के राज्य आज भी उन सुधारों को अपना आदर्श मानते हैं। सन् 1959 ई. में केन्द्र की नेहरू सरकार ने केरल की

नम्बूदिरीपाद सरकार को बर्खास्त कर दिया। कांग्रेस उस समय इसे केरल का उद्धार मानती थी और इसे लिबरेशन नाम से पुकारती थी। सन् 1960 ई. से सन् 1964 ई. तक और सन् 1970 ई. से सन् 1977 ई. तक ई. ॲम. ॲस. केरल विधान सभा में विपक्ष के नेता रहे। इस बीच उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक कार्य किया। उन्होंने अंग्रेजी तथा मलयालम में कई पुस्तकें लिखीं। चिंता प्रकाशन ने ई. ॲम. ॲस. संचिका नाम से उनकी सभी पुस्तकें प्रकाशित की हैं। उनकी 'केरल का इतिहास' नामक पुस्तक अपने प्रकार का अद्वितीय प्रयास है, जो बुद्धिजीवियों में बेहद लोकप्रिय है। वे पत्रकारिता के क्षेत्र में भी सक्रिय रहते थे, जिससे इस क्षेत्र में भी उनकी ख्याति रही।

सन् 1962 के भारत-चीन सीमा युद्ध के दौरान ई. ॲम. ॲस. ने भारत सरकार के सभी तर्क अक्षरशः सत्य मानने से इनकार कर दिए। उनका कहना था कि सीमा समस्या का निदान वार्ता से है, न कि युद्ध से। इसी विषय पर 1964 ई. में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी टूट गई। नम्बूदिरीपाद नई कम्युनिस्ट पार्टी, सी. पी. आई. (ॲम.) के साथ गए और बाद में उसके महासचिव (1977) भी चुने गए। ई. ॲम. ॲस., केसरी बालकृष्ण पिल्लई, जोजेफ मुन्दासरे, एम. पी. पाल और के. दामोदरन ने मिलकर केरल में प्रगतिशील मलयालम साहित्य की नींव रखी। उन्होंने एक साथ मिलकर 'जीवित साहित्य 'प्रस्थानम' संस्था बनाई। बाद में इसका नाम पुरोगम साहित्य प्रस्थानम हो गया। आगे चलकर ई. ॲम. ॲस. तथा केसरी में संस्थानम की दिशा पर मतभेद हो गए। ई. ॲम. ॲस. ने केसरी को 'पेटी-बुर्जुआ' बताया। कुछ समय बाद ई. ॲम. ॲस. ने अपनी राय बदली कि प्रगतिशील साहित्य व कला आन्दोलन अक्षरशः कम्युनिस्ट रास्ते पर नहीं चल सकता।

ई. ॲम. ॲस. का व्यक्तिगत जीवन अनुकरणीय स्तर का सादा जीवन था। वे आजीवन तिरुवन्तपुरम् में अपनी पार्टी द्वारा किराए पर लिये गये एक ही मकान में बेहद सादगी से रहते रहे। उनकी पत्नी अंथारजनम स्वयं ही घर का सारा काम करती थीं। उनके दो पुत्र व दो पुत्रियाँ थीं, जो बेहद सादगी से रहते थे। मार्च 19, सन् 1980 ई. के दिन उनका निधन हुआ।

विट्ठल महादेव तारकुंडे

❑ प्रशान्त भूषण

न्यायमूर्ति तारकुंडे के निधन के साथ भारत ने अपने नागरिक स्वतंत्रता आन्दोलन के पिता को खो दिया। वे 94 वर्ष की परिपक्व आयु में 21 मार्च, 2004 के दिन मरे। यद्यपि पिछले 1 साल से उनके गिरते स्वास्थ्य ने उन्हें अपने घर की चहारदीवारी तक सीमित कर दिया था, पर वे वास्तव में अन्तिम क्षण तक अपने प्रिय उद्देश्य—नागरिक स्वतंत्रताओं के लिए संघर्ष करते और लिखते रहे।

मैं पहली बार उनसे आपातृकाल के दौरान 1976 में मिला, जब नागरिक स्वतंत्रताओं पर पाबन्दी लगी हुई थी और सुप्रीम कोर्ट द्वारा बन्दी प्रत्यक्षीकरण याचिका पर विचार किया जा रहा था और उसे यह निर्णय करना था कि क्या राज्य द्वारा बंदी बनाये गये लोगों को अपनी गिरफ्तारी के खिलाफ न्यायालय आने का अधिकार आपातृकाल के दौरान भी है या नहीं। यह वह समय था, जब उच्चतम न्यायालय के पाँच में से चार जज इंदिरा गाँधी के इतने दबाव में थे कि उन्होंने माना कि आपातृकाल में लोगों के मूलाधिकार और नागरिक स्वतन्त्रताएँ छिन जाती हैं। ऐसे कठिन समय में न्यायमूर्ति तारकुण्डे ने जयप्रकाशजी की शुभकामना के साथ पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टी की स्थापना की। उस समय से अपनी मृत्युपर्यन्त उन्होंने असाधारण साहस और समर्पण के साथ पूरी ईमानदारी से इस देश में मानव-अधिकारों और नागरिक स्वाधीनताओं के लिए एक खतरों से भरा संघर्ष किया। इन अधिकारों पर हमले विभिन्न रूपों में और विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे थे—कश्मीर, पंजाब, उत्तरपूर्व में और क्रूर कानूनों टाडा, पोटा, सैन्यबलों को विशेष शक्तियाँ देने वाले कानूनों से हो रहे थे। उन्होंने जीवनभर लोगों के मानवाधिकार उल्लंघनों का विरोध किया। भले ही इस कारण उनके कई मित्र उनसे नाराज हुए हों। काश्मीर के लोगों के आत्मनिर्णय के और जनमत संग्रह के अधिकार के वे पहले बाहरी समर्थकों में से एकथे।

इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद भड़के सिख-विरोधी दंगों के दिनों में उन्होंने वकीलों के उस दल का नेतृत्व किया, जो इस नर-संहार को रोकने की कोशिश में

उसके प्रमुख केन्द्रों पर गया था। वे तब भी झुके नहीं, जब उनकी इस संबंध में लिखी पुस्तक पर प्रतिबंध लगाया गया तथा उन्हें गिरफ्तार करने की धमकी दी गयी।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके पारिवारिक संगठनों के द्वारा फैलाए जा रहे साम्प्रदायिक फासीवाद से वे बेहद दुखी थे। बावरी मस्जिद ढहाये जाने के दिनों में उन्होंने मुझसे कहा कि भाजपा और संघ फासीवादी ताकतें हैं। जो देश में नागरिक स्वतंत्रताओं को बिल्कुल नहीं सहेंगी। उन्होंने फासीवाद की मनोवैज्ञानिक जड़ों को समझने के लिए मुझे एरिक फ्राम की पुस्तक ''एस्केप फ्रॉम फ्रीडम'' पढ़ने के लिए कहा! उन दिनों वे अपने कुछ पुराने साथी बुद्धिजीवियों से खास तौर से निराश थे, जो भाजपा सरकार में शामिल हुए। यह तथ्य उनके लिए बड़ा कष्टप्रद था कि एक समय उन्होंने खुद अरुण शौरी को पी.यू. सी. एल. का महासचिव बनाया था। संघ परिवार की कार्यप्रणाली और उसके मनोविज्ञान की गहरी समझदारी के चलते, मुझे विश्वास है कि उन्होंने गुजरात में मुसलमानों के हत्याकांड की पूर्व कल्पना कर ली थी। भाजपा और संघ परिवार की बढ़ती हुई शक्ति और राज्य प्रायोजित साम्प्रदायिकता के प्रसार को और 'पोटा' के दुरुपयोग को देखते हुए अपने अंतिम दिनों वे देश में लोकतंत्र तथा मानव अधिकारों के भविष्य को लेकर गहराई से चिन्तित थे।

न्यायिक जिम्मेदारी कमेटी के स्थापना सदस्य के रूप में उन्होंने न्यायिक उत्तरदायित्व के लक्ष्य के लिए अन्त तक कार्य किया। उन्होंने जनहित मुकदमों का एक केन्द्र भी स्थापित किया ताकि उचित शोध के साथ इस तरह के मुकदमे ढंग से लड़े जा सकें। क्योंकि मैं कुछ वर्षों से इस केन्द्र में काम कर रहा था, पिछले दिनों मैंने केन्द्र की हालिया गतिविधियों की सूचना देते हुए उसके लिए एक छोटा-सा अनुदान माँगा। उन्होंने तत्काल बीस हजार का एक चेक भेजते हुए लिखा कि हालाँकि वे अपनी अस्वस्थता के कारण केन्द्र की बैठकों में नहीं आ पा रहे हैं, पर वे इसके कार्य से प्रसन्न हैं। उनका पत्र पाते ही मैंने उनसे जल्दी ही मिल आने का निश्चय किया, पर दुर्भाग्यवश अन्य व्यस्तताओं के कारण वह टलता गया। मैं नहीं जानता था कि वे ज्यादा बीमार और अस्पताल में हैं। मैं अपने को इस देरी के लिए कभी माफ नहीं कर पाऊँगा। मुझे विश्वास है, किसी दिन इस देश के सभी लोग मानेंगे कि इस एक व्यक्ति का उन पर कितना ऋण है।

× × ×

विट्ठल महादेव तारकुंडे का जन्म ग्राम सस्वाद, जिला पुणे, महाराष्ट्र में 3 जुलाई 1909 के दिन महादेव राजाराम तारकुण्डे नामक एक लोकप्रिय वकील और समाज सुधारक की दूसरी सन्तान के रूप में हुआ। उनके ब्राह्मण पिता ने अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष किया था। उन्होंने 1925 में पुणे से मैट्रिक की परीक्षा तत्कालीन बम्बई यूनिवर्सिटी से बम्बई प्रेजीडेन्सी में प्रथम स्थान प्राप्त करते हुए पास की। 1929 में फर्गुसन कॉलेज से बी. ए. करने के बाद उन्हें कानून पढ़ने के लिए लंदन भेज दिया गया, जहाँ 1931

में बैरिस्टर-एट-लॉ की उपाधि मिली। लन्दन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स में भी उन्होंने अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान और सामाजिक नृतत्व-विज्ञान के लेक्चर सुने। 1933 में वे भारत लौट आये और पुणे में वकालत करने लगे, जिसे उन्होंने मानवेन्द्र नाथ रॉय की रेडिकल ह्यूमेनिस्ट पार्टी की पूर्ण कालिक सदस्या के लिए 1941 में छोड़ दिया। स्वतंत्रता के बाद 1948 में वे बम्बई उच्च न्यायालय में फिर से वकालत करने लगे और सितम्बर 1957 में इसी न्यायालय के न्यायाधीश चुन लिये गये। 1969 में उन्होंने बम्बई हाईकोर्ट छोड़ दिया और 1977 तक सर्वोच्च न्यायालय में वकालत करते रहे।

1933 में उन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की सदस्यता ली थी पर 1939 को त्रिपुरा कांग्रेस में इसके सदस्यों द्वारा कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव में नेताजी सुभाष चन्द्र बोस के खिलाफ मत देने की घटना से नाराज होकर उन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी छोड़ दी और एम.एन. रॉय की पार्टी लीग ऑफ रेडिकल कांग्रेसमेन में आ गये। 1940 में द्वितीय विश्वयुद्ध में भाग लेने के सवाल पर रॉय और तारकुंडे ने अपने सभी साथियों के साथ इस संगठन से अलग होकर रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी बनाई। 1944 में वे इस पार्टी के महासचिव चुने गये और दिल्ली आ गये। पर 1948 में रॉय और तारकुंडे को लगा कि राजनीतिक पार्टियाँ जनता की स्वाधीनता के लक्ष्य में बाधक हैं और इसलिए उन्होंने इस पार्टी को विघटित कर दिया और तारकुंडे फिर से वकालत करने लगे। 1969 में उन्होंने इंडियन रेडिकल ह्यूमेनिस्ट एसोसिएशन बनाया और अप्रैल 1970 में 'रेडिकल ह्यूमेनिस्ट' पत्रिका शुरू की, ज्यादातर अपने ही आर्थिक स्रोतों से।

आपात्काल के दौरान उन्होंने जय प्रकाश नारायण के साथ काम किया और 'सिटीजन्स फॉर डेमोक्रेसी' तथा 'पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टी' का नेतृत्व किया। कश्मीर तथा उत्तर-पूर्व के लोगों के आत्मनिर्णय के आन्दोलनों के समर्थन और वहाँ भारतीय सेना के अत्याचारों का विरोध करने के कारण उनके विरोधियों ने उन्हें 'टेररिस्ट् डिफेंडर इन चीफ' का नाम दिया। 1978 में इंटरनेशनल ह्यूमेनिस्ट ऍण्ड ऍथिकल यूनियन' ने अपने लन्दन सम्मेलन में उन्हें 'अन्तरराष्ट्रीय मानववादी पुरस्कार' से सम्मानित किया। उनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं–

1. रेडिकल ह्यूमेनिज्म : द फिलासफी ऑफ फ्रीडम ऍण्ड डेमोक्रेसी
2. रिपोर्ट टु नेशन, : ऑपरेशन इन पंजाब
3. कम्युनिलिज्म ऍण्ड ह्यूमन राइट्स
4. थ्रू ह्यूमन आइज़
5. फॉर फ्रीडम
6. कश्मीर प्राब्लम : पॉसिबल सॉल्यूशन्स
7. ग्रेट ब्रिटेन ऍण्ड इंडिया
8. द डेन्जर अहेड : ॲन एनेलीसिस ऑफ कांग्रेस केपिटलिज्म अलाइन्मेन्ट

–सम्पादक

महाकवि श्री श्री

❑ डॉ. गुर्रमकोंडा नीरजा

भूतन्नि, यज्ञोपवीतन्नि / वैप्लव गीतान्नि नेनु।
स्मरिस्ते पद्यम्, अरिस्ते वाद्यम,
अनल वेदिकमुंदु अस्त्र नैवेद्यम।

[भूत हूँ, यज्ञोपवीत हूँ/ विप्लव गीत हूँ मैं/ स्मरण करो तो पद्य हूँ/ टेर लगाओ तो वाद्य हूँ/ अनल की वेदी के समक्ष/ अस्त्र नैवेद्य हूँ। (श्री श्री, 'आइ') (मैं), महाप्रस्थानम, पृ. 35।]

तेलुगु के प्रगतिशील कवि श्रीनिवास राव (श्री श्री) हिंदी के प्रगतिशील कवियों—शमशेर बहादुर सिंह, अज्ञेय, नागार्जुन और केदारनाथ अग्रवाल के समकालीन थे। उनका जन्म 2 जनवरी, 1910 को विशाखपट्टनम में हुआ। उनकी प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा विशाखपट्टनम में संपन्न हुई। 1925 में इंटर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उनकी शादी वेंकटरमणम्मा से हुई। उन्होंने 1931 में मद्रास विश्वविद्यालय से जीवविज्ञान में स्नातक की उपाधि पास की। वे 1935 में विशाखपट्टनम के मिसेज ए वी ऍस कॉलेज में डेमोंस्ट्रेटर नियुक्त हुए तथा 1938 में मद्रास से निकलने वाली पत्रिका 'आंध्रप्रभा' के उप-संपादक बने। वे दिल्ली आकाशवाणी में भी कुछ दिनों तक उद्घोषक के रूप में कार्यरत रहे। तत्पश्चात् सेना में भर्ती हुए। निजाम के यहाँ काम किया। 'आंध्रवाणी' पत्रिका आदि में विविध पदों पर काम किया। 1947 में मद्रास (चेन्नई) आ गए और अपने अंतिम समय तक वहीं रहे। कैंसर से पीड़ित श्री श्री का निधन 15 जून, 1983 को हुआ।

तेलुगु साहित्य जगत् में श्री श्री विलक्षण स्थान के अधिकारी हैं। 'श्री' शब्द के कोशगत अर्थ हैं—विष्णु की पत्नी, लक्ष्मी, संपत्ति, धन, विभूति, ऐश्वर्य, कीर्ति, यश, त्रिवर्ग, प्रभा, शोभा, चमक, माथे पर का एक गहना, कमला, सरस्वती आदि। लेकिन तेलुगु साहित्य जगत् में 'श्री श्री' विप्लव, दहकता अंगारा, शोले, कम्युनिज्म, सर्रियलिस्टिक कविता, एब्सर्डिटी, खूनी क्रांति आदि के प्रतीक हैं। स्वयं श्री श्री ने

अपनी कविता 'सामान्युनि कामना' (सामान्य की कामना) में कहा है—श्री का अर्थ लक्ष्मी भी है और विष भी, इसलिए श्री श्री देवत्व और असुरत्व दोनों का समावेश है। देव और असुर का यह समावेश उसे मनुष्य बनाता है—सामान्य मनुष्य। श्री श्री मानववादी कवि हैं। तेलुगु कविता के क्षेत्र में नई भावभूमि, नई संवेदना और नई काव्य रीति को लेकर आए। जिस तरह हिंदी में अज्ञेय ने परंपरागत काव्यधारा को नया मोड़ दिया, उसी तरह श्री श्री ने भी तेलुगु कविता को नई जमीन और नया मोड़ दिया। उन्होंने यह घोषणा की कि 1930 के पहले तेलुगु कविता ने मेरा नेतृत्व किया, लेकिन इसके बाद मैंने तेलुगु कविता का नेतृत्व किया है। ...यह शताब्दी मेरी है। तेलुगु कविता के इतिहास में श्री श्री मील के पत्थर हैं। श्री श्री ने परंपरागत काव्यभाषा को तोड़ा और स्पष्ट किया कि 'कविता में वे किसी की उपेक्षा नहीं चाहते क्योंकि जीवन के साथ बनते संबंध ही मनुष्य की ताकत होते हैं।' (प्रो. दिलीप सिंह, प्रस्तावना, युगचेता, श्री श्री (काव्य-संग्रह), अनु. डॉ. ॲम. रंगय्या, पृ. 8)। यह कथन उनकी प्रसिद्ध कविता 'ऋक्कुलु' (ऋचाएँ) के द्वारा स्पष्ट होता है—कुत्ते का पिल्ला, दियासलाई की तीली, साबुन की टिकिया/ हीनता की दृष्टि से न देखना किसी को भी/ कवितामय हैं ये सब भी (महाप्रस्थानम, पृ. 29)।

श्री श्री संवेदनशील कवि हैं। कवि से पहले वे मनुष्य हैं—संवेदनशील मनुष्य। इसीलिए वे अपनी कविता 'महासंकल्पम' में कहते हैं—मनुष्य ही मेरा संदेश है, मानव ही मेरा संगीत है। सामान्य मानव ही उनकी कविता का केन्द्र बिंदु है। भले ही आलोचकों ने श्रीश्री को हेतुवाद, पलायनवाद, नास्तिकवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद आदि के कटघरे में फिट करने की कोशिश की है लेकिन श्रीश्री को किसी एक निश्चित चौखटे में फिट करना संभव नहीं है। चूँकि उनकी कविता में प्रगति भी है और प्रयोग भी। संवेदना भी है और संगीत भी। प्रकृति और प्रेम भी। अध्यात्म और दर्शन भी है। विज्ञान के साथ-साथ मासूम बच्चों का बचपन भी है। हास्य-व्यंग्य भी है। कटु आलोचना भी है। बिंबात्मकता, प्रतीकार्थता और एब्सर्डिटी भी है। उनकी कविता में समकालीन जीवन का हर आयाम निहित है। साथ ही उनका अपना पक्ष है, अपना चिंतन है; अतः वे कहते हैं कि—अपने सब देखे-सुने को समझाने के लिए शब्दों की खोज में निकला तो वे असंख्य रूपों में मेरे अंतःकरण से फूट पड़े और श्मशान जैसे कोशों को पार कर, व्याकरण की जंजीरों को तोड़कर, छंदों के सर्प आलिंगन को छोड़कर तीव्र गति से दौड़ पड़े (महाप्रस्थानम, पृ. 68)।

बचपन से ही श्री श्री कविता की ओर उन्मुख थे। विद्यार्थी जीवन में ही उन्होंने प्रकृतिपरक कविताओं का सृजन किया, जिनका संग्रह 'प्रभवा' नाम से 1928 में कविता समिति, वैजाग से प्रकाशित हुआ। श्री श्री की कविताएँ (मौलिक एवं अनुवाद) ही नहीं उनके निबंध, कहानियाँ, रेडियो नाटक, संपादकीय, आलेख, पत्र साहित्य आदि भी जनता को उद्वेलित करते रहे हैं। उनकी रचनाएँ 'वारम वारम' (1946. (हफ्ता

हफ्ता, प्रतिमा बुक्स, एलुरू), 'संपंगि तोटा' 1947, (चंपा का बागीचा), प्रजा साहित्य परिषद्, तेनाली), 'महाप्रस्थानम' (1950, नलिनी कुमार, मछलीपट्टनम; 1952-1954, विशालांध्र पब्लिशिंग हाउस, विजयवाड़ा, 20 संस्करण); हिंदी अनुवाद—निर्मलानंद वात्स्यायन, 2011, तरिमेला, नागि रेड्डी मेमोरियल ट्रस्ट, विजयवाड़ा), 'अम्मा' (1952-1967, (माँ), अरुणरेखा पब्लिशर्स, नेल्लूर, सोशलिस्ट पब्लिशर्स, विजयवाड़ा) 'मेमे' 1954, (हम), त्रिलिंग पब्लिशर्स, विजयवाड़ा), 'मरो प्रपंचम' (1954, (दूसरा संसार), सारथी पब्लिकेशन्स, सिकंदराबाद), 'रेडियो नाटक' (1956, अरुणरेखा पब्लिकेशन्स, नेल्लूर), 'थ्री चीयर्स फोर मास' (1956, अभ्युदय पब्लिशर्स मद्रास), 'चरम रात्रि' (1957, गुप्ता ब्रदर्स, बैजाग), 'मानवुडिपाटा' (1958 (मानव का गीत), विशालांध्र पब्लिशर्स, विजयवाड़ा), सौदामिनी' (अंग्रेज़ी से अनूदित कविताएँ, अद्देपल्ली एंड को., राजमंड्री), 'गुरजाडा' (1959, मना सहिती, हैदराबाद), 'मूडु याबैलु' (1964, (तीन पचास), रेडियो नाटक, विशालांध्र पब्लिशर्स, विजयवाड़ा), 'खड्ग सृष्टि' (1966-1984, विशालांध्र पब्लिशर्स, विजयवाड़ा), अनंतम् (अनंत, आत्मकथात्मक उपन्यास) आदि उल्लेखनीय हैं। श्री श्री को 1972 में साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। 1975 में सर्वश्रेष्ठ गीतों के लिए नेशनल फिल्म अवार्ड और 1979 में राज्यलक्ष्मी अवार्ड से भी सम्मानित किया गया।

श्री श्री के बारे में बूदराजु राधाकृष्ण का यह कथन उल्लेखनीय है कि सहस्त्र वर्ष के तेलुगु इतिहास में कविता को इस प्रकार परिभाषित करके, कवित्वात्मक ढंग से उसका वर्णन करके, अद्भुत सृष्टि करने वाला कोई दूसरा कवि नहीं है। यही उन्हें साहित्य के शिखराग्र पर खड़ा कर देता है। इसी प्रकार तमिल रचनाकार ज्ञानकूतन की मान्यता है कि यदि श्री श्री जैसे कवि का जन्म तमिलनाडु में हुआ होता तो वे भी सहस्त्र वर्ष आगे रहते।

तेलुगु के सुप्रसिद्ध आलोचक और मनोविश्लेषणवादी रचनाकार गुडिपाटि वेंकट चलम ने 'महाप्रस्थान' के 'योग्यता पत्र' में कहा कि जब तक कवि अपने और संसार के बीच सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाता, तब तक उसके द्वारा किया जाने वाला भीतर और बाहर का युद्ध ही कविता है, इसलिए दिशाओं एवं देवों तथा अधिकारियों को हिलाकर प्रश्न करने वाले श्री श्री ने इस वृद्ध विश्व के लिए खून एवं आँसू को भिगोकर एक नया टॉनिक बना दिया है। दिल की धड़कन को शब्द रूप देना श्री श्री ही जानते हैं, बातों को तलवारों, बरछों एवं शोलों में बदल देना श्री श्री को ही मालूम है। जब उनके पद्य (गीत) पढ़ते हैं तो लगता है कि उनके हृदय से सीधे हमारे हृदयों में उत्साह तथा खून का संचार हो रहा है। (महाप्रस्थानम, हिंदी अनुवाद—निर्मलानंद वात्स्यायन, पृ.7)

श्री श्री को तेलुगु कविता के शिखर कृष्णशास्त्री से आगे ले जाने की चुनौती का सामना करना पड़ा। इस बारे में चलम ने कहा है—कृष्णशास्त्री ने अपनी व्यथा

को सभी लोगों में गुँजा दिया था तो श्री श्री ने सबकी व्यथा को स्वयं में गुँजा दिया अतः कृष्णशास्त्री की व्यथा विश्व के लिए थी और विश्व की समूची व्यथा श्री श्री की व्यथा थी (महाप्रस्थानम, हिंदी अनुवाद-निर्मलानंद वात्स्यायन, पृ. 8)।

श्री श्री अपनी कविता 'जयभेरी' में यह उद्घोष करते हैं कि—मैंने भी/ सृष्टि यजन में/ एक समिधा अर्पित की है।/ मैंने भी/ विश्व वृष्टि में/एक अश्रु बहा दिया है।/ मैंने भी/ भुवन घोष में/ अपना सुर मिला दिया है (श्री श्री, जयभेरी, 1933)।

श्री श्री की अपनी कविता 'जयभेरी' का फलक अत्यंत विशाल है। एक ओर वे क्रांति का आह्वान करते हैं तो दूसरी ओर अपनी एक कविता में बच्चों को उनकी बालसुलभ प्रवृत्ति के माध्यम से इस प्रकार संबोधित करते हैं—पाप, पुण्य, विश्वमार्ग/ कष्ट, सौख्य श्लेषार्थ/ ये सब न जानने वाले फूलो! पाँच-छह साल के नन्हे मुन्नो! बिजली चमके तो/ पानी बरसे तो/ आकाश पर इंद्रधनुष निकले तो/ उन्हें अपने लिए समझकर आनंदित होने वाले शिशुओ! (शैशव गीत, महाप्रस्थानम, पृ. 36)। वस्तुतः श्री श्री एक ऐसा संसार चाहते हैं जहाँ किसी भी प्रकार का सामाजिक, आर्थिक, सांप्रदायिक भेदभाव न हो। इसलिए वे एक कन्याभ्रूण के मुख से यह कहलवाते हैं—मैं अभी पैदा नहीं हुई : मेरी प्रार्थना सुनिए/ हवाधूल भयंकर रोग/ बालदोष जहाँ न हो/ गिद्ध उल्लू जहाँ न पहुँचें/ चमगादड़ जहाँ मुझे न डराएँ/ ऐसा जीवन मुझे दो [श्री श्री, पुट्टिम पापा प्रार्थना (नवजात शिशु की प्रार्थना), खड्ग सृष्टि, पृ. 103]।

श्री श्री अपनी कविता 'शैशव गीत' के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि बच्चे ही संसार के भाग्यविधाता हैं, समस्त विश्व उन्हीं का है—आपका है, आप का ही है, समस्त विश्व।/ आप ही संसार के भाग्यविधाता हैं/ आपके हास से चमक उठेंगे/ आने वाले दिनों के विभा-प्रभात (शैशव गीत, पृ. 37)।

श्री श्री विज्ञान के विद्यार्थी थे अतः उनकी कविताओं में वैज्ञानिक प्रयुक्ति को भी देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ उनकी कविता 'विदूषकुनि आत्महत्या' (विदूषक की आत्महत्या) में वे कहते हैं—मोमबत्तियाँ बुझ गईं/क्लोरोफॉर्म सा अंधकार छा गया (खड्ग सृष्टि, पृ. 54)।

प्रायः अँधेरे की तुलना काले रंग से या कोलतार से, काजल से या काले बादलों से तो की जाती है लेकिन श्री श्री ने अंधकार की तुलना क्लोरोफॉर्म से की है। क्लोरोफॉर्म मनुष्य को मूर्छा की स्थिति में पहुँचा देता है। अँधेरे का प्रभाव भी वही है। इसलिए शायद श्री श्री ने अँधेरे के व्यक्तित्व को दर्शाने के लिए यह अभिनव प्रयोग किया है।

श्री श्री ने अपनी कुछ कविताओं में विज्ञान के प्रतीकों का भी प्रयोग किया है। हम सौर ऊर्जा, चुंबकीय शक्ति, गुरुत्वाकर्षण आदि किसी न किसी ऊर्जा का

प्रयोग करते रहते हैं। एक तरह से कहा जाए तो शक्ति मानव-जीवन को संचालित करती है। शायद इसलिए श्री श्री ने अपनी एक कविता में लेनिन के लिए आइंस्टीन के फार्मूले $E=MC^2$ का प्रयोग किया है यह दिखाने के लिए कि लेनिन सर्वशक्तिमान है।

श्री श्री ने तेलुगु साहित्य जगत् के साथ-साथ तेलुगु सिने जगत् को भी समृद्ध किया है। 'ना हृदयम लो निदुरिंचे चेली' (मेरे हृदय में बसी सखी, 'आराधना'), 'तेलुगुवीरा लेवारा' (तेलुगु वीर जागो' 'अल्लूरी सीतारामराजु'), 'हेलो हेलो ओ अम्माई' [हेलो हेलो ओ कुड़ी, 'इद्दरू मित्रुलु' (दो मित्र)] आदि आज भी तेलुगु सिने जगत् के क्लासिक्स हैं।

श्री श्री ने अपने आपको कविता के लिए अर्पित कर दिया था। उन्हीं के शब्दों में कहें तो–

मेरा गीत ही नैवेद्य-सा, हृदय-सा/अर्पित करता हूँ-/मेरे द्वारा बिखेरा हुआ रस युक्त/ कुसुम पराग/ ओहो! हे रसधुनि! मणिखनि! /जननी! हे कविता!/कविता! कविता! हे कविता (कविता! हे कविता!, महाप्रस्थानम, पृ, 70)।

अंत में यही कहा जा सकता है कि श्री श्री की रचनाओं में व्यष्टि और समष्टि का सामंजस्य है। इन रचनाओं में पग-पग पर विद्रोह, अनास्था, संघर्ष, आशा, ओज के साथ-साथ मानवीय जिजीविषा मुखरित है। श्री श्री की कविताएँ हिंदी पाठक को स्वतः ही निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, धूमिल, शमशेर बहादुर सिंह का स्मरण कराती हैं। 'महाप्रस्थानम' और 'जगन्नाथ रथ चक्रालु' (जगन्नाथ रथ चक्र) उनकी बहुचर्चित कालजयी कविताएँ हैं। नीचे उनके कतिपय अंश प्रस्तुत हैं–

> **एक नया जग/ एक नया जग/ एक नया जग बुला रहा।/ बढ़े चलो तुम/ विघ्न भेदकर/ आगे-आगे बढ़े चलो।/पद इक गाते/ गर्जन करते बढ़े चलो।/बढ़े चलो तुम/ सुना नहीं गया/ नवल जगत् का/ जल-प्रपात रव।/भरे रास्ते/ निज गरम खून का/ तर्पण करते बढ़े ।/.../जिनकी सड़ी अस्थियाँ/ढली उमरिया/ काम नहीं जो कर सकते/ सुस्त जनो! तुम मरो, मरो।/उष्ण रुधिर और/ बल ज्वलंत/ हे सैनिक वीरो! तुम आओ।/.../शिव समुद्र-से/न्याग्रा-से/ दौड़ो। दौड़ो। दौड़ो आगे।/ बढ़े चलो तुम/ विघ्न भेद कर।/ नवल जगत् का काँस नगाड़ा/...निर्विराम तजकर बजता है देखो।/ नागों के समान तुम/ व्याघ्रों के समान तुम/धनंजय-से बढ़े चलो।/दिखी नहीं क्या नवल जगत् के/ अग्नि-मुकुट की चमक-दमक?/ लाल ध्वजा की झकाझक और /होम-ज्वाल की धधक-भभक (श्री श्री, महाप्रस्थानम)।**
>
> **उड़ता यह लौह-बाज/ पकी यह अग्नि-फसल/ द्रोहों को मिटा देगी/दोषों को मिटा देगी/ स्वतंत्रता/ समता/ मातृभाव/ स्नेहभाव/ बुनियादें नवगृहों की/ जनता को शुभदायक हो/ शांति, शांति, क्रांति, शांति/ पल भर में दीप्त होगी।/सपना यह सच होगा/ स्वर्ग यह साकार होगा।/ पतित जनो!/ भ्रष्ट जनो!/ पीड़ा-सर्प-ग्रसित जनो!/ छले गए बंधुजनो!/ रोना मत! रोना मत!/ आ गए हैं। आ गए हैं! जगन्नाथ/ जगन्नाथ/ जगन्नाथ के रथ चक्र/ रथ के चक्र/ रथ के चक्र/ आओ/ आ जाओ। आ जाओ।/ यह दुनिया/ तुम्हारी है/ अपने इस राज्य को/ तुम्हें ही भोगना है (श्री श्री, जगन्नाथ रथ चक्र)।**

डॉ. राममनोहर लोहिया

❑ **मस्तराम कपूर**

डॉ. राममनोहर लोहिया ने लोक सभा में दिए गए अपने एक भाषण में अपने को **सफरमैना** कहा था। सफरमैना अर्थात् सैपर्स अंड माइनर्स जो आगे बढ़ती सेनाओं के लिए पहाड़ खोदकर सड़कें आदि बनाते हैं। इस सफरमैना की जीवन-यात्रा की कहानी जब भी लिखी जाएगी, अधूरी ही रहेगी। ओम प्रकाश दीपक ने एक असमाप्त जीवनी लिखकर इसका संकेत दिया था। इंदुमती केलकर ने बहुत अच्छी और विस्तृत जीवनी लिखकर अधूरेपन को काफी हद तक पूरा करने की कोशिश की और रजनीकांत वर्मा तथा ओंकार शरद ने भी अच्छे प्रयास किए लेकिन इन प्रयासों को अधूरा प्रयास ही कहना पड़ेगा। कारण यह कि लोहिया की संपूर्ण जीवनी लिखना यदि असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य ही है।

राममनोहर लोहिया का जन्म उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले में स्थित अकबरपुर नामक ग्राम में 23 मार्च, 1910 को हुआ था। उनके पिता का नाम था हीरालाल और माता का नाम था चंद्री। लोहिया अपने जन्म के संबंध में स्वयं निश्चिन्त नहीं थे। देसी प्रविष्टि को अंग्रेजी की तारीख में बदलने से हमेशा कुछ गलती की गुंजाइश रहती है। शायद इसीलिए लोहियाजी इस तिथि को पूरी तरह सही नहीं मानते थे। यह भी नहीं पता कि जन्म के समय उनकी जन्मकुंडली बनी थी या नहीं। राजा-सामंतों और उच्च कुल के धनी परिवारों में ही आमतौर पर जन्मकुंडली बनवाने का रिवाज था और बच्चे का जन्मदिन परिवार के बुजुर्गों की स्मृति से ही तय होता था। शादी के वक्त याद तिथि के आधार पर जन्मकुंडली जरूर बनाई जाती थी लेकिन लोहिया के जीवन में यह अवसर ही नहीं आया। बहरहाल, लोहियाजी ने 23 मार्च को अपना जन्मदिन मान लिया था। हालाँकि वे अपना जन्मदिन नहीं मनाते थे क्योंकि 23 मार्च को सरदार भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी हुई थी। डॉ. लोहिया का परिवार मिर्जापुर से आकर अकबरपुर में बसा था। लोहे का कारोबार होने के कारण परिवार के साथ लोहिया शब्द जुड़ गया था।

राममनोहर के दादा शिवनारायण के चार बेटे थे, जिनमें हीरालाल सबसे छोटे थे। लोहिया परिवार के कई पुरुषों की मौत असमय हो गई थी। इसलिए राममनोहर को किसी अज्ञात शाप से बचाने के लिए टोने के रूप में अधेले में किसी मेहतरानी अथवा मुसलमान स्त्री को बेच दिया गया था। दो-ढाई साल की अवस्था में लोहिया की माँ का देहान्त हो जाने पर राममनोहर के पालन-पोषण का भार उनकी दादी ने सँभाला, जो वास्तव में उनकी ताई थीं और जो उनके पिता अर्थात् अपने देवर को गोद लिया बेटा मानती थीं। बिना माँ के राममनोहर को पास-पड़ोस की सभी औरतें प्यार करती थीं। इनमें एक सुनारिन और सरजू नाइन का जिक्र आता है। सरजू नाइन का बेटा रामानंद, राममनोहर का पक्का दोस्त था। दादी माँ दोनों को साथ खिलाती-पिलाती थीं।

उनकी प्राथमिक शिक्षा अकबरपुर में टंडन पाठशाला में हुई। फिर पाँचवीं कक्षा में उन्होंने अकबरपुर के ही विश्वनाथ विद्यालय में प्रवेश किया। पढ़ाई में अच्छे और खेल-कूद के शौकीन लोहिया को बाँसुरी बजाने का शौक भी था। कहते हैं सरजू देई ने उनकी बाँसुरी कई दिनों तक सँभालकर रखी थी। शायद उन्होंने गाँव छोड़ते समय अपने सबसे प्यारे दोस्त रामानंद को अपनी सबसे प्यारी चीज भेंट में दी थी।

1927 में इंटर की परीक्षा पास करने के बाद उन्होंने कोलकाता के विद्यासागर महाविद्यालय में दाखिला लिया। उनके पिता कोलकाता में ही रहने लगे थे। लेकिन लोहिया मारवाड़ी छात्रावास में रहते थे। वहाँ वे कांग्रेस के अखिल भारतीय विद्यार्थी संगठन के सदस्य और कार्यकर्ता बने और 1928-29 के साइमन कमीशन बहिष्कार आंदोलन में उन्होंने एक जुलूस का नेतृत्व भी किया। उन्हीं दिनों कोलकाता में अखिल भारतीय विद्यार्थी संगठन का अधिवेशन हुआ, जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे और स्वागताध्यक्ष सुभाषचन्द्र बोस। जवाहरलाल नेहरू के साथ उनकी पहली मुलाकात यहीं पर हुई और जवाहरलाल नेहरू ने उनके मन पर जादू का-सा असर किया। 1929 में उन्होंने बी. ए. (आनर्स) अच्छी श्रेणी में पास किया। इसके बाद पिताजी की इच्छा के अनुसार एक-दो चेरिटेबल संस्थाओं से आर्थिक सहायता प्राप्त कर अध्ययन के लिए विदेश गए। राममनोहर अगस्त 1929 में इंग्लैंड पहुँचे लेकिन भारत को गुलाम बनाने वाले देश की संस्थाओं में उनका पढ़ने का मन नहीं था। इस दुविधा से उन्हें एक अंग्रेजी विद्वान् ने ही मुक्ति दिलाई। एक लायब्रेरी में उनसे मुलाकात हुई तो उन्होंने मशविरा दिया कि कुछ नया सीखने-पढ़ने का इरादा हो तो बर्लिन जाओ, वहाँ तुम्हें ताजा और विचारोत्तेजक वातावरण मिलेगा। उन्होंने जर्मनी के हम्बोल्ट विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र में पी-एच.डी. का दाखिला लिया। प्रबंध का शीर्षक था 'नमक कर-कानून और सत्याग्रह', मार्गदर्शक थे प्रो. बर्नर जोम्बार्ट जो अपने समय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री थे। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन और समाजवादी चिंतक शूमाखर इसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। जर्मन विश्वविद्यालय में शोधकार्य करने के लिए

उन्हें जर्मन भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना जरूरी था। उन्होंने तीन माह में ही जर्मन भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया। जर्मनी में लोहिया ने 1929 के अंतिम दिनों से लेकर 1933 के प्रारंभिक दिनों तक लगभग 3 साल अध्ययन किया। 20-22 साल की अवस्था का उनका यह छात्र-जीवन कई विचारधाराओं और आंदोलनों से प्रभावित हुआ। जब लोहिया जर्मनी पहुँचे तो वहाँ नाजी पार्टी का जोर था। आर्थिक मंदी और बेरोजगारी से परेशान जर्मन जनता हिटलर की अतिवादी नीतियों की ओर आकृष्ट हो रही थी। दूसरी ओर सोशल डेमोक्रेट पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी सक्रिय थीं। लोहिया ने राजनीतिक सभाओं और संगोष्ठियों में रुचि ली। वे सोशल डेमोक्रेट पार्टी की ओर अधिक आकर्षित थे, वे उसके सदस्य भी बने।

जर्मनी से लौटते हुए लोहियाजी जब मद्रास बंदरगाह पर पहुँचे तो वे खाली जेब थे। उनका सामान और पुस्तकें रास्ते में चोरी हो गई थीं। कोलकाता जाने के लिए उनके पास किराया भी नहीं था। हिंदू अखबार के दफ्तर में जाकर उन्होंने एक लेख अखबार के लिए लिखा और पारिश्रमिक के रूप में कुछ रुपये लेकर कोलकाता आ गए। (यह लेख जर्मनी में हिटलर और उसकी नाजी पार्टी के उभार पर था।) उनके पिता हीरालाल भी कोलकाता में थे। उन्होंने अपना कारोबार बंद कर दिया था तथा वे पूरी तरह कांग्रेस के काम में जुट गए थे। लोहिया ने भी निश्चय कर लिया था कि उनका कार्यक्षेत्र स्वाधीनता आंदोलन ही होगा। लेकिन कारोबार बंद हो जाने से जो आर्थिक कठिनाइयाँ सामने थीं, उन्हें देखते हुए उन्होंने काम ढूँढ़ने की कोशिश की। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के अध्यापक के पद के लिए प्रयत्न किया किंतु वहाँ किसी और की नियुक्ति हो गई। उद्योगपति रामेश्वर बिड़ला के सचिव के रूप में कुछ दिन बहुत अनिच्छा से काम किया लेकिन जल्दी ही उससे मुक्ति पा ली। फिर जमनालाल बजाज ने उन्हें बेटा मानकर अपने पास रखा और वही गाँधीजी से मिलाने ले गए। जमनालाल बजाज के यहाँ भी वह ज्यादा दिन नहीं रहे और कोलकाता वापस लौटकर विद्यार्थी जीवन के अपने साथियों के साथ सक्रिय राजनीति में प्रवेश के लिए प्रयत्न करने लगे। लोहिया के जीवन के ये दो-अढ़ाई वर्ष, जो उन्होंने विद्यार्थी जीवन के अपने मित्रों के साथ बिताए, काफी रोचक रहे होंगे। शहर की सड़कें नापना, कॉफी हाउस में मित्र-मंडली के साथ गपशप करना और भविष्य की योजनाओं के संबंध में सपने देखना, देश की स्थितियों पर युवा-भावुक मन से विचार-बहस करना आदि। उस समय की उनकी गतिविधियों की विस्तृत जानकारी फिलहाल किसी ने लिपिबद्ध नहीं की है। इन दिनों पिता-पुत्र की जो पारिवारिक स्थिति थी, उसके संबंध में इंदुमती केलकर ने लिखा है—''पिता-पुत्र सक्रिय राजनीति को अपना जीवन बना चुके थे। पिता अपने रिश्तेदारों के यहाँ रहते और पुत्र कभी किसी मित्र के पास, कभी किसी अन्य के पास। संयोग हो तो दो जून का खाना मयस्सर होता वरना एक समय की रोटी पर ही गुजारा कर लेते थे।''

उनके उन समय के मित्रों में बालकृष्ण गुप्त सबसे निकट थे। उनके छोटे भाई जगदीश गुप्त और विद्यासागर गुप्त उस समय काफी छोटे थे। इस परिवार के साथ लोहियाजी के संबंध अंत तक बने रहे। उनकी मौज-मस्ती और फक्कड़पन का एक प्रसंग इंदुमती केलकर ने अपनी पुस्तक में दिया है। ''उनके एक धनी मित्र ने उन्हें दो सौ रुपये दिए और नौकरी करने का मशवरा दिया। लोहिया ने उन रुपयों से कुछ तो अपने लिए एक टोपी, कुर्ता, धोती और चप्पल खरीदने में खर्च किए। सत्तर रुपयों की पुस्तक खरीदी। फिर दो सौ रुपये देने वाले मित्र के साथ एक होटल में भरपेट भोजन किया। लौटते हुए रास्ते में जितने भिखारी दिखाई दिए, सबको चवन्नी-अठन्नी देते हुए जब घर पहुँचे तो सिर्फ तीस रुपये बचे थे। दूसरे दिन एक क्रांतिकारी मित्र की पत्नी को घर आया देखकर शेष तीस रुपये उसकी हथेली पर रख दिए और जेब खाली हो गई।''

17 मई, 1954 को पटना में आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता में, कांग्रेस के भीतर समाजवादी रुझान वाले लोगों का सम्मेलन हुआ, जिसमें कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनाने का निर्णय लिया गया। उसी वर्ष 21 और 22 अक्तूबर को मुंबई में डॉ. संपूर्णानंद की अध्यक्षता में उसका स्थापना-सम्मेलन हुआ। पटना के सम्मेलन में पार्टी की नीति, कार्यक्रम और संविधान बनाने के लिए जो समिति गठित की गई थी उसमें डॉ. लोहिया को भी शामिल किया गया। आचार्य नरेंद्रदेव से उनका संबंध यहीं से शुरू हुआ। नासिक की जेल में बंद समाजवादी रुझान वाले युवकों में इस संबंध में विस्तृत विचार-विमर्श चला और उनके जेल से छूटने के बाद यह विचार तेजी से आगे बढ़ा। 1931 में बिहार में एक सोशलिस्ट ग्रुप बना था। 1933 में उड़ीसा में और 1934 में गुजरात में ग्रुप बने थे। बनारस और पंजाब में भी ग्रुप बने थे। मुंबई का ग्रुप जिसमें नासिक जेल के अधिकांश सोशलिस्ट थे, इस दिशा में सबसे अधिक सक्रिय था। आखिर पटना के सम्मेलन में सबका एकीकरण हुआ और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनी। इसके नेताओं में प्रमुख थे—आचार्च नरेंद्रदेव, जयप्रकाश नारायण, यूसुफ मेहरअली, अच्युत पटवर्धन, मीनू मसानी, कमलादेवी चट्टोपाध्याय, डॉ. संपूर्णानंद, ए. वी. मेनन, रामानंदन मिश्र, मुंशी अहमददीन, फरीदुलहक अंसारी, रामवृक्ष बेनीपुरी, शिवनाथ बनर्जी और स्वयं राममनोहर लोहिया।

कांग्रेस में जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस वाम धड़े के नेता माने जाते थे। सोशलिस्ट इन्हें अपना नेता मानते थे किंतु ये दोनों नेता कभी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं बने। लोहिया जवाहरलाल नेहरू से बहुत प्रभावित थे। गाँधी के बाद जिस नेता का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा, वे जवाहरलाल नेहरू ही थे। इस बात को वे स्वयं स्वीकार भी करते थे। 1947 के बाद जब उनका जवाहरलाल नेहरू से मोहभंग हुआ तो वे कहने लगे कि उन पर डेढ़ व्यक्तियों का प्रभाव रहा, एक गाँधी और आधा नेहरू।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना के बाद कोलकाता से कांग्रेस सोशलिस्ट नामक साप्ताहिक प्रकाशित होने लगा तो इसके संपादन की जिम्मेदारी डॉ. लोहिया पर आई। राजनीतिक पत्रकारिता लोहिया का मनपसंद काम बना और अपने अंत समय तक वे जन, चौखंभा तथा मैनकाइंड आदि पत्रों के माध्यम से इस काम में गहरी रुचि लेते रहे। कांग्रेस सोशलिस्ट पत्र के संपादन के दौरान उन्होंने एक बार गाँधीजी के ग्राम सुधार कार्यक्रम पर तीखी टिप्पणी लिखी और उसे गाँधीजी के पास इस प्रार्थना के साथ भेजा गया कि वे इस पर अपनी प्रतिक्रिया दें। गाँधीजी ने उत्तर दिया—''चूँकि आप में विरोधियों की मान्यताओं को समझने की सहिष्णुता नहीं है, मेरे उत्तर की इच्छा न रखें।'' लोहिया ने उन्हें फिर लिखा—''संभव है मेरे शब्दों में लापरवाही व्यक्त हुई हो परंतु मेरा आशय बुरा नहीं था। अतः कृपया उत्तर दें।'' इसके बाद गाँधीजी का स्नेहपूर्ण पत्र उन्हें मिला।

सन् 1936 में जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के अध्यक्ष बने तो उन्होंने लोहिया से कांग्रेस का विदेश विभाग सँभालने का आग्रह किया। कोलकाता का मौज-मस्ती का जीवन छोड़कर उन्हें इलाहाबाद जाना पड़ा और आनंद भवन में रहकर यह काम करना पड़ा। इस दौरान उन्होंने कांग्रेस के विदेश विभाग के लिए कई महत्त्वपूर्ण रपटें और दस्तावेज तैयार किए। युद्ध-विरोधी भाषण के लिए लोहिया को इलाहाबाद स्थित कांग्रेस के कार्यालय में 7 जून, 1940 को गिरफ्तार किया गया। उन पर भारत रक्षा कानून के तहत मुकदमा चला। उन्हें हथकड़ियों और बेड़ियों में रखा गया।

डॉ. लोहिया 8 अगस्त, 1942 से लेकर 20 मई, 1944 तक भूमिगत रहकर क्रांति का संचालन करते रहे। उनके भूमिगत जीवन का अधिकांश समय मुंबई और कोलकाता में बीता, जहाँ पुलिस की नजर से बचना अपेक्षाकृत आसान था। यहीं से उन्होंने भूमिगत कांग्रेस रेडियो का संचालन किया। वैसे कांग्रेस रेडियो के मुख्य कर्ताधर्ता थे विट्ठलदास खाकर (बाबू भाई) नाम के 20 साल के एक नौजवान व्यवसायी, जो इससे पूर्व कभी कांग्रेस के कार्यकर्ता नहीं रहे थे। उनकी प्रमुख सहायक थी 22 वर्षीया उषा मेहता जो रेडियो के संचालन की सभी अवस्थाओं में विट्ठलदास खाकर का दाहिना हाथ थी। चंद्रकांत झवेरी (अवस्था 23 साल) और विट्ठल झवेरी (अवस्था 24 साल) भी इस दल के साथ जुड़े थे। कांग्रेस रेडियो के तकनीकी पहलू का जिम्मा एक छापाखाने वाले ने लिया था, जिसके विट्ठलदास के साथ व्यावसायिक संबंध थे। रेडियो प्रसारण की औपचारिक घोषणा 3 सितंबर, 1942 को 71-78 मीटर बैंड पर भारत के किसी अज्ञात स्थान से हुई। यह प्रसारण 11 नवंबर, 1942 तक चला। बीच में 15-17 अक्तूबर को दो दिन बंद रहा। जब यह रेडियो पकड़ा गया तो पुलिस कमिश्नर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि इस योजना को सफल बनाने के संबंध में यह दल सीधे राममनोहर लोहिया के आगे जवाबदेह था। उन्हीं से आवश्यक धन भी मिलता था। मुंबई और कोलकाता से प्रसारित अधिकतर वक्तव्य लोहिया के लिखे

होते थे। अपने वक्तव्यों में लोहिया ने संसार के स्वतंत्रता प्रेमी राष्ट्रों का लगातार आह्वान किया कि वे भारतीय स्वतंत्रता संग्राम को अपना भरसक समर्थन दें।

अगस्त के अंत में वाइसराय ने प्रधानमंत्री चर्चिल को लिखे पत्र में साफ तस्वीर देते हुए लिखा—''मैं ऐसी स्थिति का सामना कर रहा हूँ, जिसे 1857 के बाद का सबसे गंभीर विद्रोह कहा जा सकता है और जिसकी गंभीरता एवं व्यापकता को हमने अब तक सैनिक सुरक्षा के कारणों से दुनिया से छिपाए रखा था। ग्रामीण क्षेत्र के बड़े भागों में सामूहिक हिंसा का दौर है और मुझे लगता है कि सितंबर में युद्ध-प्रयासों की व्यापक तोड़फोड़ की नई कोशिश होगी। अगर हम स्थिति पर काबू न कर सके तो मित्र राष्ट्रों के भावी सैनिक अड्डे और चीन को जाने वाली अमरीकी मदद के मार्ग को स्थायी नुकसान पहुँचेगा।''

अगस्त क्रांति के नाम से जाने जाने वाले इस महान् आंदोलन में कुल 60, 229 व्यक्ति गिरफ्तार हुए। 18,000 भारत रक्षा कानून के अंतर्गत नजरबंद हुए, 940 व्यक्ति पुलिस-सेना की गोलियों से मरे और 1,630 जख्मी हुए। 44 व्यक्तियों को फाँसी की सजाएँ दी गईं। इस महान् आन्दोलन के संचालन में डॉ. राममनोहर लोहिया की भूमिका का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

लोहिया के लोकसभा में प्रवेश पर एक अंग्रेजी अखबार ने टिप्पणी की कि ''चीनी मिट्टी के बर्तनों की दुकान में साँड़ घुस आया।'' एक और अखबार ने लिखा कि ''सड़क का ऊधमी मुस्टंडा नाज-नखरे वाले दीवानखाने में जा पहुँचा।'' अब तक लोक सभा में सब भली-भली बातें होती थीं। कोई सरकार की तीखी आलोचना नहीं करता था, कोई गुस्से का इजहार नहीं करता था। लोकसभा आज्ञाकारी बालकों की क्लास की तरह चलती थी। 12-13 वर्षों में नेहरू सरकार के खिलाफ एक बार भी अविश्वास प्रस्ताव नहीं रखा गया। लोहिया के लोक सभा में प्रवेश के बाद पहली बार अविश्वास प्रस्ताव रखा गया। इसे आचार्य कृपलाने ने रखा था। समाचारपत्रों ने मजाक उड़ाया कि भारी बहुमत वाली नेहरू सरकार के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव का क्या मतलब? लेकिन जब लोहिया ने अपना पहला भाषण लोकसभा में दिया (जो करीब आठ घंटे चला) तो सारा माहौल बदल गया।

लोहिया ने कहा, ''सबसे पहला आरोप मैं इस सरकार के खिलाफ यह लगाना चाहता हूँ कि यह अज्ञान, परिणामहीन लफ्फाजी तथा शब्द-जोश के ऊपर अपना कामकाज चला रही है।'' फिर उन्होंने भारत की गरीबी के आँकड़े देते हुए कहा, ''हमारे देश में 60 सैकड़ा कुटुंब 25 रुपये महीना पर गुजारा करते हैं, यानी 27 करोड़ आदमी तीन आने रोज के खर्च पर जिंदगी निर्वाह करते हैं। जबकि प्रधानमंत्री के कुत्ते पर तीन रुपया रोज खर्च होता है। जो सरकार में सबसे बड़ा आदमी है, प्रधानमंत्री उस पर पच्चीस-तीस हजार रुपये रोज खर्च होते हैं। ...मेरा प्रधानमंत्री से कोई निजी द्वेष नहीं है। मैं माफ कर देता। लेकिन पचास लाख बड़े लोगों ने

उनकी नकल करते हुए आज हिन्दुस्तान को बर्बाद कर दिया है। पचास लाख बड़े लोग डेढ़ खरब रुपये की राष्ट्रीय आमदनी में से 50 अरब रुपये हजम कर लेते हैं और 42 करोड़ लोगों के लिए कुल सौ अरब रुपये बचते हैं। इस सबब से पूँजीकरण नहीं हो पाता।''

लोहिया ने नेहरू सरकार को जाति-परस्ती और कुनबा-परस्ती की सरकार कहा और इस प्रसंग में नेहरू के रिश्तेदार उस सेनापति का नाम लिया जिसे उर्वसीयम में अफसर बनाकर भेजा गया और जिसने चीनी हमले से पहले बोमडीला खाली कर दिया तथा दिल्ली भाग आया।

डॉ. लोहिया द्वारा लोक सभा में दिए गए भाषणों में उनके अनेक उत्तेजक विचार बिखरे पड़े हैं। इसकी कुछ बानगी नीचे प्रस्तुत है।

इस सरकार के दिमाग में समाज का जो पुनर्निर्माण का सिद्धांत रहा है, उसको एक शब्द में कहता हूँ। यह बधिया किया हुआ खस्सी मार्क्सवाद है। मार्क्सवाद में क्रांति की आग थी। वह नहीं कहता था कि मशीन लगाओ उद्योगीकरण करो। लेकिन वर्तमान सरकार ने मार्क्सवाद को बधिया बनाकर उसकी आग को बुझाकर खाली रास्ता अपनाया कि कारखाने लगा लो, उद्योगीकरण कर लो, हिंदुस्तान में क्रांति हो जाएगी। ...उद्योगीकरण भी नहीं हुआ। क्योंकि जब तक आप हिंदुस्तान में भाषा, जाति, भुखमरी, अकाल, गैरबराबरी वगैरह के सवाल अलग-अलग हल करने की कोशिश करेंगे, तब तक किसी भी तरह का उद्योगीकरण नहीं हो सकता।

हिन्दुस्तान की सामान्य जनता, मामूली लोग अपने में भरोसा करना शुरू करें कि कल तक जो अंग्रेजी राज था, वह पाजी बन गया तो उसे खत्म किया। आज कांग्रेसी सरकार है, वह पाजी बन गई, उसे खत्म करेंगे। कल मान लें कम्युनिस्ट सरकार बनेगी, वह पाजी हो जाए तो उसे खत्म करेंगे। परसों सोशलिस्ट सरकार बनेगी। मान लो वह पाजी बने तो उसे भी खत्म करेंगे। जिस तरह तवे के ऊपर रोटी उलटते-पलटते सेंक लेते हैं, उसी तरह से हिन्दुस्तान की सरकार को उलटते-पलटते ईमानदार बनाकर छोड़ेंगे। यह भरोसा किसी तरह हिंदुस्तान की जनता में आ जाए तो फिर रंग आ जाएगा अपनी राजनीति में।

मैं पूरे समाज से कहना चाहता हूँ कि एक व्यापक दृष्टि रखे। हमारी 48 करोड़ की आबादी है। उसमें 7-8 करोड़ हरिजन हैं। सब पिछड़े मिलाकर 43 करोड़ हैं। जहाँ तक औरतों का संबंध है, मैं सब औरतों को पिछड़ा मानता हूँ, चाहे वे किसी भी जाति की हों। अब रह जाते हैं ऊँची जाति के गरीब लोग। वे करीब साढ़े चार करोड़ हैं और 50 लाख सचमुच बड़े लोग, जो ज्यादातर ऊँची जाति वाले हैं। इन साढ़े चार करोड़ ऊँची जात के गरीबों का मुँह अपनी जात के बड़ों से मोड़कर 43 करोड़ पिछड़ों की ओर लगाना होगा और 43 करोड़ पिछड़ों तथा साढ़े चार करोड़ ऊँची जाति के गरीब लोगों की राजकीय दोस्ती की खिचड़ी पकेगी, तब उसमें वह

बारूद पैदा होगा, जो 50 लाख बड़े लोगों की अय्याशी को जलाकर राख कर देगा और नए हिन्दुस्तान का निर्माण होगा।

डॉ. लोहिया को जब प्रसोपा से निकाला गया तो उनके विरोधियों ने सोचा था कि अब उनकी राजनीतिक मृत्यु हो जाएगी क्योंकि उनके साथ इने-गिने लोग ही रहेंगे। उत्तर प्रदेश को छोड़कर शायद किसी भी अन्य प्रदेश में उनके समर्थकों की संख्या कोई खास नहीं थी। समाजवादी आंदोलन के लगभग सभी बड़े नेता उनका साथ छोड़ गए थे और वे अकेले पड़ गए थे। मुंबई में, जिसे समाजवादी आंदोलन का उस समय गढ़ माना जाता था, मधु लिमये, मृणाल गोरे, केशव गोरे आदि एक-दो नेताओं को छोड़कर कोई उनके साथ नहीं था।

पर लगभग 10 वर्षों में डॉ. लोहिया ने न केवल समाजवादी आंदोलन का कायांतरण कर दिया बल्कि भारतीय राजनीति के स्वरूप को भी बदल दिया। जेल, फावड़ा और वोट तीनों लोकतांत्रिक हथियारों का इस्तेमाल करते हुए संसदीय मंच का उपयोग करते हुए उन्होंने प्रचार-माध्यमों तथा उच्चवर्गीय मध्यवर्ग के प्रतिकूल रवैये के बावजूद अपनी पार्टी को शक्तिशाली और क्रांतिकारी पार्टी बना दिया। यह कोई मामूली उपलब्धि नहीं थी। किंतु लोहिया इतने से संतुष्ट नहीं थे। वे चाहते थे कि कांग्रेस पार्टी, जो एक विशाल चट्टान की तरह भारतीय राजनीति पर छाई थी, जिसके कारण भारतीय राजनीति के उर्वर तत्त्व सूखते जा रहे थे, सत्ता से विस्थापित हो। शायद उन्हें लग रहा था कि नव स्वतंत्र एशियाई-अफ्रीकी देशों की सामंतवादी, वंशवादी और जातिवादी प्रवृत्तियों के चलते भारत एक पार्टी की तानाशाही की ओर बढ़ेगा। शायद गाँधीजी को भी इस बात का डर रहा होगा जिसकी वजह से गाँधीजी ने अंतिम दिन में कांग्रेस की बागडोर समाजवादियों के हाथ में देने की कोशिश की और जब इसमें सफल नहीं हुए तो कांग्रेस को विघटित कर लोकसेवक संघ में इसे परिवर्तित करने का विचार रखा।

जब 1967 के चौथे आम चुनाव नजदीक आए, तो उन्होंने कांग्रेस के विरुद्ध सभी विपक्षी पार्टियों से मिलकर चुनाव लड़ने की रणनीति बनाई। इस रणनीति को सैद्धान्तिक पुट देने के लिए संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी का अप्रैल 1966 में कोटा में सम्मेलन हुआ। इसमें गैर-कांग्रेसवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया।

कोटा सम्मेलन की यह रणनीति इतिहास को नई दिशा देने वाली थी। इस रणनीति के अनुसार 1967 के चुनाव लड़े गए, जिनमें कांग्रेस का कई राज्यों में पत्ता साफ हो गया और केन्द्र में भी उसकी शक्ति क्षीण हो गई। अब तक समाजवादी सत्ता को एक अनिवार्य बुराई मानकर उससे परहेज करते रहे थे, चाहे बीस के दशक में स्वराजवादियों को समर्थन देने की बात हो या तीस के दशक में कांग्रेस-मंत्रिमंडलों में अथवा 1946 में अंतरिम सरकार में शामिल होने की बात हो। डॉ. लोहिया ने समाजवादियों में सत्ता को जनहित का हथियार मानकर उस पर कब्जा करने और

लोक सभा, विधान सभा आदि को जन-संघर्ष के मंच के रूप में इस्तेमाल करने की इच्छा जगाई। दुर्भाग्य से डॉ. लोहिया का इन्हीं दिनों निधन हो गया और इस रणनीति के फलस्वरूप बनी संविद (संयुक्त विधायक दल) सरकारों का सही मार्गदर्शन करने वाला कोई नेता नहीं रहा। सत्ता के मद से ये सरकारें बौरा गईं और एक प्रयोग असफल हो गया।

डॉ. रमा मित्रा ने लोहिया के आखिरी दिनों की मनःस्थिति का बहुत हृदयग्राही वर्णन 'जन' के मार्च-अप्रैल 1968 के विशेषांक में किया है। जब उनके निर्वाचन क्षेत्र से उनके चुनाव-परिणाम की खबरें आ रही थीं और हार-जीत के बीच बहुत मामूली दूरी बताई जा रही थी, तो खाना खाते हुए उन्होंने रमा की तरफ देखा और बोले, ''मेरे हारने से तुम्हें बहुत दुःख होगा। होगा न?'' रमा ने लिखा कि उस वक्त भी जब हार-जीत के बीच लगभग फरक नहीं था, वे अपने बारे में नहीं, दूसरों की बाबत सोच रहे थे। वे केन्द्र में भी गैर-कांग्रेसवाद का प्रयोग करना चाहते थे और इसकी शुरुआत राष्ट्रपति के चुनाव से करना चाहते थे। संविद सरकारों को छह महीने के अंदर-अंदर क्या काम करने चाहिए, इसका मसौदा वे भोपाल में होने वाली बैठक के लिए तैयार करने लगे, जैसे साढ़े छह एकड़ भूमि के लगान की समाप्ति आदि। वह रात उन्होंने गंगा में नौकाविहार करते हुए बिताई। मणिकर्णिका घाट पर (जहाँ रोज चिता जलती थी) उन्होंने नाव को रोका और बड़ी देर सोचते रहे। फिर बोले, ''मृत देह को लेकर इतना झमेला क्यों किया जाता है।'' चौधरी चरणसिंह के संयुक्त विधायक दल में शामिल होने की खबर ने उन्हें खुश कर दिया। उन्हें उम्मीद थी कि पिछड़े वर्ग के नेता द्वारा जमीन का लगान हटाने और हिंदी में कामकाज शुरू करने से बड़ा बदलाव आएगा।

डॉक्टरों ने कहा था कि उनकी पौरुष ग्रंथि का ऑपरेशन जरूरी है, दवाइयों-इंजेक्शनों से काम नहीं चलेगा। जब डॉक्टर ने सलाह दी कि ऑपरेशन ही रास्ता है तो उन्हें ऑपरेशन कराने की जल्दी पड़ी और वे बेलिंगडन (अब राममनोहर लोहिया) अस्पताल में भरती हो गए। 28 सितंबर, 1967 को ये अस्पताल में दाखिल हुए। 30 सितंबर को ऑपरेशन हुआ और 11 अक्तूबर मध्यरात्रि के थोड़ा बाद उनकी मृत्यु हो गई। रमा मित्रा ने लिखा, ''अपनी संक्षिप्त बीमारी के दौरान जब वे मौत से जूझ रहे थे, मैंने देखा, उनके दिमाग पर दो बोझ थे। इनमें अव्वल देश की हालत थी। बार-बार भयानक पीड़ा और कराह में वे लगान के खात्मे, हिन्दू-मुस्लिम एकता, गरीब किसानों की दुर्दशा, भाषा और अन्य मामलों पर बोलने लगते थे।

उनकी मृत्यु के बाद कई तरह के विवाद खड़े हुए। कहा गया था कि उनका ऑपरेशन अनाड़ी डॉक्टरों ने किया। ऑपरेशन के बाद जो देखभाल और उपचार होना चाहिए था, वह नहीं हुआ। अस्पताल में ठीक दवाइयाँ नहीं थीं। औजारों को स्टरलाइज नहीं किया गया था। किसी ने इसके पीछे राजनीतिक साजिश भी देखी।

डॉ. लोहिया को उनके कई मित्रों ने सलाह दी थी कि ऑपरेशन वेलिंगटन अस्पताल में न कराएँ। कुछ लोग मुंबई के किसी अच्छे अस्पताल में कराने की सलाह दे रहे थे। कुछ दिनों में डॉ. लोहिया को जर्मनी जाना था। मार्टिन लूथर की साढ़े चार सौवीं जयंती के एक समारोह में उन्हें आमंत्रित किया गया था। मित्रों का कहना था कि वहीं ऑपरेशन कराना अच्छा होगा। लेकिन डॉ लोहिया ने किसी की सलाह नहीं मानी। वे मित्रों और अपने साथियों को बताए बिना वेलिंगडन में भरती हो गए। वे आम आदमी के अस्पताल में ही जाना चाहते थे। मंत्रियों, नेताओं और अन्य बड़े लोगों के लिए पाँचसितारा अस्पतालों की व्यवस्था के वे कटु आलोचक थे। खास और आम लोगों की शिक्षा-स्वास्थ्य व्यवस्था आदि में जो भेद सरकारें करती जा रही थीं, उनके वे सख्त खिलाफ थे।

जब तक वे अस्पताल में रहे, अस्पताल से बाहर के लॉन में उनके चाहने वालों की भीड़ जुटी रही। ठेलेवाले, रिक्शावाले, ड्राइवर, होटल के बैरों से लेकर साहित्यकार, पत्रकार, राजनेता, मंत्री तक सब लॉन में खड़े रहकर या बैठकर लोहिया के स्वास्थ्य में सुधार होने की खबर की प्रतीक्षा करते। जो भी डॉक्टर साहब को देखकर अस्पताल से बाहर निकलता, लोग उसके चेहरे पर नजरें गड़ाकर चेहरे के भावों को पढ़ने की कोशिश करते। मैं भी उस भीड़ में शामिल होता। एक कोने में खड़े होकर मैं भी अस्पताल से निकलने वालों के चेहरे देखता। डॉ. लोहिया से कभी प्रत्यक्ष न मिल पाने का दुःख मन को सालता रहा। अस्पताल के अंदर जाकर उन्हें देख आने की हिम्मत नहीं होती। अंतिम दिन यानी 11 अक्टूबर की शाम को जब मैंने मधु लिमये को अस्पताल से बाहर निकलते देखा तो मैंने अनुमान लगाया कि कुछ अनिष्ट होने वाला है। मधु लिमये जीप में बैठकर बड़ी तेजी से उसे ड्राइव करते हुए अस्पताल से बाहर निकल गए। मेरे निकट ही हिंदी लेखक श्रीकांत वर्मा खड़े अपने आँसू पोंछ रहे थे। मैं घर आया। बच्चे घर पर नहीं थे, पत्नी रसोई में थी। अपने को अकेला पाकर मेरे सब्र का बाँध टूट गया। पत्नी ने मुझे रोते हुए देखा तो घबराकर पूछा, ''क्या हुआ?'' मेरे मुँह से निकला, ''अब मैं डॉ. लोहिया से कभी नहीं मिल पाऊँगा।'' मुझे याद नहीं पड़ता कि इससे पहले मैं किसी की मृत्यु पर रोया था।

डॉ. राममनोहर लोहिया भारतीय राजनीति के क्षितिज पर धूमकेतु की तरह प्रकट हुए। सदियों से व्याकुल और भटकती हुई भरतीय आत्मा जलते हुए प्रकाश-पिंड के रूप में प्रकट हुई और देखते ही देखते नजरों से ओझल हो गई। उस प्रकाश-पिंड को उपद्रव और अराजकता लाने वाले उल्कापात के रूप में किसी ने भयभीत होकर देखा, तो किसी ने उसे नई राजनीति, नई दुनिया और नई सभ्यता के मसीहा के रूप में। और लोग उसके पीछे-पीछे चलने लगे। समाज के स्थापित वर्गों तथा शासकों से मिली घोर उपेक्षा तथा बदनामी का सलीब कंधों पर उठाए हुए यह मसीहा सर्जनात्मक

जिद के साथ चट्टानों से टकराने और कुछ नया गढ़ने के काम में लगा रहा। ध्वंस और निर्माण की शक्तियों को जगाने के उद्देश्य से मुर्दा कौम में प्राण फूँकने के लिए अघोरी साधु की तरह श्मशान-साधना, यह है डॉ. लोहिया के जीवन का समाहार।

उनकी जीवनीकार श्रीमती इंदुमति केलकर ने, जिन्होंने उन्हें बहुत निकट से देखा और समझने की कोशिश की, उनका शब्द-चित्र इन शब्दों में चित्रित किया है—"साँवली, नाटी-सी पहलवानी साँचे में ढली मूर्ति, विशाल माथा, चश्मे के शीशे में चमकने वाली तीखी बेधने वाली नजर, आत्मविश्वास की दृढ़ता और गहराई का संकेत देने वाली ठोड़ी, होठों के किनारों से छलकती शरारत भरी नटखट हँसी, दिलदार खुली तबीयत, उत्फुल्ल मानसिकता आदि प्रमुख विशेषताएँ थीं, डॉ. लोहिया के व्यक्तित्व की।"

भारतीय जीवन में दो प्रकार की संस्कृतियों का टकराव हमेशा बना रहा। एक को हम विष्णु-संस्कृति कह सकते हैं जिसे खाते-पीते वैभवशाली और शासक वर्गों की संस्कृति कहा जाता है। इस संस्कृति की विशेषताएँ हैं—लक्ष्मी की पूजा अर्थात् धन का लोभ-मोह और उससे प्राप्त सुख-सुविधाओं का एकांत भोग, अपने किसी वैकुंठ या क्षीरसागर में रहकर, जहाँ कोई दीन-दुखी आस-पास न भटक सके। जिस कीचड़ में पैदा हुए उससे अलिप्त रहने की प्रवृत्ति जिनका प्रतीक कमल है। अपनी बात पर जोर-शोर के साथ प्रचारित करने के लिए प्रचार-माध्यमों पर कब्जा, जिसका प्रतीक शंख है। अपने विरोधियों को आतंकित करने या उन्हें समाप्त करने के लिए हिंसा के साधनों पर कब्जा जिसका प्रतीक गदा है। इसके विपरीत दूसरी संस्कृति शिव-संस्कृति है जिसकी विशेषताएँ हैं—औघड़ जीवन, शारीरिक बनाव-शृंगार और वस्त्रों के प्रति घोर उदासीनता, ऐसे स्थान में वास जहाँ संभ्रांतजन रहना पसंद न करें, ऐसे लोगों के साथ मेलजोल और दोस्ती जिनकी समीपता भी संभ्रांतजनों को असह्य हो, ऐसे कार्याकलाप जिन्हें देखकर संभ्रांतजन नाक-भौं सिकोड़ें लेकिन इन सबके बावजूद ऐसी करुणा कि प्राणी मात्र की रक्षा के लिए हलाहल पी जाएँ और मानव को तमाम बंधनों से मुक्त करने वाली कलाओं का अक्षय भंडार दे जाएँ। इसके साथ ही ऐसी शक्ति कि ज्ञान के चक्षु से संसार में आग लगा दें। डॉ. लोहिया इसी शिव-संस्कृति की उपज थे।

धनी और निर्धन, राजा और रंक, नेता और कार्यकर्ता, अफसर और चपरासी, रानी और धोबिन, ब्राह्मण और शूद्र, पुरुष और स्त्री, गोरे और काले, महल और झोंपड़ी, मानव-जाति के इस जिद्दी और अड़ियल द्वैत से ऊपर उठकर सबके प्रति सम्यक् और समान दृष्टि रखने वाले संसार के चंद व्यक्तियों में लोहिया भी शामिल थे। उनकी इस विशेषता के उनके विरोधी भी कायल थे। उनका यह द्वैत-मुक्त व्यवहार केवल कथनी तक सीमित नहीं था बल्कि करनी में भी वे इस पर ठीक उतरते थे। वे इसके प्रति सावधान रहते थे कि उनके मुँह से छोटे से छोटे व्यक्ति के लिए भी

बेअदबी के शब्द न निकलें। बड़े लोगों तथा सिंहासन पर बैठे या वैभव में अकड़े लोगों के प्रति तो वे अक्सर कठोर शब्दों का इस्तेमाल भी करते थे (उनमें ढोंग, पाखंड देखने पर)। किंतु छोटे आदमी के लिए न वे इस तरह के शब्द इस्तेमाल करते थे और न किसी को करने देते थे। अपने निजी सेवक शोभन के प्रति उनका व्यवहार छोटे भाई की तरह था। वे उसे भाई कहकर ही बुलाते थे या नाम लेकर। कभी देर रात तक पढ़ना होता और बीच में चाय की तलब होती तो कहते, "शोभन, मैं देख रहा हूँ तुम्हें नींद आ रही है। तुम्हारी आँखें लाल हैं। तुम चाय पी लो और थोड़ी-सी बच जाए तो इधर भी भेज देना।"

एक बार लोहिया एक टैक्सी से जा रहे थे। टैक्सी ड्राइवर सरदार था। उसी समय वहाँ से इंदिरा गाँधी गुजर रही थीं। सुरक्षाकर्मियों ने टैक्सी ड्राइवर को रुकने के लिए कहा लेकिन लोहिया के कहने पर टैक्सी ड्राइवर नहीं रुका। पुलिसवालों ने उस टैक्सी ड्राइवर को थाने में बंद कर दिया। लोहिया को गुस्सा आया। उन्होंने संसद में सवाल उठाया और टैक्सीवाले की तुरंत रिहाई हुई। इस पर सरदार ड्राइवर लोहिया का आभार प्रकट करने आया तो लोहिया बोले, "फालतू बात मत करो। वह तो मेरा काम है।"

रिक्शा-ताँगेवाला, हाथी का पीलवान, ड्राइवर आदि साधारण लोगों के साथ बराबरी का रिश्ता स्थापित करने में वे कभी चूक नहीं करते थे। एक बार रविराय को उन्होंने इसलिए झाड़ दिया कि वह रिक्शेवाले को "तू" कहकर क्यों बोलता है। एक बार यात्रा के दौरान सड़क के किनारे बनी दुकान पर सब खाना खाने के लिए रुके तो सब साथियों के साथ पीलवान को न देखकर (वे हाथी पर यात्रा कर रहे थे) बरस पड़े, बोले, "पहले पीलवान को बुलाओ।" फर्रुखाबाद के एक परिचित बूढ़े मुसलमान के बदन पर कम कपड़े देखकर वे जनेश्वर से बोले, "अटैची से मेरा स्वेटर ले आओ।" जनेश्वर पूरी बाजूवाला स्वेटर न लाकर आधी बाजूवाला स्वेटर ले आए। डॉक्टर साहब ने उन्हें झाड़ते हुए कहा, "जब किसी को कुछ देना हो तो अपनी सबसे अच्छी चीज ही देनी चाहिए।"

नारी के प्रति सम्मान के मामले में तो लोहिया जैसा आदमी शायद ही देखने को मिले। वे किसी भी स्त्री को असुंदर नहीं मानते थे। उन्हें हिंदुस्तानियों के इस रिवाज से बहुत चिढ़ होती थी कि गृहणियाँ सबको खिलाने के बाद बचा-खुचा खाकर संतोष कर लेती थीं। वे जिस घर में खाना खाते, महिलाओं को साथ खाने के लिए कहते। कभी-कभी खाने के बर्तनों में वे झाँक लेते कि काफी खाना है या नहीं। खाना खाने के बाद वे भोजन बनाने वाली गृहिणी की तारीफ करना नहीं भूलते। कौशल्या देवी के साथ एक बार वे अकालग्रस्त बस्ती जिले में गए। हँडिया में देखा आम की गुठलियाँ सुखाई हुई पड़ी हैं। बस अड़ गए कि हम भी गुठली की रोटी खाएँगे। आखिर रोटी बनी। एक महिला घर से गुड़ ले आई। लोहिया बोले, "मजा आ गया।"

औरतों के बुर्का पहनने, घूँघट काढ़ने या छुईमुई बनकर मरदों से दूर-दूर रहने से उन्हें चिढ़ होती थी और इनसे अपना विरोध जताने के लिए वे कभी-कभी ऐसा व्यवहार कर बैठते थे जो कुछ लोगों को अजीब और उद्दंडतापूर्ण लगता था। वे घूँघट उठा देते थे और बुर्के हटा देते थे। पढ़ी-लिखी और सार्वजनिक कार्यों में लगी महिलाओं की झिझक को दूर करने के उद्देश्य से वे कभी उनके कंधे पर हाथ भी रख देते थे। एक बार तारकेश्वरी सिन्हा को खींचकर वे कॉफी हाउस ले गए। तारकेश्वरी बोलीं, ''मुझे इस माहौल में अजीब लगता है।'' इस पर लोहिया बोले, ''हाँ, हाँ तुम पैदाइशी वीआईपी हो न। आज तुम्हारी मिट्टीपलीद होगी।''

एक बार विजयलक्ष्मी पंडित ने कांग्रेस सरकार की आलोचना करते हुए लोकसभा में बहुत अच्छा भाषण दिया। डॉ. लोहिया ने उनकी तारीफ करते हुए कहा, ''तुम बेकार सरकारी गैलरी में हो। तुम्हें तो विरोधी पक्ष में जाना चाहिए।'' विजयलक्ष्मी बोलीं, ''तुम जंगलियों के साथ कौन आए?'' इस पर लोहिया बोले, ''जंगलियों से क्यों घबराती हो? सीता भी तो जंगलियों के साथ थीं।''

लोहिया का एक प्रशंसक पहलवान था। एक दिन वह बोला, ''डॉक्टर साहब, आपकी सब बातें अच्छी लगती हैं। सिर्फ एक बात ठीक नहीं है। आप नास्तिक हैं। लेकिन उम्र बढ़ेगी तो आप भी भगवान का नाम लेंगे।'' लोहिया बोले, ''तुम्हारा भगवान इतना कमजोर है कि बुढ़ापे में ही सताता है।'' राजनारायण लोक सभा का चुनाव हारने के बाद पिछले दरवाजे से राज्य सभा में आए तो लोहिया सख्त नाराज हुए। उनके घर आने पर लोहिया बोले, ''राजनारायण, तुम यहाँ से चले जाओ, नहीं तो मैं धक्के मारकर निकाल दूँगा।'' राजनारायण सुबह सात बजे से दोपहर एक बजे तक बाहर बैठे रहे। फिर डॉक्टर साहब की मालिश की। डॉक्टर साहब ने शोभन से कहा, ''इन्हें नाश्ता दे दो।''

पार्टी के भीतर अनुशासन-भंग पर उनका रौद्र रूप देखते ही बनता था। जब कर्पूरी ठाकुर की सरकार ने कोई ठोस काम करके नहीं दिखाया तो लोहियाजी ने बिहार के मंत्रियों से मिलना बंद कर दिया। एक दिन कर्पूरी ठाकुर आए और बाहर बैठे रहे। लोहियाजी ने उर्मिलेश से कहा, ''इन्हें चाय-वाय पिलाकर कहो अपना धंधा करें, हमसे मिलने के चक्कर में क्यों वक्त जाया करते हैं।'' फिर एक दिन भोला प्रसाद आ गए। डॉक्टर साहब उनसे भी नहीं मिले। बिंदेश्वरी प्रसाद मंडल को, निर्देश के विरुद्ध, सांसद होने के बावजूद बिहार का मंत्री बना दिया गया था और उस पर लोहिया का अनुमोदन प्राप्त करने के लिए बिहार के नेता चले आ रहे थे। लोहियाजी ने भूपेंद्र नारायण की तरफ देखकर कहा, ''आप, राजधानी पटना को दिल्ली क्यों नहीं ले आते? सारे मंत्री तो यहीं पड़े रहते हैं।'' कुछ समय बाद बिहार सरकार ने एक-दो अच्छे काम कर दिखाए जैसे लगान माफी वगैरह। इसके बाद जब कर्पूरी

ठाकुर मिलने आए तो लोहिया तपाक से बोले, ''आओ नेता, आओ। बैठो, बैठो।'' इस प्रकार लोहियाजी की छह महीने से चली आ रही कुट्टी खत्म हो गई।

लोहिया की व्यक्तिगत दोस्ती में राजनीतिक मतभेदों के लिए कोई स्थान नहीं था। एक दिन प्राणनाथ लेखी और रमा मित्रा के साथ लोहिया टोकरी में फल लेकर ए. के. गोपालन से मिलने तिहाड़ जेल गए। लेखी ने कहा, ''भारत में, भगवान न करे, कम्युनिस्ट सरकार बन जाए और वह आपको जेल में डाल दे तो गोपालन आपसे मिलने कभी जेल में नहीं आएँगे। ऐसा करने पर पार्टी में उनका स्थान नहीं रहेगा।'' लोहिया बोले, ''तुम ठीक कहते हो। मैं आज एक राजनेता के पास नहीं, अपने परम मित्र को देखने आया हूँ और मुझे कभी अफसोस नहीं होगा कि वह मित्र सत्ता में आने के बाद राजनीतिक कारणों से मुझे देखने नहीं आ सका।''

छोटे-छोटे आदमियों के साथ आए दिन होने वाले अन्यायों को देखकर वे विचलित हो उठते थे और उनके लिए बड़ी से बड़ी सत्ता से टकराने के लिए तैयार रहते थे। हरिभाऊ लिमये बताते हैं कि डॉ. लोहिया ने बाबूराव कोचले नामक एक व्यक्ति को जेल से छुड़ाने के लिए कितनी रुचि ली। जवाहरलाल नेहरू के नागपुर दौरे के समय बाबूराव कोचले को पुलिस ने पकड़कर 3 साल की जेल की सजा दिलाई थी। उसे भीड़ में चाकू के साथ पकड़ा गया और उस पर आरोप लगा कि उसने प्रधानमंत्री पर चाकू से हमला किया था। लोहिया ने हरिभाऊ को लिखा कि वह यरला जेल में बाबूराव से मिलें और कहें कि लोहिया उनसे मिलना चाहते हैं। डॉ. लोहिया ने उसके बारे में मैनकाइंड में एक टिप्पणी भी लिखी थी जिसका शीर्षक दिया था 'रिक्शाचालक बनाम प्रधानमंत्री।' उस समय महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री यशवंतराव चव्हाण थे। उनसे मिलकर हरिभाऊ ने यह व्यवस्था कर दी कि जब लोहिया पुणे आएँगे तो जिला कलेक्टर उन्हें बाबूराव कोचले से मिला देगा। लोहिया अपने साथ हरिभाऊ को भी जेल के अंदर ले जाना चाहते थे ताकि बाबूराव की बातों को वे मराठी से अनुवाद कर उन्हें सुना सकें। लेकिन पत्र में सिर्फ लोहिया का नाम था इसलिए उन्हें अकेले ही मिलने दिया गया। जेल अधीक्षक ने लोहिया से पूछा—''बाबूराव कोचले को आप कैसे जानते हैं?'' डॉक्टर साहब ने उत्तर दिया—''यह और हम एक ही दुनिया में पैदा हुए हैं। बस यही पहचान है'' बहरहाल, लोहिया कोचले से मिले। उसका हालचाल पूछा। उसके परिवार और आर्थिक स्थिति के संबंध में जानकारी ली। चलते समय कुछ रुपये भी जेलर के पास रखे ताकि बाबूराव को कुछ सामान वगैरह की जरूरत हो तो उसे दे दें। घर आकर हरिभाऊ को कहा कि इसका केस लड़ो। यह तो विकलांग है। पोलियो की बीमारी ने इसका हाथ बेकार कर दिया है। यह क्या जवाहरलाल को चाकू मारता। हरिभाऊ ने जब कहा कि केस लड़ने से कुछ नहीं होगा तो बोले, नेहरू को और विनोबा भावे को पत्र लिखो। आखिर लोहिया ने उन्हें पत्र लिखे और बाबूराव को 1 साल बाद ही छोड़ दिया गया। हरिभाऊ इस

प्रसंग को सुनाते हुए कहते हैं—''मेरे ख़याल से तो ऐसे बहुत कम लोग हिन्दुस्तान में होंगे जो गरीब आदमी के लिए सोचते हैं।''

लोहिया के प्रत्यक्ष संपर्क में आए लोगों में अनेक विद्वान्, लेखक, कलाकार, राजनेता, जज, वकील आदि थे और उन्होंने लोहिया के व्यक्तित्व को अलग-अलग कोणों से देखा। किसी को उनमें मानवता के महान् गुण, करुणा, सहानुभूति, समता का भाव दिखाई दिया। किसी ने उन्हें अद्भुत विचारक, चिंतक के रूप में देखा। प्रसिद्ध चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन ने कहा, ''मैं उनकी जुबान पर फिदा था।'' प्रो. राजाराम शास्त्री ने उन्हें प्रवहमान क्षण और स्थिर क्षण का अद्भुत कालचिंतक माना। बृजमोहन तूफान ने कहा, '' डॉ. लोहिया और ही किस्म के विचारक थे। उनमें चिंतन था, सोच थी और सोच के साथ दुःख था।'' शिव प्रसाद चाँदपुरिया उनकी जटिल को सरल बनाकर प्रस्तुत करने की कला पर मोहित थे। वे लोहिया के इस रूपक को याद करते हैं कि राजनीति करना झाड़ू लगाने के समान है। रोज झाड़ू न लगाने से जैसे कूड़ा जमा हो जाता है, उसी तरह राजनीति में सत्याग्रह वगैरह आंदोलन न चलें तो राजनीति में कूड़ा जमा हो जाता है। आंध्र प्रदेश के कार्यकर्ता श्रीधर राव इस बात से अभिभूत थे कि लोहिया स्टेशन के प्लेटफार्म पर चद्दर बिछाकर सो जाते थे। उर्मिलेश झा के लिए लोहिया का अपना बिस्तर, अटैची, साबुन, दाढ़ी का सामान लेकर चलना और एक दिन छोड़ दाढ़ी बनाना भी उनके व्यक्तित्व का एक पहलू था। अंबिका दादा तो यह बात कभी नहीं भूल पाए कि लोहिया ने परसागंज में समृद्ध ठाकुरों के घर जाने के बजाय राम अवतार पासी के घर भोजन किया। धनिकलाल मंडल अपने को इसलिए धन्य मानते हैं कि उन्होंने ग्वालियर की महारानी के खिलाफ चुनाव लड़ने वाली सुक्खो रानी की आवभगत की (जब वे लोहियाजी से मिलने दिल्ली आईं) और लोहिया ने इसके लिए उन्हें शाबाशी दी।

लोहिया के व्यक्तित्व की पिछले पृष्ठों पर दी गई झलक डॉ. लोहिया की कहानी, उनके साथियों की जबानी नामक पुस्तक पर आधारित है। दो खंडों में प्रकाशित इस पुस्तक के संपादक हैं—श्री हरिश्चंद्र तथा उनकी पत्नी पद्मिनीजी। दोनों ने बड़ी मेहनत से जगह-जगह जाकर लोहिया के नए-पुराने साथियों के इंटरव्यू लिये और फिर उन्हें पुस्तक रूप में छापा।

उनके व्यक्तित्व की यही सबसे बड़ी विशेषता थी कि जो भी उनके संपर्क में आया—नेता की हैसियत से, कार्यकर्ता की हैसियत से, लेखक-कलाकार की हैसियत से या कॉफी हाउस में बहस-गपशप करने वाले की हैसियत से—वह उनका मुरीद बन गया। जिसके कंधे पर उन्होंने हाथ रख दिया वह उम्रभर के लिए उनका हो गया। बाद में भले ही किसी और रास्ते पर चला गया लेकिन लोहिया के प्रति व्यक्तिगत लगाव-प्रशंसा-भाव और कभी-कभी भक्ति-भाव भी हमेशा उसमें बना रहा।

ॲस. चन्द्रशेखर

भारतीय मूल के खगोल-भौतिकी विज्ञानी, जिन्हें विलियम ए. फाउलर के साथ सन् 1983 ई. का भौतिकी का नोबेल पुरस्कार मिला, थे सुब्रमण्यम चन्द्रशेखर। वे सर सी. वी. रमन, जिन्होंने सन् 1930 ई. का भौतिकी का नोबेल पुरस्कार पाया था, के भतीजे थे। उन्होंने आज मान्य विशालकाय सितारों के विकास चरणों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। वे घोषित तौर पर अनीश्वरवादी थे। खगोल भौतिकी में 'चन्द्रशेखर सीमा' उन्हीं के नाम से जानी जाती है।

ॲस. चन्द्रशेखर जन्मना भारतीय थे। बाद में भारतीय नागरिकता त्यागकर वे अमेरिका बस गए। वे शिकागो विश्वविद्यालय में सन् 1937 ई. से सन् 1995 ई. (मृत्यु) तक प्रोफेसर रहे।

चन्द्रशेखर का जन्म ब्रिटिश भारत के पंजाब प्रांत में लाहौर शहर में अक्टूबर 19, 1910 ई. को हुआ था। उनके पिता, सुब्रमण्यम अय्यर उस समय लाहौर में रेलवे के डिप्टी आडिटर जनरल थे; वे अच्छे संगीतज्ञ भी थे। माँ, सीता लक्ष्मी विदुषी थीं; उन्होंने डबसेन की 'डाल्स हाउस' का तमिल में अनुवाद किया था। चन्द्रशेखर बचपन से ही अति कुशाग्र थे। सन् 1930 ई. में उन्होंने बी.एस.सी. (ऑनर्स) डिग्री के साथ भारत सरकार की कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पढ़ने की स्कॉलरशिप प्राप्त की। कैम्ब्रिज में वे प्रो. फाउलर के अतिप्रिय छात्र बन गए। प्रो. फाउलर के साथ काम करते हुए वे लंदन की रॉयल ऐस्ट्रोनोमिकल सोसाइटी के सम्पर्क में आए और यूरोप भर के ख्यातनामा भौतिकी वैज्ञानिकों के प्रिय बन गए। सन् 1933 ई. में उन्हें डॉक्टरेट मिल गई। इसी वर्ष उन्हें ट्रिनिटी कॉलेज की 4 वर्ष की फेलोशिप मिली। सन् 1936 ई. में उन्होंने अपनी मद्रास की पूर्व सहछात्रा ललिता दुराई स्वामी से विवाह कर लिया। बेहद प्रसिद्ध भौतिकी विज्ञानी, प्रो. आर्थर एडिंगटन से मनमुटाव व खुले बौद्धिक संघर्ष के कारण डॉ. चन्द्रशेखर इंग्लैंड छोड़कर शिकागो विश्वविद्यालय चले गए और फिर जीवनपर्यंत वहीं रहे, यहाँ तक कि वे बाद की सभी बड़ी-बड़ी नियुक्तियों के प्रस्ताव भी अंत तक ठुकराते रहे। नासा ने शिकागो विश्वविद्यालय में 1966 में

अपनी अंतरिक्ष खोज वेधशाला बनाई तो चन्द्रशेखर उसके शीर्षस्थ वैज्ञानिकों में से एक थे। वे अंत तक इस वेधशाला से जुड़े रहे।

डॉ. चन्द्रशेखर अपने छात्रों में बेहद लोकप्रिय थे। अध्ययन और अध्यापन के अतिरिक्त वे बाहरी दुनिया से प्रायः दूर रहते थे। वे छात्रों से जब तक, वे डाक्टरेट न कर लें, जिद करते कि वे उन्हें चन्द्रशेखर कहें, डॉक्टरेट के बाद तो वे ''चन्द्रा'' कहने को अधिकृत हो जाते। विश्वविद्यालय में वे चन्द्रा के नाम से ही जाने जाते थे।

सन् 1952 से 1971 तक वे 'एस्ट्रोफिज़िकल जर्नल' के सम्पादक रहे। 'न्यूटन्स प्रिन्सिपिया फॉर द कामन रीडर' (1995) उन्हीं की कृति है। वे इन्टरनेशनल अकादमी ऑफ साइन्स के मानद सदस्य थे।

अगस्त 21, 1995 ई. को दिल का दौरा पड़ने से इस महान खगोल-भौतिकी विज्ञानी का निधन हो गया। उनकी उत्तराधिकारी मात्र उनकी धर्म पत्नी, ललिता चन्द्रशेखर थीं। वे निःसंतान थे।

खगोल-भौतिकी विज्ञान के क्षेत्र में उनके नाम से कई खोजों को जाना जाता है, जिन्हें उस क्षेत्र के विद्यार्थी या वैज्ञानिक ही सही-सही समझ सकते हैं; यथा—चन्द्रशेखर लिमिट, चन्द्रशेखर नम्बर और चन्द्रा ॲस्टिरायड 1958। नासा ने सन् 1999 ई. में स्पेस सटिल कोलम्बिया में जो वेधशाला बनाई थी, उसका नाम चन्द्रा एक्स-रे ऑब्जरवेटरी रक्खा था।

सम्मान/पुरस्कार

- फेलो ऑफ द रायल सोसाइटी (1944)
- हेनरी मारिस रसेल लेक्चरशिप (1949)
- ब्रूस मेडल (1952)
- गोल्ड मेडल ऑफ द रायल ऐस्ट्रोनोमिकल सोसाइटी (1953)
- रम्फर्ड प्राइज़ ऑफ द अमेरिकन अकादमी ऑफआर्ट्स एण्ड साइन्सेज़ (1957)
- नेशनल मेडल ऑफ साइन्स यू.एस.ए. (1966)
- पद्म विभूषण (1968)
- नोबेल प्राइज़ इन फिजिक्स (1983)
- आनरेरी फेलो ऑफ द इन्टर अका. ऑफ साइन्स (1988)

ग्रन्थ-सूची (चन्द्रशेखर लिखित)

- ॲन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी ऑफ स्टेलर स्ट्रक्चर।
- प्रिन्सिपल्स ऑफ स्टेलर डाइनामिक्स।
- रेडियोऐक्टिव ट्रांस्फर।

- प्लाज्मा फिजिक्स।
- हाइड्रोडाइनामिक ॲण्ड हाइन्ड्रामैग्नेटिक, स्टेबिलिटी।
- इलिप्सोइडल फिगर्स ऑफ इक्विलिब्रियम।
- द मैथमेटिकल थियरी ऑफ ब्लॅक होल्स इन साइन्स।
- ट्रुथ ॲण्ड ब्यूटी : एस्थेटिक्स ॲण्ड मोटिवेशन्स इन साइन्स।
- न्यूटन्स प्रिंसिपिया फॉर द कॉमन रीडर।

नागार्जुन

❑ डॉ. रणजीत

जन्म—1911 ई. के जेठ महीने की पूर्णिमा को अपने ननिहाल सतलखा, जिला दरभंगा, बिहार में। पैतृक निवास इसी जिले के तरौनी गाँव में। माता-पिता का दिया नाम—वैद्यनाथ मिश्र। आरंभिक शिक्षा गाँव की संस्कृत पाठशाला में, फिर काशी और कलकत्ता में संस्कृत का अध्ययन—साहित्याचार्य की उपाधि प्राप्त। 1930 में यात्री के नाम से मैथिली में पहली कविता छपी। 1932 में अपराजिता देवी से विवाह। 1934 से 1941 तक घुमन्तू जीवन। 1935 में, हिन्दी की पहली कविता प्रकाशित हुई। दो-ढाई वर्ष पंजाब, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और गुजरात की घुमक्कड़ी करके आठ-दस महीने पंजाब से निकलने वाले मासिक 'दीपक' का सम्पादन किया और 1936 के अन्त में लंका चले गये, जहाँ कोलम्बो के निकट केलानिया के 'विद्यालंकार परिवेण' नामक एक पुराने विद्यापीठ में, बौद्ध संन्यासियों को संस्कृत व्याकरण और दर्शन पढ़ाने और स्वयं वहाँ के आचार्यो से पालि भाषा तथा बौद्ध दर्शन का अध्ययन करने लगे। यह वही विद्यापीठ था जिसमें राहुलजी, भदन्त आनन्द कौशल्यायन आदि भारतीय बौद्ध विद्वानों ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी, नागार्जुन भी यहाँ आकर बौद्ध हो गये। 1938 के प्रारम्भ में राहुलजी की प्रेरणा से बौद्ध ग्रन्थों के अनुसंधान के लिए तिब्बत भेज दिये गये। सिंहल-प्रवास के दौरान वे वामपंथी विचारों के संपर्क में आये। श्रीलंका सम-समाज दल के विप्लवी नेताओं से सम्पर्क हुआ। भारत के महान् किसान नेता स्वामी सहजानंद से पत्र-व्यवहार हुआ। लौटकर राहुलजी के नेतृत्व में बिहार किसान आन्दोलन में कूद पड़े। दस महीने जेल में रहे। दूसरी बार की जेल यात्रा फॉरवर्ड ब्लॉक की ओर से छपने वाले एक युद्ध विरोधी परिपत्र के सिलसिले में हुई। 'नागार्जुन' नाम 1936 में बौद्ध धर्म में दीक्षा के बाद धारण किया। 1948 में गाँधीजी की हत्या पर लिखी कविताएँ जब्त हुईं। 1962 में भारत-चीन सीमा संघर्ष पर चीन-विरोधी और 1968 में चेकोस्लोविया में सोवियत हस्तक्षेप के विरुद्ध कविता लिखीं। 1974 के जयप्रकाश आन्दोलन में सीधी हिस्सेदारी की और जेल गये।

प्रकाशन—नागार्जुनजी की मैथिली में लिखी गयी अट्ठाईस कविताओं का पहला संकलन 'चित्रा' (1949) में इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। हिन्दी कविताओं की पहली किताबिया (पुस्तिका) 'शपथ' थी। जो 1948 में प्रकाशित हुई। उसके बाद प्रकाशित हिन्दी की पुस्तिकाएँ या काव्य-संकलन इस प्रकार हैं—(2) 'चना जोर गरम' (किताबिया, 52), (3) 'युगधारा' (काव्य-संग्रह, 53), (4), 'खून और शोले' (काव्य पुस्तिका, 55), (5) 'प्रेत का बयान' (काव्य पुस्तिका 57), (6) 'सतरंगे पंखों वाली' (काव्य-संग्रह, 59), (7) 'प्यासी पथराई आँखें' (काव्य-संग्रह, 62), (8) 'अब तो बन्द करो हे देवी, यह चुनाव का प्रहसन' (काव्य पुस्तिका, 71), (9) 'भस्मांकुर' (खण्डकाव्य, 73), (10)'तालाब की मछलियाँ' (काव्य-संग्रह 74), (11), 'वन्दना' (काव्य पुस्तिका, 76), (12) 'तुमने कहा था' (काव्य-संग्रह, 80), (13) 'खिचड़ी, विप्लव देखा हमने' (काव्य-संग्रह, 80), (14) 'हजार बाँहों वाली' (काव्य-संग्रह, 81), (15), 'पुरानी जूतियों का कोरस' (काव्य-संग्रह 83), (16) 'रत्नगर्भ' (काव्य-संग्रह, 84), (17) 'ऐसे भी हम क्या, ऐसे भी तुम क्या!' (काव्य-संग्रह, 85) और 85 में ही उनकी कविताओं का समग्र संकलन 'नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ, भाग-2' प्रकाशित हुआ।

कविताओं के अतिरिक्त नागार्जुनजी ने हिन्दी के उपन्यास साहित्य में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। हिन्दी में उनके कुल दस उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। ये हैं—(1) 'रतिनाथ की चाची' (49), (2) 'बलचनमा' (52), (3) 'बाबा बटेसरनाथ' (54), (4) 'दुखमोचन' (57), (5) 'वरुण के बेटे' (56), (6) 'नई पौध' (57), (7) 'कुंभीपाक' (60), (8) 'हीरक जयन्ती (62), (9) 'उग्रतारा' (63) तथा (10) 'इमरतिया' (68), यही उपन्यास, 69 ई. में एक दूसरे नाम 'जमनिया के बाबा' से भी प्रकाशित हुआ है।

निस्संकोच नागार्जुन को हिन्दी की प्रगतिशील कविता का सबसे बड़ा कवि कहा जा सकता है, उनके काव्य में प्रगतिशील कविता के सभी रूप और आयाम अभिव्यक्त हुए हैं। वास्तव में वे प्रगतिशील कवियों में अकेले ऐसे कवि हैं, जिनका कृतित्व प्रगतिशील कविता को जीवन की समग्रता का काव्य बनाता है। उनकी कविता की परिधि में मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन अपने विविध पहलुओं के साथ अभिव्यक्त हुआ है। डॉ. शिवकुमार मिश्र का यह कथन सही है कि नागार्जुन का काव्य संसार कोई सीमित संसार नहीं है, शुक्लजी ने जिसे नरजगत्, नरेतर बाह्य जगत् और समूचे चराचर जगत् की संज्ञा दी है, नागार्जुन की कविता, इन सबको अपनी परिधि में समेटती है। साधारण और असाधारण सब उसके दायरे में हैं।

डॉ. प्रकाश चन्द्र भट्ट ने नागार्जुन की समस्त काव्य-रचनाओं को पाँच वर्गों में वर्गीकृत किया है—(1) प्रकृति एवं प्रणयपरक कविताएँ, (2) सामाजिक यथार्थवादी कविताएँ, (3) व्यंग्य कविताएँ, (4) देशप्रेम की कविताएँ और (5) विविध कविताएँ—(अ) विभिन्न व्यक्तियों पर लिखी गयी सम्मान और श्रद्धापरक कविताएँ तथा (ब) खंडकाव्य—भस्मांकुर।

नागार्जुन अपने देश, अपनी धरती और अपनी जनता के कवि हैं। अपने देश के लोगों के हर्ष-विषाद को, उनकी आशाओं-आकांक्षाओं को, उनके संघर्षों-सपनों को उन्होंने अपनी कविताओं में गूँथा है। अपने देश की जनता के एक बेहतर जीवन के लिए किये गये प्रत्येक संघर्ष के साथ, उसकी सर्वांगीण मुक्ति के प्रत्येक अभियान के साथ उनकी गहरी संलग्नता रही है। परिणामस्वरूप उनकी कविताएँ हमें इस देश की दैनन्दिनी दशा से, यहाँ के लोगों के बहुरंगी और बहुरूपी जीवन-यथार्थ से बहुत ही प्रामाणिक ढंग से परिचित करवाती हैं। नागार्जुन के घुमक्कड़ और खानाबदोश जीवन ने उनकी संवेदनाओं को कहीं भी बासी नहीं होने दिया है, बहते पानी की तरह वे निर्मल और तरोताजा हैं।

नागार्जुन का कवि व्यक्तित्व किसी एक कटी-छँटी कोटि में नहीं रखा जा सकता। डॉ. विजयबहादुर सिंह के शब्दों में वे एक साथ क्लासिक भी हैं और रोमांटिक भी, राष्ट्रीय भी हैं और प्रगतिशील भी, ब्राह्मण भी हैं और बौद्ध भी, जितने मैदानी हैं, उतने ही पहाड़ी भी हैं, जितने शहरी हैं, उतने ही गँवई हैं, और उससे कुछ ज्यादा ही बनवासी। उनमें इतना प्यार है कि उसकी गहराई और विस्तार को नापना कठिन और इतना क्रोध कि साक्षात् दुर्वासा। भोग की उत्कंठा के ज्वलंत उदाहरण हैं वे, और ऐसा त्याग कि फिर मुँह फेरकर न देखो। स्वीकार इतना कि सारे दरवाजे खुले और दुत्कार ऐसी कि अशोभनीयता की रूह तक काँपने लगे। एक ओर उनकी अनेक कविताओं में एक नितान्त द्रवणशील, आत्मीय संवेदना और भावुकता दिखाई देती है। जैसे—''खुब गये दूधिया निगाहों में'' ''यह कैसे होगा'', ''तुम्हारी दन्तुरित मुस्कान'', ''जया'' तो दूसरी ओर अनेक कविताओं में उनकी बेहद कठोर, आक्रामक और अदम्य अस्मिता के दर्शन होते हैं, जैसे—''बाघिन'', ''अब तो बंद करो हे देवि!'' तथा 'प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का'' जैसी कविताओं में। सुविधाओं का प्रलोभन या दंड का आतंक इस कवि को कभी भी अपनी बात दो टूक, बेलौस ढंग से कहने से रोक नहीं पाया। इंदिरा गाँधी के शासन काल में उनके संबंध में लिखी गई उनकी अनेक आक्रामक कविताएँ इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण हैं।

राजनीति को विषय बनाकर काव्य-रचना करने वालों में नागार्जुन अन्यतम हैं। शायद ही हिन्दी के किसी अन्य प्रतिष्ठित कवि ने रोजमर्रा की राजनीति, राजनीतिक नेताओं की तिकड़मों और राजनीतिक घटनाओं को इतने व्यापक स्तर पर अपनी कविताओं का विषय बनाया हो। यह ठीक है कि समसामयिक घटनाओं पर लिखी हुई उनकी अधिकांश राजनीतिक कविताएँ तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ मात्र होने के कारण काव्यात्मक दृष्टि के साधारण स्तर की हैं, पर वे कवि की निरन्तर प्रखर-राजनीतिक संवेदनशीलता को व्यक्त करती हैं। अपनी राजनीति में वे हमेशा साम्यवादी दल या मार्क्सवादी विचारधारा से जुड़े नहीं रहे, अनेक स्थलों पर उनकी अपनी स्वतंत्र दृष्टि भी व्यक्त हुई है। असल में वे किसी दल से नहीं, समस्त दलित वर्ग से प्रतिश्रुत कवि

हैं, किसी सर्वहारा पार्टी के नहीं, सर्वहारा जनता के कवि हैं। ऐसे भी वक्त आए हैं जब उनके प्रिय दल वैचारिक दलदल में फँसकर जन-संघर्षों से दूर होकर शासक वर्गों के समर्थक बन गये, ऐतिहासिक संक्रान्ति की ऐसी घड़ियों में नागार्जुन को अपना अलग रास्ता चुनने में जरा भी संकोच नहीं हुआ। सत्ताधारी प्रतिष्ठान के विरुद्ध शेर की तरह गर्जना करने वाले पर प्रतिपक्षी प्रतिष्ठान के सामने सियार की तरह रिरियाने वाले वैचारिक दृष्टि से नितान्त कायर क्रान्तिकारी कवियों में वे नहीं आते।

डॉ. रामदरश मिश्र के अनुसार नागार्जुन की कविताएँ मुख्यतया तीन तरह की हैं। कुछ कविताएँ गंभीर संवेदनात्मक और कलात्मक हैं, जिनमें कवि ने मानव की रागात्मक छवि अंकित की है और मानवीय संभावनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की है। दूसरी कोटि की कविताएँ वे हैं, जो सामाजिक कुरूपता, राजनीतिक अव्यवस्था और धार्मिक अन्धविश्वास पर चुभते हुए व्यंग्य करती हैं। तीसरी कोटि में वे कविताएँ आती हैं जो उद्‌बोधनात्मक और अपेक्षाकृत हल्के स्तर की हैं। पहले वर्ग में मानव संवेदनाओं की कविताएँ, जैसे 'सिन्दूर तिलकित भाल' और 'दन्तुरित मुस्कान' के अतिरिक्त उनकी प्रकृति सम्बन्धी कुछ सुन्दर कविताएँ भी आ जाती हैं। नागार्जुन प्रकृति के प्रेमी हैं। उन्होंने ग्राम्य तथा नागरिक प्रकृति के कुछ सुन्दर चित्र खींचे हैं। प्रकृति सम्बन्धी उनकी एक प्रसिद्ध कविता है 'बादल को घिरते देखा है'। इस कविता में समृद्धि छायावादी शैली में प्रकृति के कुछ उदात्त चित्र खींचे गये हैं। कहीं-कहीं उन्होंने वर्तमान जीवन की विषमताओं के संदर्भ में प्रकृति को बड़े प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है, जैसे पूस मास की धूप के इस चित्र में—

पूस मास की धूप सुहावन
घिसे हुए पीतल सी पांडुर
स्तनपायी नीरोग गौर-छवि
शिशु के गालों जैसी मनहर
पूस मास की धूप सुहावन
फटी दरी पर बैठा है चिर रोगी बेटा
राशन के चावल से कंकड़ बीन रही पत्नी बेचारी

प्रकृति-अंकन में कवि ने दो प्रकार की पद्धतियों का प्रयोग किया है। पहली है यथातथ्य चित्रण की पद्धति। सतरंगे पंखों वाली में संगृहीत 'वसन्त की अगवानी' तथा 'नीम की दो टहनियाँ' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। दूसरी पद्धति सौन्दर्यमूलक है। 'बादल को घिरते देखा है' में पाँच दृश्यों का सौन्दर्यमूलक परिवेश वस्तुनिष्ठ होते हुए भी पर्याप्त संग्रथित है। रचना के क्रम में पूरे दृश्य का आकर्षक आलेख इस संदर्भ में कवि के शिल्पकौशल का प्रमाण है।

केदार की तरह ही अपनी परवर्ती काव्यरचना में नागार्जुन का प्रकृति सम्बन्धी

सौंदर्यबोध अधिक सूक्ष्म और परिष्कृत हुआ है। यह एक विचित्र बात है कि एक ओर जहाँ उनका सौन्दर्यबोध विकसित हुआ है, दूसरी ओर राजनीतिक कविताओं में उनका व्यंग्य और तीखा तथा कटु हुआ है। इस तरह समय के बीतते जाने के साथ-साथ नागार्जुन की काव्य-कटार की दोनों धारें शाण पर चढ़कर और भी अधिक तीक्ष्ण हो उठी हैं।

उनकी परवर्ती प्रकृति-कविताओं में एक नयी ताजगी और टटकापन है, एक नया कलात्मक कसाव है—

फूले कदम्ब!
टहनी-टहनी में कन्दुक सम झूले कदम्ब।
फूले कदम्ब!
सावन बीता
बादल का कोष नहीं रीता
जाने कब से वो बरस रहा
ललचाई आँखों से नाहक
जाने कब से तू तरस रहा
मन कहता है—छू ले कदम्ब
फूले कदम्ब!

एक व्यंग्यकार के रूप में नागार्जुन हिन्दी के प्रगतिशील कवियों में ही नहीं, पूरी आधुनिक हिन्दी कविता में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। हिन्दी के अनेक समालोचकों ने उनकी व्यंग्य कुशलता की प्रशंसा की है। विश्वंभर मानव ने लिखा है—''भारतेन्दु युग के कुछ साहित्यकारों को छोड़कर पिछले 50 वर्षों में नागार्जुन जैसा तीखी और सीधी चोट करने वाला व्यंग्यकार हमारे साहित्य में नहीं हुआ है।'' श्री हरिनारायण मिश्र कहते हैं—''नागार्जुन की व्यंग्य रचना में कबीर की तल्खी, भारतेन्दु की करुणा और निराला की विनोद वक्रता का विलक्षण सामंजस्य है। अन्य व्यंग्यकारों से नागार्जुन की भिन्नता इस अर्थ में है कि जहाँ अन्य लोग सोच-विचार कर किसी रचना को व्यंग्य-बहुल बनाते हैं, वहाँ नागार्जुन में व्यंग्य एक जन्मजात संस्कार के रूप में है।'' डॉ. रामविलास शर्मा का निरीक्षण है कि 'भारतेन्दु और बालमुकुन्द गुप्त ने हमारे साहित्य में जो व्यंग्य और जिन्दादिली पैदा की, नागार्जुन उसके समर्थ प्रतिनिधि हैं।'' तो नामवर सिंह का निष्कर्ष है कि ''हिन्दी में व्यंग्य या तो निराला ने लिखा है या नागार्जुन ने।'' पर इस सत्य का एक पहलू वह भी है, जिसकी ओर डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने हमारा ध्यान खींचा है, ''नागार्जुन का व्यंग्य कहीं-कहीं अति तीक्ष्ण बनकर औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर बैठता है।'' डॉ. प्रकाशचन्द्र भट्ट का यह कथन सही है कि ''अकेले नागार्जुन की कविताओं को पढ़कर हिन्दी कविता में व्यंग्य के प्रारम्भिक रूप, उसके विकास और

उत्कर्ष की अवस्थाओं को जाना जा सकता है। वे हिन्दी के व्यंग्य-काव्य के एकमात्र सबल प्रतिनिधि हैं। व्यंग्य के विभिन्न स्तरों से उनकी कविता सजी हुई है।'' डॉ. शिवकुमार मिश्र ने व्यंग्य के इन स्तरों की चर्चा इन शब्दों में की है—''सामाजिक पदार्थ के उद्घाटन के बड़े सशक्त माध्यम के रूप में नागार्जुन ने इन व्यंग्यों का इस्तेमाल किया है। नागार्जुन यों भी इस हथियार को चलाने में माहिर हैं। नये-नये अंदाज में, विविध मनःस्थितियों में, कभी हल्के-फुल्के, कभी बड़े मारक और गहरे रूप में, कभी क्रोध से आग बबूला होते हुए, कभी मसखरी करते हुए, कभी नितान्त गंभीर बनकर और कभी निहायत शरारती मुद्रा में पात्र, प्रसंग और अवसर के अनुरूप, भाषा और शैली, लय और तान के अनूठे मेल-मिलाप में वे इन व्यंग्यों को चलाते हैं।''

''रामराज्य'' कविता उनकी व्यंग्य कविताओं का प्रतिनिधित्व करती है। गाँधीजी के रामराज्य की कल्पना और उनके चेलों के राज्य के बीच की असंगति को इस कविता में बड़े प्रभावशाली ढंग से उभारा गया है। इस देशभक्त कवि के हृदय की वेदना इस व्यंग्य में भी मुखर है—

राम राज्य में अबकी रावन नंगा होकर नाचा है।
सूरत-शक्ल वही है भैया, बदला केवल ढाँचा है
लाज-शरम रह गयी न बाकी गाँधीजी के चेलों में
फूल नहीं, लाठियाँ बरसतीं रामराज्य की जेलों में
भैया लंदन ही पसंद है आजादी की सीता को
नेहरूजी अब उमर गुजारेंगे अंग्रेजी खेलों में।

नागार्जुन बात को वक्रता के साथ प्रस्तुत करने का अद्भुत कौशल रखते हैं। व्यंजना का यह चमत्कार देखिए—

जन गण मन अधिनायक जय हो प्रजा विचित्र तुम्हारी
भूख भूख चिल्लाने वाली अशुभ अमंगलकारी
बंद सेल बेगूसराय में नौजवान दो भले मरे
जगह नहीं है जेलों में—यमराज तुम्हारी मदद करे।

एक मजेदार दृश्य देखिए—प्रदेश के कांग्रेसी नेता दिल्ली से चुनाव टिकट प्राप्त कर लौटे हैं—

श्वेत-श्याम रतनार अँखियाँ निहार के
सिण्डीकेटी प्रभुओं की पग धूर झार के
दिल्ली से लौटे हैं कल टिकट मार के
खिले हैं दाँत ज्यों दाने अनार के
आये दिन बहार के!

और सुनिए इस कविता पर डॉ. रामविलास शर्मा की टिप्पणी—कोई रीतिवादी नायिका—प्रौढ़ा, मध्या, अधीरा आदि—अपने प्रियतम को देखकर इतनी प्रसन्न न हुई होगी, जितने टिकट पाकर यह कांग्रेसी नेता। श्वेत-श्याम रतनार रीतिवादी संदर्भ की ओर संकेत करते हैं और अनार के दाने नौटंकी संस्कृति वाले नये लोकगीत की तरफ—बिखरे गुलशन में दाने अनार के! व्यंग्य में गहराई पैदा होती है इस रीतिवादी संदर्भ की ओर संकेत से। 'आये दिन बहार के' कविता में चुनाव के उद्दीपन विभावों का समा बँध गया है।

उनका व्यंग्य सर्व-संहारी है। जब वे व्यंग्य के मूड में होते हैं तो अपने प्रियजनों की छोड़िए, अपने आपको भी नहीं बख्शते। यही कारण है कि चिन्तनशील मनःस्थिति में वे किसी का जब मूल्यांकन करते हैं तब अलग दृष्टि रखते हैं और जब व्यंग्यात्मक मनःस्थिति में उसे देखते हैं तब अलग दृष्टि। नेहरूजी के बारे में लिखी हुई दो अलग-अलग मनःस्थितियों की कविताओं के ये अंश इसका प्रमाण हैं—नेहरूजी के देहान्त पर उन्होंने गंभीर स्वर में लिखा—

प्रिय थे तुमको काले बादल, प्रिय थी तुमको झील
प्रिय थी तुमको बर्फ, तुम्हें भाते थे सागर नील
खिलते फूलों को देखा तो तुम हो उठे निहाल
कुंकुमरंजित मृदुल अँगुलियों से तिलकित था भाल
विश्व वेदना की ऊष्मा के तुम प्रतीक साकार
तुम अदम्य तुम मैत्री-मुदित करुणा के अवतार
तुम अशोक अकबर रवीन्द्र की, गाँधी की अनुपूर्ति
तुम विशाल संस्कृति की प्रतिमा, तुम जन-मन की स्फूर्ति!

तो दूसरी ओर व्यंग्य के स्वर में यह तक लिख डाला—

झुकती स्वराज्य की डाल और
तुम रह जाते दस साल और
हम चावल खाते एक किलो, दस का दे आते नोट मगर
यों सिकुड़े रहते, सिलवाते सपने में ऊनी कोट मगर
गालियाँ छलकतीं, बैलों की जोड़ी को देते वोट मगर
हम गाँजा ही बेचा करते, लेते खादी की ओट मगर
खुलते-खिलते कुछ गाल और
तुम रह जाते दस साल और!
गेरुआ पहनते जयप्रकाश नर्मदा किनारे बस जाते
डाँगे हो जाते राज्यपाल, लोहिया जेलों में बल खाते

गोपालन होते नजरबन्द, राजाजी माथा घुटवाते
जनसंघी अटल बिहारीजी भिक्षा की झोली फैलाते
चौड़ा होता कुछ भाल और
तुम रह जाते दस साल और!

सर्वोदयवादियों पर ऐसा कचोटता हुआ व्यंग्य शायद ही हिन्दी या किसी और भारतीय भाषा में किया गया हो—

बापू के भी ताऊ निकले तीनों बन्दर बापू के
सरल सूत्र उलझाऊ निकले तीनों बन्दर बापू के
सचमुच जीवनदानी निकले तीनों बन्दर बापू के
ज्ञानी निकले, ध्यानी निकले तीनों बन्दर बापू के
जल-थल गगन-बिहारी निकले तीनों बन्दर बापू के
लीला के गिरधारी निकले तीनों बन्दर बापू के!

सर्वोदयवादियों की बापू के तीन बन्दरों के रूप में कल्पना मात्र कितनी गहरी व्यंग्य-दृष्टि की उपज है, यह कहने की जरूरत नहीं। फिर ऊपर से यह सारा तामझाम! ग़ज़ब का व्यंग्य उत्पन्न किया गया है।

अपने अमेरिकी अन्नदाताओं के प्रति भारतीय नेताओं के भक्तिभाव पर एक व्यंग्य देखिए। कविता है 'महाप्रभु जानसन के प्रति'—

हम काहिल हैं, हम भिखमंगे, तुम हो औढर दानी
अबकी पता चला है प्रभुजी, तुम चन्दन हम पानी
हम निचाट धरती निदाघ की, तुम बादल बरसाती
अबकी पता चला है प्रभुजी, तुम दीपक हम बाती
खुली आँख सोये हैं, ठोकर मारो हमें जगाओ
वीराने में फँसे पड़े हैं, अबकी पार लगाओ
तुम्हीं सिफारिश कर दो प्रभुजी, ढरें लिबर्टी मैया
अड़ी दरिद्रा की रेती में आजादी की नैया!

'चन्दन और पानी' तथा 'दीपक और बाती' के धार्मिक आसंग व्यंग्य को कितना गहरा बना देते हैं और अन्तिम पंक्ति समसामयिक भारतीय वास्तविकता पर कितनी सार्थक और सशक्त टिप्पणी है।

नागार्जुन पर संस्कृत, पाली आदि भाषाओं के ज्ञान के और प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन के संस्कार हैं, इसलिए एक ओर जहाँ उनकी भाषा-शैली में जनवादी तत्त्वों की अधिकता है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने सामासिक संस्कृत पदावली का प्रयोग भी किया है। अपने शिल्प-विधान में उन्होंने हिन्दी साहित्य की विशाल

परम्परा का उपयोग किया है और बहुत से पुराने उपकरणों को नयी विषय-वस्तु दी है। हनुमान चालीसा की शैली का एक बिल्कुल नये सन्दर्भ में प्रयोग देखिए—

हिन्दीचीन जय, जय हो ची मिन्ह, वीरशिरोमणि वियतनाम के,
जय जय वीर गुरिल्ले प्रतिनिधि जयति मलाया के अवाम के।

अपनी कविताओं में उन्होंने जनता की जबान पर चढ़े हुए कुछ मुहावरों का सुन्दर प्रयोग किया—

देखो गिरने ही वाले हैं भहराकर ये महल ताश के।
× × ×
हमलावर मुँह की खायेंगे उतर जायगा नीचे पारा।
× × ×
जो कोई इसके खिलाफ उँगली उठायेगा, बोलेगा
काल कोटरी में ही जाकर फिर वह सत्तू घोलेगा।

नागार्जुन के लिए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है—हर विकासमान देश के समाजवादी आन्दोलन के सामने यह समस्या आती है कि साहित्य को कैसे लोकप्रिय बनाया जाय, साथ ही उसे कलात्मक स्तर से गिरने न दिया जाय। नागार्जुन ने लोकप्रियता और कलात्मक सौन्दर्य के सन्तुलन और सामंजस्य की समस्या को जितनी सफलता से हल किया है, उतनी सफलता से बहुत कम कवि—हिन्दी से भिन्न भाषाओं में भी—हल कर पाये हैं।

अपने समय के सामाजिक यथार्थ के चितेरे के रूप में, एक कुशल व्यंग्यकार के रूप में और प्रकृति तथा प्रेम के एक संवेदनशील कवि के रूप में नागार्जुन का यश अक्षय रहेगा। एक प्रगतिशील रचनाकार के रूप में नागार्जुन की शक्ति का प्रमुख स्रोत है भारतीय जनता के साथ, उसके पीड़ित-दलित अंश के साथ, उनकी गहरी आत्मीयता, उनका वास्तविक तादात्म्य। वे दलित जन के साथ केवल सहानुभूति नहीं रखते अपने वास्तविक जीवन-चक्र में वे उसी के अंग हैं। आज जब सत्ताधीशों की 'पीठ' पर बैठने वाले और लम्बे समय तक सरकार की वकालत करने वाले, जीवन में जनता के एक भी आन्दोलन में भाग न लेने वाले और एक बार भी जेल न जाने वाले सज्जन जनकवि की उपाधियों से विभूषित किये जा रहे हैं, सत्ताधीशों से कोई भी सुविधा स्वीकार न कर अपनी जीविका के लिए तमाम पापड़ बेलने वाले, अपनी कविताओं और उपन्यासों की पांडुलिपियाँ बेचकर या रेलगाड़ियों में छपी हुई काव्य-पुस्तिकाएँ बेचकर अपने परिवार का पेट पालने वाले फक्कड़ कवि नागार्जुन को जनकवि कहना, उसे उन समवयस्क सुविधा-भोगियों की भीड़ में भरती करना होगा। कविता और कविजीवन की ऐसी क्रान्तिधर्मी एकरूपता कबीर के बाद हिन्दी कविता में केवल नागार्जुन में दिखाई देती है।

केदारनाथ अग्रवाल

❑ डॉ. रणजीत

केदारनाथ अग्रवाल हिन्दी के प्रगतिशील कवियों में अपने प्रकृति प्रेम और अपनी आंचलिक कविताओं के लिए याद किए जाते रहेंगे। उन्होंने अपने कवि जीवन का प्रारंभ प्रेम और शृंगार के रूमानी कवि के रूप में किया था और बीच के संघर्षी तथा मतवादी स्वर के बाद परवर्ती कविताओं में फिर उनका मानव और प्रकृति के सौन्दर्य और प्रेम के कवि का रूप ही अधिक मुखर हुआ है। **नींद के बादल** (47) उनकी प्रारंभिक कविताओं का संकलन है, अधिकांश कविताएँ नारी सौन्दर्य और प्रेम की स्वस्थ और अकुंठ अभिव्यक्तियाँ हैं। शैली पर छायावादी प्रभाव स्पष्ट है। दो-तीन कविताओं में रहस्य-भावना की अभिव्यक्ति भी है। केदार का प्रगतिवादी व्यक्तित्व **युग की गंगा** (47) में उभरता है। संकलन की कविताओं को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ, यथार्थवादी रेखाचित्र, समूहगान और छोटी कविताएँ। प्रकृति संबंधी कविताओं में दो महत्त्वपूर्ण हैं—**'चन्द्रगहना से लौटती बेर'** और **'बसन्ती हवा'**। दोनों में प्रकृति का स्वच्छ, कुंठाहीन और स्वच्छन्दतावादी तत्त्वों से पूर्ण किसानी चित्रण है। 'युग की गंगा' की अधिकांश कविताएँ दूसरे वर्ग की हैं—'चित्रकूट के यात्री', 'बुन्देलखंड के आदमी', 'शहर के छोकरे', 'मूलगंज', 'चन्दू', 'रनिया' आदि वास्तव में कविताएँ कम, रेखाचित्र अधिक हैं। इनमें काव्यात्मक सिचुएशन्स नहीं, सरल रेखांकन मात्र है। संकलन की छोटी कविताओं में 'गर्रानाला', 'धन-जन', 'कोयले', 'वरदान' आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से कइयों का कसाव और संक्षिप्ति प्रभावक हैं। समूह गीतों में 'करोड़ों का गाना' और 'कटुई का गीत' महत्त्वपूर्ण हैं। 'कटुई का गीत' में कवि के प्रगतिवादी जीवन-दर्शन को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है—

काटो, काटो, काटो करबी
साइत और कुसाइत क्या है?

जीवन से बढ़ साइत क्या है?
मारो, मारो, मारो हँसिया
हिंसा और अहिंसा क्या है?
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है?

'लोक और आलोक' (57) की अधिकांश कविताएँ प्रगतिवादी दृष्टिकोण और विचारधारा की सपाट अभिव्यक्तियाँ हैं, संकलन की महत्त्वपूर्ण कविताओं में, 'वहजन', 'माँझी न बजाओ' जैसे लोकगीतों के रंग में लिखे हुए गीत और 'नागार्जुन के बाँदा आने पर' कविताएँ हैं। **फूल नहीं रंग बोलते हैं** (65) तब तक की प्रतिनिधि कविताओं का समग्र संकलन है। संकलन के पहले दो खंडों में अधिकतर पिछले तीन संकलनों की महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं, तीसरे में प्रकृति संबंधी लघु कविताएँ और चौथे में शीर्षक के अनुसार ही 'कुछ लिखी, अधलिखी कविताएँ'।

संकलन की परवर्ती कविताओं में एक तो कवि का प्रकृति-प्रेमी रूप ही अधिक मुखर है। युग की गंगा वाला संघर्षी रूप नहीं और दूसरे लघुकविता की अपनी प्रवृत्ति को इसमें इतना खींचा गया है कि अधिकतर कविताएँ या तो अधलिखी हैं या अकविताएँ। फिर भी संकलन में कुछ सुन्दर लघु कविताएँ हैं, जो कवि की परिष्कृत अभिव्यक्ति और सूक्ष्म संवेदनशीलता की गवाही देती है। ऐसी कविताओं में 'एक खिले फूल ने', 'आज नदी बिल्कुल उदास थी', 'चील दबाये हैं', 'हरी घास का बल्लम', 'हम न रहेंगे', 'हम जिएँ न जिएँ' और 'जैसे कोई सितारिया' के नाम लिये जा सकते हैं।

केदार हिन्दी के प्रगतिशील कवियों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। अपने अंचल बुंदेलखंड की प्रकृति और लोक-जीवन उनकी कविता के मुख्य विषय हैं और अपनी विषय-वस्तु के अनुकूल ही उन्होंने साधारण बोल-चाल की हिन्दी में बुन्देलखंड के ग्रामीण क्षेत्रों की बोलचाल के कई शब्दों का प्रयोग किया है—जैसे साइत, कुसाइत, मुरठा, डाँगर आदि। अंग्रेजी के कई शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने प्रचलित ग्रामीण रूपों में, अपनी कविताओं में किया है, जैसे टाइम, ट्रेन, लॉकेट आदि।

केदार की काव्य-प्रतिभा का सर्वाधिक वैभव उनकी बिम्ब-निर्माण क्षमता में दिखाई देता है। अनुकूल छन्द-विधान और शब्दावली से वे ऐसे सुगठित बिम्ब प्रस्तुत करते हैं जो सजीव और मार्मिक तो होते ही हैं, उनमें जीवन का यथार्थ भी प्रतिबिम्बित होता है। तूफान का यह बिम्ब देखिए—

मैं घोड़ों की दौड़ वनों के सिर पर तड़तड़ दौड़ा

और संघर्ष का कितने सुन्दर ढंग से प्रत्यक्षीकरण किया गया है—

तेज धार का कर्मठ पानी
चट्टानों के ऊपर चढ़कर

मार रहा है घूँसे कसकर
तोड़ रहा है तट चट्टानी।

केदार सूक्ष्म पर स्वस्थ संवेदनाओं के कवि हैं। वे अपनी पीढ़ी के उन प्रगतिशील कवियों में से एक हैं, जिन्होंने समय के साथ अपनी कविताओं को बदला है और नवीन शिल्प-शैली को अपनाया है। उनकी परवर्ती कविताओं में अभिव्यक्ति के कई ऐसे ढंग हैं, जो नवीन सौन्दर्य बोध के प्रतीक हैं। जैसे—

भूल सकता मैं नहीं
ये कुच-खुले दिन
ओठ से चूम गये
उजले धुले दिन

(फूल नहीं, रंग बोलते हैं, पृ. 57)

केदार के सौन्दर्यबोध पर विचार करते हुए शमशेर ने कहा है—केदार आँखों से पान किये हुए सौन्दर्य के कवि और कलाकार हैं। ध्वनियों को भी जब किसी विशेष प्रभाव के लिए उन्होंने बाँधा है, तो अच्छा बाँधा है, मगर उनके लिए वास्तव में रंग ही बोलते हैं।

साम्यवादी दल की सामयिक नीतियों को एकदम अचिन्तित भाव से स्वीकार कर लेने के कारण केदार के काव्य में कुछ कुत्सित समाजशास्त्रीय और कुछ कुत्सित मनोविज्ञानी वैचारिक स्थितियाँ देखने में आती हैं। 'जो शिलाएँ तोड़ते हैं' संकलन में संकलित उनकी एक कविता 'इकाई और समाज' में वे यह कहते हैं कि राम बंदरों और भालुओं, ''सबको अपना मित्र बनाकर/पूर्ति चाहते थे सबके बल पर अपनी ही काम नीति की / और नहीं उद्देश्य अन्य था किसी तरह का/ दोनों का वह युद्ध/ वासना की अतृप्ति का महासमर था।''

केदार का इन्द्रियबोध और भावबोध सशक्त है, पर स्वतंत्र ढंग से विचार की क्षमता उनमें लगभग नहीं है। अपने एक साक्षात्कार में वे सहज ढंग से स्वीकार करते हैं कि सोच-विचार कर परिस्थिति का विश्लेषण कर यह निश्चय करना कि कौन पक्ष सही है और कौन गलत, यह पार्टी का काम है, हम यह सब नहीं कर सकते। हम तो उसकी नीतियों का अनुसरण करते हुए कविता लिख सकते हैं। ऐसी वैचारिक बेचारगी शायद ही किसी और महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील कवि में मिले। इस वैचारिक अक्षमता के परिणामस्वरूप उनकी कविता में आज से 50 वर्ष पहले का वह भोला आस्थावादी स्वर आज भी मिल जाता है, जो मानवीय इतिहास के इस यातनापूर्ण अध्याय की विडम्बनाओं और बेहूदगियों से एकदम अप्रभावित है। आज, जब मार्क्सवादियों द्वारा 'घनघोर रूप से व्यक्तिवादी' घोषित किये गये कवि अज्ञेय तक

में इस तथ्य का प्रखर बोध है कि इतिहास में राम और रावण जीतते और हारते हैं, पर जिनके बनाए हुए पुलों से जीतने वालों की सेनाएँ विजय का अभियान सम्पन्न करती हैं, वे केवल बन्दर कहे जाते हैं। केदार के इस आस्थावाद को क्या कहा जाय? जो कहते हैं कि–

सब देशों में, सब राष्ट्रों में
शासक ही शासक मरते हैं
शोषक ही शोषक मरते हैं
किसी देश या किसी राष्ट्र की
कभी नहीं जनता मरती है।

जीवन-तथ्य

जन्म : 1 अप्रैल, 1911
जन्म-स्थान : कमासिन गाँव
पिता : हनुमान प्रसाद अग्रवाल (किसान, वैद्य और कवि)
माँ : घसीट्टो देवी (घसीटे जाने के कारण नामकरण)
पत्नी : पार्वती देवी
शिक्षा : आरंभिक शिक्षा गाँव में प्राइमरी स्कूल में, इर्विंग क्रिश्चियन कॉलेज से इंटर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी. ए., डीएवी कॉलेज कानपुर से लॉ किया।
कार्य : बाँदा में वकालत।
निधन : 22 जून, 2000

पुरस्कार और सम्मान

सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार (1973), उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ का 1979-80 का विशिष्ट पुरस्कार, अपूर्वा (1984) पर साहित्य अकादेमी का सम्मान (1986), मध्यप्रदेश साहित्य परिषद्, भोपाल का मैथिलीशरण गुप्त सम्मान (1990)।

मानद उपाधि

हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा 'साहित्य वाचस्पति' उपाधि (1989)।
बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, झाँसी द्वारा डी-लिट उपाधि (1995)।

प्रकाशन

काव्य-संग्रह–युग की गंगा, (मार्च, 1947), नींद के बादल (अगस्त, 1947), लोक

और आलोक (1957), फूल नहीं रंग बोलते हैं(1965), आग का आईना (1970), गुलमेहँदी (1978 युग की गंगा, नींद के बादल, लोक और आलोक की अधिसंख्य कविताएँ और कुछ नयी कविताएँ संकलित), आधुनिक कवि 16 (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1978), पंख और पतवार (1980), हे मेरी तुम (1981), मार प्यार की थापें (1981), बंबई का रक्त-स्नान (1981, यह रचना अगस्त 1946 के हंस में पहली बार प्रकाशित हुई थी), कहे केदार खरी-खरी (1983), संपादक डॉ. अशोक त्रिपाठी, (राजनीतिक कविताओं का संकलन), जमुन जल तुम(1984), (संपादक डॉ. अशोक त्रिपाठी, 1932 से 1976 तक की प्रेम कविताओं का संकलन), अपूर्वा (1984), बोले बोल अबोल (1985), जो शिलाएँ तोड़ते हैं (1986), (संपादक डॉ. अशोक त्रिपाठी, 1931 से 1948 तक की कविताओं का संकलन), आत्मगंध (1988), अनहारी हरियाली (1990), खुली आँखें खुले डैने (1993), पुष्पदीप (1994), बसंत में प्रसन्न पृथ्वी (1996), 1936 से 1960 तक की असंकलित कविताएँ, कुहकी कोयल खड़े पेड़ की देह (1997)।

अनुवाद–देश-देश की कविताएँ (पाब्लो नेरूदा और अन्य कवियों की कविताएँ 2010)।

निबन्ध-संग्रह–समय-समय पर (1970), विचार-बोध (1980), विवेक-विवेचन (1981)।

उपन्यास–पतिया (1985)।

यात्रा-वृत्तांत–बस्ती खिले गुलाबों की (1975) रूस का यात्रा-वृत्तांत।

पत्र-साहित्य–मित्र-संवाद (भाग-1 तथा भाग-2, 2010, केदारनाथ अग्रवाल और रामविलास शर्मा के पत्रों का संकलन); संपादक रामविलास शर्मा, अशोक त्रिपाठी।

('अक्सर' जयपुर के मार्च 2011 के अंक से)

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

❑ **अरुण देव**

सियालकोट में 1911 में जन्म। इंग्लिश और अरबी में एम. ए.। एलिस जार्ज से विवाह। इंग्लिश में पाकिस्तान टाइम्स और उर्दू में इमरोज का संपादन किया। 1951 से 1955 तक रावलपिंडी केस के सिलसिले में जेल में रहे। 1958 में फिर गिरफ्तार। 1959 में रिहाई। नक्श-ए-फरियादी (1941), दस्त-ए-सबा(1942), जिन्दानामा (1946), दस्त-ए-तह-ए-संग (1964), शाम-ए-याराँ (1978), मेरे दिल मेरे मुसाफिर (1980) आदि प्रमुख कविता-संग्रह प्रकाशित। लेनिन शांति पुरस्कार (1963)। साहित्य के नोबेल पुरस्कार के लिए नामित (1984)। 20 नवम्बर, 1984 को निधन।

फ़ैज़ विश्व काव्य-मंच पर एशिया के प्रतिनिधि कवि हैं। अपने देश और अन्य देशों की जन-विरोधी सत्ता के विरोधी और विद्रोही। एक निर्वासित कवि। फ़ैज़ की काव्य-यात्रा उपनिवेश और नवजागरण की संधिवेला से प्रारम्भ होती है। यह निशीथ और अरुणोदय का समय एक साथ है। शब साम्राज्यवाद और परम्परा की, रूढ़ियों की, सहर नई चेतना और स्वाधीनता की आकांक्षा की।

उर्दू कविता अपने अभिजात्य और अंदाजे-बयाँ के लिए जानी जाती है। उसकी प्रतीकात्मकता और व्यापकता ने उसे मकबूल बनाया है। आशिक और महबूब की शीरीं गुफ्तगू में जाहिर है, आपबीती अधिक है। जगबीती कहीं है भी तो आपबीती के ही संदर्भ में। इस गुफ्तगू का केन्द्र इश्क है—सूफियाना, रहस्यवादी इश्क। जहाँ वस्ल से अधिक हिज्र को तरज़ीह दी जाती है। प्रसिद्ध आलोचक कलीमुद्दीन अहमद ने ‘उर्दू-शायरी पर एक नजर’ में लिखा है—उर्दू-शायरी में यदि कुछ कमी है तो वह है संसार-निरीक्षण की। उसकी आँखें दिल की ओर देखती हैं, वे सदा दिली जज्बात की सैर में निमग्न रहती हैं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह संसार की बहुरंगी से नितान्त अनभिज्ञ हैं; किन्तु इतनी बात अवश्य है कि इस बहुरंगी की ओर उसका ध्यान नहीं है।

फ़ैज़ इश्क और हुस्न को उसकी शास्त्रीयता में देखते जरूर हैं, पर उसे रहस्यवादी

रूमानियत से निकालकर रोज़-ब-रोज़ के जीवन से जोड़ देते हैं। यह इश्क इंसानी है—शरीरी और ऐन्द्रिक। यह आदम का वह प्रेम है जिसके दीगर मसाइल भी हैं। ग़मे-जाना के साथ ही साथ ग़मे-रोज़गार भी है। जा-ब-जा बिकते हुए जिस्म औ जाँ पर उसकी सोचती हुई नजर ठहर जाती है। जुल्म और सितम उसे कुछ और सोचने पर विवश करते हैं। वस्ल की राहत के सिवा वह कहीं और भी राहत ढूँढता है। यह वह नवजागरणकालीन नवयुवक है, जो समय और समाज में हो रहे परिवर्तनों से अपने को जोड़ने की कोशिश कर रहा है। यहाँ इश्क की हेठी नहीं है, न महबूब का तिरस्कार। उसका हुस्न अभी तक दिलकश है और उसकी आँखों के सिवाय दुनिया में कुछ नहीं रखा है। वह बहुत कुछ है, पर सब कुछ नहीं। हुस्न और इश्क उसे समाज से काटते नहीं, जोड़ते हैं। उसकी संवेदनशीलता में इजाफ़ा करते हैं। जिस पेशानी, रुखसार, होठ पर कभी वह जिंदगी लुटाने की बात कहता था, वहीं से अब वह सर्द-आहों और जर्द-चेहरों के मानी तलाशता है। अब उसे बाजार में बिकते हुए मजदूरों के गोश्त दिखते हैं और राजपथ पर बहता हुआ गरीबों का लहू। फ़ैज़ की शायरी नातवानों के निवालों पर झपटने वाले उकाब से उलझती है। स्त्री-पुरुष के रिश्ते आशिक और महबूब के रिश्तों की कैद से बाहर भी निकलते हैं। वस्ल और फिराक से परे भी इनके बीच कुछ है। बराबरी की एक दोस्ती का पता मिलता है इन ग़ज़लों में। मर्द और औरत की रवायती समझ से आगे की राह है फ़ैज़ में।

फ़ैज़ ने 1929 में ही नज़्में लिखना शुरू कर दिया था। उनका पहला कविता-संग्रह नक्शे-फरियादी 1941 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में उनकी एक नज़्म का शीर्षक है—‘मौजू-ए-सुखन’। इसमें कविता सम्बन्धी उनके विचार हैं। देश की आजादी से पहले फैज की शायरी में रवायत और नवजागरणकालीन विचारों का समन्वय है। अपने अफकार की अशआर की दुनिया है यही। जान-ए-मज़ूँ है यही शाहिद-ए-माना है यही।

हुस्न की वही धज है। वही ख्वाबीदा-सी आँखें। संदली हाथ और हिना की तहरीर, उस शोख के आहिस्ता से खुलते हुए होंठ और जिस्म के दिल-आबेज खुतूत। गरज़ कि परम्परा से प्राप्त वह सारी चीजें यहाँ हैं। पर ये अजब ढंग से औपनिवेशिक हिन्दुस्तान में परवरिश पा रहे उस युवा को तन्हा कर देती हैं। यह एकांत विरह में करवट बदलने वाला एकांत न होकर सोच और समझ की जमीन तैयार करने की भूमिका है। फ़ैज़ जब कहते हैं—

ढल चुकी रात, बिखरने लगा तारों का गुब्बार,
लड़खड़ाने लगे एवानों में ख्वाबीदा चिराग।

तो बरबस उस मध्यकालीन संस्कृति की याद आती है जिसके लौट आने की न संभावना है न चाहत ही। गालिब जहाँ इस तहजीब के पतन की विवशता और बेफिक्री के

शायर हैं वहीं फ़ैज़ के यहाँ विकल्प होने की उम्मीद है। जुल्म की छाँव के ढलने का यहाँ सिर्फ इंतजार नहीं, उसके ढल जाने का विश्वास भी है।

परम्परा से प्राप्त ग़ज़ल के सौंदर्य और उसकी रसास्वादन करने की क्षमता से फ़ैज़ बख़ूबी परिचित हैं, और उनका इस पर इख़्तियार भी है, पर उसकी भूमिका को लेकर एक उधेड़बुन उनके यहाँ है। आजादी और बोलने के साहस का नजदीकी रिश्ता स्वाधीनता की चेतना से है। जन-विरोधी सत्ताएँ सोच और अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करके ही शासन कर पाती हैं। तरह-तरह के हथकंडे इस्तेमाल कर स्मृतियों को विकृत कर उन्हें नष्ट करना चाहती हैं। स्मृति से ही गरिमा और स्वाधीनता के फूल खिलते हैं। यह अकारण नहीं है कि नवजागरणकालीन साहित्य में अतीत की पुनर्व्याख्या है वह चाहे मैथिलीशरणगुप्त हों, रवीन्द्रनाथ टैगोर हों या फिर हाली। फ़ैज़ की नज़्मों के लब आज़ाद हैं, शब्द देखते-देखते लोहार की भट्टी में तपते लोहे में बदल जाते हैं, जिनसे जुल्म की जंजीरे काटनी हैं।

आज़ादी के बाद फ़ैज़ ने पाकिस्तान में रहना शुरू कर दिया। इस राजनीतिक आज़ादी से आगे अभी सामाजिक और सांस्कृतिक आज़ादी की जंग बाकी थी। इस आज़ादी को वह अधूरा समझते हैं—शबगजीदा सहर। एक ऐसी सुबह जिस पर रात का साया हो। इस रास्ते पर दुश्वारियाँ थीं। 1951 और 1958 में उन्हें जेल में डाल दिया गया। इल्जाम था देशद्रोह—

फ़ैज़ उनको है तकाज़ा-ए-वफ़ा हमसे जिन्हें।
आशना के नाम से प्यारा है बेगाने का नाम।

फ़ैज़ को पहली बार अपनी कविता से असंतोष हुआ। वह साहित्य की भूमिका के बारे में सचेत हुए। उर्दू शायरी परम्परा की आत्ममुग्धता से टकराकर आत्मालोचन के लिए विवश हुई। अब ऐसे गीत, जिनमें आबशारों और चमनजारों का जिक्र रहता था और जहाँ गुलचीं के लिए झुक जाते थे खुद शाख-ए-गुलाब, शीरीं न रहे, दुःख का मदावा न थे।

फ़ैज़ ने उर्दू कविता का मुहावरा बदल दिया। इस दौर की उनकी नज्मों की प्रकृति सामुदायिक है और उनमें सम्बोधन का साहस है। अब यह एकांत व्यापार नहीं है जिसका लहजा गुफ्तगू-सा था। यह ललकार है। उनके सामने जुल्म सितम से पिसती वह जनता है, जिसके संघर्ष और उम्मीद को वाणी देना है—

ऐ ख़ाक-नशीनो उठ बैठो, वो वक्त करीब आ पहुँचा है।
जब तख्त गिराये जायेंगे, जब ताज़ उछाले जायेंगे।
कटते भी चलो, बढ़ते भी चलो,
बाजू भी बहुत हैं सर भी बहुत।
चलते भी चलो के, अब डेरे मंज़िल ही पे डाले जायेंगे।

यह वह समय है जब फ़ैज़ के अल्फ़ाज तल्ख हो गये, पर नाउम्मीद नहीं। निराशा की सख्त सुनसान घड़ी में भी फ़ैज़ उम्मीद और हिम्मत का दामन नहीं छोड़ते। अँधेरा जितना गाढ़ा होता जाता, उम्मीद की तलाश भी उतनी ही तेज होती जाती। फैज तो कई बार वहम की शर्त पर भी उम्मीद की तलाश करते हैं!

जो कविता महबूब के पेंचोखम में गुम थी, उसमें इन्कलाब के शोले भर गए। फैज ने इन्कलाब का मानवीकरण कर दिया। वह महबूब की ही तरह दिलकश हैं। विश्व की पीड़ित मानवता का दर्द उनकी शायरी में मुखर हुआ। आज़ादी के लिए संघर्षरत ईरानी छात्रों के समर्थन में कविता लिखी। अफ्रीका और फिलिस्तीन के संघर्ष से अपने को जोड़ा। फ़ैज़ प्रगतिशील आंदोलन से आजीवन जुड़े रहे। उनकी कविताओं में जो धार और वैचारिक परिपक्वता है, उसका आधार यही है। इसके साथ ही उन्होंने उर्दू कविता की कलात्मक शास्त्रीयता की भी रक्षा की और उसमें इजाफ़ा भी किया है। फ़ैज़ ने मज़ाज के बारे में लिखा है—मज़ाज इन्कलाब का ढिंढोरची नहीं, इन्कलाब का मुतरिब है। यही बात फ़ैज़ के लिए भी सही है।

फ़ैज़ ने कुछ मीठे गीत लिखे हैं। इन गीतों की चर्चा नहीं होती। एक बड़ा कवि अपनी प्रतिभा से ख़याल के हर गोशे को कैसे रौशन कर देता है, देखना हो तो फ़ैज़ के गीत देखने चाहिए। लोकगीत के कंठ से फ़ैज़ के अल्फाज जैसे लोरी में बदल गये हों। नदी की तरह धीरे-धीरे बहती इस सुरा का रस देर तक घुलता रहता है। इन गीतों में सखियाँ काली रात में कहीं दिया जलाने की बात करती हैं तो कहीं पक्षियों और भँवरों और जुगनुओं से बात करती हैं—

प्रेम कथा का अन्त न कोई
कितनी बार उसे दोहराएँ
प्रीत की रहत अनोखी साजन
कुछ नहीं माँगें सब कुछ पाएँ
फ़ैज़ उनसे क्या बात छुपी है
हम कुछ कहकर क्यूँ पछताएँ।

भाषा की दीवार ढह गई है—न उर्दू न हिंदी। मादरीजबान। भोजपुरी की ओर झुकती हुई हिन्दुस्तानी। हिन्दुस्तानी का यह वह भूला पथ है, खुसरो ने जिसकी राह बनाई थी। खुसरो को समर्पित एक कविता में फैज उन्हें मददगार पीर कहते हैं।

साहू जैन कॉलेज, नजीबाबाद
(बिजनौर, उ. प्र.) मोबाइल : 0941265938

फ़ैज़ के बारे में निदा फ़ाजली कहते हैं—''फ़ैज़ सूफी संतों के क्षेत्र में पंजाब के शहर स्यालकोट में पैदा हुए। वारिस शाह, बुल्लेशाह, शाह हुसैन आदि की मुहब्बतों

की विरासत को उन्होंने अंग्रेजी, अरबी, उर्दू और हिन्दी के गहरे अध्ययन से और भी अमीर बनाया। फ़ैज़ का ठंडा मिजाज और इंसानी दोस्ती जो उनके शब्दों में झाँकती है और जिसने उनकी लोकप्रियता को सरहदों और सीमाओं से हमेशा आज़ाद रखा, इसी आबो-हवा की देन है। फ़ैज़ इसी मिजाज की वजह से सरहदों को हमेशा फलाँगते रहते हैं। एलिस जॉर्ज से उनकी शादी इसी सोच की देन थी। उनकी सोच की इसी व्यापकता ने उन्हें पाकिस्तान में पाकिस्तान का दुश्मन करार देकर 5 साल रावलपिंडी केस का अपराधी ठहराया। कई बार वतन से बेवतन बनाया। कई महीनों तक भारत में इधर-उधर भटकाया, लेकिन बचपन की परवरिश ने उनके अंदर जो शोला भड़काया था, वह अंत तक नहीं बुझ पाया। फ़ैज़ की शाइरी में जो इंसान दिखाई देता है, वह पहली बार गालिब के यहाँ नजर आता है। गालिब ने भारतीय इतिहास में पहली बार आदमी और इंसान के फर्क को दर्शाया था। गालिब का शे'र है—

बस कि दुश्वार है हर काम का आसाँ होना,
आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसाँ होना।

फ़ैज़ ने अपने शब्दों के प्रकाश में आदमियों की भीड़ में इसी इंसान की तलाश की है। इसी इंसान का ख्वाब देखा है। इसी के सुख-दुःख को गीत बनाकर गाया है। यह इंसान न तो हिन्दुस्तानी है, न ही पाकिस्तानी और न ही इंग्लिस्तानी। उसका सारा जहान है। उस इंसान से निरन्तर संवाद ही को उन्होंने अपनी शाइरी बनाया है—

हमसे जितने सुखन तुम्हारे थे,
हमने सब शेर में सँवारे थे।

हिन्दी में उर्दू शायरों की अपनी बेजोड़ प्रस्तुति की शृंखला की भूमिका में प्रकाश पंडित कहते हैं—यह एक बड़ी विचित्र लेकिन प्रशंसनीय वास्तविकता है कि प्राचीन और नवीन शायरों की महफ़िल में खपकर भी 'फ़ैज़' की अपनी एक अलग हैसियत है। उसने काव्य-कला के नियमों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया, और न कभी अपनी अद्वितीयता प्रकट करने के लिए 'मीराजी' (उर्दू के एक प्रयोगवादी शायर) की तरह यह कहा है कि ''अकसरियत (बहुजनों) की नज़्में अलग हैं और मेरी नज़्में अलग; और चूँकि दुनिया की हर बात हर शख्श के लिए नहीं होती इसलिए मेरी नज़्में भी सिर्फ़ उनके लिए हैं जो उन्हें समझने के अहल हों।'' फिर भी उसके किसी शे'र पर उसका नाम पढ़े बिना हम बता सकते हैं कि यह 'फ़ैज़' का शे'र है। 'फ़ैज़' की शाइरी की 'अद्वितीयता' आधारित है उसकी शैली के लोच और मंदगति पर; कोमल, मृदुल और सौ-सौ जादू जगाने वाले शब्दों के चयन पर, ''तरसी हुई नाकाम निगाहें'' और ''आवाज़ में सोई हुई शीरीनियाँ'' जैसी अलंकृत परिभाषाओं और रूपकों पर, और इन समस्त विशेषताओं के साथ गूढ़ से गूढ़ बात कहने के सलीक़े पर।

अपनी शाइरी की तरह अपने व्यक्तिगत जीवन में भी उसे किसी ने ऊँचा बोलते नहीं सुना। बातचीत के अतिरिक्त मुशायरों में भी वह इस तरह अपने शे'र पढ़ता है जैसे उसके होंठों से यदि एक ज़रा ऊँची आवाज़ निकल गई तो न जाने कितने मोती चकनाचूर हो जायेंगे। वह सेना में कर्नल रहा, जहाँ किसी नर्मदिल व्यक्ति की गुंजाइश नहीं होती। उसने कॉलेज की प्रोफ़ेसरी की, जहाँ कॉलेज के लड़के प्रोफ़ेसर तो प्रोफ़ेसर शैतान तक को अपना स्वभाव बदलने पर विवश कर दें। उसने रेडियो में नौकरी की, जहाँ अपने मातहतों को न डाँटने का स्वभाव अफ़सर की नालायक़ी समझी जाती है। उसने पत्रकारिता-जैसा जान-जोखम का पेशा भी अपनाया और फिर जब पाकिस्तानी सरकार ने इस देवता-स्वरूप व्यक्ति को हिंसात्मक विद्रोह का आरोप लगाकर जेल में डाल दिया, तब भी मेजर मोहम्मद इसहाक़ ('फ़ैज' के जेल के साथी) के कथनानुसार ''कहीं पास-पड़ोस में तू-तू, मैं-मैं हो, दोस्तों में तल्ख़-कलामी हो, या यूँ ही किसी ने त्योरी चढ़ा रखी हो, 'फ़ैज' की तबीयत जरूर खराब हो जाती थी और इसके साथ ही शाइरी की कैफ़ियत (मूड) भी काफ़ूर हो जाती थी।''

'फ़ैज़' के स्वर की यह नर्मी और गंभीरता उसके प्राचीन साहित्य के विस्तृत अध्ययन और मौलिक रूप से रोमांटिक या स्वच्छन्दतावादी शायर होने की देन है। लेकिन उसकी स्वच्छन्दता चूँकि भौतिक संसार की स्वच्छन्दता है (प्रारम्भ की कुछ नज़्मों को छोड़कर) और शायर का कर्तव्य उसके मतानुसार यह है कि वह जीवन से अनुभव प्राप्त करे और उस पर अपनी छाप लगाकर उसे फिर से जीवन को लौटा दे, इसलिए उसने बहुत शीघ्र सुर्ख होंठों पर तबस्सुम की ज़िया, मरमरी हाथों की लर्ज़िशों, मखमली बाँहों और दमकते हुए रुख्सारों के सुनहले पर्दों के उस पार वास्तविकता की झलक देख ली। आरज़ूओं के मक़तल, भूख उगाने वाले खेत, ख़ाक में लिथड़े और खून में नहाये हुए जिस्म, बाज़ारों में बिकता हुआ मज़दूर का गोश्त और नातवानों के निवालों पर झपटते हुए उक़्क़ाब देख लिये और कहने को तो उसने अपनी प्रेयसी से कहा लेकिन वास्तव में वह अपनी स्वच्छन्दतावादी शाइरी से सम्बोधित हुआ—

अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजै
और भी दुख हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा,
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा,
मुझसे पहली-सी मोहब्बत मेरी महबूब न माँग!

और फिर स्वच्छन्दता से पूर्णतया मुक्त उसने राजनीतिक नज़्में भी लिखीं और देश-प्रेम को ठीक उसी वेदना और व्यथा के साथ व्यक्त किया जैसा कि प्रेयसी के प्रेम को किया था।

कैसी आश्चर्यजनक वास्तविकता है कि केवल चंद नज़्मों और चंद ग़ज़लों का शायर होने पर भी 'फ़ैज़' की शाइरी एक बाक़ायदा 'स्कूल ऑफ़ थॉट' का दर्जा रखती है और नई पीढ़ी का कोई उर्दू शायर अपनी छाती पर हाथ रखकर इस बात का दावा नहीं कर सकता कि वह किसी-न-किसी रूप में 'फ़ैज़' से प्रभावित नहीं हुआ। रूप और रस, प्रेम और राजनीति, कला और विचार का जैसा सराहनीय समन्वय फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़' ने प्रस्तुत किया है और प्राचीन परम्पराओं पर नवीन परम्पराओं का महल उसारा है, निःसंदेह यह उसी का हिस्सा है और आधुनिक उर्दू शाइरी उसकी इस देन पर जितना गर्व करे, कम है।

पेरियार ललईसिंह यादव

❑ **राजवीर सिंह**

कर्मवीर पेरियार ललईसिंह यादव का जन्म 1 सितम्बर, 1911 को ग्राम—कठारा, रेलवे स्टेशन—झींझक, जिला—कानपुर देहात के एक समाज सुधारक सामान्य कृषक परिवार में हुआ था। पिता चौ. गुज्जू सिंह यादव एक कर्मठ आर्यसमाजी थे। इनकी माता श्रीमती मूलादेवी, उस क्षेत्र में जनप्रिय नेता चौ. साधौ सिंह यादव की पुत्री थीं।

ललईसिंह यादव ने सन् 1928 में हिन्दी के साथ उर्दू लेकर मिडिल पास किया। सन् 1929 से 1931 तक फॉरेस्ट गार्ड रहे। 1931 में ही इनका विवाह श्रीमती दुलारी देवी, पुत्री चौ. सरदार सिंह यादव ग्राम—जरैला, निकट रेलवे स्टेशन रूरा, जिला—कानपुर के साथ हुआ। 1933 में सशस्त्र पुलिस कम्पनी जिला—मुरैना (मध्य प्रदेश) में कान्स्टेबिल पद पर भर्ती हुए।

सन् 1946 ई. में नान गजटेड मुलाजिमान पुलिस ॲण्ड आर्मी संघ ग्वालियर कायम करके उसके अध्यक्ष चुने गए। हिन्दी में **'सिपाही की तबाही'** किताब लिखी, जिसने कर्मचारियों को क्रांति के पथ पर अग्रसर किया। इन्होंने आज़ाद हिन्द फौज की तरह ग्वालियर राज्य की आज़ादी के लिए जनता तथा सरकारी मुलाजिमान को संगठित करके पुलिस और फौज में हड़ताल कराई। जवानों से कहा कि—

बलिदान न सिंह का होते सुना,
बकरे बलि वेदी पर लाए गये।
विषधर को दूध पिलाया गया,
केंचुए कँटिया में फँसाए गये।
न काटे टेढ़े पादप गये,
सीधों पर आरे चलाए गये।
बलवान का बाल न बाँका भया
बलहीन सदा तड़पाये गये।

तथा—

हमें रोटी कपड़ा मकान चाहिए,
शिक्षा और सम्मान चाहिए।

दिनांक 29-03-47 को ग्वालियर स्टेट के स्वतंत्रता संग्राम के सिलसिले में पुलिस व आर्मी में हड़ताल कराने के आरोप में धारा 131 भारतीय दण्ड संहिता के अंतर्गत साथियों सहित राजबन्दी बने। दिनांक 06-11-1947 ईस्वी को स्पेशल क्रिमिनल सेशन जज ग्वालियर ने 5 वर्ष स-श्रम कारावास तथा पाँच रुपये अर्थ-दण्ड दिया। दिनांक 12-01-1948 को साथियों सहित बंधन मुक्त हुए।

उसी समय स्वाध्याय में जुट गये। एक के बाद एक इन्होंने श्रुति, स्मृति, पुराण और विविध रामायणें भी पढ़ीं।

हिन्दू शास्त्रों में व्याप्त घोर अंधविश्वास, विश्वासघात और पाखण्ड से वह तिलमिला उठे। स्थान-स्थान पर ब्राह्मण महिमा का बखान तथा दबे, पिछड़े, शोषित समाज की मानसिक दासता के षड्यन्त्र से वह व्यथित हो उठे। ऐसी स्थिति में इन्होंने धर्म छोड़ने का मन भी बना लिया। अब वह इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि समाज के ठेकेदारों द्वारा जानबूझकर सोची-समझी चाल और षड्यन्त्र से शूद्रों के दो वर्ग बना दिये गये हैं।

उनका कहना था कि सामाजिक विषमता का मूल, वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था, ही है। सामाजिक विषमता का विनाश सामाजिक सुधार से नहीं अपितु इस व्यवस्था की समाप्ति में ही समाहित है। अब तक इन्हें यह स्पष्ट हो गया था कि विचारों के प्रचार-प्रसार का सबसे सबल माध्यम साहित्य ही है। इन्होंने यह कार्य अपने हाथों में लिया। सन् 1925 में इनकी माताश्री, 1939 में पत्नी, 1946 में पुत्री शकुन्तला और सन् 1953 में पिताश्री चार महाभूतों में विलीन हो गये थे। वे अपने पिताजी के इकलौते पुत्र थे। पहली स्त्री के मरने के बाद दूसरा विवाह कर सकते थे। किन्तु क्रान्तिकारी विचारधारा होने के कारण इन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। सोचा कि शादी स्वतंत्रता की लड़ाई में बाधक होगी। दक्षिण भारत के महान् क्रान्तिकारी पेरियार ई. वी, रामास्वामी नायकर के उस समय उत्तर भारत में कई दौरे हुए। वह इनके सम्पर्क में आये। जब पेरियार रामास्वामी नायकर से सम्पर्क हुआ तो इन्होंने उनके द्वारा लिखित 'रामायण ए टू रीडिंग'' में विशेष अभिरुचि दिखाई। दोनों में इस पुस्तक के प्रचार-प्रसार को सम्पूर्ण भारत विशेषकर उत्तर भारत में करने पर विशेष चर्चा हुई। इस पुस्तक के हिन्दी में प्रकाशन की अनुमति पेरियार रामास्वामी नायकर ने ललईसिंह यादव को 01-07-1968 को दी।

इस पुस्तक 'सच्ची रामायण' के हिन्दी में 01-07-1969 में प्रकाशन से सम्पूर्ण उत्तर तथा पश्चिम भारत में एक तहलका-सा मच गया। पुस्तक प्रकाशन को अभी 1

वर्ष बीता भी नहीं बीता था कि उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा 08-12-69 को पुस्तक जब्ती का आदेश प्रसारित हो गया कि यह पुस्तक भारत के एक समुदाय की धार्मिक भावनाओं को जानबूझकर चोट पहुँचाने तथा उनके धर्म का अपमान करने के लक्ष्य से लिखी गयी है। उपर्युक्त आज्ञा के विरुद्ध प्रकाशक ललईसिंह यादव ने हाई कोर्ट ऑफ जुडीकेचर इलाहाबाद में याचिका 28-02-70 को प्रस्तुत की। तीन जजों की स्पेशल फुल बेंच इस केस को सुनने के लिए बनाई गई। बहस दिनांक 26-27 व 28 अक्टूबर 1970 को लगातार तीन दिन चली। दिनांक 19-01-71 को माननीय जस्टिस श्री ए. के. कीर्ति, जस्टिस के. एन. श्रीवास्तव तथा जस्टिस हरी स्वरूप ने बहुमत से निर्णय दिया कि—

1. उत्तर प्रदेश सरकार की पुस्तक 'सच्ची रामायण' की जप्ती की आज्ञा निरस्त की जाती है।
2. जप्तशुदा पुस्तकें 'सच्ची रामायण' अपीलांट ललईसिंह यादव को वापस दी जाएँ।
3. सरकार की ओर से अपीलांट ललईसिंह यादव को तीन सौ रुपये खर्चे के दिलाये जाएँ।

ललईसिंह यादव द्वारा प्रकाशित **'सच्ची रामायण'** का प्रकरण अभी चल ही रहा था कि उत्तर प्रदेश सरकार के 10 मार्च, 1970 के आदेश द्वारा **'सम्मान के लिए धर्म-परिवर्तन करें'** नामक पुस्तक जिसमें डॉ. आम्बेडकर के कुछ भाषण थे तथा उनकी **'जाति-भेद का उच्छेद'** नामक पुस्तक 12 सितम्बर, 1970 को चौ. चरण सिंह की सरकार द्वारा जब्त कर ली गयी। इसके लिए भी ललईसिंह यादव ने श्री बनवारी लाल यादव एडवोकेट के सहयोग से मुकदमे की पैरवी की। और 14 मई, 1971 को उत्तर प्रदेश सरकार की इन पुस्तकों की जब्ती की कार्यवाही निरस्त कराई। उपर्युक्त पुस्तकें जनता को भी सुलभ हो सकीं।

हाई कोर्ट में हारने के बाद उत्तर प्रदेश सरकार ने सुप्रीम कोर्ट दिल्ली में अपील दायर कर दी। वहाँ भी अपीलांट उत्तर प्रदेश सरकार की हार हुई, अर्थात् श्री ललई सिंह यादव की जीत हुई और 'सच्ची रामायण' प्रतिबन्ध मुक्त रही।

कोर्ट की फुलबेंच में माननीय जस्टिस पी.एन. भगवती, जस्टिस वी. आर. अय्यर तथा जस्टिस मुर्तजा फाजिल अली थे।

महान् क्रान्तिकारी पेरियार ई. वी. रामास्वामी नायकर जो गड़रिया (पाल-बघेल) जाति के थे, के संघर्षमय जीवन का लम्बा इतिहास है। 20 सितम्बर, 1973 की सुबह वे चार महाभूतों में समाहित हो गये। इनकी मृत्यु के पश्चात् एक विशाल सभा में चौ. ललईसिंह यादव को भी भाषण के लिए बुलाया गया। रामास्वामी नायकर की श्रद्धांजलि सभा में दिये गये इनके भाषण पर दक्षिण भारतीय मुग्ध हो गये। इनके भाषण की समाप्ति पर नारे लगाये गये कि अब हमारा अगला पेरियार ललईसिंह है।

इस घटना के बाद से ही इनके नाम से पूर्व पेरियार शब्द का शुभारम्भ हुआ।

दक्षिण भारत में पेरियार निर्भीक अथवा सागर के अर्थों में प्रयोग किया जाने वाला सम्मान सूचक शब्द है।

साहित्य प्रकाशन के लिए उन्होंने एक के बाद एक, तीन प्रेस खरीदे। शोषित, पिछड़े समाज में स्वाभिमान जगाने तथा उनमें व्याप्त अज्ञान, अंधविश्वास, जातिवाद तथा ब्राह्मणवादी परम्पराओं को ध्वस्त करने के उद्देश्य से वह लघु साहित्य के प्रकाशन की धुन में अपनी उनसठ बीघे सरसब्ज-जमीन कौड़ियों के भाव बेच, प्रकाशन के कार्य में आजीवन जुटे रहे।

ललईसिंह यादव का कहना था कि सम्पूर्ण भारत में अन्य वर्गों की अपेक्षा पिछड़े वर्ग के सदस्यों की संख्या अधिक है। यह वर्ग आर्थिक रूप से कुछ सम्पन्न भी है। उनका मानना था कि यदि पिछड़े वर्ग के लोग अपनी मानसिक गुलामी को छोड़ दें तो अन्य वर्गों को कहीं अधिक पीछे छोड़ सकते हैं। अच्छे-अच्छे पढ़े-लिखे लोग भी इस मानसिक दासता से मुक्त नहीं हैं। पढ़े-लिखे नर-नारियों द्वारा सूर्य को जल चढ़ाना, गंगा में पैसे डालना, न जानते हुए भी परम्परागत रूढ़ियों को मानना उनकी मानसिक गुलामी के लक्षण हैं।

इनका कहना था कि अन्धविश्वास, कूप-मंडूकता व मूढ़तता सबसे बड़ी बीमारी है। जिन पुजारी, पंडा, मौलवी, मुल्ला, पादरी तथा पूँजीपतियों को इसके द्वारा शोषण की चाट लगी है वे इस बीमारी को समाप्त नहीं होने देते हैं। अतः जिन्हें यह बीमारी है, वे स्वतः इससे मुक्ति ज्ञान-विज्ञान द्वारा प्राप्त करें।

गौतम बुद्ध के उपदेश, कि ''आप अपना दीपक स्वयम् बनें'' के अनुसार मनुष्य अपनी फिजूलखर्ची और बुरे व्यसनों को रोककर जो काम वह आसानी से कर सकता है, करने में स-परिवार जुट जायें, धीरे-धीरे अधिक आमदनी वाले पेशे को अपनायें।

दिसम्बर 2006 में 'पेरियार ललईसिंह यादव जन जागृति संस्थान' का पंजीयन कराया गया था। संस्थान के कार्यकारी अध्यक्ष के. एल. राजवंशी तथा महासचिव राजवीर सिंह सम्पादक हैं। उत्तर प्रदेश के लगभग 10 जनपदों में संस्थान की इकाई स्थापित हो गयी है। संस्थान का रजिस्ट्रेशन सं. 2427 दिनांक 26-12-2006 है। इस संस्थान के द्वारा सामाजिक क्रान्तिकारी साहित्य की पुस्तकें तथा वेदों, पुराणों स्मृतियों, उपनिषदों, रामायण, गीता व महाभारत आदि के उन अंशों की आलोचनाएँ प्रकाशित की जाती हैं जो मानव प्रगति में बाधक हैं।

दिनांक 7 फरवरी, 1993 की रात्रि 11-10 पर ब्राह्मणवाद को मिटाकर मानववाद लाने का वह प्रबल हिमायती हमारे बीच से उठ गया।

मोबाइल : 09415972928

रामविलास शर्मा

❑ प्रो. शंभुनाथ

बीसवीं सदी में प्रेमचंद के बाद रामविलास शर्मा दूसरे बड़े साहित्यकार हैं, जिन्होंने भारतीय धरती पर सामंतवाद और साम्राज्यवाद से जीवन भर वैचारिक संघर्ष किया। उन्होंने हिंदी आलोचना को जो व्यापकता और ऊँचाई दी, वह बेजोड़ है। वे शुरू में कविताएँ लिख रहे थे। उन्होंने उपन्यास और नाटक लिखना भी शुरू किया। उनकी आरंभिक रुचि रचनात्मक लेखन में थी, हालाँकि, उन्हें विभिन्न घटना-क्रमों के मध्य अंततः अहसास हो गया, ''अनजाने ही, तैयारी मैं आलोचक बनने की कर रहा था।''

रामविलास शर्मा अंग्रेज़ी के विद्यार्थी थे। उन्हें अंग्रेज़ी का ही अध्यापक बनना था। 1934 में निराला से मिलने के बाद उन्होंने हिंदी साहित्य की सेवा करने को अपने जीवन का ध्येय बनाया, 'हिंदुस्तान की उन्नति के लिए हिंदी साहित्य की उन्नति अनिवार्य है।'' भारतीय आज़ादी की देहरी पर जब पश्चिम का आकर्षण बढ़ता जा रहा था, अंग्रेज़ी में निष्णात किसी व्यक्ति के लिए यही स्वाभाविक था कि वह साहित्य, इतिहास, भाषाविज्ञान, समाज विज्ञान, दर्शन, संगीत आदि विषयों पर अंग्रेज़ी में लिखकर ही गर्व का अनुभव करता। रामविलास शर्मा ने हिंदी में लिखने का भिन्न रास्ता चुना। इस तरह उनके बौद्धिक मानस में राष्ट्रीय जागरण का सिलसिला बना हुआ था। उनका लेखन इसका गवाह है कि आलोचना एक कितने बड़े सामाजिक दायित्व का काम है। इसे इतना अर्थपूर्ण और बहुआयामी बनाया जा सकता है कि हिंदी साहित्य की समस्त उन्नति झलक जाए और इसके साथ हिंदुस्तान की सांस्कृतिक अंतःशक्ति भी।

रामविलास शर्मा की आलोचना के अनोखेपन, पारदर्शिता और विस्तार के कई सूत्र उनके जीवन, व्यक्तित्व और संघर्षों में हैं। उनका जीवन निजी संघर्षों और राजनीतिक घटनाओं से भरा हुआ है। वे अनगिनत विवादों के बीच रहे हैं। आधुनिकतावादी चुनौतियों के दौर में प्रगतिशील साहित्य की समझ के केन्द्र में भी। हिंदी क्षेत्र की सामाजिक संरचना जटिल है। हिंदी का साहित्यिक माहौल भी सदा से कलह-भरा रहा है। इन

विडंबनाओं और हलचलों के बीच कुछ सुनिश्चित लक्ष्यों को लेकर सम्पन्न किए गए उनके काम महत्त्वपूर्ण हैं। यह भी देखना होगा कि वे कितनी गंभीर साहित्यिक साधनाओं के नतीजे हैं। उनकी कुछ पुस्तकों में स्फुट लेखों का संकलन है तो कई ऐसी हैं, जिनमें सघन प्रबंधात्मकता है। ये धुंध छाँटती हैं। जटिल भी बहुत स्पष्ट और सहज हो जाता है। मन में प्रश्न पैदा हो सकता है कि आखिरकार रामविलास शर्मा की आलोचना में इतनी पारदर्शिता और विस्तार कैसे है, उनके कामों में जीवंत भारतीय परंपराओं और विकासों के उद्‌घाटन का इतना गहरा माद्दा कहाँ से पैदा हुआ और उनकी आलोचना की भाषा किस प्रेरणा से इतनी स्पष्ट, बिना उलझाव के है।

किसी भी साहित्यकार के लेखन को उसके जीवन से बिल्कुल जोड़ देना सही नहीं है। पर दोनों में संबंध स्वीकार न करना भी गलत है। जीवन की ताकतें लेखन को ताकत देती हैं और जीवन की कमजोरियाँ लेखन को कमजोर करती हैं। यह किसी न किसी रूप में अवश्य घटित होता है।

उत्तर प्रदेश के बैसवाड़ा क्षेत्र में उन्नाव जिले के ऊँचगाँव के रामविलास शर्मा का जन्म 10 अक्टूबर, 1912 में हुआ था। इस इलाके के काफी लोग फौज में नौकरी करते थे। उनके बाबा भी करते थे। उनके गाँव में रहने वाले फौज के सिपाही 1857 में अंग्रेज़ों से लड़े थे। यह रामविलास शर्माजी ने बचपन में ही समझ लिया था। उन्हें बचपन में शिक्षा बाबा से ही मिली। वे छोटी उम्र में पढ़ाई के साथ अपने बाबा से कहानियाँ और कविताएँ भी सुनते थे। कविताओं में गिरधर कविराय की कुंडलियाँ भी थीं, उनमें एक थी—'लाठी में गुन बहुत हैं, सदा राखिये संग'। गाँव में अंग्रेजी पहुँच चुकी थी। बाबा जब हल जोतते थे, यह बच्चा उनके पीछे-पीछे चलता था। सबेरे उठकर अम्मा महुवा बीनने जाती थी, बच्चा भी साथ हो लेता था। दउआ (पिता) को भी उनकी अंग्रेज़ी की लिखावट देखकर फौज में नौकरी मिल गई। एक अंग्रेज़ी अफसर बाबा से नाराज रहता था और दुर्व्यवहार करता था। पहले दउवा की नौकरी छूटी। बाबा भी अंग्रेजी पल्टन से पेंशन लेकर गाँव आ गए और खेती करने लगे। उन्होंने एक बहुत बड़ा घर बनवाया। इस तरह बचपन से ही रामविलास शर्मा को सहज प्राकृतिक ग्रामीण परिवेश के साथ, एक पढ़ा-लिखा घर, अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ी राज के चिह्न और आत्मसम्मान के कारण उस राज से बाबा का असंतोष— यह सब कुछ एक साथ देखने को मिला।

1919 में रामविलास अपने पिता के साथ झाँसी आ गए। साल भर बाद सरस्वती पाठशाला में भर्ती हुए। यह पहले सत्याग्रह का समय था। तब गाँधीजी भी झाँसी आए थे। उन्होंने गाँधी को पहली बार देखा। यहाँ की दो घटनाओं का जिक्र रामविलास शर्मा ने अपनी आत्मकथा 'अपनी धरती अपने लोग' में किया है— ''पहले यह (स्कूल) सरकारी था। लड़ाई में अंग्रेज़ों के जीतने के बाद मेडल बाँटे गए थे। एक मेडल मुझे भी दिया गया था। लेकिन सदर बाज़ार में लोगों ने कहा, यह अंग्रेज़ों ने दिया है, इसे फेंक देना चाहिए तो मैंने भी वह मेडल फेंक दिया।...जब गाँधीजी का आंदोलन चला तो बहुत से लोगों ने विलायती कपड़े जलाए। हमारे स्कूल में भी होली जलाई गई थी और बहुत से लोगों ने अपनी टोपियाँ उसमें फेंक दी थीं। मैंने भी अपनी टोपी उसमें फेंक दी। घर आने पर दउआ ने पूछा कि टोपी क्या हुई? मैंने कहा कि मैंने उसे आग में फेंक दिया। वे हँसे, उन्होंने डाँटा नहीं।'' (वही) रामविलास की छठे से दसवें दर्जे तक पढ़ाई मॅकडोनल हाई स्कूल में हुई। विद्यार्थी रामविलास को झाँसी में उसके 1857 के गौरव के अनुरूप राजनीतिक रूप से सचेत नौजवानों का साथ मिला। 1929 के मेरठ षड्यंत्र केस के कई लोग झाँसी के थे। यह शहर कई मामलों में ग्वालियर से अलग था, जहाँ के राजाओं ने अंग्रेजों का साथ दिया था। झाँसी देखा जाए तो एक तरफ वृन्दावन लाल वर्मा और सुभद्रा कुमारी चौहान तथा दूसरी तरफ महाश्वेता देवी के बाद सबसे ज्यादा रामविलास शर्मा के मन में धँसी हुई थी। उनकी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों भारतेंदु युग (1943), सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति (1957) और भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद (1982) की रचना में उनके घर-परिवार, अवध क्षेत्र और झाँसी की स्मृतियाँ प्रेरणा बनीं। उनकी 'घर की बात' पढ़ने पर समझ में आ सकता है कि उन्हें गढ़ने में घर की कितनी बड़ी भूमिका थी। 1857 के बारे में बहुत-सी बातें उन्हें मॅकडोनल स्कूल के अंग्रेजी अध्यापक प्रफुल्ल कुमार चटर्जी बताया करते थे। स्कूली जीवन में ही उन्होंने इतिहास की कई क्रांतिकारी पुस्तकें पढ़ लीं। उनकी वृन्दावन लाल वर्मा से 1857 पर कई बार बातचीत हुई थी। उनमें बचपन से ही साम्राज्यवाद के प्रति गुस्सा था और राष्ट्रीय आत्मगरिमा के चिह्न को लेकर गहरी उत्सुकता थी।

आत्मकथा के निम्नलिखित अंश से बोध हो सकता है कि रामविलास शर्मा का विद्यार्थी जीवन से ही किस दिशा में मानसिक निर्माण हो रहा था—''हमारे स्कूल में इतिहास के कुछ अध्यापक ऐसे थे, जो अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका में विश्वास करते थे। इसके विपरीत (प्रफुल्ल कुमार) चटर्जी मास्टर साहब अंग्रेजी राज के खरे आलोचक थे। वामनदास बसु के ग्रंथ के आधार पर एन. कस्तूरी बी. ए. ने एक संक्षिप्त इतिहास लिखा था। वह इतिहास उन्होंने मुझे पढ़ने को दिया था। उसके आधार पर हम अंग्रेजी राज के समर्थक अध्यापकों से बहस करते थे।''

भारत के पिछड़ेपन, अंग्रेजी राज (और आगे चलकर भूमंडलीकरण) की 'प्रगतिशील' भूमिका और 'ह्वाइटमेन्स बर्डन' की अवधारणाएँ रामविलास शर्मा को सदा बेचैन करती थीं। वे भारत को पिछड़ा और बर्बर नहीं मानते थे। इसलिए उन्होंने आगे चलकर मार्क्सवादी पद्धति से भारत के भौतिक विकास और यथार्थवादी दार्शनिक धारा के ऐतिहासिक तत्त्वों की गहरी छानबीन प्रस्तुत की। उन्होंने औपनिवेशिक सोच के असर से बनी राष्ट्रीय हीनता ग्रंथि हमेशा के लिए तोड़ देनी चाही। यह भी दिखाना चाहा कि भारत ने यूरोप से सदा ही ग्रहण नहीं किया है, बल्कि उसे बहुत कुछ दिया भी है।

झाँसी की सरस्वती पाठशाला के बगल में एक बर्फ का कारखाना था, जिसमें कोई रिश्तेदार काम करते थे। इसके बारे में रामविलास शर्मा ने लिखा—''छुट्टी में मैं कभी-कभी उनके पास चला जाता था। कारखाने में बहुत से मजदूर काम करते थे। ये गाँव के किसानों से अलग तरह के लोग थे। उनके कपड़े काले-काले, एक-से थे। इनमें छोटे-बड़े का भेद न था। हिंदू थे, मुसलमान थे। सब मिलकर काम करते थे।'' यहीं उन्होंने पहली बार मजदूरों की सभा देखी। रामलीला देखी, नाटक देखा वे छोटी उम्र से ही घर के चौके में मदद करने लगे थे, खाना पकाना जान गए थे। उनका जीवन आराम का न था। मेहनत के बिंब उनके जीवन और लेखन में हर जगह मिलेंगे।

इन्हीं दिनों भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाटक 'सत्य हरिश्चंद्र' पढ़ने को मिला। ''हिंदी गद्य में कितनी मिठास है, यह पहली बार नाटक पढ़कर समझ में आया।'' (वही) अंग्रेजी के समानांतर हिंदी में रुचि जगी थी। कुछ सालों बाद अंग्रेज़ी ग्रंथ पढ़ते हुए रामविलास शर्मा को यह चिंता हुई कि अंग्रेजी में जो बातें बहुत आसान ढंग से लिखी गई हैं, वे हिंदी में दुरूह ढंग से क्यों लिखी गई हैं। भाषा की दुरूहता की मूल वजह कई बार विचारों की अस्पष्टता है। भाषा में दुरूहता या जटिलता अधिकांश मामलों में ज्ञान की कमी का नतीजा है। रामविलास शर्मा की भाषा में इतने विस्तारों के बावजूद कोई दुरूहता नहीं है। उन्होंने हिंदी और उर्दू को सरल बनाने पर जोर दिया, ताकि इन भाषाओं का साहित्य आम जनता के लिए ग्राह्य हो सके। ज्ञान की ऊँचाइयों के साथ सरलता एक अनोखा मामला है।

1928 में 14 साल की उम्र में रामविलास शर्मा का विवाह हो गया। वे आठवें दर्जे में पढ़ते थे। पिता से कहा, मैं ब्याह न करूँगा। फिर अम्मा का स्वास्थ्य और अजिया की उम्र के सवाल उठने पर कर लिया। उनकी पत्नी घर में आगे चल कर 'मालकिन' कही जाने लगीं। रामविलास शर्माजी का विवाह जल्दी हो गया। लेकिन उन्होंने अपने छोटे भाइयों की शादी तब तक नहीं होने दी, जब तक वे शिक्षा पूरी करके नौकरी नहीं करने लगे। रामविलास शर्मा ने 1928 में हाई स्कूल पास किया। झाँसी से ही इंटरमीडिएट किया। इसके बाद बी. ए. करने के लिए 1930 में लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। लखनऊ में जहाँ रहते थे, यह मजदूरों का मुहल्ला था। उन्हें मजदूरों के जीवन से एक खास लगाव पैदा होता गया। उन्हें जानने का अवसर भी यहीं रामविलासजी को मिला। इतना ही नहीं, ''मुझे स्कॉलरशिप की पहली रकम मिली तो मैंने दूध में जलेबी डालकर खाई। इसके बाद मैंने गोर्की का उपन्यास माँ खरीदा।...मैं सोचा करता था कि रूस के मजदूर क्यों क्रांतिकारी थे। वे क्रांति की बातें कैसे करने लगे और यहाँ क्रांति चेतना क्यों नहीं है, हमारे मजदूर क्यों उनसे अलग दिखाई देते हैं।'' (वही) वे बेजमीन गरीब किसानों को लेकर काफी चिंतित

थे और इनके जीवन यथार्थों के साथ इनके विश्वासों और ताकतों को भी समझना चाहते थे।

रामविलास शर्मा को निराला से 1933 में मिलने का मौका मिला, जब वह लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में बी. ए. (ऑनर्स) कर रहे थे। उनका पहला लेख 'निरालाजी की कविता' 1934 में चाँद में प्रकाशित हुआ। उन्हें निराला की कविताएँ पढ़कर लगता था कि इतनी ऊर्जा दूसरे कवियों में नहीं है। निराला से मुलाकातों और चर्चाओं का एक सिलसिला बन गया था। 1934-35 में वे निराला के घर पर ही 1 साल तक थे। वे अपने जीवन के अंत तक निराला के इस संग-साथ का अनुभव करते रहे। उनकी काफी कविताएँ सुधा और माधुरी में छपीं। उन्होंने गीत भी लिखे, जिनमें कुछ शृंगारपरक और व्यंग्यपरक हैं। ये पहले से अलग काव्य शिल्प में हैं। अज्ञेय के आग्रह पर रामविलास शर्मा 'तारसप्तक' के कवि हुए। हालाँकि इनकी साहित्यिक प्रतिभा ने अंततः आलोचना में छलाँग लगाई।

उस जमाने की रचनात्मक प्रतिभाओं में बहुज्ञता ही नहीं, रुचियों की विविधता भी होती थी। रामविलास शर्मा अखाड़े में कुश्ती लड़ने जाते थे। उनके दो छोटे भाई अपने सर्वश्रेष्ठ शारीरिक गठन के लिए पुरस्कृत हुए थे। रामविलासजी का लिखा एक नाटक 'पाप का पुजारी' लखनऊ में मंचित हुआ था। देखने वालों में निराला भी थे। रामविलासजी की रुचि संगीत में भी थी। फिराक साहब ने हिंदी पर कुछ गलत आक्षेप किए थे, इनका रामविलास शर्मा ने जवाब दिया। उनके लिए विचारधारा के साथ-साथ मन की सच्चाई के भी बड़े मायने थे—''मैं मानता हूँ कि अपने प्रति यदि हम सच्चे हैं तो हमारा मन हमें कभी गलत दिशा की ओर प्रवृत्त न करेगा। जब कभी हम गलत राह पकड़ेंगे तो मन की घण्टी बज उठेगी। कोई कितना भी विरोध करे, अगर मैं स्वयं समझता हूँ कि मैं ठीक हूँ तो मैं उस बात को छोड़ूँगा नहीं, चाहे कुछ भी हो जाए। मैं इसे ही खुद के लिए आदर्श मानता हूँ।''

निराला के घर पर ही केदारनाथ अग्रवाल और अमृतलाल नागर से भेंट हुई थी। इनके साथ मिलकर 'चकल्लस' निकाला गया। यशपाल भी लखनऊ आ गए थे। उन्होंने विप्लव का प्रकाशन शुरू किया था। रामविलास शर्मा ने उनके उपन्यास 'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही' की समीक्षा लिखी, विप्लव में कुछ लेख भी छपे। यशपाल ने विप्लव में रामविलास शर्माजी की कविताएँ छापी थीं। इससे पता चलता है कि आरंभिक दिनों के संपर्कों में कितनी विविधता और जीवंतता थी। पहले रामविलास अपना नाम 'रामबिलास' लिखते थे, अंग्रेज़ी में Bilas था। संपादकों ने कविताएँ छापते समय जब बारंबार उनका नाम सुधारा, तो उन्होंने भी इसे मान लिया। उन्होंने 1938 में लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ाना शुरू किया। यहीं उन्हें पी-ऍच.डी. की उपाधि 1940 में मिली।

बनारस में हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन था, जिसमें निराला विशेष

रूप से उपस्थित थे। मंच पर काका कालेलकर, पुरुषोत्तम दास टंडन के अलावा रामचंद्र शुक्ल भी थे। रामविलास शर्मा ने पहली बार यहीं उनको देखा था। उन्होंने आत्मकथा में लिखा—''जो लोग पूछते थे हिंदी में क्या है और कहते थे हिंदी राष्ट्रभाषा बनने योग्य नहीं है, उन सब पर मैंने तीखे प्रहार किए थे...यह पहला अवसर था जब मैंने बहुत बड़ी सभा में भाषण किया था।'' रामविलास शर्मा ने भाषा और समाज (1956), राष्ट्रभाषा की समस्याएँ (1965) भारत की भाषा समस्या जैसी पुस्तकों में हिंदी का प्रश्न पूरी ताकत से उठाया है। इनमें हिंदी बनाम हिंदीतर भारतीय भाषाओं का विकल्प अंग्रेजी बनाम भारतीय भाषाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है, जो आज ज्यादा प्रासंगिक है।

सुमित्रानंदन पंत जिन वर्षों में प्रगतिशील लेखक संघ के साथ थे, रामविलास शर्मा उससे कुछ दूर थे। 1938 से प्रकाशित उनकी पत्रिका रूपाभ में रामविलासजी की कविताओं के अलावा उनके कई लेख छपे। एक लेख निराला पर था। वे प्रसाद के साहित्य के प्रति सहृदय थे और महादेवी वर्मा से भी उनका आत्मीय परिचय था। कहा जा सकता है कि रामविलास शर्मा छायावादी कवियों के गहरे संपर्क में थे। छायावाद के प्रति जैसा कठोर रुख कुछ प्रगतिवादी आलोचकों ने बना रखा था, वैसा रुख रामविलास शर्मा का नहीं था। निराला पर आक्रमण हो रहा था। एक जगह रामविलास शर्मा ने कहा है—''कवि निराला पर प्रहार न किए गए होते तो मैं आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश ही नहीं करता।'' नवजागरण की अनिवार्य अगली कड़ी है, स्वच्छंदतावाद या छायावाद। भारतेंदु और प्रेमचंद का जो प्रशंसक होगा, वह प्रसाद और निराला को भी जरूर पसंद करेगा। निश्चय ही रामविलास शर्मा को हिंदी साहित्य की तरफ खींच लाने और परंपरा के मूल्यांकन में प्रवृत्त करने में निराला की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। यहाँ छायावाद और प्रगतिवाद के श्रेष्ठ तत्त्वों का बौद्धिक अंतर्मिश्रण हो रहा था।

उस जमाने का साहित्यिक माहौल वैचारिक उत्तेजना के साथ-साथ हार्दिकता से भी भरा था। साहित्यकारों का एक-दूसरे के साथ मिलना-जुलना, जरूरत पड़ने पर लंबे समय तक साथ-साथ रहना, साहित्यिक चर्चाएँ करना, मिलकर भोजन पकाना और साथ खाना-पीना, समाज और साहित्य दोनों जमीनों पर बदलाव की बेचैनी, वैयक्तिक जीवन में विद्रोह—यह सब आम था। किसी साहित्यकार से किसी साहित्यकार को नाराजगी हो भी तो वह शत्रु की तरह दिखाई नहीं देता था। बनारस के अलावा इलाहाबाद और लखनऊ भी साहित्य के नये केंद्र बन रहे थे। श्रीनारायण चतुर्वेदी के गणेशगंज वाले घर शिवमंगल सिंह सुमन, गिरिजा कुमार माथुर, सोहनलाल द्विवेदी, जगदंबा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' अड्डा लगाते थे। रामविलास शर्मा की शिवमंगल सिंह सुमन से गाढ़ी मित्रता थी। वे गिरिजाकुमार माथुर को भी पसंद करते थे। श्रीनारायण चतुर्वेदी के मुँह से भारतेंदु युग की कविताएँ सुनकर ही रामविलास शर्मा को लगा

कि भारतेन्दु और उनके युग का अध्ययन करना चाहिए। ऐसे अध्ययन के लिए नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस जाकर सामग्री इकट्ठी करने के दौरान ही उनकी भेंट त्रिलोचन से हुई।

लखनऊ का रामविलास शर्मा के साहित्यिक आविर्भाव में बड़ा योगदान था। लंबी और मजबूत काठी के इस होनहार साहित्यकार की तरफ सभी बड़े और धुरंधर लेखक आकर्षित थे। प्रेमचंद पर इनकी पुस्तक (1941) पढ़ने के बाद निराला के मित्र किसान कवि पढीस ने कहा था—''अब प्रेमचंद की आत्मा को शांति मिलेगी।'' लखनऊ विश्वविद्यालय के अंग्रेजी के प्रोफेसर सिद्धांत साहब रामविलासजी के वामपंथी रुझान से वैचारिक विरोध रखते थे और इनके हिंदी-प्रेम से भी नाराज रहते थे। इसके बावजूद वे इनके शुभचिंतक थे। उस जमाने के विश्वविद्यालयों में अंतरविभागीय संपर्क ज्यादा था। बड़े उत्साह से बौद्धिक जलसे होते थे। लखनऊ विश्वविद्यालय में एक बार प्रगतिशील लेखकों का सम्मेलन हुआ। इसमें 'कुछ व्यक्ति लाल टाई बाँधकर आए थे, यह जताने के लिए कि प्रगतिशील का संबंध लाल रंग से है।'' रामविलास शर्मा ने इसमें अपनी कविता पढ़ी थी। विश्वविद्यालय में मजाज से मुलाकात हुई। यहाँ नाटक और कवि सम्मेलन होते रहते थे। कुलपति होते हुए भी अंग्रेजी के पंडित अमरनाथ झा फर्श पर अंत तक बैठे कविताएँ सुनते थे—''जो आदमी सारे देश के अंग्रेजी प्रोफेसरों पर हावी था, वह हिंदी कवियों की गोष्ठी में सहज भाव से बैठा था, यह तहजीब थी।'' कॉलेजों में भी कम उत्साह न होता था। लखनऊ में ही रामविलास शर्मा की भेंट भगवतशरण उपाध्याय से हुई। इनसे इतिहास और पुरानी सभ्यताओं के बारे में पढ़ने के लिए पुस्तकें मिलीं। एक दिन सिद्धांत साहब ने कह दिया, तुम आगरा चले जाओ, वहाँ राजपूत कॉलेज में स्थायी प्राध्यापक की जगह खाली है। आगरा से आए डॉ. रामकरण सिंह अपने कॉलेज में एम. ए. का पाठ्यक्रम शुरू करना चाहते थे। उन्हें सिद्धांत साहब ने रामविलासजी का नाम सुझाया था। लखनऊ में 1943 तक 13 साल बीते थे, तब तक रामविलास शर्मा प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ चुके थे। वह अपनी इच्छा के विरुद्ध भारी मन से आगरा गए, बलवंत राजपूत कॉलेज में पढ़ाने लगे।

1943 में रामविलास शर्मा कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुए। इसी साल मुंबई में प्रगतिशील लेखक संघ का सम्मेलन हुआ था। वहाँ शमशेर और नरेन्द्र शर्मा थे। नया साहित्य निकल रहा था। अमृतलाल नागर फिल्मकार किशोर साहू के साथ काम कर रहे थे। राहुल सांकृत्यायन सम्मेलन की अध्यक्षता करने वाले थे। वे नहीं आए, उनकी जगह श्रीपाद अमृत डाँगे ने अध्यक्षता की। रामविलास शर्मा उस सम्मेलन में गए थे। यहीं वे पूरनचंद जोशी से पहली बार मिले। आगरा में रहते वक्त, कम्युनिस्ट आंदोलन से पूरी तरह जुड़ चुके थे। इसी दशक में मार्क्सवाद और विश्व इतिहास के गहरे अध्ययन में लगे। 'जनयुग' के लिए राजनीतिक घटनाओं पर 'अगिया वैताल'

और 'निरंजन' के नाम से कविताएँ लिखीं। 1948 तक रामविलासजी कम्युनिस्ट पार्टी में काफी सक्रिय होकर ई. ॲम. ॲस. नंबूदिरिपाद, रणदिवे आदि के भी संपर्क में आ चुके थे। उन्होंने पार्टी के लिए मार्क्सवादी साहित्य का काफी अनुवाद कार्य किया। यह वह दौर था, जब यह पार्टी बाहर से दमन और भीतर का संकट एक साथ झेल रही थी। मुख्य वैचारिक द्वंद्व था कम्युनिस्ट नीतियों, सुधारवाद और उग्रपंथी लाइन के बीच। बहस का एक मुद्दा था—''केंद्रीय सरकार का समर्थन किया जाए या विरोध किया जाए। विरोध किया जाए तो शांतिपूर्ण आंदोलन का भरोसा करें या उसके साथ गैर-कानूनी जीवन बिताने के लिए भी तैयार रहें।''

रामविलास शर्मा भाषा के प्रश्न पर लगातार विचार कर रहे थे। उनके अनुसार—''हिंदी-उर्दू बुनियादी तौर से एक ही हिंदुस्तानी जाति की भाषा है। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि जिस तरह बोलचाल की भाषा का एक ही रूप है, वैसे साहित्य में इसका एक ही रूप बने। कम्युनिस्ट पार्टी को मजदूरों में अपनी तरफ से यह प्रचार करना चाहिए कि एक ही लिपि का चलन हो और वह देवनागरी लिपि हो।'' कम्युनिस्ट पार्टी ने इस स्थापना पर बहस की छूट दी थी, पर राजनीतिक स्थितियाँ हिंदी और उर्दू के लिए एक लिपि के पक्ष में नहीं थीं। दूसरी तरफ कई नेता कहते थे कि सारा काम अंग्रेजी में होना चाहिए, अन्यथा बहुत समय बरबाद होगा। तीसरी समस्या हिंदी क्षेत्र की जनपदीय भाषाओं के विकास से संबंधित थी, इसे रामविलास शर्मा हिंदी के राष्ट्रीय विकास में बाधक मानते थे। भाषा के प्रश्न पर राहुल सांकृत्यायन और रामविलास शर्मा दोनों को अपनी-अपनी वजहों से अपनी पार्टी में काफी राजनीतिक विरोध झेलना पड़ा था।

रामविलास शर्मा को 1949 के भिवंडी सम्मेलन में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ का महामंत्री बनाया गया। वे 1953 तक इस दायित्व में थे। यह दौर 'प्रगतिशील' के मुद्दे पर साहित्यिक विवादों और खेमेबंदी का था, साथ ही नई कहानी—नई कविता जैसी आधुनिकतावादी साहित्यिक प्रवृत्तियों के उदय का भी। इस दौर में रामविलास शर्मा पर प्रबल आक्रमण हुए, जिनका उन्होंने अपने ढंग से जवाब दिया। उन्होंने अपने आलोचनात्मक रुख में कठोरता के बारे में कहा है—''पार्टी कांग्रेस के बाद लखनऊ और इलाहाबाद में पार्टी लेखकों की अनेक बैठकें हुई। यहाँ मैंने सुमित्रानन्दन पंत, रांगेय राघव, यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, अज्ञेय, जैनेन्द्र आदि कई लेखकों की आलोचना की। उस समय किसी ने इस आलोचना का विरोध नहीं किया। लोग समझते थे, पार्टी ने जो प्रस्ताव पास किया है, उसके अनुसार साहित्य में सुधारवादी रुझानों की आलोचना जरूरी है।'' (वही) 1953 में रामविलास प्रगतिशील लेखक संघ से अलग हो गए। उस समय बहस का एक मुद्दा यह था कि प्रगतिशील लेखक संघ होना चाहिए या नहीं होना चाहिए। दूसरा मुद्दा था, पुरानी साहित्यिक विरासत के प्रति प्रगतिशील लेखकों का रुख क्या हो।

रामविलास शर्मा ने आगे चलकर साहस के साथ स्वीकार किया, ''कम्युनिस्ट पार्टी के आंतरिक संघर्ष की चपेट में प्रगतिशील लेखक संघ आ गया।'' इसमें संदेह नहीं कि प्रगतिशील और जनवादी साहित्यिक आंदोलनों के इतिहास में कई बार राजनीतिक संकीर्णतावाद उभरा है। इसके जवाब में साहित्यिक शुद्धतावाद उतने ही चरम पर पहुँचा है। साहित्य की क्षति राजनीतिक संकीर्णतावाद और साहित्यिक शुद्धतावाद दोनों से हुई है।

रामविलास शर्मा ने एक समय कम्युनिस्ट पार्टी के अलावा प्रगतिशील लेखक संघ के लिए काफी काम किया था। वे विवादों में थे। इस संबंध में अपने मित्र अमृतलाल नागर की सलाह का उन्होंने उल्लेख किया है—''सन् 1950 के आसपास जब प्रगतिशील लेखक संघ के अंदर बहुत वाद-विवाद चल रहा था और मैं उसमें उलझा हुआ था, तब उन्होंने मुझे बहुत अच्छी सलाह दी थी—इस तरह की बहस में उलझकर तुम अपना समय नष्ट कर रहे हो। जहाँ बहुत जरूरी समझो, वहीं ऐसी चीजों का जवाब देना चाहिए। बाकी तुम्हें योजना बनाकर काम करना चाहिए। मैंने उनकी बात गाँठ बाँध ली, वाद-विवाद में बहुत कम उलझने की कोशिश की।'' लेखक संगठन निश्चय ही रचनात्मकता के एक प्रमुख प्रेरणा केन्द्र रहे हैं। पर यह हिंदी संस्कृति के संगठन की अजीबोगरीब स्थिति कही जाएगी कि लेखकों के बीच में व्यक्तिगत पसंद-नापसंद की भावना उभर आती थी। इसका असर साहित्यिक लेखन और संगठन पर पड़ता था।

आधार और अधिरचना के बीच एकतरफा और यांत्रिक संबंध स्थापित करने की चेष्टाओं का रामविलास शर्मा ने विरोध किया। वे साहित्य, संस्कृति, दर्शन और कलाओं को उचित राजनीतिक महत्त्व और स्थान देने के पक्षधर थे। आगे चलकर 1992 में शेली की दूसरी जन्मशती के अवसर पर उन्होंने 'मार्क्स और शेली' शीर्षक से एक निबंध लिखा, जिसमें दिखाया है कि शैली और बाइरन जैसे कवियों ने इंग्लैंड के मजदूर आंदोलन को कैसे प्रभावित किया और खुद एंगेल्स किस तरह शेली के कितने प्रशंसक थे। रामविलास शर्मा को हमेशा यह तकलीफ थी कि भारत के कम्युनिस्ट नेताओं ने भारतीय लेखकों को जितना महत्त्व दिया जाना था, नहीं दिया और न इनसे प्रेरणा ली।

रामविलास शर्मा के इस बुनियादी योगदान की तरफ दृष्टि जानी चाहिए कि उन्होंने साहित्य की उच्च परंपराओं को उस दौर में बचाना और उनका नया मूल्यांकन उपस्थित करना चाहा, जिस दौर में इतिहास और परंपरा के प्रति एक निषेधात्मक तेवर था। इसके अलावा, एक खास किस्म की निराशा या निस्सहायता छाती जा रही थी, हिंदी को लेकर हिंदी क्षेत्र में जातीय आत्मविश्वास की आवश्यकता थी, क्योंकि अंग्रेजी वर्चस्व और जातीय बिखराव दोनों बढ़ते जा रहे थे। नए युग में पश्चिमी विचारों और संस्कृतियों के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था। मूल्यहीनता और आदर्शहीनता

का युग आ रहा था, एक तरफ खोखला आदर्शवाद था दूसरी तरफ आदर्शविहीनता थी। साहित्य में अंतर्मुखता छा रही थी। 1947 के बाद के दशकों में बुद्धिजीवी लोग अंग्रेजी राज के खिलाफ संघर्ष और पश्चिमी साम्राज्यवादी जाल को लगातार भूलने लगे।

इस दौर में आगरा में रहते हुए उन्होंने अपने जीवन के कई महत्त्वपूर्ण कार्य किए थे। वे निर्भय और स्पष्ट वक्ता थे। उन्होंने समालोचक पत्र का संपादन किया। उसके कुल 24 अंक प्रकाशित हुए थे। जिनमें सौंदर्यशास्त्र और यथार्थवाद पर एक-एक विशेषांक था। इसी दौरान उन्होंने 'पूँजी' (दास कैपिटल) का अनुवाद किया, जो एक कठिन कार्य था। उन्होंने तुलसीदास नाटक लिखा, जिसका मंचन बाबू गुलाब राय के साथ देखा। आगरा में उनका निवास एक साहित्यिक तीर्थ-सा था, जहाँ देशी और विदेशी लेखक उनसे मिलने आते थे।

वे राजनीतिक स्तर पर एक समय काफी सक्रिय थे। कई बार पुलिस की धर-पकड़ से बचने के लिए इधर-उधर छिपना भी पड़ा। रामविलास शर्मा के संबंध जेड. ए. अहमद और शिव वर्मा से थे। हिंदी के अकेले लेखक थे रामविलास शर्मा, जिनका कम्युनिस्ट नेताओं से जीवित संवाद था। उन्हें कुछ तकलीफें सालती थीं। एक यह, ''लोग अपनी पार्टी की कमजोरियों को छिपाते हैं, यह पार्टी के लिए अच्छा नहीं है।'' दूसरी यह, ''कम्युनिस्ट पार्टी साहित्य, संस्कृति-कर्म के प्रति गंभीरता नहीं दिखाती, इन्हें हल्के ढंग से लेती है।'' तीसरी यह, ''साम्राज्यवाद के नए दौर में वामपंथी एकजुटता की जितनी अधिक जरूरत है, उतनी ही यह दूर का स्वप्न होती जा रही है।'' उन्होंने अंत तक आशा नहीं छोड़ी थी, ''मेरा विश्वास है कि देर-सवेर भारत का वामपंथी आंदोलन एकताबद्ध होगा। यहाँ जो अलग-अलग गुट हैं, वे सब मिलकर काम करेंगे। और इसके लिए उनमें नई समझ का विकास होगा। वे मार्क्सवाद को नए सिरे से समझेंगे।''

एक बार कम्युनिस्ट पार्टी की प्रेरणा से निकली अंग्रेजी की एक पत्रिका में प्रसिद्ध तेलुगु कवि श्री श्री की एक कविता का अनुवाद छपा था। इसकी कुछ पंक्तियाँ पार्टी लाइन के विरुद्ध थीं। कुछ नेताओं ने जब आपत्ति की, सरदार जाफरी ने रामविलास शर्मा से उनकी राय पूछी। रामविलास शर्मा ने कहा—''यह कविता एक ऐसे कवि की है, जिसे आंध्र प्रदेश में श्रेष्ठ कवि माना जाता है। वह पार्टी का सदस्य नहीं है, यह आवश्यक नहीं कि सभी प्रभावित लेखक पार्टी नीति पर चलें। तुम कविता छापने के लिए माफी मत माँगना और कुछ कहें-सुनें तो इस्तीफा दे देना।'' (वही) ये दोनों इस पत्रिका के संपादक मंडल में थे। रामविलास शर्मा ने कला और साहित्य पर राजनीतिक नेताओं की अवांछित टिप्पणियों पर आक्रोश व्यक्त करते हुए लिखा—''जो आलोचना करे उसे कला का थोड़ा-बहुत व्यावहारिक अनुभव होना चाहिए।'' उन्होंने यह साहस के साथ तब कहा, जब ख्रुश्चेव के शासन में ऐसा वातावरण बना दिया गया था कि प्रसिद्ध रूसी लेखक फादेयेव को आत्महत्या कर लेनी पड़ी थी।

रामविलास शर्मा ने प्रसाद, वृंदावन लाल वर्मा, दिनकर, अमृतलाल नागर और किशोरी दास वाजपेयी पर बहुत सकारात्मक लिखा। वह रामचंद्र शुक्ल के पक्ष में उस वक्त खड़े हुए, जब उन्हें ब्राह्मणवादी सिद्ध किया जा रहा था। यह बात अलग है कि परंपरा और समकालीनता के कई मूल्यांकनों में उन्होंने वजन अपनी साहित्यिक पसंद के अनुसार कहीं कम और कहीं ज्यादा रखने की छूट ली। उन्होंने मुक्तिबोध पर सकारात्मक नहीं लिखा। हालाँकि जब वह के. एम. मुंशी विद्यापीठ में थे, ''निराला और मुक्तिबोध की कविताएँ वहाँ पढ़ाई।'' उनकी आलोचनात्मक नीति मुख्य रूप से यह थी, पुरानी विरासत का नए ढंग से मूल्यांकन करो और उसे आगे बढ़ाओ।

रामविलास शर्मा मुख्यतः इस सवाल के सामने थे, हमारी सांस्कृतिक विरासत का महत्त्व मजदूरों के लिए क्या है? उनका कहना है—''तुलसीदास, सूरदास, कबीर आदि पुराने कवि, भारतेंदु युग के लेखक, प्रेमचंद, निराला, नए युग के लेखक जिन्होंने हमारी जातीय चेतना को जगाया है और गरीबों की हालत बदलने के लिए साहित्य लिखा है। ये सारे लेखक पूँजीपतियों को अपनी विरासत नहीं दे गए। यह विरासत सबसे पहले मजदूरों की है।'' इस कथन पर इस विडम्बना की रौशनी में गौर करना चाहिए कि आज पूँजीपति वर्ग ही तुलसी का इस्तेमाल ज्यादा कर रहा है, गरीब लोग तुलसी और कबीर दोनों को भूलते जा रहे हैं।

1971 से 1974 के बीच रामविलास शर्मा आगरा विश्वविद्यालय के अंतर्गत के. एम. मुंशी विद्यापीठ के निदेशक थे। आगरा विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में एक बार यशपाल और दिनकर आए थे। साहित्यकार भी तब बुला लिये जाते थे। शाम को दयालबाग में दिनकर के *कुरुक्षेत्र* का नाट्यरूप प्रस्तुत किया जा रहा था। रामविलास शर्मा यशपाल को अपने साथ ले गए। उन्होंने इनकी यौन स्वतंत्रता के मुद्दे पर तीखी आलोचना की थी। अपनी आत्मकथा में रामविलासजी ने याद किया है—''विद्यापीठ की गाड़ी में यशपाल को मैं अपने साथ ले गया। जहाँ-जहाँ उन्हें चलने में कठिनाई होती थी, मैं हाथ पकड़कर सहायता करता था। ...यशपाल और दिनकर से यह मेरी अंतिम भेंट थी।'' रांगेय राघव आगरे में ही रहते थे। रामविलास शर्मा तथा रांगेय राघव दोनों ने ही एक-दूसरे की तीखी आलोचना की थी। रामविलासजी ने लिखा—''लोग समझते हैं, विचारधारा में विरोध होने से लेखक एक-दूसरे के शत्रु हो जाते हैं। रांगेय राघव के साथ मेरा ऐसा संबंध नहीं था।'' उस जमाने में साहित्यकार तीखे मतभेदों के बावजूद एक-दूसरे के प्रति इतना सौहार्द रखते थे, जैसे उनके बीच कोई मतभेद हो ही नहीं।

रामविलास शर्मा भाषा औोर जातीय विकास से जुड़ी समस्याओं पर शुरू से चिंतित थे। आगरा में अध्यापन कार्य से अवकाश के बाद भाषा विज्ञान में डूब गए। के. एम. मुंशी विद्यापीठ में प्रचलित भाषा-वैज्ञानिक समझ की विडंबनाओं को देखकर इस क्षेत्र की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक समझा होगा। इस दौर में उनकी

पत्नी, जिन्हें उनके परिवार के लोग मालकिन कहते थे, काफी अस्वस्थ रहने लगी थीं। रामविलास शर्माजी अपनी पत्नी और अपने काम से अब तनिक अलग होना नहीं चाहते थे। 'निराला की साहित्य साधना' का तीसरा खंड (1976) और 'महावीर प्रसाद द्विवेद्वी और हिंदी नवजागरण' (1977) उसी समय छपा। एक तरह से भाषा विज्ञान और हिंदी नवजागरण दोनों पर अधिक सुगठित चिंतन शुरू करने का यह दौर था।'' आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों का संबंध (1979) के बाद दो सालों के भीतर 'भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी' के तीन खंड भी आ गए। उन्होंने एक तरफ आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों के संबंध में परंपरागत विद्वेषमूलक साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का विरोध किया, दूसरी तरफ अंग्रेजी को हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं पर थोपने के खिलाफ भी आवाज उठाई। वे हिन्दी-उर्दू को निकट लाना चाहते थे, उनकी इस सदिच्छा का गलत अर्थ लगाया गया। उनकी हिंदी जाति की अवधारणा को भी उसके सही परिप्रेक्ष्य में नहीं देखा गया।

अब रामविलास शर्मा भारतीय विकासों की दीर्घ परंपरा और अंग्रेजी राज में भारत का विकास हुआ या इसे पीछे ठेल दिया गया—ऐसे मुद्दों पर प्रचलित धारणाओं को चुनौती देते हुए मार्क्सवादी नजरिये से काम करना चाहते थे। इसके लिए वे लंबे समय से सामग्री जुटाते आ रहे थे। मालकिन की अस्वस्थता ने उन्हें दिल्ली आने के लिए मजबूर कर दिया। उन्होंने 1981 में हमेशा के लिए आगरा से दिल्ली के लिए प्रस्थान कर दिया। इस तरह उन्नाव से झाँसी, लखनऊ और आगरा होते हुए वह अंततः दिल्ली पहुँचे, जो राजधानी या सुविधाओं की गोद होते हुए भी उनके लिए साहित्यिक काम करने के लिए पहले की ही तरह महज एक साधना-भूमि थी।

हिंदी के बहुत कम लेखक होंगे जो पुरस्कार और ख्याति के प्रति इतना निस्पृह हों और काम के प्रति इतनी गहरी लगन हो। 1990 में रामविलास शर्मा ने उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान से प्राप्त भारत भारती सम्मान की एक लाख की राशि साक्षरता अभियान के लिए समर्पित कर दी। के. के. बिड़ला फाउंडेशन के व्यास सम्मान की निधि भी इसी उद्देश्य से दे दी। दिल्ली सरकार द्वारा 2000 में शताब्दी सम्मान स्वरूप दी गई 11 लाख की राशि फाउंडेशन के लिए सौंप दी, जो रामशरण शर्मा, 'मुंशी' और विजयमोहन शर्मा की देखरेख में बनी है। रामविलास शर्मा का जीवन वैचारिक संघर्षों के साथ त्याग और सादगी से भरा था। इसे प्रलोभनों, दाँवपेंच और अनियंत्रित महत्त्वाकांक्षाओं के युग में एक आदर्श साहित्यकार का जीवन कहा जा सकता है। यह 'कृत्रिम जीवन निम्न विचार' का जमाना है। दरअसल विचार में ऊँचाई जिंदगी की सादगी से आती है। इस सादगी के लिए साहस चाहिए। यह जो विचारधारा का संकट है, इसका सीधा संबंध जीवन में बढ़ती कृत्रिमता और संकीर्णता से है। रामविलास शर्मा के सामने विचारधारा का संकट नहीं था, क्योंकि उनके पास साहस भी था और सादगी भी थी।

खासकर आज़ादी के बाद रामविलास शर्मा जैसे साहित्यकार दुर्लभ होते गए। उनके जीवन और शब्द के बीच दूरी नहीं थी। एक तरह से उनका वैचारिक निर्माण उनकी जीवन स्थितियों और संघर्षों के बीच से हुआ था। वह सदा अपने समय के बड़े लेखकों के अलावा नई पीढ़ी के विचारवान लेखकों के लिए भी एक आकर्षक व्यक्तित्व थे। उन्होंने अपने भरे पूरे परिवार को भी एक साहित्यिक वातावरण दिया, बल्कि भारतीय परिवेश में अपने समय के कई बोहेमियन तबीयत के लेखकों के दृष्टिकोण से भिन्न वे घर-परिवार को अहमियत देते थे। 1980 से उनके परिवार से एक घरेलू पत्रिका निकलती रही है—सचेतक। रामविलास शर्मा जितने विवादास्पद रहे हों और कुछ मुद्दों पर अपनी वैचारिक कठोरता के लिए जाने जाते हों, आमतौर पर उन्होंने अपने व्यवहार में न कभी आत्मीयता छोड़ी और न दृढ़ता।

एक समय भारतीय बौद्धिक मानस पर जब एक तरफ पुनरुत्थानवादी सांप्रदायिक तत्त्वों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा था और उस पर पश्चिम की नई साम्राज्यवादी संस्कृति का कब्जा हो रहा था, जरा भी आत्मविसर्जन किए बिना वैचारिक दृढ़ता के साथ साहित्यिक दुर्ग पर लगातार डटे रहने वाली शख्शियत का नाम है रामविलास शर्मा। वह सिर्फ हिंदी जाति के लिए नहीं, पूरे भारतीय समाज के लिए चिंतित थे। खासकर आज जब वैश्वीकरण, आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण को लेकर उसी तरह की दुविधा का समय है, जिस तरह की दुविधा किसी समय अंग्रेजी राज को लेकर थी, रामविलास शर्मा के स्पष्ट कथन, पारदर्शी विचार और वस्तुपरक साहित्यिक मूल्यांकन हमारे सामने सोच की एक नई दिशा ही सामने नहीं लाते, हमें आंदोलित भी करते हैं।

मार्क्सवादी आलोचना के शिखर पुरुष रामविलास शर्मा का निधन 30 मई, 2000 को हो गया। उन्होंने भारत को भारत की आँखों से देखा था।

389, जी.टी. रोड
हावड़ा—711106
मोबाइल : 09007757887

सरस्वती गोरा

❑ **सुनंदा सेठ**

भारत में विश्वविख्यात 'नास्तिक केन्द्र' की सह संस्थापिका व संचालिका तथा देश में एकदम गैर राजनीतिक समाजसेवा की समर्पित नेत्री, सरस्वती गोरा देश में ही नहीं, विश्व भर में ईश्वरीय-भाव-रहित मानवीय आदर्शवाद की स्वयं अपनी ही मिसाल हैं। उन्होंने अपने 94 वर्षों के जीवन में 70 वर्षों तक समाजसेवा का ऐसा रिकॉर्ड बनाया है, जिसका दुनिया भर में कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिलता, नारी-संसार में तो कदापि नहीं।

सरस्वती गोरा का जन्म सितंबर 28, 1912 ई. को माँ, कोदम्मा व पिता, पोदुर लक्ष्मी नरसिंहम की 8वीं संतान के रूप में आज के आंध्र प्रदेश प्रांत में एक उच्च सवर्ण परिवार में हुआ था। उनका परिवार एक मध्यवर्गीय, धनी व रूढ़िपरस्त किसान परिवार था जो कांग्रेस पार्टी के नेताओं के सम्पर्क में रहता था। सरस्वती 5 वर्ष की आयु में स्कूल तो गईं, पर, जैसा उन दिनों का प्रचलन था, रजस्वला होने से पूर्व 10 वर्ष की आयु में उनका विवाह हो गया। विवाह के 4 वर्ष बाद वे पति के घर रहने गईं, जहाँ अनीश्वरवादी पति के साथ ऐसी परिवर्तित हुईं कि अपने पति के अनीश्वरवादी कार्यों की सहकर्मिणी बन गईं।

सरस्वती का विवाह गोपाराजू रामचन्द्र राव गोरा से हुआ था। विवाह के 4 साल बाद जब वे अपने पति के साथ रहने आईं तो पति, गोरा कोयम्बूर एग्रीकल्चर कॉलेज में शोध सहायक का काम करते थे। यहाँ गोरा ने उन्हें ईश्वर पूजा व छुआछूत की निरर्थकता के बारे में प्रेरित किया, जिसे प्रारम्भिक कठिनाइयों के बाद उन्होंने पति-आज्ञा-भाव से चुपचाप स्वीकार कर लिया। बाद में पति, गोरा ने शोध सहायक की नौकरी छोड़कर श्रीलंका की राजधानी, कोलम्बो के आनन्द कॉलेज में पढ़ाने लगे। यहाँ कोलम्बो में सरस्वती पहली बार ईसाइयों, बौद्धों व मुसलमानों के सीधे सम्पर्क में आईं। अब वे समझने लगीं कि धर्म अनेक हैं और हर धर्म के मानने वालों में समान रूप से अच्छे व बुरे लोग होते हैं।

सरस्वती जिन दिनों पहली बार गर्भवती थीं, कोलम्बो में ही थीं। वहाँ पड़े सूर्यग्रहण से गर्भवती हिन्दू स्त्रियाँ भयभीत थीं, जबकि अन्य धर्मों की स्त्रियाँ सामान्य थीं। पति, गोपाराजू ने सरस्वती को समझाया कि हिन्दू स्त्रियों का भय महज अंधविश्वास है। सरस्वती को भी समझ में आया कि उनकी सहधर्मिणियों का भय कोरा अंधविश्वास ही था, जिसे उनके नेतृत्व में कई हिन्दू स्त्रियों ने ग्रहण के समय घर से बाहर निकलकर साहसपूर्वक तोड़ा। इसके बाद उन्हें एक के बाद एक अंधविश्वासों को त्यागने में पति के प्रोत्साहन से सहज ही सफलता मिलती गई। वे तेजी से एकदम अंधविश्वास मुक्त हो गईं।

सन् 1928 ई. में, जब वे मात्र 18 वर्ष की थीं इन्हें पति के साथ ससुराल से निकल जाना पड़ा; कारण था पति द्वारा जनेऊ पहनने से इनकार करना और पिता द्वारा उनका घर-निकाला। सरस्वती सहर्ष पति के साथ हो लीं। उन्होंने रूढ़ियों के विरुद्ध पति के संघर्ष में पूरा साथ दिया; अतः वे पति के सम्पूर्ण नास्तिकतावादी आन्दोलन की दृढ़ आत्मा बनती चली गईं।

गाँधीजी के नमक सत्याग्रह के दौरान सरस्वती ने अपनी दूसरी संतान, पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नामकरण हुआ लवणम् (नमक)। इन दिनों गोपाराजू गाँधीजी के आन्दोलन से जुड़ चुके थे। वे सरस्वती, जो शिशु जन्मार्थ मायके में थीं, को निरन्तर पत्र लिखकर आन्दोलन में अपनी संलिप्तता आदि के बारे में बताया करते थे। बाद में मात्र 4 माह के लवणम् को लेकर जब सरस्वती पुनः गोपाराजू के पास लौटीं तो उनके सामाजिक कार्यों और चिंतन के प्रति उनकी सोच बेहद सक्रिय व सकारात्मक हो चुकी थी। अब वे हर सामूहिक विचार-विमर्श व कार्यक्रम में एक विचारशील नेत्री के रूप में शामिल होने लगी थीं।

पति गोपाराजू ने काकीनाड़ा की हरिजन बस्ती, अछूतपुरम में जनजाति के तथा अछूत बच्चों के लिए स्कूल खोला। सरस्वती वहाँ स्वेच्छा व उत्साह के साथ जाने लगीं। इसी दौरान वे प्रसिद्ध कांग्रेस नेत्री, दुर्गाबाई देशमुख के सम्पर्क में आईं। दुर्गाबाई देशमुख ही गोपाराजू को पहली बार गाँधीजी के पास ले गईं। उस समय (1933) में वे काकीनाड़ा आए हुए थे। सरस्वती दुर्गाबाई से काफी प्रभावित हुईं। वे उनके अन्तर्जातीय व अन्तर्धर्मीय विवाह समारोहों में हिस्सा लेने लगीं। इन्हीं दिनों गोपाराजू काकीनाड़ा के पी. आर. कॉलेज से बर्खास्त कर दिए गए। सरस्वती ज़रा भी विचलित नहीं हुईं। उन्होंने पूरी दृढ़ता से पति का साथ देकर हर आर्थिक कठिनाई साहस के साथ झेलीं और जब उनकी बुआसास, जो गोरा के साथ ही रहती थीं, का देहान्त हुआ, गोरा ने अछूतों तक से कन्धा दिलाया तथा दसवाँ, तेरहवीं नहीं की। सरस्वती ने इस अनीश्वरवादी अन्त्येष्टि का खुला समर्थन किया।

सरस्वती के समक्ष दूसरी बार कठिन समय तब आया, जब उनके पति गोपाराजू, अपनी अनीश्वरवादी गतिविधियों के कारण दूसरी बार नौकरी से निकाल दिए गए।

सेवा से बर्खास्त करने वाला कॉलेज था मछलीपट्टनम का हिन्दू कॉलेज। इस समय गोरा परिवार में छह बच्चे थे और परिवार के पास आय का साधन मात्र वेतन। पति, गोरा की इच्छा थी कि नौकरी का विचार ही छोड़ दिया जाय और पूरी तरह समाज सेवा की जाय तथा जीवन-यापन केवल जनसहयोग पर हो। सरस्वती ने पति का साथ दिया और कृष्णा जिले के सुदूर गाँव मुदनूर जाकर अनीश्वरवादी केन्द्र की स्थापना कर डाली। यहाँ उनका व्यक्तित्व और भी विकसित होकर एकदम क्रांतिकारी बन गया। उन्होंने घोषणा की कि बिन्दी, मंगलसूत्र और चूड़ियाँ पुरुष के प्रति नारी की गुलामी का प्रतीक हैं। उन्होंने स्वयं इनका पूर्ण परित्याग कर दिया। सन् 1940 ई. में जब सूर्यग्रहण पड़ा तो उन्होंने गर्भवती महिलाओं को इकट्ठा कर ग्रहण-प्रतिबंध का खुला उल्लंघन किया। इससे दूर-दूर तक स्त्री-जागृति की लहर पहुँची।

सरस्वती गाँधीजी के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के प्रति भी आकर्षित हुईं। उन्होंने अपनी ननद समराज्यम और अवयस्का पुत्री, मनोरमा सहित 22 स्त्रियों को लेकर सत्याग्रह किया व जेल जाकर 6 मास की सजा भुगती। वे कई बार जेल गईं। एक बार तो ढाई साल का बेटा गोद में था और गर्भवती अलग से, पर तिरंगा हाथ में और कदम जेल में। वे देश की आज़ादी के बाद भी, कभी श्रमिकों की समस्याओं को लेकर तो कभी सामाजिक सुधारों के लिए जेल जाती रहीं। वे राजनीतिक दलों को राजनीतिक गुलामी का कारण मानती थीं, इसलिए पार्टीरहित लोकतंत्र की कट्टर पक्षधर थीं। उनकी बेटी, मनोरमा ने जब एक हरिजन से विवाह का निर्णय लेना चाहा तो उसके पीछे की वास्तविक शक्ति सरस्वती ही थीं। गोरा जब हरिजनों के साथ सवर्णों के सहभोज आयोजित करते तो सरस्वती इन आयोजनों में अग्रणी सहभागी होतीं।

सन् 1975 ई. में गोरा का देहान्त हो गया। सरस्वती पहले से ही नास्तिक केन्द्र के लिए समर्पित थीं। गोराजी की मृत्यु से केन्द्र की गतिविधियाँ अप्रभावित रहीं। सरस्वती और भी ज्यादा लगन से केन्द्र की गतिविधियों का संचालन करती रहीं। केन्द्र वासव्य महिला मंडल (नारी उत्थान के लिए संचालित केन्द्र), गोरा अभय निवास (परित्यक्ताओं, विधवाओं व कुँवारी माताओं का संरक्षण गृह) और आर्थिक समता मंडल (विजयवाड़ा के आसपास 150 गाँवों में ग्रामीण स्वास्थ्य शिक्षा व आर्थिक उत्थान योजना) और संस्कार (अपराधी सुधार कार्यक्रम) के कार्यक्रम पहले से चला रहा था, सरस्वती ने जोगिन संगठन का नया कार्यक्रम प्रारम्भ किया। यह संगठन पूर्व जरायम पेशा वर्ग की स्त्रियों को सामान्य जीवन में लाने व उनके विवाह कराकर उनके घर बसाने के कार्यक्रम चलाता है!

गोरा की मृत्यु के बाद एक बड़ा काम था दुनिया भर के अनीश्वरवादी, मानवतावादी व बुद्धिवादी संगठनों से सम्पर्क व सहयोग का संचालन। सन् 1980 ई. में सरस्वतीजी के ही नेतृत्व में विजयवाड़ा में, नास्तिक केन्द्र ने विश्व नास्तिक

सम्मेलन का आयोजन किया। फिर सन् 1985 ई. में 'अनीश्वरवाद और सामाजिक परिवर्तन' विषय पर द्वितीय अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन का सफल आयोजन किया। फिर सन् 1990 ई. में केन्द्र ने अपना स्वर्ण जयन्ती समारोह मनाया, जिसमें दुनिया भर से बिरादराना संगठनों के प्रतिनिधि शामिल हुए। सन् 1986 का अंतरराष्ट्रीय मानववादी पुरस्कार केन्द्र को दिया गया। सरस्वतीजी का निधन 19 अगस्त, 2006 के दिन हुआ।

कुछ लोगों ने उनकी तुलना कस्तूरबा से करनी चाही है। पर यह तुलना उचित नहीं है। अपने स्वतंत्र कार्य में कस्तूरबा वह नहीं थीं जो सरस्वती थीं। कस्तूरबा ने अपने जीवन में वह आर्थिक कठिनाइयाँ नहीं देखीं जो सरस्वती ने देखीं! हरिजनोद्धार में सरस्वती का समर्पण कस्तूरबा से कई गुना अधिक है। सितम्बर 2012 में सरस्वती गोरा की सौवीं बरसगाँठ नास्तिकों के एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन के रूप में मनायी गयी, जिसकी मुख्य अतिथि अन्तरराष्ट्रीय नैतिक मानववादी संघ (IHEU) की अध्यक्ष सुश्री सोन्या इगेरिक्स थीं।

हंसराज रहबर

❑ रामकुमार कृषक

मैं रवायत का पाबंद नहीं हो सकता
मेरी तहज़ीब अगर ख़ाम है तो ख़ाम सही
जिनके पिंदार के बुत तोड़ के खुश होता हूँ
उनकी दुनिया में बदनाम हूँ, बदनाम सही

ये पंक्तियाँ हंसराज रहबर की एक नज़्म से हैं, जिसमें वे अपनी अलग व्यावहारिक सैद्धांतिकी के बारे में कह रहे हैं। रवायत कोई भी हो, उसको चुनौती देते हुए आगे बढ़ने का संकल्प और विश्वास ही हमें मानवीय विकास के अगले पड़ावों तक ले जाता है। रहबर का आत्मविश्वास यहाँ उस अहंकार के विरुद्ध मोर्चे पर है, जो बुतों की शक्ल धारण कर चुका है। लोग उन्हें अपरिपक्व और असंस्कृत कहें तो कहें।

उर्दू और हिंदी साहित्य समाज में समान रूप से समादृत हंसराज रहबर का जन्म 9 मार्च, 1913 में अविभाजित पंजाब की पटियाला रियासत के हरियाऊ संगवाँ नामक गाँव में हुआ था, और निधन 23 जुलाई, 1994 के दिन दिल्ली में हुआ। साहित्य में उनकी ख्याति कथाकार, उपन्यासकार, समालोचक और शायर के रूप में तो है ही, लेकिन एक मार्क्सवादी चिंतक और भगतसिंह-विचारधारा से प्रेरित संस्कृतिकर्मी के नाते भी उन्हें जाना जाता है। भगतसिंह को वे मार्क्सवाद-लेनिनवाद के भारतीय प्रतीक पुरुष की तरह देखते हैं और इस बात की हिमायत करते हैं कि ''सिर्फ मार्क्सवाद-लेनिनवाद और माओ-त्से-तुंग विचारधारा पढ़ लेने से जो एकपक्षीय समझ बनती है, उससे आदमी कठमुल्ला और रूढ़िवादी बन जाता है।''

हिंदी, उर्दू और अंग्रेज़ी में (मौलिक और अनूदित) रहबर की करीब 70 पुस्तकें प्रकाशित हैं। इनमें से अगर उनकी दो दर्जन कथाकृतियों को अलग भी रखा जाय तो 'प्रेमचंद : जीवन, कला और कृतित्व', 'प्रगतिवाद : पुनर्मूल्यांकन', 'योद्धा संन्यासी विवेकानन्द', 'तिलक से आज तक', 'भगतसिंह : एक जीवनी' तथा 'नेहरू बेनकाब', 'ग़ालिब बेनकाब', 'गाँधी बेनकाब' के अतिरिक्त आत्मकथा 'मेरे सात जनम' के चारों

खंड उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता, मौलिकता और लेखकीय साहसिकता का जीवंत उदाहरण है। सुधीर विद्यार्थी के शब्दों में, ''रहबर कहा करते थे कि अभिव्यक्ति की स्वाधीनता लेखक को कोई देता नहीं; अपनी सूझबूझ, साहस और त्याग के द्वारा खुद लेनी पड़ती है। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह शब्दों का बाजीगर है जो सामने खड़ी भीड़ का मनोरंजन कर रहा है। रहबर सही अर्थों में एक जन प्रतिबद्ध युद्धरत लेखक थे और कलम उनके लिए हथियार थी।'' (एक जनून था रहबर, पृ. 4)

'मेरे सात जनम' में दर्ज रहबर का सातवाँ जन्म भगतसिंह-विचारधारा के प्रति उनकी सक्रिय प्रतिबद्धता का अंतिम सोपान है। इसके लिए उन्होंने 'भगतसिंह विचार मंच' की स्थापना की, जिसके संस्थापक सदस्यों में से इन पंक्तियों का लेखक भी था। इसके अंतर्गत वे महानगरों से लेकर कस्बों तक 'भगतसिंह लाइब्रेरी' नामक एक शृंखला का निर्माण करना चाहते थे, ताकि उन्हें वाम स्टडी सर्किल की तरह चलाया जाय और हमारी नई पीढ़ी भगतसिंह के विचारों के महत्त्व को समझ सके।

लेकिन भगतसिंह तक पहुँचने के लिए रहबर ने कोई छलाँग नहीं लगाई, बल्कि वे अपने इतिहास और सामाजिक संस्कृति का यथार्थ विश्लेषण करते हुए यहाँ पहुँचे। माओ का कथन है कि अगर कम्युनिस्ट राष्ट्रवादी और देशभक्त नहीं, तो वह कम्युनिस्ट नहीं। रहबर इस विचार से पूरी तरह सहमत थे, और अंतरराष्ट्रीय सर्वहारावाद के संदर्भ में कहते थे कि अगर हम राष्ट्रीय नहीं हैं तो अंतरराष्ट्रीय कैसे हो सकते हैं? यही कारण है कि वे माओ की जगह भगतसिंह-विचारधारा की हिमायत करते हैं और कहते हैं कि भारत के संदर्भ में मार्क्सवाद-लेनिनवाद के राष्ट्रीय रूप का नाम ही भगतसिंह विचारधारा है। यही कारण है कि मार्क्सवादी होकर भी वे तिलक और विवेकानंद का जनवादी मूल्यांकन करते हुए 'बोले सो निहाल' जैसे उपन्यास की रचना करते हैं। इस उपन्यास में उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की इस मिथ्या धारणा का खंडन किया है कि हिंदुस्तानियों में प्रतिरोध और शासन करने की क्षमता नहीं है; और इसीलिए वे दूसरों से शासित होते रहे हैं।

रहबर साहब किसी अदृश्य सत्ता में नहीं, बल्कि दृश्यमान प्रकृति में विश्वास रखते हैं। मार्क्स ने कहा था कि हेगेल का दर्शन सिर के बल खड़ा है, उसे पाँव के बल खड़ा करने की जरूरत है। यानी समाज विचार का नहीं, बल्कि विचार समाज का प्रतिबिंब है। इसी सोच के चलते मार्क्स ने हेगेल के द्वंद्वात्मक आदर्शवाद से आगे बढ़कर भौतिकवाद की थ्योरी दी, क्योंकि मनुष्य ने किसी ईश्वरीय विधान के कारण नहीं, बल्कि प्रकृति के साथ संघर्ष के चलते प्रगति की है। 'योद्धा संन्यासी विवेकानंद' में रहबर कहते हैं कि ''द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नियम के अनुसार साहित्य, दर्शन तथा राजनीति—किसी भी क्षेत्र में सही समझ गलत समझ के साथ संघर्ष में विकसित होती है।'' इसी सिद्धांत को वे अपने वैचारिक विकास के साथ जोड़ते हैं।

वे सनातनी और आर्यसमाजी पृष्ठभूमि से होते हुए मार्क्सवाद तक आए थे।

इसलिए 'अदम' को नकारने की बजाय वे उसके होने पर संदेह करते हैं। संदर्भतः उनका एक तंज़िया शेर–

अदम की बात कुछ सुनते किसी से,
कोई तो लौटकर आता वहाँ से।

वैदिक धर्म-परंपरा में मौजूद अनेक मिथकीय चरित्रों को भी रहबर बिना किसी नकार भाव के आधुनिक मनुष्य से जोड़कर देखते हैं–

ज़हर शिव ने नहीं हमने भी पिया है 'रहबर'
यह तसलसुल तो तसलसुल ही रहेगा फिर भी
× × ×
मन का मन से मेल यही है प्रीत इसी को कहते हैं
राधा ने जब कृष्ण को देखा आँखों में सौ दीप जले

दरअसल, हंसराज रहबर को किसी एक दार्शनिक पृष्ठभूमि से जोड़कर नहीं समझा जा सकता। उनका समूचा लेखन, धर्म, संस्कृति, इतिहास और राजनीति से गहरे संबद्ध है। वे कम्युनिस्ट थे और जनपक्षधर प्रतिबद्धता के साथ व्यापक अर्थों में राष्ट्रवादी। मनुष्य की बेहतरी, सामाजिक समानता और राष्ट्र के सम्मान–स्वाभिमान के लिए वे सदैव 'सरफरोशी की तमन्ना' से लबरेज रचनाकार हैं। उनके कुछ और जरूरी शे'र–

अहले-जुनूँ की रस्म निभाने को जी करे
मक़्लत को दौड़-दौड़ के जाने को जी करे
ये ख़ामियाँ ख़ुदा की गवारा नहीं हमें
इस ज़िंदगी को ढब से बनाने को जी करे
× × ×
लोग-बाग चुप क्यों हैं शहर की हवा क्या है
पूछते हैं हमसे आप आपसे छिपा क्या है
मैक़दे की वीरानी देखते नहीं बनती
जाम मुँह पे दे मारे रिंद की ख़ता क्या है
× × ×
नहीं रख सकता डर तूफाँ का मुझको दूर मंज़िल से
ज़रा इक बार चलने दो मेरी कश्ती को साहिल से
पुरानी को मिटाकर मैं नई क़दरें बनाता हूँ
वो नावाक़िफ समझते हैं मुझे आदाबे-महफ़िल से

पुरानी क़दरों को मिटाकर नई क़दरें और उस नए के प्रति गहरे आत्मविश्वास की यह अभिव्यक्ति उस वैज्ञानिक चिंतन और इतिहास की तर्कसंगत समझ से जुड़े बिना संभव नहीं थी, जिससे वे जुड़े। बदलाव की बुनियादी समाजार्थिकी के लिए संघर्षरत ताकतों का पक्ष-समर्थन उन्हें भगतसिंह की क्रान्तिकारी वैचारिकी और उनके अधूरे संघर्ष का ही विस्तार लगता था। स्वामी विवेकानन्द को उन्होंने योद्धा संन्यासी कहा तो भगतसिंह उनके लिए क्रांतिकारी योद्धा रहे। भारतीय क्रांति के संदर्भ में रहबर दोनों को जरूरी समझते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि हंसराज की नई क़दरों में हम इसे भी शामिल कर सकते हैं और स्वयं उन्हें भी एक योद्धा रचनाकार कहा जा सकता है।

सी-3/59, नागार्जुन नगर,
सादतपुर विस्तार, दिल्ली-110094
मोबाइल : 09868935366

बलराज साहनी

❑ **ख्वाजा अहमद अब्बास**

दुर्भाग्य से हमारे देश में जाने-माने चित्रकारों, अभिनेताओं तथा गायकों को 'जन कलाकार' का खिताब देने का चलन ही नहीं है। उन्हें भी इंजीनियरों, डॉक्टरों, ठेकेदारों सामाजिक कार्यकर्ताओं और यहाँ तक कि बिल्कुल अनजाने लोगों के भी साथ खड़ाकर पद्मश्री तथा पद्मभूषण के खिताब दे दिए जाते हैं, जो सर्जनात्मक कलात्मक गतिविधियों के क्षेत्र में उनके अनोखे योगदान की अलग से कोई पहचान ही नहीं करते।

बहरहाल, अगर भारत में कोई ऐसा कलाकार हुआ है जो 'जन कलाकार' के खिताब का हकदार है, तो वह बलराज साहनी ही हैं। उन्होंने अपनी जिंदगी के बेहतरीन साल, भारतीय रंगमंच तथा सिनेमा को घनघोर व्यापारिकता के दमघोंटू शिकंजे से बचाने के लिए और आम जन के जीवन के साथ उनके मूल, जीवनदायी रिश्ते फिर से कायम करने के लिए समर्पित किए थे।

बहुत-से लोग इस पर हैरानी जताते थे कि बलराज साहनी प्रकटतः कितनी सहजता व आसानी से आम जन के बीच से विभिन्न पात्रों को मंच पर या पर्दे पर प्रस्तुत कर गए हैं, चाहे वह 'धरती के लाल' का कंगाल हो या 'किसान' का बेटा हो या 'हम लोग' का कुंठित तथा गुस्सैल नौजवान, चाहे वह 'दो बीघा जमीन' का हाथ रिक्शा खींचने वाला हो या 'काबुलीवाला' का पठान मेवा बेचने वाला या फिर चाहे इप्टा के नाटक 'आखिरी शमा' में मिर्जा गालिब का बौद्धिक रूपांतरण ही क्यों न हो। लेकिन, इसका अंदाजा कम लोगों को होगा कि इन पात्रों को साकार करने के पीछे जन व जीवन का कितना सघन अध्ययन था और वर्षों की तैयारियों, शोध तथा उन परिस्थितियों में वास्तव में रहकर देखने के बल पर इन पात्रों को गढ़ा गया था। बलराज साहनी कोई यथार्थ से कटे हुए बुद्धिजीवी तथा कलाकार नहीं थे। आदमी से उनका गहरा परिचय (जिसका पता उनके द्वारा अभिनीत पात्रों से चलता है), स्वतंत्रता के लिए तथा सामाजिक न्याय के लिए जनता के संघर्षों में उनकी हिस्सेदारी से निकला था। उन्होंने जुलूसों में, जनसभाओं में तथा ट्रेड यूनियन गतिविधियों में शामिल होकर और पुलिस की नृशंस लाठियों और गोलियाँ उगलती बंदूकों का सामना करते हुए यह भागीदारी की थी। गोर्की की तरह अगर जिंदगी उनके लिए एक विशाल विश्वविद्यालय थी, तो जेलों ने जीवन व जनता के इस चिरंतन अध्येता, बलराज साहनी के लिए स्नातकोत्तर प्रशिक्षण का काम किया था।

इंडियन पीपुल्स थिएटर एसोसिएशन, जिसे इप्टा के नाम से ही ज्यादा जाना जाता है, का जन्म दूसरे विश्वयुद्ध तथा बंगाल के भीषण अकाल के बीच हुआ था और बलराज साहनी ने एक अभिनेता की हैसियत से भी और एक निर्देशक की हैसियत से भी, इप्टा के खजाने में शानदार योगदान दिया था। फिर भी मैं तो अब भी उन्हें इप्टा के एक समर्पित तथा निःस्वार्थ जमीनी कार्यकर्ता के रूप में ही याद करता हूँ। बाकी सबसे बढ़कर वह एक संगठनकर्ता थे। किसी भी मुकाम पर इप्टा अपने नाटकों के जरिए जिस भी लक्ष्य के लिए अपना जोर लगा रहा होता था, चाहे वह फासीवाद विरोधी जनयुद्ध हो या नृशंस दंगों की पृष्ठभूमि में हिंदू-मुस्लिम एकता का सवाल हो, वह चाहे नीग्रो व अफ्रीकी जनगण की मुक्ति हो या फिर साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ वियतनाम का युद्ध, बलराज साहनी हमेशा सभी के मन में उस लक्ष्य के प्रति हार्दिकता व गहरी भावना जगाते थे।

दंगों के दौर में तो वह ऐसे काम करते रहे थे जैसे सिर पर कोई भूत सवार हो। नाटक लिखते थे और दूसरों से (जैसे मुझसे) लिखाते थे, उनका रिहर्सल करते थे और चालों में, बस्तियों में, सड़कों पर, चौपाटी की रेत में और कभी-कभी तो प्रेक्षागृहों में भी यानी हर जगह, इन नाटकों की प्रस्तुति किया करते थे। (मेरे नाटक जुबैदा के अपने निर्देशन के दौरान तो बलराज ने, विशाल कावासजी जहाँगीर हॉल में उपस्थित श्रोताओं के बीच बिजली सी ही दौड़ा दी थी, जब नाटक के दौरान उन्होंने हॉल के बीचोबीच के रास्ते से होते हुए मंच पर, पूरी की पूरी बारात ही उतार दी थी, जिसमें आगे-आगे बैंड बाजे से लेकर, सफेद घोड़े पर सवार दूल्हा तक, सब कुछ था।)

बहरहाल, उनकी सबसे लोकप्रिय ऐतिहासिक कामयाबियाँ फिल्मों में उनके काम के दौर में ही आयी थीं। लेकिन, इन भूमिकाओं में भी जनता के जीवन के साथ उनकी तदाकारता मुकम्मल तथा प्रश्नोपरि थी। उन्होंने जो भी भूमिका अदा की उसे बड़ी लगन से यथार्थवाद से संपन्न बनाया।

1945 में इप्टा ने जब फिल्म 'धरती के लाल' बनायी, जिसमें सारे के सारे गैर-पेशेवर अभिनेता-अभिनेत्री थे, उसके लिए लंबे-तड़ंगे तथा नफीस बलराज साहनी, ने जो बीबीसी में 2 बरस काम करने के बाद कुछ ही अर्सा हुए लंदन से वापस लौटे थे, खुद को ऐसे आधे पेट खाकर गुजर करते बंगाली किसान में बदला, जैसे वह अकाल के मारे लाखों किसानों में से एक हों।

वह महीनों तक सिर्फ एक वक्त खाकर गुजारा करते थे ताकि कैमरे के सामने

उनकी अधनंगी देह, अपने भूख के मारे होने की गवाही दे और हर रोज कैमरे के सामने जाने से पहले वह अपनी धोती, समूचे शरीर और चेहरे पर भी, कीचड़ मिले पानी का छिड़काव करते थे ताकि हर तरह से अकिंचनता प्रकट हो।

'दो बीघा जमीन' विमल राय की अंतरराष्ट्रीय ख्याति अर्जित करने वाली गाथा थी। यह गाथा थी एक गरीब किसान के जीवन की, जो कलकत्ता में हाथ-रिक्शा चलाकर इतना पैसा इकट्ठा कर लेना चाहता है, जिससे साहूकार के शिकंजे से अपनी दो बीघा जमीन छुड़ा सके। इस भूमिका को अभिनीत करने के लिए बलराज कई हफ्ते तक कलकत्ता में रिक्शा खींचने वालों की बस्ती में रहे थे। यहाँ उन्होंने रिक्शा खींचने के लिए खुद को प्रशिक्षित ही नहीं किया था बल्कि रिक्शा खींचने वालों के तौर-तरीके भी सीखे थे और सबसे बढ़कर उनके जैसा नजर आना सीखा था।

इस फिल्म के सबसे प्रसिद्ध दृश्य में बेचारा रिक्शावाला दस रुपये के एक नोट की खातिर, एक मोटी सवारी को रिक्शे पर बैठाकर, जिसके हास्यभाव में परपीड़न का तत्त्व शामिल था, एक बग्घी से होड़ करता है जिसे एक घोड़ा खींच रहा होता है और जीत भी जाता है। विमल राय ने मुझे बताया था कि यह तो दूरी के शॉटों में बलराज के 'डबल' के तौर पर किसी पेशेवर रिक्शा खींचने वाले को रखना चाहते थे, लेकिन बलराज को यह बात सुनना भी मंजूर नहीं था। उन्होंने बिना 'डबल' का सहारा लिये यथार्थवादी तरीके से इस दृश्य को अभिनीत किया, हालाँकि इस दौड़ में करीब-करीब उनके प्राण ही निकल गए होते। इस तरह उन्होंने एक ऐसा शॉट दिया, जिसे यथार्थवादी अभिनय की शानदार विजय के रूप में हमेशा याद किया जाएगा। वास्तव में यह इससे भी बढ़कर है। यह तो शोषितों व वंचितों की जिंदगी के सामाजिक यथार्थ का एक मानवीय दस्तावेज है।

वास्तव में यही भूमिका थी जिसने एक महान अभिनेता के रूप में उनकी सर्वोच्चता भी स्थापित की और उन्हें इस देश के करोड़ों मेहनतकशों की आँखों का तारा बनाया था। उसके बाद से हमेशा ही उन्हें जनता के अपने अभिनेता के रूप में पहचान हासिल हुई थी और सम्मान तथा प्यार मिलता रहा था।

काबुलीवाला में, रवींद्रनाथ टैगोर के रचे बहुत ही भोले पठान के प्यारे से पात्र को साकार करने के लिए उन्होंने रावलपिंडी में गुजरे अपने बचपन की स्मृतियों को फिर से जगाया था, जहाँ सीमांत क्षेत्र से आने वाले पठान सहज ही और रोजमर्रा के जीवन का हिस्सा होते थे। इसके अलावा उन्होंने स्थानीय पठानों से संपर्क कर उनसे अपनी बोल-चाल सीखी थी, उनका प्रिय साज रबाब बजाना सीखा था और पश्तों के गीत गाना सीखा था। उन्होंने पठानों की हिंदुस्तानी की बोल-चाल की ध्वनि और उसके लालित्य को सीखा था। नाटक के मंच और सिनेमा के पर्दे, दोनों पर ही उन्होंने पठान की यह भूमिका अदा की थी और यह कहना मुश्किल है कि दोनों में किस रूप में प्रस्तुति को, चरित्रांकन की दूसरे से बढ़कर विजय माना जाना चाहिए।

वर्षों तक वह जहाँ भी जाते थे, उनके चाहने वाले उनका स्वागत काबुलीवाला के बोलने के तरीके की उनकी प्रस्तुति की नकल करके किया करते थे।

उनकी अगली महान कामयाबी थी, इप्टा के नाटक 'आखिरी शमा' में मंच पर मिर्जा गालिब के चरित्र तथा व्यक्तित्व की उनकी पुनर्रचना। यह खेद की बात है कि इस पात्र को सिनेमा के पर्दे पर पेश करने की योजना सिरे नहीं चढ़ सकी और इस देश के करोड़ों लोग उनकी इस प्रस्तुति को देखने से वंचित रह गए। फिर भी हजारों लोगों ने नाटक के मंच पर उनकी प्रस्तुति को तो देखा ही।

इस पात्र की प्रस्तुति को पूर्णतया बनाने में बलराज साहनी को, जो एक पंजाबी थे तथा इस पर गर्व करते थे, एक सहूलियत तो यह हुई कि उनका उच्चारण उर्दू का करीब-करीब बेदाग था और उन्होंने अपने दोस्तों से देहली की उर्दू इस तरह सीखी थी कि इस जबान में वैसे ही बोल सकते थे, जैसे गालिब बोलते रहे होंगे। उन्होंने मुशायरा शैली में शाइरी पढ़ने की नफीस कला भी घोंटकर पी ली थी। गालिब के पात्र की उनकी प्रस्तुति इतनी विश्वसनीय तथा जीवंत थी कि गालिब के एक महान् पारखी तथा गालिब साहित्य के विद्वान् ने कहा था—''जाहिर है कि महान् शायर को मैंने कभी देखा तो नहीं था, पर मैं इतना जरूर मानता हूँ कि गालिब ऐसे ही नजर आते, ऐसे ही शाइरी पढ़ते और नाटक में चित्रित विभिन्न हालात में उनकी ऐसी ही प्रतिक्रिया रही होती।''

लेकिन, एक अभिनेता केवल किसानों, कवियों, पठानों आदि की भूमिकाएँ ही नहीं करता है। उसका पेशा उससे कहीं और ज्यादा भाँति-भाँति के पात्रों को अभिनीत करने की माँग करता है। बलराज द्वारा प्रस्तुत अन्य पात्रों में मुझे उनकी एक अंग्लो-इंडियन डॉक्टर (राही), जेलर (हलचल), घूम-घूमकर तमाशा दिखाने वाले (परदेसी), फरार कैदी (पिंजरे के पंछी) एक ईमानदार आदमी जो नाजायज शराब-फरोश बन जाता है (दामन और आग), करोड़पति व्यापारी (प्यार का रिश्ता) और पुलिस इंस्पेक्टर (हँसते जख्म) की प्रस्तुतियाँ याद हैं। अपनी आखिरी फिल्म में जो बहुत ही उद्देश्यपूर्ण व राजनीतिक रूप से सार्थक फिल्म 'गर्म हवा' थी, वह आगरा के एक जूता व्यापारी की भूमिका अदा करते हैं, जो विभाजन की विभीषिका का शिकार होता है और फिर भी पाकिस्तान जाने के लिए तैयार नहीं होता है।

इन अलग-अलग भूमिकाओं में से हरेक में वह अपने अभिनय के कौशल की छाप छोड़ते हैं। उनका यह कौशल मानव व्यवहार के सहानुभूतिपूर्ण प्रेक्षण और यथार्थवाद के लिए गहरे लगाव, ब्योरों के प्रति तथा चरित्र व व्यक्तित्व के एक-एक रंग-रेशे के प्रति आश्चर्यजनक ईमानदारी से गढ़ा था।

बलराज साहनी ने किसी फिल्म संस्थान से प्रशिक्षण नहीं पाया था। यह अंग्रेजी साहित्य के विद्यार्थी थे। फिर उन्होंने अभिनय का असाधारण कौशल पाया कहाँ से? जीवन के विद्यालय से ही उन्होंने इंसानों को, उनकी कमजोरियों को व उनकी शक्तियों

को, उनके तौर-तरीकों को तथा उनके बनाव-सजाव के ढंगों को दिलचस्पी से देखना सीखा था।

उनकी वामपंथी सहानुभूतियाँ तथा संबद्धताएँ ही उन्हें इप्टा के लोगों के पास लायी थीं। इप्टा का तब गठन ही हुआ था और वह पूरे दिलो-जान से उसके काम में कूद पड़े। वह अभिनय करते और नाटकों का निर्देशन करते तथा मंचन करते और वह भी किन्हीं वातानुकूलित प्रेक्षागृहों में नहीं बल्कि घूम-घूमकर अपने गीत सुनाने वाले लोक गायकों की तरह चौपाटी की रेत पर या फिर मुंबई की झोंपड़-पट्टियों में जहाँ चार मेजें जोड़कर अस्थायी स्टेज बना लिया जाता था और पीछे से सड़क बंद कर, दर्शक सड़क पर ही बैठ जाते थे।

आखिरकार उन्हें और हमें, अपने समय की ज्वलंत समस्याओं पर केंद्रित अपने नाटकों का प्रेक्षागृहों में मंचन करने का भी मौका मिला, लेकिन हमने कभी अपने शुरू के दौर की सोद्देश्यता की खुशबू को और लोगों से अपनी मूल संपर्कों को कटने नहीं दिया। जनता के प्रति तथा एक सोद्देश्यपूर्ण संस्कृति के प्रति एक प्रतिबद्धता ही, बलराज साहनी के लिए उनकी प्रेरणा भी थी और हार्दिक भावना भी।

वह एक अभिनेता थे, लेकिन सिर्फ अभिनेता ही नहीं थे। उनकी असाधारण प्रतिभा की अभिव्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में हुई थी। वह एक वामपंथी रुझान के तथा प्रगतिशील वचनबद्धताओं के राजनीतिक व सामाजिक कार्यकर्ता थे और जब वह कम्युनिस्ट पार्टी के कार्डधारी सदस्य नहीं रहे थे, तब भी यह स्थिति बदली नहीं। वह एक विवेकवादी थे और आखिरी समय तक अपने विश्वास पर अडिग रहे थे।

जब उनकी बेटी की मौत हुई, वह चुनाव में इंदिरा कांग्रेस के प्रचार के लिए मध्यप्रदेश में थे। इसी तरह जब भिवंडी में दंगे हुए, वह भिवंडी गए और एक मुस्लिम मोहल्ले में मुसलमानों के साथ दो हफ्ते रहे थे ताकि धर्मनिरपेक्ष भारत में उनका भरोसा बहाल कर सकें। अच्छे कामों के लिए प्रचार करने के लिए वह लगातार देश भर में दौरे करते रहते थे। इप्टा के लिए तथा जुहू आर्ट थिएटर के लिए नाटक लिखते थे, उनमें अभिनय करते थे, उनका निर्देशन करते थे और यहाँ तक कि इन नाटकों में पैसा भी खर्च करते थे। वह फिल्मों से पैसा कमाते थे लेकिन, इस पैसे को अपने ऐशो-आराम पर खर्च करने की जगह, वह इसमें से ज्यादातर पैसा उन अनेक अच्छे कामों के लिए दे देते थे जिनमें वह यकीन करते थे और जिनके प्रति उनकी प्रतिबद्धता थी। उनसे मेरी आखिरी मुलाकात, एक ऐसे हॉस्टल की स्थापना की योजना के सिलसिले में हुई थी, जिसमें अरब और भारतीय छात्र साथ-साथ रह सकते हों। जिस रोज उनका इंतकाल हुआ, उस रोज भी उन्हें दिल का जानलेवा दौरा पड़ने से घंटे भर पहले ही मेरी टेलीफोन पर उनसे बात हुई थी और वह बड़े जोश के साथ हैदराबाद में बालिगा मेमोरियल अस्पताल के निर्माण के बारे में चर्चा कर रहे थे।

एक बेहतर जिंदगी के लिए जनता के संघर्षों में सक्रिय हिस्सेदारी के अनुभव से ही उनका तेजस्वी व्यक्तित्व भरा हुआ था और उसी से उन्होंने उन विविध पात्रों पर एक गहरी व सहानुभूतिपूर्ण पकड़ हासिल की थी, जिन्हें उन्होंने इतने कौशल से तथा हार्दिक मानवीय जुड़ाव के साथ सजीव किया था।

उनके बहुआयामी व्यक्तित्त्व का प्रस्फुटन सिर्फ अभिनय तक ही सीमित नहीं था। वह एक कहानी लेखक भी थे। पहले उन्होंने हिन्दी में कहानियाँ लिखीं तथा आगे चलकर अपनी प्यारी पंजाबी जुबान में, जिसके विकास के लिए उन्होंने भावपूर्ण समर्पण से काम किया था। पाकिस्तान के दो हफ्ते के सफर की उनकी यात्रा डायरी, गुजरे जमाने के लिए लगाव की कशिश से भरा एक दस्तावेज है, जिसका रेडक्लिफ की खींची रेखा के दोनों तरफ गर्मजोशी भरा स्वागत हुआ था, जो कि एक भारतीय लेखक के लिए दुर्लभ उपलब्धि है। पंजाबी भाषा, पंजाबी साहित्य तथा पंजाबी संस्कृति पर उनका भरोसा था और यह उन्हें पाकिस्तान के किसी भी पंजाबी के साथ तार जोड़ने में समर्थ बनाता था। उनके निधन के कुछ हफ्ते पहले की ही बात है, लाहौर से एक युवा संपादक दोनों देशों के बीच आदान-प्रदान के हिस्से के तौर पर आया था और बलराज ने उसे खाने पर बुलाया था। इस भोज में उन्होंने एक नारा दिया था—''दुनिया भर के पंजाबियों एक हो।'' हालाँकि वह पंजाबी भाषा के हिमायती थे, फिर भी (जवाहरलाल नेहरू की तरह) वह इसकी वकालत करते थे कि सभी भारतीय भाषाओं के लिए एक रोमन लिपि अपनायी जाए, ताकि उनमें एकता तथा एकमेकता लाई जा सके। कभी-कभी वह रोमन लिपि में हिंदुस्तानी जुबान में अपने दोस्तों को लंबे-लंबे पत्र भी लिखा करते थे।

जब वह शूटिंग के लिए जाते थे, तब भी बराबर गुरुमुखी का टाइपराइटर उनके साथ रहता था। इसी पर वह दोपहर के ब्रेक के दौरान अपने लेख, कहानियाँ, निबंध, नाटक और यहाँ तक कि उपन्यास के अंश भी लिखते थे, सभी कुछ पंजाबी में। मिसाल के तौर पर जब वह आगरा में शूटिंग कर रहे थे, वह अपना खाली वक्त मुस्लिम जूता बनाने वालों की जिंदगी के बारे में जानने में लगाते थे क्योंकि वह जिस पात्र का अभिनय कर रहे थे, इसी समाज से आता था। अगर वह पंजाब के किसी गाँव में होते थे, वह अपनी शामें गाँववालों के बीच, उनकी बोल-ठोली तथा गीतों को टेप रिकॉर्ड करते हुए गुजारते थे। ताकि जनता की भाषा की अपनी शब्दावली को और विस्तृत व समृद्ध बना सकें।

उन्हें साहित्य से प्यार था। उन्हें रंगमंच से प्यार था। उन्हें सिनेमा से प्यार था। उन्हें राजनीति में सभी प्रगतिशील रुझानों से प्यार था। वह सोवियत संघ से प्यार करते थे और वह चीन, वियतनाम, क्यूबा और अरब देशों व उनके जनगण से भी प्यार करते थे। लेकिन, सबसे बढ़कर वह भारतीय जनता से प्यार करते थे और उसके जीवन, उसके संघर्षों, उसकी समस्याओं, उसकी कमजोरियों तथा शक्ति

के साथ खुद को जोड़कर देखते थे। अचरज की बात नहीं है कि उनके आखिरी शब्द थे—"मेरे लोगों को मेरा प्यार देना।"

वे जीवन पर्यन्त एक साम्यवादी कार्यकर्ता के रूप में सक्रिय रहे, वे भारत के सांस्कृतिक प्रतिनिधि के तौर पर सोवियत संघ व चीन भी गये। उन्होंने सदा वाम आन्दोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया जब भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने उन्हें भारतीय युवा आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए कहा तो सहर्ष ही इस उत्तरदायित्व का निर्वहन करते हुए वो ऑआईवाईएफ के स्थापना सम्मेलन में 3 मई, 1959 को दिल्ली में संगठन के पहले राष्ट्रीय अध्यक्ष चुने गये।

बलराज साहनी, जिनका वास्तविक नाम युधिष्ठिर साहनी था, का जन्म 1 मई, 1913 को रावलपिंडी (जो अब पाकिस्तान में है) में हुआ। उन्होंने हिन्दी साहित्य में स्नातक की उपाधि व अंग्रेजी साहित्य में स्नातकोत्तर की उपाधि अर्जित की और रचनात्मकता के माध्यम से अपनी पहचान बनायी। उन्होंने अंग्रेजी कविताएँ लिखना शुरू किया व 'यथार्थवादी' रंगमंच में भी अपना दखल बनाया। उन्होंने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के शान्ति निकेतन में हिन्दी व अंग्रेजी शिक्षक के रूप में भी कार्य किया। कुछ समय तक उन्होंने एक पत्रकार के रूप में भी कार्य किया और बीबीसी, हिन्दी सर्विस के उद्घोषक भी रहे।

उन्होंने हिन्दी की 'इन्साफ', 'धरती के लाल', 'दूर चलें', 'दो बीघा जमीन', 'काबुलीवाला', 'सोने की चिड़िया', 'घर-संसार', 'वक्त', 'एक फूल दो माली' और 'गर्म हवा' के अतिरिक्त पंजाबी की दो फिल्मों 'नानक दुखिया सब संसार' और 'सतलुज दे कंडे' में भी अभिनय किया था। उनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं—मेरा पाकिस्तानी सफ़र, मेरा रूसी सफ़रनामा और मेरी फिल्मी आत्मकथा।

अली सरदार जाफ़री

❑ प्रकाश पंडित

आधुनिक उर्दू शाइरी का यह साहसी शाइर, जो शान्ति और भाईचारे के प्रचार और परतंत्रता, युद्ध और साम्राजी हथकंडों पर कुठाराघात करने के अपराध में परतंत्र भारत में कई बार जेल जा चुका है और स्वतंत्र भारत में भी, 29 नवम्बर, 1913 को बलरामपुर, जिला—गोंडा (अवध) में पैदा हुआ। घर का वातावरण उत्तर प्रदेश के मध्यवर्गीय मुस्लिम घरानों की तरह खालिस मज़हबी था, और चूँकि ऐसे घरानों में 'अनीस' के मर्सियों को वही महत्त्व प्राप्त है जो हिन्दू घरानों में गीता के श्लोकों और रामायण की चौपाइयों को, अतएव अली सरदार जाफ़री पर भी घर के मज़हबी और इस नाते अदबी (साहित्यिक), वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ा और अपनी छोटी-सी आयु में ही उसने मर्सिये (शोक-काव्य) कहने शुरू कर दिये और 1933 ई. तक बराबर मर्सिये कहता रहा।

लेकिन बलरामपुर से हाई स्कूल की परीक्षा पास करके जब वह उच्च शिक्षा के लिए मुस्लिम यूनिवर्सिटी अलीगढ़ पहुँचा तो वहाँ उसे हुसेन रायपुरी, सिब्ते हसन, जज़्बी, मज़ाज, जानिसार 'अख़्तर' और ख्वाजा अहमद अब्बास ऐसे लेखक साथी मिले और वह विद्यार्थियों के आन्दोलनों में भाग लेने लगा। फिर विद्यार्थियों की एक हड़ताल (वायसराय की एग्ज़ेक्टिव कौंसिल के सदस्यों के विरुद्ध जो अलीगढ़ आया करते थे) कराने के सम्बन्ध में यूनिवर्सिटी से निकाल दिया गया तो उसकी शायरी का रुख आप ही आप मर्सियों से राजनीतिक नज़्मों की ओर मुड़ गया। ऐंग्लो-एरेबिक कॉलेज देहली से बी. ए. और लखनऊ विश्वविद्यालय से एम. ए. करने के बाद वह बम्बई पहुँचा और कम्युनिस्ट पार्टी का सक्रिय सदस्य बना। उसे बार-बार जेल-यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो उसकी शायरी ने ऐसे पर-पुर्ज़े निकाले और उसकी ख्याति का वह युग प्रारंभ हुआ कि प्रतिक्रियावादियों की कौन कहे, स्वयं प्रगतिशील लेखक भी दंग रह गये।

उसके कविता-संग्रहों का अध्ययन करने से जो चीज़ बड़े स्पष्ट रूप में हमारे सामने आती है और जिससे हमें सरदार की कलात्मक महानता का पता चलता है,

वह यह है कि उसके समस्त विचारों का केन्द्र मनुष्य-मात्र है और उसे मानवता के भव्य भविष्य पर पूरा-पूरा भरोसा है। ऐतिहासिक बोध और सामाजिक अनुभवों से उसने यह भेद पा लिया है कि संसार में व्यक्तियों और वर्गों की पराजय तो हो सकती है और होगी, लेकिन मनुष्य अजेय है। विश्व-इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जब मनुष्य की पराजय हुई हो; और चूँकि उसका परिश्रम उसके अपने बोध का ही नहीं, बहुत हद तक उसके वातावरण का भी स्रष्टा होता है, इसलिए वह सदैव सफल और विजयी रहेगा; और यही कारण है कि हमें सरदार जाफ़री के यहाँ किसी प्रकार की निराशा, थकन, अविश्वास और करुणा का चित्रण नहीं मिलता, बल्कि उसकी शायरी हमारे मन में नई-नई उमंगें जगाती है और हम शायर की सूझ-बूझ और उसके आशावाद से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। कुछ शेर देखिए—

गो मेरे सिर पे सियह[1] रात की परछाईं है,
मेरे हाथों में है सूरज का छलकता हुआ जाम।
मेरे अफ़कार[2] में है तल्ख़ी-ए-इमरोज़[3] मगर,
मेरे अशआर में[4] है इश्रते-फ़र्दा का[5] पयाम॥

और

सिर्फ़ इक मिटती हुई दुनिया का नज़्ज़ारा न कर,
आलमे-तख़्लीक़ में[6] है इक जहाँ ये भी तो देख।
मैंने माना मरहले हैं सख़्त राहें हैं दराज़[7]
मिल गया है अपनी मंज़िल का निशाँ ये भी तो देख।

यहाँ तक कि उसकी रोमांटिक नज़्मों में भी संघर्षशीलता की वही भावना रची-बसी है जो उसकी राजनीतिक और क्रान्तिकारी नज़्मों से हमें मिलती है।

जाफ़री की शायरी की आयु लगभग वही है जो भारत में 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' की। यह ज़माना भारत के अतिरिक्त संसार-भर में अशान्ति का ज़माना रहा है। एक ओर भारत अंग्रेज़ी साम्राज्य की ज़ंजीरों से मुक्त होने के लिए हाथ-पैर मार रहा था तो दूसरी ओर साम्राजी शक्तियाँ अपने ख़ूनी जबड़े खोले नये-नये देश निगलने को लपक रही थीं। एक ओर दूसरे महायुद्ध के भयानक परिणाम संसार को आर्थिक संकट की लपेट में ले रहे थे और चारों ओर बेकारी और बेरोज़गारी का भूत दनदना रहा था तो दूसरी ओर रूस की साम्यवादी जीवन-व्यवस्था मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए मंज़िलों पर मंज़िलें मार रही थी और सारी दुनिया के श्रमजीवी उस जीवन-व्यवस्था से प्रभावित हो रहे थे। फिर भारत का विभाजन हुआ और लाखों व्यक्ति धर्म के नाम पर कट मरे। इस प्रकार राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों में किसी दयानतदार शायर या लेखक के लिए चुप रहना या अपना कोई अलग काल्पनिक संसार बसा लेना किसी प्रकार संभव न था, अतएव सरदार जाफ़री ऐसे मानवप्रेमी शायर ने प्रत्येक अवसर पर न केवल अपनी मानवमित्रता की मशाल जलाई

बल्कि मानव-शत्रुओं के विरुद्ध अपनी पवित्र घृणा भी प्रकट की। बग़ावत, अहदे-हाज़िर, साम्राजी लड़ाई, इन्क़िलाबे-रूस, मल्लाहों की बग़ावत, फ़रेब, तेलंगाना, सैलाबे-चीन, जश्ने-बग़ावत इत्यादि नज़्मों के शीर्षक देखने भर से पता चल जाता है कि शायर की उँगली हर समय बदलती हुई राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों की नब्ज़ पर रही है और उसकी समूची शाइरी के अध्ययन से यह वास्तविकता खुलकर सामने आ जाती है कि उसने केवल परिस्थितियों की नब्ज़ सुनने तक ही स्वयं को सीमित नहीं रखा बल्कि उन धड़कनों के साथ-साथ उसका अपना दिल भी धड़कता रहा है। लेकिन इन्हीं कारणों से कुछ आलोचकों की राय यह भी है कि अधिकतर सामयिक विषयों पर शे'र कहने के कारण सरदार जाफ़री की शायरी भी सामयिक है और नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होते ही उसका महत्त्व कम हो जाएगा। एक हद तक मैं भी उन सात्यिकारों से सहमत हूँ लेकिन सरदार जाफ़री के इस कथन को एकदम झुठलाने का भी मैं साहस नहीं कर पाता, जिससे वह स्वयं अपनी शायरी को सामयिक स्वीकार करते हुए कहता है कि "हर शाइर की शाइरी वक़्ती (सामयिक) होती है। मुमकिन है कि कोई और इसे न माने लेकिन मैं अपनी जगह यही समझता हूँ। अगर हम अगले वक़्तों के राग अलापेंगे तो बेसुरे हो जायेंगे। आने वाले ज़माने का राग जो भी होगा, वह आने वाली नस्लें गायेंगी। हम तो आज ही का राग छेड़ सकते हैं।"

('पत्थर की दीवार' की भूमिका से)

लेकिन इसके साथ ही जब वह अपनी विशेषता इन शब्दों में जताता है कि—

मैं हूँ सदियों का तफ़क्कुर[8] मैं हूँ क़र्नों का[9] ख़याल,
मैं हूँ हमआग़ोश अज़ल से[10] मैं अबद से हमकिनार।[11]
मेरे नग्मे क़ैदे-माहो-साल से[12] आज़ाद हैं,
मेरे हाथों में है लाफ़ानी[13] तमन्ना का सितार।
नक्शे-मायूसी में[14] भर देता हूँ उम्मीदों का रंग,
मैं अता[15] करता हूँ शाख़े-आरज़ू[16] को बर्गो-बार।[17]
चुन लिये हैं बाग़े-इन्सानी से अरमानों के फूल,
जो महकते ही रहेंगे मैंने गूँथे हैं वो हार।
आर्ज़ी[18] जलवों को दी है ताबिशे-हुस्ने-दवाम।[19]
मेरी नज़रों में है रौशन आदमी की रहगुज़ार।[20]

और उसके इस दावे पर हम उसकी शायरी को परखते हैं तो और जो भी परिणाम निकालें, यह बात हमें अवश्य विदित हो जाती है कि वह किसी एक जाति, किसी एक वर्ग या किसी एक दल का शायर नहीं, समूची मानवता का शायर है और उसकी शाइरी इतिहास के बदलते हुए मूल्यों की द्योतक है।

अब कुछ शब्द मैं सरदार जाफ़री की काव्य-कला के बारे में भी कहना चाहता हूँ क्योंकि कुछ लोगों के ख़याल में सरदार जाफ़री जब भावावेश में होता है तो कला

के नियत तक़ाज़ों पर से उसकी नज़र उचट जाती है। यह दुरुस्त है कि उसकी कुछ प्रारंभिक नज़्मों की कुछ पंक्तियों का ढीलापन कानों को खटकता है और कुछ स्थानों पर उसका स्वर काव्यात्मक कम और भाषणात्मक अधिक हो गया है। लेकिन सामूहिक रूप से उसकी शाइरी कला के तमाम गुणों-लक्षणों को अपने दामन में लिये हुए है। उसके यहाँ रूप और विषय का ऐसा सुन्दर समन्वय है कि उर्दू साहित्य की परम्पराओं में अच्छी तरह रची-बसी होने पर भी हमें उसकी शाइरी बिलकुल नई मालूम होती है। इस पर उसने उर्दू शाइरी की जो नई उपमाएँ और रूपक दिये हैं और मुक्त छन्द की टेक्नीक को सँवारा-निखारा है, उससे आधुनिक उर्दू शाइरी के क्षेत्र में वृद्धि भी हुई है और वह रंगारंग भी हो उठी है। अपनी उपमाओं और रूपकों के नयेपन के बारे में स्वयं जाफ़री का कहना है कि—''पुरानी तश्बीह और इस्तआरे (उपमा और रूपक) एक बहुत बड़ा ख़ज़ाना ज़रूर हैं लेकिन इस ख़ज़ाने पर क़नाअत (संतोष) कर लेना नादानी है। कभी तो इनके इस्तेमाल से बड़ा हुस्न पैदा हो जाता है लेकिन कभी-कभी वे ख़यालात और एहसासात (अनुभूतियों) को जकड़ भी लेते हैं और असलियत पर पर्दा डाल देते हैं। चूँकि ज़िन्दगी को नई हक़ीक़तें (वास्तविकताएँ) नये तरीक़े-इज़हार और अन्दाज़े-बयाँ (वर्णन-शैली) का मुतालबा करती हैं, इसलिए मैं बगैर किसी झिझक के नई तश्बीह और इस्तआरे भी इस्तेमाल करता हूँ और नई इमेजरी (Imagery) भी। मैंने उस उसूल को बहुत मुफ़ीद पाया है कि तश्बीह और इस्तआरे और इमेज़री मौज़ू के माहौल (वातावरण) से हासिल करने चाहिए।'' इसलिए आपको मेरे यहाँ ऐसे मिस्रए (पंक्तियाँ) मिलेंगी जैसे—

शाम की आँख में बारूद के काज़ल की लकीर
या
पहरेदारों की निगाहों से टपकता है लहू,
राइफ़ल करती है फ़ौलाद के होंठों से कलाम,
गोलियाँ करती हैं सीसे की ज़ुबाँ से बातें।
या
चावलों की सूरत पर मुफ़लिसी बरसती है।

अच्छा शाइर होने के अतिरिक्त सरदार जाफ़री अच्छा आलोचक भी है। 'नया अदब' (मासिक पत्रिका) के सम्पादन[21] काल में उसने अपनी जिस आलोचनात्मक योग्यता का परिचय दिया और पिछले दिनों 'तरक़्क़ी-पसंद अदब' का इतिहास लिखते हुए ज्ञान के जितने बड़े भंडार के साथ वह हमारे सामने आया है, उससे यह तय करने में कठिनाई होती है कि वह शायर बड़ा है या आलोचक। शायर और आलोचक के अतिरिक्त वह बहुत अच्छा भाषणकर्ता भी है।[22] उसने कहानियाँ भी लिखी हैं और नाटक भी।[23] लेकिन इतना कुछ लिखने पर वह कहता है—

ये तो हैं चंद ही जल्वे जो झलक आये हैं,
रंग हैं और मेरे दिल के गुलिस्ताँ में अभी।
मेरे आग़ोशे-तख़य्युल[24] में हैं लाखों सुबहें,
आफ़ताब[25] और भी हैं मेरे गिरेबाँ में अभी।

और उसके इस कथन से हमें उसके व्यक्तित्व को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। उर्दू के एक प्रसिद्ध साहित्यकार अहमद नदीम क़ासमी के शब्दों में—

''वह एक मुस्तक़िल-मिज़ाज नौजवान, निडर सिपाही और पाकीज़ा दिल[26] दोस्त है। अपने नज़रियात[27] के इज़हार[28] और ऐलान से उसे कोई ताक़त नहीं रोक सकती। लेकिन वह मुख़ालिफ़ीन के[29] एतराज़ात[30] सुनकर तिलमिला उठने का आदी नहीं। उसका दिमाग़ मुतवाज़न[31] है। वक़्ती जोशो-खरोश से वह मुतस्सिर[32] नहीं होता बल्कि हर काम की इब्तदा करने से पहले अंजाम को महसूस करता और मस[33] कर लेता है। उसकी शायरी में भी हुस्न और उमक़[34] है और शख़्सीयत[35] में भी। वह सूबजाती तअस्सुब[36] से बुलंद और एक आलमगीर अख़ुवत[37] का अलमबरदार[38] है। ज़िन्दगी ने उसके साथ अनगिनत मज़ाक़ किये हैं, मगर जवाब में उसने ज़िन्दगी को अपना ऐसा मुतीअ[39] बना लिया है कि अब उसकी नजरों में हिमालय की बुलंदी और ओक़्यानूस[40] की गहराई यकसां[41] हैसियत रखती है।''

हाँ, अपनी ओर से यदि सरदार जाफरी के व्यक्तित्व के बारे में मुझे केवल एक वाक्य कहना पड़े तो मैं कह सकता हूँ कि जाफ़री से मिलने से पूर्व उसकी शायरी के माध्यम से जितना ख़तरनाक व्यक्ति मैं उसे समझता था, मिलने पर वह मुझे उससे कहीं अधिक मासूम नज़र आया। 1-8-2000 ई. के दिन निधन।

प्रकाशित कृतियाँ

परवाज़ (1944), जम्हूर (1946), नई दुनिया को सलाम (47), अगन का सितारा (50), एशिया जाग उठा (50), पत्थर की दीवार (53), एक ख़्वाब और (65), पैरहाने शरर (66), लहू पुकारता है (1978)।

पुरस्कार/सम्मान

ज्ञानपीठ पुरस्कार, उर्दू अकादमी पुरस्कार, कुमारन आशान पुरस्कार, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार, इकबाल सम्मान और पद्मश्री पुरस्कार।

सन्दर्भ

1. काली
2. चिंतन में
3. आज की कटुता
4. शे'रों में

5. भविष्य के सुख का
6. निर्माण की अवस्था में
7. लम्बी
8. मनन
9. सदियों का
10. आदिकाल को अपने बाहुपाश में लिये हुए
11. अन्त काल के गले मिला हुआ
12. वर्षों और महीनों की कैद से
13. अमर
14. निराशा के रेखाचित्र में
15. प्रदान
16. आकांक्षा रूपी टहनी को
17. फल-फूल
18. अस्थायी
19. अमर सुन्दरता की चमक
20. पथ
21. इन दिनों सरदार जाफ़री बम्बई से त्रैमासिक 'निगाह' भी निकाल रहा है।
22. किसी समय और किसी विषय पर कहिये जाफ़री बिना थके बोल सकता है। सच बात कहने और फिर प्रमाणों द्वारा उस कड़वे सत्य को मनवाने का उसे ऐसा कमाल हासिल है कि सैद्धांतिक रूप से उससे मतभेद रखने वाले लोग भी उसका भाषण सुनकर एक बार तो मंत्रमुग्ध हो ही जाते हैं।
23. कहानी-संग्रह 'मंज़िल' और नाटकों का संग्रह 'यह किसका खून है' के नाम से प्रकाशित है।
24. कल्पना-रूपी गोद
25. सूरज
26. शुद्ध हृदय
27. धारणाओं के
28. प्रकटीकरण
29. विरोधियों के
30. आक्षेप
31. संतुलित
32. प्रभावित
33. स्पर्श
34. गहराई
35. व्यक्तित्व
36. प्रांतीय संकीर्णता से
37. विश्वव्यापी भ्रातृत्व का
38. ध्वज-वाहक
39. अनुयायी
40. अतलांतिक महासागर
41. समान

ज्योति बसु

प्रसिद्ध मार्क्सवादी कम्युनिस्ट नेता, लगातार 23 वर्षों तक पश्चिम बंगाल के मुख्य मंत्री रहने वाले और ख्यात अनीश्वरवादी ज्योति बसु का जन्म पूर्वी बंगाल (अब बंगलादेश) के नरायनगंज जिले के बरूदी गाँव से आए प्रसिद्ध व धनी डॉक्टर निशिकांत बसु (पिता) के हैरिसन रोड स्थित, कलकत्ता के घर में जुलाई 8, 1914 ई. को हुआ था। उनकी माँ एक सामान्य गृहिणी थीं।

ज्योति बसु की स्कूली शिक्षा का प्रारम्भ धरमतल्ला के लोरेटो स्कूल से हुआ। वहाँ से वे सेंट ज़ैवियर स्कूल गए। फिर उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी. ए. आनर्स पास किया और 1935 में कानून की पढ़ाई के लिए लंदन चले गए। यहाँ उन्होंने प्रसिद्ध अर्थशास्त्री व राजनीतिशास्त्री प्रो. हेरोल्ड जे. लास्की की कक्षाओं में उपस्थित रहे तथा मिडिल टेम्पिज से कानून की डिग्री प्राप्त की। यहीं पर वे प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेता, दार्शनिक व लेखक, रजनी पामदत्त के सम्पर्क में आए व उनसे प्रभावित हुए। उन्होंने ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता लेनी चाही पर पार्टी ने इस सदस्यता को रोक दिया। सन् 1940 ई. में वे भारत लौट आए और कलकत्ता में वकालत के लिए रजिस्ट्रेशन करा लिया। लेकिन ज्योति बसु ने वकालत कभी नहीं की। इंग्लैंड में शिक्षा के दौरान ज्योति बसु का परिचय जवाहर लाल नेहरू व सुभाषचन्द्र बोस से हुआ। वहीं ज्योति बसु की दोस्ती एक अन्य भारतीय कम्युनिस्ट नेता भूपेश गुप्त से हुई। वे दोनों भारत की आज़ादी के लिए काम करने लगे। बसु ने वहाँ इण्डिया लीग तथा लंदन मजलिस की सदस्यता ले ली। यह दोनों संगठन भारत की स्वतंत्रता के लिए काम करते थे।

इंग्लैंड से भारत लौटकर बसु तुरन्त सी. पी. आई. के सदस्य बन गए और अपना पूरा समय पार्टी को देने लगे। पार्टी ने उन्हें रेलवे का ट्रेड यूनियन कार्य सौंपा तो वे अपनी क्षमता से रेलवे वर्कर्स यूनियन के जनरल सेक्रेटरी चुन लिये गए। आगे चलकर वे फ्रेंड्स ऑफ सोवियत यूनियन और ऍन्टी-फासिस्ट राइटर्स ऍसोशिएशन, दोनों के जनरल सेक्रेटरी चुने गए। सन् 1946 में बंगाल प्राविन्शियल असेम्बली के

भी सदस्य चुन लिये गए। इसके बाद वे सदैव ही प्रसिद्ध व प्रभावशाली विधायक बने रहे। सन् 1946-47 के साम्प्रदायिक दंगों के दौरान ज्योति बसु ने बेहद सक्रिय रहकर धर्मनिरपेक्षता की अलख जगाई व धार्मिक सौहार्द के प्रतीक बने।

सन् 1953 ई. से सन् 1961 ई. तक ज्योति बसु सी. पी. आई. की पश्चिम बंगाल प्रांतीय कमेटी के महामंत्री रहे। सन् 1964 ई. में जब सी. पी. आई. से अलग होने वालों ने सी. पी. आई. (एम.) बनाई तो वे उसकी पालिट ब्यूरो के सदस्य बनाए गए, जो वे आजीवन बने रहे।

देश की आज़ादी के बाद ज्योति बसु सन् 1952 में बारानगर से राज्य असेम्बली के लिए चुने गए। फिर वे 1957, 1962, 1967, 1969, 1971, 1977, 1982, 1987, 1991 व 1996 में भी चुने गए। 1956-60 के मध्य वे कई बार गिरफ्तार कर जेल में भी डाले गए। वे कई बार भूमिगत भी रहे।

जब डॉ. विधान चन्द्र राय पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री थे तो ज्योति बसु, विपक्ष के नेता होते थे। ज्योति बसु डॉ. राय की नीतियों की कटु आलोचना करते थे पर डॉ. राय उन्हें सर्वाधिक सम्मान दिया करते थे। पश्चिम बंगाल में कांग्रेसी शासन के विरुद्ध जो भी आन्दोलन होते, ज्योति बसु प्रायः उनका नेतृत्व करते। छात्रों, युवकों व श्रमिकों के मध्य उनकी मान्यता अद्वितीय थी। सन् 1967 ई. में पश्चिम बंगाल में यूनाइटेड फ्रंट की सरकार बनी। अजय मुखर्जी इस सरकार के मुख्यमंत्री और ज्योति बसु उप मुख्यमंत्री थे। सन् 1970 ई. में पटना रेलवे स्टेशन पर उनकी हत्या का प्रयास किया गया, पर वे इस हमले में बाल-बाल बच गए। सन् 1970 ई. का असेम्बली चुनाव वे हार गए। उनकी पार्टी ने पूरे चुनाव का बहिष्कार कर दिया। उन्होंने असेम्बली को 'जाली असेम्बली' कहा और दोबारा चुनाव हुए तो वे जीत गए। सन् 1971 ई. में पश्चिम बंगाल विधानसभा के आम चुनाव हुए। इस चुनाव में लेफ्ट फ्रंट जीता। ज्योति बसु इस सरकार के मुख्यमंत्री बने। यह पद निरंतर 23 वर्षों तक उनके पास रहा। सन् 2000 ई. में 86 वर्ष की आयु में स्वास्थ्य संबंधी कारणों से उन्होंने स्वयं ही यह पद छोड़ दिया। सन् 1996 ई. में उन्हें देश के प्रधानमंत्री का पद दिया जाना प्रस्तावित था पर उनकी अपनी पार्टी ने सैद्धांतिक कारणों से इनकार कर दिया। पहले तो यह सब पूरी तरह गुप्त रखा गया पर बाद में स्वयं ज्योति बसु ने इसे 'ऐतिहासिक भूल' कहकर उसका रहस्योद्घाटन किया।

ज्योति बसु जब पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री थे तो देश में दो बार, 1984 ई. में इंदिरा गाँधी की हत्या के बाद तथा 1992 ई. बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद साम्प्रदायिक दंगे हुए। पश्चिम बंगाल इन दंगों से एकदम अछूता रहा। यह ज्योति बसु और उनकी सरकार की धर्मनिरपेक्षता व प्रशासनिक क्षमताओं का ही सबूत था। ज्योति बसु की सरकार ने पश्चिम बंगाल में व्यापक भूमि सुधार किए व खेतिहर मजदूरों को व्यापक अधिकार दिए।

ज्योति बसु देश में वाम जनवाद, धर्मनिरपेक्षता व प्रशासनिक कुशलता के आज भी प्रतीक माने जाते हैं। वे स्वयं कम्युनिस्टों के मध्य संसदवादी साम्यवाद के आदर्श थे। वे अपने आदर्श के प्रति इतने कट्टर थे कि उनसे विचलित होना वे स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे। 3 साल की जेल और 2 साल के कठिन भूमिगत जीवन ने भी उनमें लेशमात्र कटुता नहीं पैदा की। मार्क्सवाद और पूँजीवादी लोकतंत्र का जैसा सामंजस्य उन्होंने स्थापित किया, वह अद्वितीय है। पार्टी का कोई भी काम हो वे लगन से करते थे। पार्टी ने सन् 1970 ई. में सीटू की स्थापना की; वे लगातार उसके राष्ट्रीय उपाध्यक्ष रहे। पार्टी ने अपना मुखपत्र, पीपल्स डेमोक्रेसी, निकाला तो वे उसके पहले संपादक बने। उनके बौद्धिक आलोचक भी कम नहीं थे। ॲस. बी. आर. चौधरी ने तो उन्हें मार्क्सवादी कम्युनिस्ट मानने तक को अस्वीकारा है। वे कहते हैं कि बसु लोकतांत्रिक समाजवादी भर थे। क्रांतिकारी कम्युनिस्टों के विरुद्ध उन्होंने निरंतर सफाए का सरकारी अभियान चलाया। फिर भी भारत में साम्यवाद को प्रतिष्ठा दिलाने में ज्योति बसु के दाय को अस्वीकारा नहीं जा सकता।

ज्योति बसु की मृत्यु 95 वर्ष की उम्र में 17 जनवरी, 2010 ई. को हुई। उस समय वे किसी भी सरकारी पद पर नहीं थे। सी. ए. एन.-आई. बी. एन. ने अपने शोक संदेश में बसु की सर्वहारा समर्थक नीतियों को पश्चिम बंगाल की औद्योगिक अवनति का कारण बताया। एन. डी. टी. वी. ने भी समानांतर भावना प्रकट की कि बसु की कम्युनिस्ट नीतियों से कलकत्ता की औद्योगिक अवनति हुई तथा कमकर आबादी का पलायन हुआ।

स्वयं कोलकाता ने ज्योति बसु के देहावसान को अभूतपूर्व तरीके से एक महान् नायक के निधन के रूप में मनाया। पूरा कोलकाता मानो उनके अंतिम दर्शन को उमड़ पड़ा था। स्वयं प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने कहा कि वे कठिन समय में उनसे सलाह लिया करते थे। बसु की कड़ी आलोचक भाकपा तक ने उन्हें कम्युनिस्ट आन्दोलन का पितामह कहकर अनुमान लगाया कि वे भारत के एक अच्छे प्रधानमंत्री साबित हुए होते।

बसु, ने मृत्यु पूर्व अपने दाह की मनाही कर अपना शव व नेत्र दान कर दिए थे। अतः उनके नेत्र व शरीर समारोहपूर्वक रिसर्च हेतु क्रमशः सुश्रुत आई. फाउन्डेशन तथा ॲस. ॲस. के. ॲम. हॉस्पिटल, कोलकाता को दिये गये।

बसु के एक पुत्र, चंदन बसु; पोतियाँ, पायल, दोयल और कोयल तथा पोता शुभज्योति हैं। उन्होंने जीवनभर स्वयं को प्रचार से दूर रखा। बाद में 24 परगना में एक नियोजित नगर राजारहाट न्यूटाउन का नाम ज्योति बसु नगर कर दिया गया।

लक्ष्मी स्वामिनाथन सहगल

❑ **सुभाषिनी अली**

मेरे नाना, ॲस. स्वामिनाथन अय्यर, कुछ असामान्य किस्म के ब्राह्मण थे। वे पालघाट की जिला अदालत में एक कर्मचारी के बेटे थे, जिसकी मृत्यु उनकी बाल्यावस्था में ही हो गई थी। नायर जाति के एक तहसीलदार, पी. गोविंदा मेनन ने बालक स्वामिनाथन की प्रतिभा को पहचाना और शिक्षा में मदद की। बाद में स्वामिनाथन वजीफ़ा पाकर कानून पढ़ने एडिनबरा चले गए और हार्वर्ड से डॉक्टरेट लेकर भारत लौटे। सजातीय ब्राह्मणों ने जिद की कि कालापानी लाँघने के पाप के लिए वे शुद्धि संस्कार संपन्न करें तो नाना ने साफ मना कर दिया। उन्होंने मद्रास में वकालत शुरू की तो घर में धन मानो बरसने लगा और प्रशासनिक प्रभाव कदम चूमने लगा।

नाना अपनी सफलताओं का श्रेय पी. गोविंदा मेनन को देते थे। वे केरल में उनके घर पहुँचे तो उनकी मृत्यु हो चुकी थी। वे उनके एहसानों के बदले कुछ काम करना चाहते थे। उनकी बूढ़ी धर्मपत्नी, ए. बी. लक्ष्मीकुट्टी अम्मा जीवित थीं। नाना ने प्रस्ताव दिया और अम्मा ने स्वीकार कर लिया; परिणामस्वरूप उनकी मात्र 14 वर्षीया कन्या, अम्मू, मेरी नानी बन गई। नाना ने अंग्रेज ट्यूटर रखकर नानी को अंग्रेजी पढ़ाई और मद्रास के संभ्रांत समाज में प्रतिष्ठित किया। नानी मद्रास शहर में कार की पहली मालकिन व पहली ड्राइवर बनीं। वे शानदार दो घोड़ों की बग्घी पर मैरीन ड्राइव की सैर पर जाया करती थीं तथा अंग्रेज अफसरों को आमंत्रित कर उन्हें शानदार दावतें दिया करती थीं। मेरे नाना डटकर प्रतिबंधित ब्राह्मण-नायर विवाह के सामाजिक दुष्परिणामों के विरुद्ध लड़े और हर सामाजिक बंधन को बेरहमी से तोड़ते चले गए। विवाह के समय ब्राह्मण समाज ने विवाह संस्कार व भोज का बायकाट किया था, फिर भी नाना डिगे नहीं। कानूनी पुख़्तगी के लिए वे अम्मू को इंग्लैंड ले गए और वहाँ रजिस्ट्री दफ्तर में दोबारा शादी कर ली।

मेरे ब्राह्मण नाना और नायर नानी से 4 संतानें हुईं, दो बेटे और दो बेटियाँ,

गोविंद व सुब्रम तथा मृणालिनी व लक्ष्मी। नाना ने चारों को समान अच्छी शिक्षा दी, अंतर यह था कि बेटों को इंग्लैंड में पढ़ाया तो बेटियों को मद्रास के सर्वश्रेष्ठ स्कूलों में।

लक्ष्मी का जन्म 24 अक्तूबर, 1914 के दिन हुआ, वे अपनी माँ की दूसरी संतान थीं। वे बहुत सुन्दर कन्या थीं जो बाद में बहुत सुंदर स्त्री भी हुईं। उनके लम्बे-लम्बे बाल तथा बड़ी-बड़ी आँखें थीं जिनमें भोलापन मानो छलक-छलक जाता था। रंग-रूप इतना गोरा व दमकता हुआ कि दर्शक प्रशंसा किए बिना न रहते। फिर भी माँ आजीवन निर्गर्व रहीं। दूसरों की सेवा के लिए समर्पित होकर जीना उनका व्यसन था। लक्ष्मी अंतिम समय तक अपनी माँ के रहन-सहन, जातिवाद-विरोधी दृष्टिकोण तथा उनके द्वारा घर के लॉन में विदेशी वस्त्रों की होली जलाने की धटना की याद किया करती थीं। लक्ष्मी के बचपन की एक घटना का जिक्र यहाँ जरूरी है। लक्ष्मी के चाचा का घर उनके स्कूल के पास था। लक्ष्मी व मृणालिनी दोनों लंच के समय अपना टिफिन खोलकर वहीं जाकर लंच लेतीं। वे लोग इन भतीजियों को जमीन पर बैठाकर खिलाते। जब यह जानकारी अम्मू को मिली कि चाचाजी सगी भतीजियों से अछूत-सा व्यवहार करते हैं तो उन्होंने यह बात वकील साहब से बताई। वकील साहब ने अपने भाई को सबक सिखाने के लिए टिफिन में गोश्त और गोश्त में हड्डी होना अनिवार्य बना दिया। उनका मानना था कि भाई को ठीक करने का सही रास्ता यही है।

जब लक्ष्मी के पिता की मृत्यु हुई तब उनकी माँ की उम्र मात्र 30 वर्ष की थी। वे मृत्युपूर्व ही माँ से कह गए थे कि वे चूड़ियाँ न तोड़ें, रंगीन साड़ी पहनना न छोड़ें तथा सिंदूर लगाना न बंद करें। वे अपनी सम्पत्ति भी चारों संतानों में बराबर-बराबर वसीयत कर गए थे। बेटों के बराबर ही बेटियों को सम्पत्ति का हिस्सा देना उन दिनों एक क्रांतिकारी कदम था।

लक्ष्मी ने सन् 1932 ई. में विज्ञान से इंटर मीडिएट पास किया। वे डॉक्टर बनना चाहती थीं, तो उन्होंने मेडिकल कॉलेज में प्रवेश लिया। उधर वे डॉक्टरी की शिक्षा ले रही थीं तो घर पर भी कुछ ज्यादा ही घटित हो रहा था। माँ कांग्रेस में ज्यादा सक्रिय थीं तो सुहासिनी चट्टोपाध्याय (सरोजनी नायडू की बहन) कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य बनकर घर पर भूमिगत मेहमान के रूप में रह रही थीं। वे जर्मन कम्युनिस्टों के त्याग व बलिदान तथा रूसी कम्युनिस्टों के कारनामे लक्ष्मी को सुनातीं तो लक्ष्मी रोमांचित हो उठतीं। कम्युनिस्टों की प्रशंसा उन्होंने पहले आत्मसात् की और कम्युनिज़्म कुछ बाद में समझा।

लक्ष्मी जब डॉक्टरी की पढ़ाई के चौथे साल में थीं तो उनकी मुलाकात टाटा एयर के एक पाइलट से हुई जो उन्हें बेइन्तहा प्यार करने लगा। लक्ष्मी ने आनन-फानन में उससे शादी कर ली। तीन महीने बम्बई में पति के साथ रहकर वे पुनः

अपनी मेडिकल शिक्षा हेतु मद्रास लौट आईं। यहाँ वे एक सहपाठी से फिर आकर्षण अनुभव करने लगीं; पर चूँकि उनका विवाहित पति तलाक को तैयार नहीं था, उन्होंने नए विकसित हो रहे सम्बन्धों को विवाह का रूप नहीं दिया। दोनों ने आत्महत्या का प्रयास भी किया, पर इत्तफाक से दोनों ही बच गए। प्रेमी बाद में सिंगापुर चला गया, जहाँ उसने डॉक्टरी प्रेक्टिस शुरू कर दी। एक रिश्तेदार कुट्टी और उसकी पत्नी पद्मिनी भी सिंगापुर में थे। उसका लाभ उठाकर लक्ष्मी भी अपने दोस्त के पीछे-पीछे सिंगापुर चली गईं। यहाँ उन्होंने अपने दोस्त के साथ अच्छी प्रेक्टिस बना ली। उनके मरीज प्रायः गरीब भारतीय मजदूर होते थे। वहाँ वे इन्डिपेन्डेन्स लीग में शामिल हो गयीं जो वहाँ भारत की कांग्रेस की शाखा के रूप में काम करती थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के वे दिन थे जब पूर्व में जापान जीत पर जीत हासिल करता जा रहा था। सन् 1942 में जापान ने सिंगापुर को जीत लिया। अंग्रेज सेना, जिसके अधिकांश अफसर व सैनिक भारतीय थे, ने आत्मसमर्पण कर दिया। जापान ने इन सैनिकों को मौका दिया कि वे चाहें तो भारत की मुक्ति के लिए पुनर्गठित होकर लड़ सकते हैं। पाऊ कैम्पों में इस प्रस्ताव पर गर्मागर्म बहस प्रारम्भ हो गई। कुछ अफसर अंग्रेज़ों के प्रति वफादार रहना चाहते थे तो कुछ देशभक्ति के प्रभाव में संगठित होकर उनसे लड़ने की सोचने लगे थे।

भारतीय सेना के एक युवा अफसर, प्रेम सहगल, ने देशभक्ति भाव वाले अफसरों का नेतृत्व किया। जापान सरकार की अनुमति से यह अफसर तमाम अन्य युवा अफसरों से मिला और उन्हें इन्डियन नेशनल आर्मी बनाने को तैयार किया। प्रेम सहगल के इस काम में लक्ष्मी ने भी पूरी मदद की। करीब 6 वर्षो बाद लक्ष्मी ने इन्हीं प्रेम सहगल से दूसरा विवाह किया, जो मेरे पिता हुए। इसी बीच जापान नेताजी सुभाष चन्द्र बोस को बर्लिन से सिंगापुर ले आया और रास बिहारी बोस की जगह नेताजी को आई. ऍन. ए. का कमांडर-इन-चीफ घोषित कर दिया गया।

इंडिया इन्डिपेन्डेन्स लीग ने 6 जुलाई को सिंगापुर में एक विशाल रैली का आयोजन किया। तमाम फौजी अफसर, सैनिक व आम भारतीय इस रैली में फौजी ड्रेस पहनकर आए। यहीं पर नेताजी ने 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूँगा' वाली जोशीली तकरीर की। शाम को नेताजी लीग के नेताओं से मिले और स्त्रियों की एक सैन्य टुकड़ी का प्रस्ताव किया। अब प्रश्न था कि इस टुकड़ी का प्रभारी कौन हो। अगले दिन लक्ष्मी नेताजी से मिलीं और उनका प्रस्ताव स्वीकार कर उनसे कमांडिंग ऑफिसर पद की घोषणा करवा दी। बाद में यही रेजीमेंट रानी ऑफ झाँसी रेजीमेंट के नाम से जानी गई। इसके बाद लक्ष्मी आज़ाद हिन्द सरकार की इकलौती महिला मंत्री भी बनीं। रानी झाँसी रेजिमेंट का गठन इस बात का ज्वलंत उदाहरण था कि मौका देने पर साधारण स्त्रियाँ क्या नहीं कर सकतीं? जब सिंगापुर में यह

खबर, फैली कि स्त्रियों की एक रेजीमेंट गठित की जा रही है तो नगरराज्य और मलाया के विभिन्न क्षेत्रों से सैकड़ों स्त्रियाँ उसमें शामिल होने के लिए उमड़ पड़ीं। भरती न किए जाने के कारण अनेक रोती हुई लौटीं। और तीन सौ के पहले बैच की फौजी ट्रेनिंग शुरू हुई। अन्त में उनकी संख्या 1200 हो गई। कैप्टिन लक्ष्मी सहगल की एक सिपाही मानवती ने अपने संस्मरणों में याद किया है कि अपनी मातहतों के प्रति उनका व्यवहार बहुत ही दोस्ताना और स्नेहपूर्ण था।

सिंगापुर के बाद जापान ने जब बर्मा पर भी कब्जा कर लिया तो आई. ऍन. ए. का मुख्यालय रंगून आ गया। लक्ष्मी भी रंगून आ गई, पर शीघ्र ही युद्ध का पासा पलटने लगा। जापान हारने लगा और उसने समर्पण कर दिया। सन् 1945 की मई में प्रेम सहगल अन्य अफसरों के साथ गिरफ्तार कर दिल्ली के लाल किले में कैद कर दिए गए। लक्ष्मी को जुलाई, 1945 में गिरफ्तार कर हाउस-अरेस्ट में रख दिया गया। यहाँ भारतीय फौजी अफसर प्रायः उनसे मिल लेते थे। इन मिलने वालों में थिमैया, जो बाद में भारतीय सेना के जनरल बने, भी थे। हाउस-अरेस्ट में लक्ष्मी पर प्रतिबंध तो नाममात्र के थे, पर जब उन्होंने अस्थायी भारत सरकार के स्थापना दिवस पर एक सभा में भाषण देने का दुःसाहस किया तो उन्हें रंगून से हटाकर बर्मा के आंतरिक क्षेत्र में नजरबंद कर दिया गया।

अगस्त, 1946 ई. में भारत की संविधान सभा में उसकी एक सदस्य अम्मू स्वामिनाथन ने लक्ष्मी की रिहाई का प्रश्न उठाया। सरकार ने विवशता रिहाई आदेश दिया और सेना का एक अफसर लक्ष्मी को कलकत्ता लाकर छोड़ गया। उधर कैप्टेन सहगल, जनरल शाहनवाज खाँ और गुरुबख्श सिंह को जो फाँसी की सजा दी गई थी, वह भी माफ कर दी गई। जनता में आई. ऍन. ए. के प्रति अगाध प्यार देखा जा रहा था। हर कोई उनके स्वागत को तत्पर था। परंतु आई. ऍन. ए. के लोगों के पास दूसरा बड़ा काम था। आई. ऍन. ए. के बहादुर सैनिक व उनके परिवारों के लोग घायल, अपंग व मुफलिस होकर भारत आ रहे थे। प्रमुख काम उनके लिए राहत फंड इकट्ठा करना व राहत कैम्पों की व्यवस्था देखना था। राहत कमेटी बनी, जिसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे। प्रेम उसके सेक्रेटरी बनाए गए। उन्हें दिल्ली में रहना था, लक्ष्मी मद्रास व केरल के लिए चली गईं, जहाँ विस्थापितों के बड़े कैम्प थे।

लक्ष्मी और प्रेम ने मार्च '47 में विवाह कर लिया। इसी बीच प्रेम को कानपुर के एक कपड़ा मिल में नौकरी मिल गई। फिर दोनों पति-पत्नी जीवनभर के लिए कानपुर के हो गए। अगस्त 15, 1947 को देशभर में आज़ादी का जश्न मनाया गया पर आई. ऍन. ए. के तमाम सैनिकों की तरह प्रेम व लक्ष्मी राजनीति को अलविदा कह चुके थे। लक्ष्मी कानपुर में शरणार्थी सिक्खों व मुसलमानों की प्रमुख चिकित्सिका बन गईं। उनके दो बेटियाँ हुईं और उनका सारा समय सामाजिक कार्यों में बीतने

लगा। सन् 1971 में बंगलादेश युद्ध हुआ। बंगलादेश छोड़कर तमाम शरणार्थी भारत आने लगे। सीमा पर पीपल्स रिलीफ कमेटी बनी तो लक्ष्मी सहगल उसकी डॉक्टर बनीं। वहाँ वे कम्युनिस्टों के ज्यादा निकट सम्पर्क में आईं और उनके निःस्वार्थ व समर्पित सेवाभाव से बेहद प्रभावित हुईं। कानपुर लौटकर वे भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मा.) की सदस्य बन गईं और उसके संगठन में सक्रियता से भाग लेने लगीं।

सन् 2002 के राष्ट्रपति चुनाव में लक्ष्मी सहगल वाम मोर्चे की अधिकृत प्रत्याशी बनाई गईं। वे चुनाव तो नहीं जीतीं पर यह चुनाव उन्होंने पूरी शालीनता से लड़ा।

× × ×

जुलाई 23, 2012 ई. को 97 वर्ष की आयु में कानपुर में उनका देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु पर पूरे देश ने उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि दी।

यह कम विडम्बना की बात नहीं है कि जिस कम्युनिस्ट पार्टी ने द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान का साथ देने के लिए नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को बुरा-भला कहा था, वही उनकी एक टुकड़ी की कैप्टिन लक्ष्मी को राष्ट्रपति का उम्मीदवार बना रही थी। वास्तव में 1971 के बाद से लक्ष्मी का झुकाव वामपन्थी राजनीति की ओर बढ़ता गया। उनकी बेटी सुभाषिनी अली भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) की ओर से 1981 में कानपुर से सांसद चुनी गयीं। प्रसिद्ध नृत्यांगना मृणालिनी साराभाई उनकी सगी बहन हैं।

–सम्पादक

बाबा आम्टे

मुरलीधर देवीदास आम्टे, प्रचलित नाम बाबा आम्टे (दिसम्बर. 26, 1914–फरवरी. 9, 2008) एक बेहद सक्रिय भारतीय सामाजिक कार्यकर्ता थे। कुष्ठ रोग से पीड़ित गरीबों के सशक्तीकरण का उनका काम विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

महाराष्ट्र के वर्धा जिले के हिंगनघाट कस्बे में माँ लक्ष्मीबाई आम्टे व पिता देवीदास आम्टे से उनका जन्म हुआ। उनका परिवार सम्पन्न ब्राह्मण जागीरदार परिवार था। पिता अंग्रेज सरकार के जिला स्तरीय प्रशासक थे। बाबा का उपनाम उन्हें बचपन में ही परिवार से मिला था।

धनी जागीरदार परिवार का होने के कारण बचपन बेहद खुशगवार रहा। 14 वर्ष की आयु तक उनके पास अपनी बन्दूक थी और वे सुअर व हिरन का शिकार किया करते थे। सिनेमा में उनकी अभिरुचि थी। वे फिल्मी पत्रिका 'द पिक्चर गोआ' में फिल्म समीक्षाएँ लिखते थे। बड़े होने पर उनके लिए स्पोर्ट्स कार खरीदी गई। उनका ज़मींदार ब्राह्मण परिवार गरीबों व दलितों के बच्चों के साथ उनका खेलना व उठना-बैठना पसंद नहीं करता था पर वे वर्जनाओं के उल्लंघनों से बाज नहीं आते थे। बाद में इन निषेधों की उन्होंने आलोचना की। कॉलेज की छुट्टियों के दौरान बाबा प्रायः भारत भ्रमण किया करते थे। एक ऐसे ही भ्रमण में वे शांतिनिकेतन गए। शांतिनिकेतन में प्राकृतिक हरियाली, सौंदर्य, शांति, संगीत, काव्यात्मकता, मानवप्रेम, और श्रम व संतोष के अद्‌भुत मिश्रण ने उन्हें बेहद प्रभावित किया। वर्धा में गाँधीजी के सेवाग्राम ने भी उन्हें प्रेरित किया।

आम्टे गाँधी व रवीन्द्रनाथ टैगोर के प्रयोगों तथा आदर्शों को मानवीय समस्याओं के वैज्ञानिक व तार्किक निराकरण मानने लगे। वे कभी-कभी उनसे तार्किक असहमति जताने पर सर्वदा उनका स्नेह पाने पर गर्व का अनुभव करते।

आम्टे मार्क्स व माओ से भी प्रेरणा लेते थे पर उनकी क्रांतियों से नहीं। वे जान रस्किन व क्रोपात्किन के सामाजिक सशक्तिकरण व राज्य से व्यक्ति की स्वतंत्रता

के सिद्धांतों के समर्थक थे। महाराष्ट्र के ओजस्वी समाज सुधारक, साने गुरुजी ने उन्हें सर्वाधिक आकर्षित किया।

शिक्षा पूरी करने के बाद आम्टे ने वरोरा में वकालत प्रारम्भ की, जिसमें वे हर प्रकार से सफल रहे। सप्ताहांत में वे वरोरा के निकट ही गोरजा के 450 एकड़ के पारिवारिक कृषि-फार्म की देखरेख किया करते थे। उन्होंने कृषक सहकारी समितियों का काम प्रारंभ किया और वरोरा कस्बे की नगरपालिका के उपाध्यक्ष चुने गए। पर धन, पद, प्रतिष्ठा व आमोद-प्रमोद के ये साधन उन्हें संतुष्ट नहीं कर पा रहे थे। वे निरंतर असंतुष्ट से रहते और सोचा करते कि ये सब तो सफल जीवन के आलम्ब नहीं हो सकते। वे निरंतर विचलित रहते—"मैं, जिसने कभी एक पौधा नहीं लगाया, एक सुन्दर फार्म हाउस का मज़ा लेता हूँ; जो पेड़-पौधे लगाने में पूरा जीवन खपा देते हैं, गंदी झोंपड़ियों में जिंदगी जीते हैं। मैं मात्र 15 मिनट की बहस के 50 रुपये लेता हूँ, जबकि मज़दूर 12 घंटे की मज़दूरी मात्र 12 आने पाता है।" वकालत के पेशे की अनिवार्य मिथ्याचारिताएँ उन्हें और भी विचलित करने लगीं।

"मुवक्किल मुझसे बताता कि वह बलात्कार करके आया है, पर वह मुझसे यही चाहता था कि मैं उसे न केवल दोषमुक्त करा दूँ, वरन् दोषमुक्ति के निर्णय के बाद जश्न के समारोह में भी मौजूद रहूँ।"

अतः बाबा ने अपने से संभव परिवर्तन का आगाज़ किया। ग्रामीणों के विरोध के बावजूद उन्होंने 'केवल सवर्णों के लिए' कुएँ को अछूतों के लिए भी खुला घोषित कर दिया। सन् 1942 के भारत-छोड़ो आन्दोलन में गिरफ्तार राजनीतिज्ञों की अदालती पैरवी के लिए उन्होंने स्थानीय वकीलों की अगुवाई की, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया।

धीरे-धीरे वकालत से उनका मोह भंग हो गया। वे धनी व्यक्तियों की सोच के कटु आलोचक व सामान्य व्यक्ति की सोच के प्रशंसक बनते चले गए। उनकी समझ यह बनने लगी कि आम जन व पीड़ितों के लिए समर्पित जीवन ही सार्थक जीवन है।

बाबा आम्टे अपने प्रारम्भिक दिनों में जब सघन वनों में शिकार के लिए जाया करते थे, तो वहाँ रहने वाली आदिम जातियों, जैसे गोंडों से बहुत प्रभावित रहते थे। इन जनजातियों के लोगों की स्वाभाविक निश्छलता व उनका मुखौटारहित आचरण उन्हें आदर्श मानव जीवन लगता था।

एक दिन जब पानी बरस रहा था और बाबा घर लौट रहे थे तो रास्ते में उन्होंने गठरी जैसे पड़े एक आदमी को देखा। पहले तो वह मृत जान पड़ा पर पास जाकर देखा तो उसमें प्राण थे। वह मृत्यु की कगार पर था। उसकी उँगलियाँ गायब थीं और उनके ठूँठों पर बदबूदार कीड़े रेंग रहे थे। बाबा झिझककर घर की ओर भागे। मरणासन्न कुष्ठ रोगी से भागना सरल था पर आत्मग्लानि से भागना असम्भव।

बाबा की यही आत्मग्लानि उन्हें उस कुष्ठ रोगी के पास वापस ले गई। बाबा ने लौटकर उस कुष्ठ रोगी को भोजन दिया, उसके लिए बाँस व फूस की झोंपड़ी बनाई व उसकी देखरेख की। फिर यह रोगी, तुलसीराम, बाबा के संरक्षण में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस एक घटना ने बाबा के सम्पूर्ण जीवन को ही बदल डाला।

बाबा बेहद निडर व साहसी होने का गर्व करते थे। एक बार उन्होंने एक अंग्रेज़ सिपाही द्वारा एक भारतीय लड़की से बलात्कार करने के प्रयास को असफल करने का व्यक्तिगत साहस दिखाया था। गाँधीजी उन्हें 'अभय साधक' की संज्ञा दे चुके थे। लेकिन बाबा को यह बात अंदर तक कचोट गई कि कुष्ठ रोगी तुलसीराम को देखकर वे अंदर तक काँप गए थे।

बाबा निश्चित थे कि जहाँ भय है वहाँ प्यार नहीं है। अपने अंदर छिपे हुए भय को जीतने के लिए उन्होंने कुष्ठ रोगियों के साथ रहना प्रारम्भ कर दिया। बाबा ने स्वयं बताया कि उन्होंने कुष्ठ रोगियों के साथ रहना व उनके लिए काम करना उनकी मदद करने के लिए नहीं, वरन् अपने अंदर के भय से मुक्ति पाने के लिए प्रारम्भ किया था। कुष्ठ रोगियों की मदद तो आत्मसंघर्ष का उपोत्पाद भर था।

शीघ्र ही बाबा ने वरोरा के कुष्ठ चिकित्सा केन्द्र पर अपनी सेवाएँ देना प्रारम्भ कर दिया। वे कुष्ठ रोग के विषय के अध्ययन में भी जुट गए। उन्होंने अपना कुष्ठ चिकित्सा केन्द्र भी प्रारम्भ कर दिया। सन् 1949 ई. में वे कलकत्ता स्कूल ऑफ ट्रापिकल मेडिसिन्स गए, जहाँ कुष्ठ रोग व चिकित्सा का गंभीर अध्ययन किया। इसी बीच डाइमिनो-डाइफिनल सल्फोन नाम की उस ओषधि की खोज भी हो गई, जिसने कुष्ठ रोग की चिकित्सा को संभव बना दिया।

बाबा ने इस नई दवा के साथ वरोरा के आस-पास के 60 गाँवों में कुष्ठ रोगियों की चिकित्सा करना प्रारम्भ किया। कुल मिलाकर करीब 4000 कुष्ठ रोगी उनसे चिकित्सा लेने लगे।

आनन्दवन

सरकार ने सन् 1951 ई. में बाबा को उनके कुष्ठरोग प्रोजेक्ट के लिए कुछ बंजर जमीन दी। जमीन झाड़-झंखाड़, साँपों और बिच्छुओं से भरी थी। वहाँ से पेय जल का निकटतम कुआँ भी 2 किलोमीटर दूर था।

जून, सन् 1951 ई. में एक लँगड़ी गाय, चार कुत्तों, 14 रुपये, अपनी पत्नी साधनाबाई, अपनी दो दुधमुँही संतानों, विकास व प्रकाश तथा चंद कुष्ठ रोगियों के साथ बाबा ने कुष्ठ आश्रम की स्थापना की। उन्होंने इस आश्रम को नाम दिया आनन्दवन। बाबा और कुष्ठ रोगियों ने मिलकर शीघ्र ही बंजर भूमि को नखलिस्तान में बदलना प्रारम्भ कर दिया। बाबा जोर देते कि अपंग कुष्ठ रोगियों को सबल कुष्ठ

रोगी कहा जाय। वे कहते कि अपंगता से डरने के बजाय उसे सबलता में बदलने की ज़रूरत है। वे कुष्ठ रोगियों में आत्मसम्मान, आशा और आत्मनिर्भरता पर जोर देते। उन्होंने नारा दिया—भिक्षा-दान विनाश है, श्रम निर्माण है।

सर्वप्रथम बाबा ने बाँस की, दीवाररहित, दो झोंपड़ियाँ बनायीं। वे यहाँ रहने ही लगे थे कि चीतों व तेंदुओं ने हमला कर एक-एक कर उनके चारों कुत्तों को खा डाला। पानी की समस्या तो जटिल थी ही। बाबा ने कुआँ खोदना प्रारम्भ किया और शीघ्र ही एक कुआँ तैयार कर लिया।

आनन्दवन में प्रारम्भिक दिन बहुत कठिन थे, धन का अभाव था। उन्होंने सब्ज़ियों, ज्वार, बाजरा व मक्का जैसी फसलों के लिए खेत तैयार किए व उन्हें उगाना प्रारम्भ किया। 3 वर्षों में 6 कुएँ भी तैयार हो गए थे। पर चूँकि उत्पादन कुष्ठरोगियों द्वारा किया गया था, उसके ग्राहक ही नहीं थे। लोग उसे कुष्ठ प्रदूषित मानते थे, तभी भारत के बाहर से 30 देशों के 30 स्वयंसेवकों के समूह, 'सर्विस सिविल इन्टरनेशनल' ने आनन्दवन आकर वहाँ काम करना प्रारम्भ किया। इन विदेशी युवकों को पूरे 3 महीनों तक काम करते देख स्थानीय लोगों के मन विचलित हुए। वे या तो आनन्दवन को सहयोग देने लगे या स्वयंसेवकों को भोजन आदि देने लगे। धीरे-धीरे उनका कुष्ठ-संक्रमण का डर स्वयं घटने लगा।

समय बीतने के साथ ही आनन्दवन का आकार व वहाँ की सुविधाएँ बढ़ती गईं। जो कुष्ठ रोगी नीरोग हो जाते प्रायः वहीं के कार्यकर्ता बन जाते। फिर वहाँ नाना प्रकार के उत्पादन होने लगे। वन तेजी से आत्मनिर्भर होता गया। बहुत से निरोगी कोई न कोई कुशलता लेकर बाह्य संसार में भी जाने लगे और स्वावलंबी जीवन बिताने लगे।

बाबा आम्टे ने आनन्दवन से अलग कुछ अन्य कुष्ठ आश्रम व पुनर्वास केन्द्र भी खोले। सन् 1973 ई. में उन्होंने महाराष्ट्र के गढ़चिरौली जिले में मड़िया गोंडों के लिए 'लोक बिरादरी' प्रकल्प की स्थापना की। उन्होंने पर्यावरण संतुलन, वन्यजीव संरक्षण और नर्मदा बचाओ जैसे क्षेत्रों में भी कार्य किए।

बाबा ने 32 वर्ष की उम्र में साधना ताई से विवाह किया। उनकी धर्मपत्नी उनके सामाजिक कार्यों में निरंतर सहभागिनी रहीं। उनके दो बेटे; डॉ. विकास व डॉ. प्रकाश तथा दोनों पुत्रवधुएँ—डॉ. मन्दाकिनी व डॉ. भारती सभी आम्टे परिवार के समाजसेवा कार्यों के पूर्णकालिक कर्मी बने। वे आज भी बाबा आम्टे के कार्य को समर्पित भाव से आगे बढ़ा रहे हैं।

आज आनन्दवन व हेमलकास ग्रामों में एक-एक विशाल चिकित्सालय हैं। आनन्दवन में एक विश्वविद्यालय, एक अनाथालय व एक अंध व एक बधिर विद्यालय हैं। इस समय आनन्दवन में 5000 लोग रहते हैं। इस संस्थान को विश्वस्तरीय मान्यता प्राप्त है। आम्टे ने बाद में सोमनाथ व अशोकवन आश्रम भी स्थापित किये।

बाबा आम्टे पक्के गाँधीवादी थे तथा कठोर परिश्रमी का सादा जीवन जीते थे। श्रम, स्वावलम्बन, सादगी व सहयोग जैसे सिद्धांतों का उन्होंने आनन्दवन में अक्षरशः पालन किया। गाँधीजी के अनुयायी होते हुए भी बाबा आम्टे अनीश्वरवादी थे।

सन् 1990 ई. में बाबा ने कुछ समय के लिए आनन्दवन छोड़ दिया था। यह समय उन्होंने नर्मदा आन्दोलन से जुड़कर बिताया। वे सरकार के पर्यावरण संतुलन विरोधी निर्माणों तथा किसानों व आदिवासियों के जबरिया विस्थापन के विरुद्ध थे। जीवन के अंतिम वर्षों में बाबा स्वस्थ नहीं रहते थे। सर्वप्रथम वे स्पान्डलाइटिस के मरीज़ होकर एक दम बिस्तर पर सीमित हो गए। फिर ल्यूकोरिया का पता चला। फरवरी 9, 2008 ई. को 94 वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। हिन्दू जन्म के बावजूद वे चिता की जगह भूशयन का विकल्प पहले ही निश्चित कर गए थे।

एक नए भारत की कल्पना

बीसवीं सदी के रूस व चीन की घटनाओं को गहराई से समझकर बाबा इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि कोई भी सच्ची क्रांति किसी भी देश की आम जनता को अपनी क्षमताएँ जानने में मदद करती है। उनका मानना था कि रचनात्मक क्रियाशीलता-विहीन क्रांति नपुंसक होती है और राजनीतिक चेतनाविहीन सृजनशीलता बाँझ। बाबा के इस विचार को सृजनात्मक मानववाद का नाम दिया गया है। उनका आनन्दवन उनकी नए भारत की कल्पना का मूर्तरूप था। इसके दो निर्देशक सिद्धांत थे—(1) एक दूसरे के अधिकारों की आपसी स्वीकृति तथा (2) सामूहिक हितों के लिए आपसी सहयोग। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हर व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित सम्मान होना चाहिए। इस के लिए यह आवश्यक है कि हर व्यक्ति आत्मनिर्भर हो। उनका कहना था कि हमें प्रयास करके वैयक्तिक स्वतंत्रता व सामूहिक स्वामित्व की सामाजिकता का विकास करना चाहिए। उन्होंने अपने कुष्ठ निवारण, जनजाति विकास व विकलांग उद्धार कार्यक्रमों में इन्हीं सिद्धान्तों के सफल प्रयोग किए। वे मधुमक्खियों का उदाहरण प्रायः देते थे। मधुमक्खियाँ मिर्च के पौधे तक से शहद इकट्ठा करती हैं। वे अपना यह काम फूल को हानि पहुँचाकर नहीं करतीं। इसके विपरीत वे अपने लाभ के साथ-साथ फूल का काम (परागण) भी करती हैं। वे कहते थे कि खलील जिब्रान, मार्क्स, गोर्वाचोव या गाँधी से सीखने की आवश्यकता नहीं है। मधुमक्खियों से सीख लो कि बिना विनाश विकास करो। वे श्रमिक विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहते थे। वे चाहते थे कि छात्र अध्ययन व कुशलता-प्रशिक्षण साथ-साथ प्राप्त करें। इस योजना में हर छात्र को 2 एकड़ जमीन दी जानी थी। छात्र को इस जमीन को जोतकर अपनी शिक्षा का खर्च निकालना था। अंततः एक स्वावलम्बी विश्वविद्यालय विकसित होना था।

योजना आयोग ने इस योजना को स्वीकृति दी व 2000 एकड़ बंजर जमीन सोमनाथ के निकट इस हेतु अॅलाट की गई। स्थानीय लोगों के विरोध के कारण योजना मूर्तरूप नहीं ले सकी। बाबा को अधिकांश जमीन छोड़नी पड़ी, शेष बची भूमि पर यूथ कैम्प प्रारम्भ कर दिए गए जहाँ देश भर के युवक व युवतियाँ एक साथ कृषि, सिंचाई, बाँध निर्माण, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीय एकीकरण, समाजवाद, लोकतंत्र व छात्र समस्याओं पर व्यावहारिक कार्य करते व सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करते। बाद में इन कैम्पों से भारत जोड़ो अभियान ने जन्म लिया जिसने अस्सी के दशक में देशभर में सद्भाव व क्षेत्रीय विवादों की शांतिपूर्ण हल की अलख जगाई।

पुरस्कार और सम्मान

पद्मश्री–1971
पद्म विभूषण–1986
गाँधी शांति पुरस्कार–1999
राष्ट्र भूषण–1978
जमना लाल बजाज पुरस्कार–1979
अॅन. डी. दीवान पुरस्कार–1980
राम शास्त्री पुरस्कार–1983
इन्दिरा गाँधी स्मारक पुरस्कार–1985
राजा राममोहन राय पुरस्कार–1986
फा. मैशियो प्लैटिनम जुबली पुरस्कार–1987
जी. डी. बिड़ला अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कार–1988
टेम्पिल्टन पुरस्कार–1990
महादेव बलवंत नाटू पुरस्कार–1991
आदिवासी सेवक अॅवार्ड–1991
कुसुमाग्रज पुरस्कार–1991
डॉ. बाबा साहेब आम्बेडकर दलित मित्र अॅवार्ड–1992
श्री नेमिचंद श्रीश्रीमल अॅवार्ड–1994
फादर टोंग मेमोरियल अॅवार्ड–1995
कुष्ठ मित्र पुरस्कार –1995
भाई कन्हइया अॅवार्ड–1997
मानव सेवा अॅवार्ड–1997
सारथी अॅवार्ड–1997
महात्मा गाँधी चैरिटेबिल ट्रस्ट अॅवार्ड–1997
गृहिणी सखी सचिव अॅवार्ड–1997

कुमार गंधर्व पुरस्कार–1998
भगवान महावीर अॅवार्ड–1998
अपंग मित्र पुरस्कार–1998
दीवालीबेन मोहन लाल मेहता अॅवार्ड–1998
जस्टिस के. अॅस. हेगड़े अॅवार्ड–1998
बाया कार्वे अॅवार्ड–1998
सावित्री बाई फुले अॅवार्ड–1998
फिक्की अॅवार्ड–1998
सतपाल मित्तल अॅवार्ड–1998
आदिवासी सेवक अॅवार्ड–1998
डॉ. आम्बेडकर इन्टरनेशनल अॅवार्ड फॉर सोशल चेन्ज–1999
महाराष्ट्रभूषण अॅवार्ड–2004
भारतवास अॅवार्ड–2008

मानद उपाधियाँ

डी. लिट्., टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज, मुम्बई
डी. लिट्., 1980, नागपुर वि., नागपुर
कृषि रत्न, 1981, पी. के. वी. कृषि वि., अकोला
डी. लिट्., 1985-86, पुणे वि., पुणे
देशिकोत्तम, 1988, विश्वभारती वि., शांतिनिकेतन
‘अभय साधक’, महात्मा गाँधी।

खुशवंत सिंह

❑ डॉ. कवलजीत

खुशवंत सिंह का जन्म 15 अगस्त, 1915 को हडाली में जो कि अब पाकिस्तान में है, हुआ था। उन्होंने लाहौर विश्वविद्यालय से स्नातक और किंग्स कॉलेज, लंदन से ॲल.ॲल.बी. की परीक्षा पास की। उन्होंने पहले वकालत छोड़ दी, और फिर इंग्लैण्ड में उच्च राजनयिक पद से इस्तीफा देकर स्वतंत्र लेखन को अपनाया। भारत लौट कर 9 वर्षों तक 'इलस्ट्रेटेड वीकली' और 3 वर्षों तक 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का कुशल सम्पादन किया। 1980 में राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हुए। 1974 में उन्हें पद्मभूषण की उपाधि मिली, जिसे उन्होंने 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' के खिलाफ विरोध प्रकट करते हुए लौटा दिया।

वे 'हिन्दुस्तान टाइम्स' तथा 'संडे' के लिए नियमित रूप से 'विथ मैलिस टुवर्ड्स वन ॲण्ड ऑल' एवं 'गॉसिप, स्वीट ॲण्ड सॉर' लिखते रहे हैं। अब 98 वर्ष की उम्र में भी उनके ये कॉलम कभी-कभी प्रकाशित होते हैं। साथ ही साथ, वे पेंगुइन बुक्स कम्पनी इंडिया में सलाहाकार सम्पादक के पद पर कार्यरत रहे।

खुशवंत सिंह का पालन-पोषण सिक्ख धर्म के अनुसार हुआ। 5 वर्ष की आयु में उनके धर्मग्रंथ पढ़ने की शुरुआत हुई, और 17 वर्ष की उम्र में उन्हें अमृत-पान करा के खालसा पंथ में शामिल किया गया। इसी बीच, संत स्टीफन कॉलेज में उन्होंने बाइबिल का कोर्स किया। सिक्ख धर्मग्रंथों का अनुवाद करते समय उन्हें वेद, उपनिषद् तथा रामायण और महाभारत (गीता सहित) का उल्लेख मिला, तो उन्होंने गुरुवाणी को अच्छी तरह समझने के लिए इन सब ग्रंथों का भी गम्भीर अध्ययन किया। धर्म में रुचि के कारण उन्होंने जैन, बौद्ध और इस्लाम धर्म का भी विस्तृत अध्ययन किया। वे एक ज्ञानपिपासु पाठक रहे हैं।

इन अध्ययनों का परिणाम यह हुआ कि 40 वर्ष की उम्र तक उनका धर्म के प्रति उत्साह जाता रहा। इसके बाद उन्हें कुछ वर्षों तक प्रिंस्टन और स्वार्थमोर विश्वविद्यालय में तुलनात्मक धर्म पढ़ाने का मौका मिला।[1] विभिन्न धर्मों के कर्मकाण्ड

और अनुष्ठानों की विस्तृत जानकारी से खुशवंत सिंह इस नतीजे पर पहुँचे कि अपने जन्म के धर्म में जो बातें बुनियादी और तर्कसंगत हैं, उन्हें अपनाना चाहिए; और जिन पक्षों में बुद्धि और सामान्य ज्ञान की अनदेखी की गयी हो, उन्हें हटा देना चाहिए।

उन्होंने अपने निजी धर्म की रूपरेखा अपनी 1991 में प्रकाशित पुस्तक नीड फॉर अ न्यू रिलिजन इन इंडिया ॲण्ड अदर ॲसेज (Need for a New Religion in India and Other Essays) में प्रस्तुत की है। इस पुस्तक के प्रथम अध्याय ''नीड फॉर अ न्यू रीलिजन इन इंडिया'' में उन्होंने सभी धर्मों में निम्नलिखित पाँच मूलभूत विश्वासों की चर्चा की है—(1) ईश्वर की अवधारणा, (2) धर्म-संस्थापकों के प्रति श्रद्धा, (3) धर्मग्रंथों की प्रतिष्ठा, (4) धर्मस्थलों और तीर्थयात्राओं की पवित्रता और (5) प्रार्थना और कर्मकाण्ड की उपयोगिता।

1. उन्होंने **'ईश्वर की अवधारणा'** उपशीर्षक के अंतर्गत यह कहा है कि ''ईश्वर है या नहीं?'' इस प्रश्न का ईमानदार और बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तर यही होगा कि ''मुझे नहीं मालूम।''

इस किस्म के विचार को निरीश्वरवाद की बजाय अज्ञेयतावाद कहा जाता है। व्यवहार में अज्ञेयतावादी व्यक्ति ईश्वर में विश्वास से मुक्त होता है। निरीश्वरवाद से अंतर करने के लिए उसे गैरईश्वरवादी कहा जा सकता है।

खुशवंत सिंह ने अपने इस लेख में ईश्वर के समर्थन में दी जाने वाली कार्य-कारण युक्ति का भी खण्डन किया है। उनका यह मत है कि ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास किसी नागरिक को अच्छा या बुरा बनाने में सहायक नहीं है। कोई व्यक्ति ईश्वर पर विश्वास किए बिना भी अच्छा हो सकता है; और दूसरी ओर, कोई ईश्वर में विश्वास के बावजूद बुरा व्यक्ति हो सकता है। खुशवंत सिंह ने अपने 'निजी धर्म' की रूपरेखा में ईश्वर को कोई स्थान नहीं दिया है।

2. **धर्मों के संस्थापक**—सभी धर्मों में ईश्वर से अधिक अपने धर्म के संस्थापकों के प्रति श्रद्धा भावना रहती है। खुशवंत सिंह का मानना है कि धर्म के अनुयायी ईश्वर से अधिक अपने धर्म के संस्थापकों के बारे में जानकारी रखते हैं। उन्हें अतुलनीय रूप से अच्छा और मनुष्य की पहुँच के परे मानते हैं। उनका कहना है कि वे अपने निजी धर्म में ऐसे संस्थापकों को ऐतिहासिक व्यक्ति मानेंगे, जिन्होंने मानवता के लिए अच्छे काम किए, इससे अधिक कुछ भी नहीं।

3. **धर्मग्रंथ**—खुशवंत सिंह के अनुसार, धर्म के अनुयायियों द्वारा सभी धर्मग्रंथ या तो ईश्वर की वाणी या ईश्वरीय प्रेरणा से दिए गए उद्गार माने जाते हैं। उनका यह मानना है कि यदि अनुयायी अपने-अपने धर्मग्रंथ के अनुवाद को ऐसी भाषा में पढ़ें, जिसे वे समझते हों, तो धर्मग्रंथों के प्रति उनका भावनात्मक उत्साह अवश्य ही कम हो जाएगा।

खुशवंत सिंह की राय में धर्मग्रंथों की विषय-वस्तु अवैज्ञानिक रहती है। कारण,

जिस काल में इन धर्मग्रन्थों की रचना की गयी, उस समय विज्ञान का विकास बहुत कम हुआ था। अपने इस लेख में उनका मानना है कि जब गुरु नानक ईश्वर को आकारहीन मानते थे और मूर्तिपूजा करने की सख्त मनाही करते थे, तो ग्रंथ साहिब को ही, जिसमें गुरुओं और संतों की वाणी है, पूजा-योग्य बना देना एक बड़ी विडम्बना है। ग्रंथ साहिब को सिल्क और ब्रोकेड के कपड़ों में लपेटकर रखना, सुबह जगाना और शाम में विश्राम कराना, शुभ दिनों में जुलूसों में ले जाना और व्यावसायिक ग्रन्थियों से उसका अखण्ड पाठ कराना एक तरह से घोर उपहासात्मक विचार है।

4. **पूजा स्थल**–खुशवंत सिंह अपने घरों में ही निजी तौर पर पूजा करने के हिमायती हैं।

5. **प्रार्थना और ध्यान**–प्रार्थना और ध्यान दोनों को ही खुशवंत सिंह निरर्थक और समय की बर्बादी करने वाली क्रियाएँ मानते हैं। उनकी यह राय है कि मनुष्य को अच्छा इंसान बनाने में ये क्रियाएँ सहायक नहीं हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि ''काम पूजा है, परंतु पूजा काम नहीं है।''

खुशवंत सिंह ने ज्योतिष-शास्त्र को समाज के लिए घातक बताया है और वे कानून द्वारा इसके निषेध की वकालत करते हैं।

इस तरह, खुशवंत सिंह के धर्म संबंधी विचारों से यह स्पष्ट है कि वे ईश्वर के अस्तित्व में और संगठित धर्मों में विश्वास नहीं रखते हैं।

खुशवंत सिंह तीस से अधिक पुस्तकें लिख चुके हैं जिनमें प्रमुख हैं–ट्रेन टु पाकिस्तान (Train to Pakistan), अ हिस्ट्री ऑफ सिख्स (A History of Sikhs) के दो खण्ड, रंजीत सिंह (Ranjit Singh) , नीड फॉर अ न्यू रिलीजन इन इंडिया ऍण्ड अदर एसेज़ (Need For a New Religion in India and Other Essays), विजन ऑफ इंडिया (Vision of India), ऐग्नॉस्टिक खुशवंत : देयर इज नो गॉड (Agnostic Khushwant : There is no God)

मैनेजिंग ट्रस्टी, बुद्धिवादी फाउंडेशन,
216-ॲ, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001

सन्दर्भ

1. प्रिंस्टन और स्वार्थमोर विश्वविद्यालयों में तुलनात्मक धर्म पर दिए गए खुशवंत सिंह के व्याख्यानों को विजन ऑफ इंडिया (Vision of India) शीर्षक से प्रकाशित किया गया है।

हरकिशन सिंह सुरजीत

भारत के प्रसिद्ध कम्युनिस्ट नेता का. हरकिशन सिंह सुरजीत का जन्म 23 मार्च, 1916 ई. को पंजाब के जालन्धर जिले में बुन्दाला नामक स्थान पर एक जाट परिवार में हुआ था। वे बचपन से ही सरदार भगतसिंह से बहुत प्रभावित थे और 15 साल की उम्र से ही नौजवान भारत सभा के सदस्य बन गये थे। सरदार भगतसिंह के बलिदान दिवस (1932) पर जोश में आकर उन्होंने होशियारपुर में जिला अदालत के सामने तिरंगा झण्डा फहरा दिया। पुलिस ने बालक हर किशन पर गोलियाँ चलाईं और गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया। गिरफ्तारी के बाद जब वे अदालत में पेश किये गये तो उन्होंने अपना नाम लन्दन तोड़ सिंह बताया। सन् 1936 में उन्होंने भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता ले ली। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले 'दुखी दुनिया' नामक अखबार निकाला। सन् 1938 में वे पंजाब किसान सभा के सेक्रेटरी चुने गये। इसी साल उन्हें पंजाब से देशनिकाला दे दिया गया। तो वे उस समय के संयुक्त प्रान्त (यू. पी.) के सहारनपुर जिले में रहने लगे। यहाँ उन्होंने चिनगारी नाम की मासिक पत्रिका शुरू की। युद्ध शुरू होते ही वे भूमिगत हो गये। सन् 1940 ई. में जब उन्हें गिरफ्तार किया गया तो लाहौर के लाल किले में बन्द कर दिया गया। यहाँ उन्हें तीन महीने तक काल कोठरी में बन्द रक्खा गया। बाद में उन्हें देवली कैम्प भेज दिया गया जहाँ से वे सन् 1944 ई. में रिहा हुए। भारत-पाक बँटवारे के समय जब पूरा पंजाब हिन्दू-मुस्लिम दंगों में जल रहा था तो सुरजीत ने हिन्दू-मुस्लिम भाई-चारे के लिए कड़ी मेहनत की थी।

भारत स्वतंत्र होने के बाद पूरे 4 साल तक वे पुनः भूमिगत रहे और छिप कर पंजाब के किसानों को संगठित करते रहे। पंजाब के किसानों पर लगाये गये कर के विरुद्ध सुरजीत के नेतृत्व वाली किसान सभा में बहुत लम्बा व प्रभावी आन्दोलन चलाया। इसी बीच वे खेतिहर मजदूरों के लिए भी काम करते रहे। बाद में वे अखिल भारतीय किसान सभा के भी महामंत्री व अध्यक्ष चुने गये। 1964 ई. में जब भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के दो टुकड़े हो गये, तो सुरजीत नयी बनने वाली पार्टी भारत

की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) में चले गये और नम्बूदिरीपाद के बाद उसके महासचिव बने, जो वे 2008 ई. तक बने रहे। अगस्त 1, 2008 को 92 वर्ष की उम्र में नोएडा में उनका देहान्त हो गया।

का. सुरजीत 75 वर्षों तक राजनीति में सक्रिय रहे। उन्होंने पंजाब में एक मजबूत किसान आन्दोलन खड़ा किया। बाद में वे अखिल भारतीय कम्युनिस्ट नेता बने। भारत में उन्हें सरकारी स्तर पर कम्युनिस्ट व कांग्रेस सहयोग का मजबूत प्रवक्ता माना जाता है।

सुरजीत का व्यक्तिगत जीवन बेहद सादा था। उनके दो पुत्रों ने पर्याप्त धन अर्जित किया पर सुरजीत स्वयं पूरी सादगी में रहते थे। उन्हें ईश्वर में कोई विश्वास नहीं था। वे अपने आप को किसी धर्म से नहीं जोड़ते थे। जीवन में त्याग और कठिनाइयाँ बर्दाश्त करने की बहुत बड़ी क्षमता थी उनमें। कम्युनिस्ट पार्टी के अन्दर वे संशोधनवाद के विरोधी माने जाते थे, पर उनके विरोधी उन्हें आज भी नव संशोधनवादी कहकर उनकी निन्दा करते हैं।

सुरजीत जीवनपर्यन्त धार्मिक संकीर्णता के विरुद्ध लड़ते रहे। वह इस संकीर्णता को भारतीय संविधान के धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के विरुद्ध मानते थे। उन्होंने भारत में कई बार ऐसे सफल प्रयास किए कि धार्मिक शक्तियों को राजसत्ता से दूर रखा जा सके। अपने गृह राज्य, पंजाब में खालिस्तानी आतंकवाद के विरुद्ध उन्होंने कम्युनिस्टों में ऐसी ऊर्जा भरी कि इन आतंकवादियों के खिलाफ लड़ते हुए 8 सालों में 200 से अधिक कम्युनिस्टों ने अपने बलिदान दिये। भारतीय राज्य की एकता व अखण्डता के प्रश्न पर उन्होंने कम्युनिस्टों के पारम्परिक राष्ट्रीयताओं के स्वतन्त्रता के अधिकार के सिद्धान्त तक को अस्वीकार कर दिया और जम्मू और कश्मीर तथा असम बोडोलैण्ड व नागालैण्ड के अलगाववादी आन्दोलनों का एक राष्ट्रवादी के रूप में खुला विरोध किया। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में छुपे हुए साम्राज्यवाद और नव साम्राज्यवाद दोनों के वे कट्टर विरोधी थे। वे भारतीय पूँजीवाद के विरुद्ध होकर भी प्रायः उससे सीमित सहयोग भी करते रहते थे। पारम्परिक तौर की स्कूली शिक्षा न पाते हुए भी स्वाध्याय उनका शौक था। अंग्रेज़ी में लिखी 'लैण्ड रिफार्म्स इन इंडिया', 'हैप्निंग्स इन पंजाब' तथा 'द आऊट लाइन हिस्ट्री ऑफ द कम्युनिस्ट पार्टी' उनकी वह पुस्तकें हैं जो उनके सुशिक्षित होने का प्रमाण देती हैं। धर्मनिरपेक्षता, लोकतन्त्र तथा अन्तरराष्ट्रीय स्वतन्त्रता पर उनके विचार देश के बड़े-बड़े नेता गम्भीरता से सुनते थे। सन् 2004 ई. के लोकसभा चुनाव के बाद, भारत में उन्हें थोड़े समय के लिए ही सही, किंगमेकर के रूप में देखा गया था।

पंजाब में का. सुरजीत पर एक उपन्यास छपने को लेकर तरह-तरह की चर्चाएँ हैं। इस उपन्यास भय्यू (Bhauu) के लेखक दर्शनसिंह सुरजीत के काफी निकट रहे हैं। मीडिया में चर्चा है कि उनका उपन्यास सुरजीत की जीवनी है। उपन्यास का मुख्य चरित्र करम सिंह किरती है। पंजाबी में मजदूर को किरती कहते हैं।

गजानन माधव मुक्तिबोध

❑ डॉ. प्रभा दीक्षित

जब कभी मैं मुक्तिबोध के मानसिक द्वन्द्वों व अन्तर्विरोधों के पुनःपाठ से गुजरती हूँ तो हतप्रभ रह जाती हूँ। इस असफल आदमी के सफल साहित्य की मिसाल पूरी तरह न तो दोस्तोएवस्की से दी जा सकती है न निराला से। अपनी अनास्था पर मजबूत आस्था रखने वाला यह महान् लेखक नास्तिक था परन्तु विज्ञान की सीमाओं से बाहर निकलकर बौद्धिक व्यायाम करने वाला यह चिंतक संवेदना की अति पर पहुँचकर उदारता के हिंडोले पर पारे की भाँति, अस्थिर अपने आप से मुठभेड़ करता लहूलुहान हो जाता था। मूर्तियों पर आस्था नहीं थी परंतु किसी मंदिर का सात्विक शांत वातावरण उसे प्रभावित करता था। आध्यात्मिक अनीश्वरवादी (Spiritual atheist) कहा जाये क्या? अनायास मुझे अपनी लिखी काव्य पंक्तियाँ याद आती हैं—

''मैं आस्तिक से बड़ी श्रद्धा
और नास्तिक से बड़ा तर्क तलाशती हूँ
चाहती हूँ वह बिन्दु
जहाँ श्रद्धा और तर्क
एक साथ ठहर सकें।
वह बिन्दु...
न भगवान है
न शैतान
बस महज इंसान है...।''

काफ्का, हार्डी, शेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ, टी. एस. इलियट, टॉलस्टाय, दोस्तोएवस्की, वेलेन्सकी, गोर्की, नायकोवस्की, चेखव, प्रसाद, प्रेमचंद, निराला, पंत, तुलसीदास, कबीर सभी के पाजिटिव-निगेटिव्स से प्रभावित, उनके पात्रों से स्वयं अपनी तुलना करना,

उन्हें आत्मसात् करना एवं झिटककर दूर हो ऍन्टीथीसिस पर चिंतन, अच्छे से बेहतर के प्रयास में संलग्न, समाज और व्यक्ति के द्वैत में डूबी आत्मरति के साथ, अपनी लाश को कन्धों पर उठाये, क्रान्तिपथ पर दौड़ने वाले इस असफल धावक की सफलता को कौन-सा सम्बोधन दूँ? मुक्तिबोध की सबसे बड़ी ट्रेजडी यह थी कि वह स्वयं अपने आप में वैचारिक रूप से अन्तर्विरोधों के केन्द्र थे। बुरे-अच्छे और बेहतर के द्वन्द्व ने उन्हें कभी भी चैन से बैठने नहीं दिया। वे अपने समकालीनों की भाँति निर्णायक बनकर दिशा का चुनाव नहीं कर सके। शायद यही कारण है कि मुक्तिबोध अपने समकालीन लेखकों की भीड़ में अलग दृष्टिगत होते हैं। 13 नवम्बर, 1917 ई. को ग्वालियर में जन्मे मुक्तिबोध का बचपन एवं किशोरावस्था मध्यमवर्गीय समृद्धता के घेरे में सुरक्षित रही, जिसे वे अपनी सर्वहारा वर्गीय चेतना का अवरोध मानते रहे। सुख में पलने वाले बुद्ध ने जब पहली बार दुख देखा तो करुणा-विगलित हो राजसी वैभव त्यागकर संन्यासी हो गये किन्तु बुद्ध को आर्थिक रूप से पत्नी और बच्चों या माँ-बाप के भरण-पोषण की चिन्ता नहीं थी, पर चाय या बीड़ी के सहारे जीने वाला यह संन्यासी कभी इस चिंता से मुक्त नहीं हो सका।

यदि हम उस काल के प्रतिबद्ध लेखकों के जीवन पर दृष्टि डालें तो तीन तरह के चरित्र दृष्टिगत होते हैं। प्रथम वे जो अभाव में पले, बढ़े और अपने वर्ग के बेहतर जीवन के लिए प्रयास करते रहे। ऐसे लोग अपनी गरीबी या अभावों को अभिशाप नहीं समझ सके तथा बिना किसी फ्रस्टेशन या कॉम्प्लेक्स के अपने वर्ग के साथ निजी जीवन को भी बेहतर बनाने का प्रयास करते रहे। अपने निर्धारित लक्ष्य को पाने के लिए उन्हें किसी से कुछ पाने या माँगने में भी दीनता का अनुभव नहीं हुआ। वे दूसरों की सहायता को सहजता से स्वीकारते हुए अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे और अपनी लेखकीय क्षमताओं को बढ़ाते रहे। राहुल सांकृत्यायन, नागार्जुन आदि को हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। दूसरे वे थे जो यह मानकर चले कि सामाजिक उत्थान या मुक्ति के लिए अपने घर का बलिदान आवश्यक है। विश्व के करोड़ों बच्चों की मुक्ति के लिए अपना बच्चा कई बार खोना भी पड़ता है। अतः दो नावों में पैर नहीं रखना चाहिए। निराला जैसे लोग इसी कोटि में आते हैं। निराला से बहुत पहले कबीर को भी जुलाहे का काम करना पड़ा था और 'सरोज-स्मृति' लिखने वाले निराला भी इस पक्ष में बिल्कुल न सोचते हों, यह नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त प्रतिबद्ध लेखकों (कवियों) की एक श्रेणी तनिक दूरदर्शी थी जो कूदने के पूर्व पानी का फव्वारा तलाश चुकी थी। वे सोचते थे बड़े लक्ष्य को पाने के लिए छोटे-मोटे समझौते कर लेने चाहिए। तभी मुक्त होकर निर्धारित दिशा की ओर बढ़ा जा सकता है। डॉ. रामविलास शर्मा, नेमिचन्द्र जैन और यशपाल से लेकर अनेक लेखक इसी भावभूमि पर चलते रहे। कहना न होगा कि मुक्तिबोध उक्त तीनों कोटियों में शामिल नहीं किये जा सकते। मुक्तिबोध प्रारम्भ से ही अपने को 'डी-क्लास'

करने के प्रयास में स्वयं अपने ही शत्रु बनते चले गये। आदर्शोन्मुख यथार्थ उनके संवेदनशील मस्तिष्क का सबसे बड़ा अन्तर्विरोध बना रहा। यथार्थ के पथ का यह दावेदार इस आदर्श की बाँह थामे आगे बढ़ता रहा कि वर्ग की त्रासदी को तभी समझा जा सकता है जब उसी तरह जिया जाये। समझौताविहीन असमर्थ स्वाभिमान को जमाने की ठोकर विकलांग बना देती है। जहाँ धीमी गति से मृत्यु का वरण ही शेष रह जाता है और इस जीनियस आत्महन्ता लेखक ने वही किया।

कहा जाता है चीनी क्रान्ति के महानायक माउत्से तुंग जब दुश्मन के सैनिकों द्वारा पकड़ लिये गये तो उन्होंने उन्हें धन की घूस देकर अपने प्राणों की रक्षा की थी। मैं दावे के साथ कह सकती हूँ कि मुक्तिबोध ऐसा कभी न करते या घूस देने के लिए उनके पास धन ही न होता। एक लघुकथा के माध्यम से भी मुक्तिबोध की मानसिकता को आंशिक रूप से समझा जा सकता है। संस्कृत के एक विद्वान् की पत्नी और बच्चे जब अभाव के कारण भूखों मरने लगे तो उन्होंने एक धनी दुकानदार के गोदाम में चोरी करने का निर्णय लिया। वह नीतिशास्त्र की पुस्तक के साथ दुकान में रात में घुस गये और यह विचार करने लगे कि ऐसी चीज चुराऊँ जिसको चुराने पर चोरी का दोष न लगे। वह अँधेरे में दीपक जलाकर पुस्तक देखते रहे, जिसमें आटा, दाल, चावल, मसाला, तेल, गुड़, घी सभी को चुराना वर्जित माना गया था। वे पूरी रात ऐसी चीज़ खोजते रहे जिसे चुराने में दोष न हो। इसी ऊहापोह में सुबह हो गई और वह विद्वान् पकड़ लिये गये। मुक्तिबोध भी अपनी अभावग्रस्तता के साथ दुनिया को बेहतर बनाने की दुविधा, ऊहापोह या द्वन्द्व के शिकार रहे और अन्त में मृत्यु के द्वारा पकड़े गये। औचित्य की अति तक समझौताविहीन, भीषण अभावग्रस्त परिवार के प्रति कर्तव्य-बोध, क्रांतिकारी कार्य एवं लेखन के प्रति प्रतिबद्धता ये कुछ ऐसे परस्पर विरोधी आयाम थे जो उन्हें न तो ठीक से जीने देते थे और ना ही मरने की आज्ञा प्रदान करते थे। वर्तमान के कर्तव्य-बोध ने उनके भविष्य को विकलांग बना दिया। तनावपूर्ण चिंतन की अति किसी को भी मनोरोगी बना सकती है किन्तु उस रूप में मुक्तिबोध मनोरोगी कभी नहीं रहे जिस रूप में डॉ. रामविलास शर्मा उन्हें देखते थे। मानव मन की गहराई में पैठ कर सम्पूर्ण मानवता के साथ उसका मनोविश्लेषण क्या कोई मनोरोगी कर सकता है? काश, मुक्तिबोध पागल होते तो कुछ दिन शांति के साथ और जी लेते। लेकिन तब क्या कोई चीनी विद्वान्, हिन्दी भाषा का ज्ञाता कवि यह कहता—''बार-बार मुक्तिबोध की कविताओं से गुजरते समय लगा है कि वह मानवता का, जीवन के ऊष्मामय पल का बड़ा कवि है।''

अपनी फंतासी के कल्पनालोक में मुक्तिबोध जो दुनिया तैयार करते हैं, क्या वह हवाई उड़ान है? वह लिखते हैं—

> ***''गये युगों से नये युगों तक***
> ***गुजर रहे पथ बीच भयानक खाई आई***

इस खाई के भयद अँधेरे में मर-खप कर
हमने अपने तन-मन की दृढ़ता के पत्थर
ईंटों से प्राणों के लोहे के गाटर से
हृदय रक्त मस्तिष्क रक्त
के गारे चूने से भव्य बनाया
अति विशाल मजबूत एक पुल
अपनी आत्मा की नींवों पर उसे दिया बल
देह प्राण के लोहे के स्तम्भों पर थामा
बाँहों के लोहे की मेहराबों पर तनकर
जमकर फैला वह प्रदीर्घ पुल।''

आगे की कविता के अनुसार लोकविरोधी लक्ष्यों की जीपें इस पुल से पार नहीं होंगी। यह पुल क्या है? मुक्तिबोध की रचना-संसार, एक संपूर्ण मानवीय संस्कृति जिसे कवि ने हृदय और मस्तिष्क के रक्त और गारे-चूने से निर्मित किया है। हृदय और मस्तिष्क का द्वन्द्व प्रारम्भ से अंत तक उनके साथ रहा। यह द्वन्द्व ही उनकी अच्छाई-बुराई या सफलता-असफलता का मूल रहा है। वह अपने प्रारम्भिक युवा काल के बारे में लिखते हैं—''यौवन का उन्माद मुझे दर्पण में अपना मुख देखने को उत्साहित करता है, लगता मैं कंकड़ों पर ही चल रहा हूँ; कंकड़ों पर पैर फिसल गया है। एक ही समय में मैं कई आदमियों में रूपान्तरित हो जाता। एक सुख का सपना देखता! दूसरा सुनहरी यादों में घुलता जाता। तीसरा शुष्क तिनका बनकर धूल के सिर पर उड़ता। चौथा सोचता मेरा अणु-अणु परिवर्तित होने को छटपटा रहा है। मेरे ही अस्थिमानस से युवक का पाँचवाँ रूप बनता। कभी वह तरल अवसाद में दृग कोटर से अश्रु बहाता, कभी पतझर-सा उदास बन कर बिखर जाता, कभी कल्पित शूल-सा एक चेहरा मेरे पास आ जाता और मैं मरुभूमि-सा भीतर ही भीतर जलने लगता, कभी टॉलस्टाय का 'फादर सर्जिएस' उपन्यास पढ़ता। लगता वह मेरी ही कहानी है। कभी दोस्तोएवस्की का 'ईडियट' पढ़कर सोचता इस समय दुनिया में मूर्ख-महामूर्ख मैं ही हूँ।''

सुखों की सेज पर दुखों की मरुभूमि की तलाश तब पागलपन कही जा सकती है, जब उसके पीछे कोई लक्ष्य न हो। सही लक्ष्य को समझौतों की गलत राहों से प्राप्त न करने की आदर्शवादी जिद, अच्छे और बेहतर का द्वन्द्व, जोखिम से डरते हुए खेलना, मस्तिष्क के विरुद्ध हृदय की कमजोर चाह से लड़ना मुक्तिबोध का शगल रहा है।

मुक्तिबोध के मानसिक द्वन्द्वों, अन्तर्विरोधों से गुजरते हुए प्रश्न उठता है। क्या मुक्तिबोध एक लेखक के रूप में सफल नहीं हो पाये? क्या अपने समकालीन बुद्धिजीवियों के दंगल में पराजित रहे? शायद मुक्तिबोध ऐसा मानते रहे। वे कभी

अपनी मानसिक उलझनों एवं पारिवारिक परेशानियों से उबर नहीं पाये। कभी योजना बनाकर शांति के साथ क्रमबद्ध ढंग से लिख नहीं पाये। परन्तु अपने समकालीनों पर सटीक सकारात्मक टिप्पणियाँ लिखने वाला यह लेखक, जिसने एक व्यापक साहित्यिक संसार के साथ एक क्रांतिकारी महाकाव्य की रचना की; देशी-विदेशी साहित्यकारों की दृष्टि में अद्वितीय लेखक माना गया। हाँ, यह मान्यता उन्हें मरणोपरान्त प्राप्त हुई जबकि कई दशक तक अपनी आलोचना की धाक जमाये रहने वाले डॉ. रामविलास शर्मा मरणोपरान्त सर्वाधिक आलोचना के पात्र बने।

त्रासदी के सहारे उम्र गुजारने वाले मुक्तिबोध का जन्म 13 नवम्बर, 1917 को ग्वालियर राज्य के एक मराठी परिवार में हुआ था। उनके पिता एक ईमानदार पुलिस इंस्पेक्टर थे। 1917 के आसपास ऐसा सम्भव था। मुक्तिबोध चार भाई थे तथा सबसे बड़े होने के कारण उनका लालन-पालन विशेष लाड़-प्यार से हुआ था। मुक्तिबोध की प्रारम्भिक शिक्षा उज्जैन, विदिशा, अमझारा, सरदारपुर आदि स्थानों में हुई। उन्होंने 1935 में माधव कॉलेज, उज्जैन से इण्टर की परीक्षा उत्तीर्ण की और यहीं से उनकी काव्य रचना प्रारम्भ हुई। आगे की शिक्षा के लिए वे अपनी बुआ के पास इन्दौर चले आये। मुक्तिबोध जब इन्दौर में क्रिश्चियन कॉलेज में बी. ए. के विद्यार्थी थे, उनकी मुलाकात प्रभाकर माचवे से हुई और यहीं से एक बार असफल होने के पश्चात् 1938 में उन्होंने ग्रेजुएशन किया। इस समय उनका मानसिक स्तर विकास पथ पर दौड़ने लगा था और उनकी रचनाएँ कर्मवीर, वीणा आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं। यद्यपि इस काल में वे छायावादी प्रभाव में लिख रहे थे। इन्दौर में ही उन्होंने अपने घर की नौकरानी की बेटी शांताबाई से विवाह किया। 1939 में उनके पिता नौकरी से रिटायर हो गये। अपनी ईमानदारी के कारण वे भविष्य की कोई आर्थिक व्यवस्था नहीं कर सके। उनके भाई शरदचंद्र मुक्तिबोध के शब्दों में—''इस मामले में सारा परिवार मुक्तिबोध पर निर्भर था।'' इस दौर तक वे मार्क्सवादी चेतना से सम्पन्न हो चुके थे। रात-दिन अध्ययन में डूबे रहने वाले इस लेखक ने पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह के लिए न जाने कितनी नौकरियाँ कीं और छोड़ीं, इसका एक लम्बा इतिहास है। क्योंकि वे चाह, क्षमता एवं लक्ष्य के बीच एक संतुलन कभी नहीं बना पाये। भटकाव, अभाव, पारिवारिक दायित्व, लक्ष्य की प्रतिबद्धता, समझौता-हीनता की जिद, ये कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जो उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की रचना करते हैं। नेमिचन्द्र जैन के सम्पर्क में आने के बाद वे मार्क्सवादी नास्तिक दर्शन में विशेष योग्यता प्राप्त कर चुके थे। निर्धन परिवार एवं स्वयं के जीवन के अस्तित्व तथा क्रांतिकारी जीवन के सरोकारों के दोहरे संघर्ष के कारण वे विक्षिप्त-से हो गये थे, उनके स्वयं के कथनानुसार—''वे कभी रचनाकर्म को मनचाहे ढंग से समय नहीं दे पाये।'' इसके बाद भी उन्होंने इतना लिखा है कि कोई साधारण लेखक उक्त रचनाधर्मिता पर गर्व कर सकता है। उनके आत्मसंघर्ष की दास्तान वर्तमान

प्रतिबद्ध लेखकों का घोषणापत्र बन चुकी है। उनके काव्य पर कुछ कहने के पूर्व उनके समग्र कृतित्व का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

1. तारसप्तक
2. चाँद का मुँह टेढ़ा है (काव्य-संकलन)
3. कामायनी एक पुनर्विचार
4. नई कविता का आत्मसंघर्ष एवं अन्य निबन्ध
5. भारत-इतिहास और संस्कृति (मध्य प्रदेश सरकार द्वारा जब्त)
6. एक साहित्यिक की डायरी
7. काठ का सिपाही (कहानी-संग्रह)
8. विपात्र (उपन्यास)
9. सतह से उठता आदमी (कहानी-संग्रह)
10. भूरी-भूरी खाक धूल (काव्य-संग्रह)
11. नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र (निबंध-संग्रह)
12. मुक्तिबोध रचनावली (छह खण्डों में)।

रचनावली में उनकी समस्त प्रकाशित रचनाएँ संगृहीत हैं। मुक्तिबोध के साहित्य का एक बड़ा हिस्सा आज भी अप्रकाशित है और संग्रहालय में सुरक्षित है। अपने जीवन के अन्त समय में अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' जो प्रेस में था, को देख पाने की लालसा लिये, इस दुनिया को छोड़ने वाले इस महान् कवि, लेखक, आलोचक मुक्तिबोध के बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि वे जिन मानसिक द्वन्द्वों, उलझनों और प्रतिबद्धताओं के साथ-साथ जिये, वह उनकी नियति ही नहीं उनकी सफलता का रहस्य भी है।

स्वतंत्रता के बाद की त्रासदी के लिए पं. जवाहरलाल नेहरू को दोषी मानने वाले मुक्तिबोध जब अपने अंतिम समय में अचेतन अवस्था से कुछ पल के लिये सचेत होते हैं तो लोगों से पूछते हैं—नेहरूजी का क्या हाल है? यह मानवीय अन्तर्विरोध उनकी रचनाधर्मिता का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व कहा जा सकता है।

एक दयनीय अभाव एवं भयंकर तनाव की स्थिति में अपनी रचनाधर्मिता की अस्मिता बनाये रखने वाले इस महान् साहित्यकार की प्रतिभा और साहित्यिक क्षमताओं को उसकी मृत्यु के बाद ही समझा गया। ''मुक्तिबोध को महान् कवि, महान् लेखक, नव लेखन के प्रमुख हस्ताक्षर, नई कविता के शीर्ष कवि, हिन्दी कविता के प्रकाश स्तम्भ, एक जगमगाता नक्षत्र, पुरानी एवं नई पीढ़ी का अत्यन्त प्रिय कवि, ईसा मसीह, शिव, सुकरात आदि-आदि संबोधनों से पुकारा गया।''

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक तनावग्रस्त, अर्द्धविक्षिप्त रचनाकार को उपर्युक्त संबोधन कैसे प्राप्त हुए? इस प्रश्न का उत्तर थोड़ा जटिल है। यदि यह मान लिया जाये कि कवि की मानसिकता से इतर उसकी कविता के मूल्यों की अपेक्षा

नहीं की जानी चाहिए, तो तनाव की कविता भी तनावग्रस्त होनी चाहिए। किन्तु उनका तनाव भी कविता के प्रश्नों को लेकर ही खड़ा है, जो बौद्धिक चिंतन के द्वन्द्व से गुजर कर उस अति को स्पर्श करता है, जहाँ यथास्थितिवाद के किसी अंश की कोई गुंजाइश नहीं रहती। कई बार चेतना सम्पन्न तनाव उस मुकाम पर पहुँचता है, जहाँ आम कवि की बौद्धिक भावुकता सहम कर ठिठक जाती है किन्तु मुक्तिबोध दोहरी मार करते हुए लिखते हैं—

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार।

मुक्तिबोध की कविता इन अर्थों में थोड़ा दुरूह है कि वे बिम्बात्मक प्रयोगों के द्वारा अपनी बात कहते हैं। इस बात को स्वयं मुक्तिबोध ने भी पुष्ट किया है। श्री शंकर दयाल मिश्र ने 'लहर' अक्टूबर 1964 में मुक्तिबोध की डायरी में से एक प्रसंग 'एक सुबह के नाम' से प्रकाशित किया है। अपनी डायरी में मुक्तिबोध ने कहा है कि—"बिना चित्र प्रस्तुत किये लिखता नहीं हूँ। कोई भी विचार जब अभिभूत कर देता है, तभी लिखता हूँ।''

अपनी 'अँधेरे में' कविता के आठवें खण्ड में मुक्तिबोध ने क्रांति का वर्णन किया है। यह सम्पूर्ण वर्णन बिम्बयुक्त है। कवि यहाँ पर क्रांति का वातावरण उपस्थित करना चाहता है परन्तु लक्षित बिम्बों की विशेषता स्पष्ट दृष्टिगत होती है—

''मकानों की छत से
गाडर कूद पड़े
धम्म से
घूम उठे खम्भे
भयानक वेग से चल पड़े हवा में
दादा का सोंटा भी करता है दाँव-पेंच
गगन में नाच उठी कक्का की लाठी
यहाँ तक कि बच्चों की पेंगें भी उड़ती हैं
तेजी से लहराती घूमती
मुन्ने की स्लेट-पट्टी।''

मुक्तिबोध की कविता के संदर्भ में डॉ. संजय सिंह का यह कथन महत्त्वपूर्ण है—''आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्य के इतिहास में निराला के बाद मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जिनका जीवन और काव्य एक-दूसरे से अलग नहीं है। उनका काव्य

व्यक्तित्व एवं निजी व्यक्तित्व एक-दूसरे से अलग न होकर परस्पर संग्रथित हैं। जहाँ उनका काव्य-सृजन उनके व्यक्तित्व को निखारता है, वहाँ उनका व्यक्तित्व उनके काव्य को अर्थ देता चलता है और तब उनके काव्य का अध्ययन करने के लिए उनके व्यक्तित्व की बुनावट को समझना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य बन जाता है। वह एक ऐसे कवि के रूप में सदैव याद किये जाएँगे, जिसका जीवन ही उसकी कविता है, कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं है।

मुक्तिबोध कविता जीते रहे, कविता ओढ़ते-बिछाते रहे। उनका जीवन त्रासदी का महाकाव्य कहा जाता है, जिसमें घोर कष्ट व बीमारी के बावजूद व्यक्तिगत दुख नहीं मिलता। वह हमेशा परिवार और समाज के दोहरे दुख को अपने दिल में पालते हुए मित्रों के बीच ठहाका लगाते रहे। यही कारण है कि उनके समकालीन लेखक चाहे नेमिचन्द्र जैन हों या हरिशंकर परसाई या उनके समीप आई रूसी कवयित्री या शमशेर, सभी मुक्तिबोध की सहनशक्ति, दृढ़ इच्छाशक्ति, अध्ययनशीलता, ईमानदारी आदि गुणों को देखकर एक सीमा तक हतप्रभ रहे।

काव्य में जीवन के व्यापक आयामों को चिह्नित करने वाले मुक्तिबोध ने 'साहित्य में जीवन की पुनर्रचना' नामक निबन्ध में स्वयं लिखा है—''जीवन ज्ञान की प्राप्ति में तीन वृत्तियों का सजग सहयोग होता है। संवेदनात्मक उद्देश्यों तथा कार्य अनुभवों के द्वारा ही बुद्धि का विकास होता है। यह बुद्धि कल्पना तथा भावना को सुसंस्कृत तथा परिष्कृत करके आगे बढ़ती है। इसी प्रकार सुशिक्षित कल्पना तथा सुशिक्षित भावना विकसित तथा परिष्कृत जीवन ज्ञान के आधार पर कार्य करती जाती है। तीनों अन्तःवृत्तियों की क्रियाशीलता के फलस्वरूप जो जीवनज्ञान उत्पन्न होता है वह स्वयं एक क्रियाशील शक्ति बन जाता है। यह जीवनज्ञान एक विकसित तथा परिपुष्ट अवस्था में परिणत होकर सारे व्यक्तित्व के कार्य की आधारशिला बन जाता है।''

संक्षेप में कविता के बारे में मुक्तिबोध ने जो कुछ विस्तार से कहा है, उसे पढ़ने के बाद ही समीक्षक उनके बिम्बात्मक, चित्रात्मक काव्य संसार को गहराई से समझ सके। सम्भवतः यही कारण है कि उनकी मृत्यु के बाद ही उनके काव्य का सही मूल्यांकन सम्भव हो सका है। ''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' की आलोचना में शमशेर लिखते हैं—''यह कविता देश के आधुनिक इतिहास का, स्वतन्त्रता-पूर्व एवं पश्चात् का दहकता इस्पाती दस्तावेज है। इसमें अजब और अद्‌भुत रूप से व्यक्ति और जन का एकीकरण है। मुक्तिबोध की एक ऐसी ही कविता है 'अँधेरे में' जिसमें उनकी काव्यात्मक शक्ति के अनेक तत्त्व घुलमिल कर एक महान् रचना की सृष्टि करते हैं, जो रोमानी होते हुए भी अत्यधिक यथार्थवादी और एकदम आधुनिक है।''

सच तो यह है कि उनके समकालीनों ने, चाहे शमशेर हों या नामवर सिंह, सभी ने एक स्वर से मुक्तिबोध की कविता का लोहा मानते हुए उन्हें 'निराला' के समकक्ष घोषित किया है। कभी मुक्तिबोध की कविता पर उनसे बात करते हुए शमशेर

ने कहा था—''जिन अनुभूतियों को तुम्हारे अड़ियल कवि ने झेला है, उसमें लगातार जीकर उनकी अग्निपरीक्षा देकर तुम वहाँ खड़े हुए हो, जहाँ तुम प्रत्येक संघर्षशील देश और जनता के अपने हो गये हो, भले हम हिन्दी प्रदेशवासी तुम्हारे तपे हुए सोने को अभी न पहचानें। देश के बाहर आधुनिक हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों पर शोध करने वाली बहुभाषा विज्ञ विदुषी पोलिस कवयित्री अग्नेश्का का मत है—"हिन्दी के आधुनिक युग के सहज ही तुम सबसे शक्तिशाली कवि हो।"

मुक्तिबोध का रचना-संसार बहुत व्यापक है। भारत से लेकर सम्पूर्ण विश्व में जहाँ भी सर्वहारा एवं मानवता की मुक्ति की आवाज उठ रही है, वहीं मुक्तिबोध की कविता मनुष्यता-द्रोही वृत्तियों के विरुद्ध तनकर खड़ी दृष्टिगत होती है।

यूँ तो मुक्तिबोध अपने युवाकाल के प्रारम्भ से ही अस्वस्थ चल रहे थे। पारिवारिक अभाव का दिमागी टेंशन, कम खाना, चाय और बीड़ी के सहारे जीवन की गाड़ी को खींचते रहना, पार्टी का काम, रचनाधर्मिता, जीवनमूल्यों की रक्षा आदि कुछ ऐसे मुद्दे थे जिन पर मजबूती से चलते हुए दोहरे-तिहरे संघर्ष के कारण वे शीघ्र ही टूटते चले गये और 7 फरवरी, 1964 को पक्षाघात का शिकार हो संज्ञान का यह विशाल वट-वृक्ष भरभराकर गिर गया। उनकी स्थिति में सुधार न होता देख उनके साहित्यिक मित्रों—हरिशंकर परसाई, ज्ञान रंजन, प्रमोद वर्मा आदि ने स्वयं पैसों की व्यवस्था कर उन्हें भोपाल के हमीदिया अस्पताल में भर्ती कराया और मध्यप्रदेश सरकार को तार भेजकर उनकी चिकित्सा शासकीय स्तर पर कराने की माँग की, जो मान ली गई। मध्यप्रदेश के श्रेष्ठ चिकित्सकों द्वारा उनका इलाज हुआ पर उनकी स्थिति सुधर नहीं पाई।

''17 जून को दिल्ली में बच्चन, प्रभाकर माचवे, अक्षयकुमार जैन तथा कुछ अन्य साहित्यकार प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री से मिले तथा उन्हें मुक्तिबोध की स्थिति से परिचय कराया और माँग की कि उन्हें चिकित्सा के लिए दिल्ली बुला लिया जाये। उन्हें मेडिकल इन्स्टीट्यूट के कमरा नम्बर 208 में पहुँचाया गया। नाक के सहारे ऑक्सीजन दी गई, पर स्थिति सुधरी नहीं, बिगड़ती चली गई, अचेतन अवस्था बनी रही। भारत के सबसे बड़े चिकित्सा संस्थान के डॉक्टरों—डॉ. विग, डॉ. विरमानी, डॉ. टंडन, डॉ. बजाज आदि ने आखिर अपना निर्णय दे दिया कि कहीं बड़ी भारी चूक हो गई थी। मुक्तिबोध का इस लम्बी बीमारी के पश्चात् अचेतन अवस्था में ही 11 सितम्बर, 1964 को 9 बजकर 5 मिनट पर देहान्त हो गया।''

यह अलग बात है कि कुछ प्रभावशाली साहित्यकारों के प्रभाव से अंत समय में उनका महँगा सरकारी इलाज सम्भव हुआ परन्तु वे पूरी उम्र बीमार रहे और कभी अपना इलाज नहीं करवा पाये। क्यों? अपने अभावों के कारण! ईश्वर के बारे में 'इतने बड़े झूठ का, इतना बड़ा आडम्बर' जैसी पंक्तियाँ लिखने वाला, दृढ़ इच्छाशक्ति का धनी यह महान् लेखक जहाँ परिवार, वर्ग, देश और विश्व के कमजोर राष्ट्रों के

बारे में सोचता रहा, वहीं अपनी जिन्दगी से भी पूर्णतः निराश रहा। धीमी गति से आत्महत्या करने वाले इस लेखक को अपने जीवनकाल में भारी उपेक्षा झेलनी पड़ी। ऐसा पहली बार नहीं हुआ था। हिन्दी साहित्य की यह घृणित, पावन परंपरा रही है, इस बात को मुक्तिबोध जानते थे। आज मुक्तिबोध को बीसवीं सदी का सबसे बड़ा कवि घोषित किया जा रहा है परन्तु जीते-जी उनका बैंक में खाता न खुल सका। अपने अन्त समय में भी 'बिना चेक काटे' और बिना अपना कविता-संग्रह देखे उनकी मृत्यु हो गई। आज वे 'कवियों के कवि' 'एक स्कूल' कहे जा रहे हैं। देश-विदेश में उन पर शोध प्रबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं। वे अपने कृतित्व के माध्यम से आज पहले से अधिक हमारे मध्य जीवंत हैं। जैसे पूछ रहे हों। ''पार्टनर तुम्हारी पालिटिक्स क्या है?'' वह भारत के वाल्तेयर हैं, जिनके दिशा-निर्देशन में भारत की विशाल जनता मनुष्यता-द्रोही संस्कृति के विरुद्ध मानवता के पक्ष में एक महासमर लड़ रही है।

128/222, वाई वन ब्लॉक,
किदवई नगर, कानपुर–208001
मोबाइल : 09336702090

शिवदान सिंह चौहान

❑ **मधुरेश**

हिन्दी में प्रगतिशील लेखक संघ के स्थापना वर्ष अर्थात् 1936 में शिवदान सिंह चौहान इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी. ए. के छात्र थे। सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टि से सजग और जागरूक जो युवक इस आंदोलन के क्षितिज पर उड़ने के लिए अपने पर तौल रहे थे, उनमें शिवदान सिंह चौहान भी एक थे। सन् 1937 में 'विशाल भारत' में प्रकाशित उनका निबंध 'भारत में प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' अनेक उत्तेजक विवादों का स्रोत बना। उनके निबंधों के आरंभिक संग्रह 'प्रगतिवाद' (1946) और 'साहित्य की परख' (1948) वस्तुतः इसी दौर के विवादों और बहसों पर केंद्रित हैं। प्रगतिशील लेखन की एक सुदीर्घ परंपरा साहित्य में थी लेकिन मूल्यांकन की दिशा में उल्लेखनीय पहल यहीं से होनी थी। इस दौर की प्रगतिवादी आलोचना के आगे सबसे पहला और महत्त्वपूर्ण सवाल यही था कि अपनी साहित्यिक-सांस्कृतिक विरासत के प्रति इस आलोचना का क्या सलूक होना चाहिए। लंदन में तैयारशुदा 'प्रगतिशील लेखक संघ' के घोषणापत्र में समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों पर विशेष जोर दिया गया था। पुराने विचारों और विश्वासों की जड़ें हिलने की प्रक्रिया में क्रांति और नए समाज के प्रसव की चिंता ही इसमें केंद्रीय रूप में प्रकट हुई थी। 'भक्ति और वैराग्य की भरमार' के प्रति इसमें चिंता बताई गई थी जिसका स्वाभाविक परिणाम विचार और बुद्धि के बहिष्कार के रूप में रेखांकित किया गया था। साहित्य और दूसरी कलाओं को पुजारियों, पंडितों और अप्रगतिशील वर्गों के आधिपत्य से निकालकर इन्हें जनता के सम्पर्क में लाकर जीवन और वास्तविकता से जोड़ने की जरूरत पर भी इस घोषणापत्र में खासा बल दिया गया था। पिछली दो सदियों में विशेषकर इसी तरह का साहित्य रचा गया, आशय संभवतः हिन्दी साहित्य में रीतिकाल से रहा होगा, जिसे 'हमारे साहित्य का लज्जास्पद काल' कहकर उसकी भर्त्सना की गई। भले ही मुख्य रूप से यह भर्त्सना रीतिकाल पर केन्द्रित होकर सामने आई हो लेकिन व्यावहारिक स्तर पर यह भक्तिकाल को भी समेटती दिखाई देती है।

इस मुख्य और आधारभूत प्रश्न के साथ ही रचना में रूप और अंतर्वस्तु की समस्या, साहित्य और विचारधारा के अंतःसंबंध, साहित्य के मूल्यांकन में पार्टी नीतियों की भूमिका और वर्चस्व, लेखकों का संयुक्त-मोर्चा आदि कुछ ऐसे मुद्दे थे जिन पर इस आरंभिक मार्क्सवादी आलोचना में गहरे मतभेद की स्थिति थी। बहसों और विवादों के बीच ही इस आलोचना को अपना स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने मुख्य प्रकार्य सुनिश्चित करने थे। इन्हीं के बीच उसे अपने मूल्यांकन के प्रतिमान भी गढ़ने और खोजने थे। रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचंद्र गुप्त, अमृतराय और रांगेय राघव आदि ने हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना के निर्माण और विकास में ऐतिहासिक भूमिका अदा की है। निर्माण और विकास का यह दौर आत्मालोचन अर्थात् अपनी गलतियों से सीखने की अपेक्षा दूसरों को गलत ठहराकर अपने को सही साबित करने का दौर ही अधिक रहा है।

शिवदान सिंह चौहान की आलोचनात्मक सक्रियता का मुख्य काल छठा दशक है। उनकी महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय पुस्तकें 'हिन्दी गद्य साहित्य' (1952), 'हिन्दी साहित्य के 80 वर्ष' (1954), 'साहित्यानुशीलन' (1955), 'आलोचना के मान' (1958), 'साहित्य की समस्याएँ'(1959) और 'आलोचना के सिद्धान्त' (1960) आदि इसी दशक में प्रकाशित हुई हैं। उनके आरंभिक दौर के महत्त्वपूर्ण निबंध भी बाद के इन्हीं संकलनों में सम्मिलित कर लिये गए हैं। शिवदान सिंह चौहान का अधिकांश लेखन आलोचनात्मक और वैचारिक निबंधों के रूप में ही हुआ है। विधिवत् योजनाबद्ध पुस्तकों के रूप में लिखी गयी उनकी शायद दो ही किताबें हैं—'हिन्दी साहित्य के 80 वर्ष' और 'आलोचना के सिद्धान्त'। निबंधों और समीक्षाओं के रूप में किए गए अपने लेखन के बारे में टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है—''प्रारम्भ से ही सांस्कृतिक-राजनीतिक आंदोलनों में भाग लेते रहने के कारण मैं अब तक सौभाग्य या दुर्भाग्य से वस्तुतः एक खानाबदोश की सी जिंदगी बिताने को ही विवश रहा हूँ। ऐसे में, किसी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार एक समय में, एह ही स्थान पर जमकर लिखने की कल्पना भी असंभव रही है, जिससे विभिन्न परिस्थितियों में हमारे साहित्य के सामने जो समस्याएँ उठती गयीं या जिन पुस्तकों की समीक्षा का आग्रह टालना संभव न हुआ, उन पर ही लिखने-लिखाने का समय निकाल पाया हूँ।'' (साहित्यानुशीलन, भूमिका) अपने इस लेखन की प्रकृति और उसके लक्ष्यों पर उनकी टिप्पणी है—''उन्हें पढ़कर पाठकों को साहित्य के मूल्यांकन की एक वैज्ञानिक किंतु रसज्ञ दृष्टि और पद्धति का ज्ञान अवश्य हो जाएगा और एक सीमा तक उनका साहित्यबोध भी गहरा और व्यापक होगा, जिसका प्रयोग वे अन्य कृतियों के मूल्यांकन में स्वयं कर सकेंगे।'' इसी तरह मुख्य रूप से सन् 1951 और 1955 के बीच लिखे गए अपने निबंधों के संकलन 'साहित्य की समस्याएँ' की संक्षिप्त भूमिका में भी उन्होंने अपने आलोचनात्मक सरोकारों का खुलासा किया है। इसे ही उन्होंने महान्

और श्रेष्ठ साहित्य के मूल्यांकन में आलोचनात्मक विवेक और कलाभिरुचि के विकास के रूप में रेखांकित किया है। संकलन में संकलित रचनाओं की प्रकृति पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—'श्रेष्ठ साहित्य की रचना या उसके मूल्यांकन के मार्ग में यदि किसी प्रकार के मतवाद, अतिवाद, गैर-जिम्मेदार दृष्टिकोण या सामाजिक परिस्थितियाँ बाधक बनी हैं तो यह हमें गवारा नहीं हुआ और हमने उनके विरुद्ध खुलकर प्रतिवाद किया है। साहित्य चिंतन में सत्य और विवेक को प्रतिष्ठित करना ही इन विविध-विषयक निबंधों का उद्देश्य है।' (साहित्य की समस्याएँ, भूमिका)

शिवदान सिंह चौहान की इन टिप्पणियों से कुछ बातें साफ हो जाती हैं। भले ही उन्होंने योजनाबद्ध रूप में व्यवस्थित लेखन बहुत अधिक न किया हो लेकिन जो भी किया है अधिकतर निबंधों के रूप में होने पर भी वह उग्र वैचारिक विवादों और तीखे संघर्ष के बीच हुआ है। उनका वैचारिक संघर्ष एक ओर यदि प्रयोगवादियों की कुंठाग्रस्त, धुरीहीन और मानवविरोधी प्रवृत्तियों से रहा है, वहीं उन्होंने प्रगतिवादी आलोचकों की अतिवादिता और कुंठित समाजशास्त्रीयता का भी विरोध किया है। 'हंस' और बाद में 'आलोचना' के अपने सम्पादन काल के दोनों दौरों में अपने इस वैचारिक संघर्ष का भरपूर प्रमाण उन्होंने दिया है।

सन् 1948 में बी. टी. रणदिवे के भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव बनने पर पूरनचंद जोशी और उनके उदारवादी समर्थकों को 'संशोधनवादी' कहकर लांछित किए जाने की प्रक्रिया शुरू हुई। इसी काल में पार्टी की यह समझ एक थीसिस के रूप में सामने आई कि सद्यः प्राप्त स्वाधीनता झूठी है। इसी काल में गाँधी-नेहरू को ऐंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवाद का समर्थक घोषित किया गया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा घोषित-प्रचारित क्रांति और समाजवाद के इस हो-हल्ले को शिवदान सिंह चौहान एक बचकानी उच्छृंखलता (infantile disorder) मानते हैं। उनके अनुसार यह विक्षिप्त और आत्मपरक मानसिकता आज भी किसी न किसी रूप में हावी है। वे अज्ञेय और इलाचंद्र जोशी द्वारा लिखी आलोचना की भी सीमाओं का उल्लेख करते हैं, जिसे मनोविश्लेषण शास्त्र से अनुप्रेरित आलोचना के रूप में प्रचारित किया जा रहा था। अज्ञेय के संदर्भ में यदि वे 'कुत्सित मनोवैज्ञानिकता' का सवाल उठते हैं तो रामविलास शर्मा के संदर्भ में 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' का। इसी संदर्भ में वे साहित्य को सिर्फ सामयिक संघर्षों, पार्टी-नीतियों और रूपपक्ष के प्रति उदासीन रहकर केवल अंतर्वस्तु के आधार पर ही उसके मूल्यांकन की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। इस पद्धति को वे सारसंचयवाद और संकीर्ण राष्ट्रवाद के कारण साहित्य के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन के अयोग्य मानकर इसकी तीखी भर्त्सना करते हैं। रामविलास शर्मा के शरतचंद्र और यशपाल विरोधी अभियान को वे इसका उल्लेखनीय उदाहरण बताकर प्रस्तुत करते हैं। यह आलोचना तेजी से बदलती राजनीतिक स्थितियों और पार्टी नीतियों को तरजीह देने के कारण अपने आलोचनात्मक मानों को स्थिर और

एकरूप नहीं रख पाती। जिसके परिणामस्वरूप लेखकों और कृतियों के संबंध में आए दिन फतवे दिए जाते हैं।

इसी का परिणाम यह होता है कि कल का प्रतिक्रियावादी लेखक एक तुच्छ रचना के आधार पर आज प्रगतिशील बन जाता है और कल का प्रगतिशील और युगप्रवर्तक लेखक 'इनकी' दृष्टि की असहमति और प्रतिकूलता के कारण आज युग विध्वंसक और प्रतिक्रियावादी हो जाता है। यह वस्तुतः प्रगतिवादी आलोचना में विकसित होते स्वेच्छावादी और अराजक रवैये की ही आलोचना थी जो आलोचना में वस्तुपरकता और विश्वसनीयता के पक्ष में किए जाने वाले संघर्ष का एक रूप थी। शिवदान सिंह चौहान ऐसी आलोचना के विकास पर बल देते हैं जो रूप और अंतर्वस्तु के सम्यक् मूल्यांकन में प्रवृत्त होने के साथ ही प्राचीन और समकालीन साहित्य की आलोचना में समान रूप से सक्षम हो।

एक आलोचक के रूप में शिवदान सिंह चौहान की मुख्य चिंता समग्रता और वस्तुनिष्ठता के आग्रह के रूप में रेखांकित की जा सकती है। यह अकारण नहीं है कि उनके आलोचना-कर्म में राष्ट्रीय दृष्टि, स्वाधीन भारत में नवनिर्माण की समस्या, स्वाधीनता, समाजवाद, विश्वशांति और पंचशील तथा सह-अस्तित्व के सिद्धांतों की अनुगूँज वाद्यवृंद के सामूहिक संगीत-सी बजती सुनाई देती है। वस्तुतः इसी राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में वे 'तुच्छ' और 'असुंदर' के विरुद्ध श्रेष्ठ और सार्थक की प्रतिष्ठा का आलोचनात्मक अभियान शुरू करते हैं। 'रसज्ञता' और 'विशेषज्ञता' के द्वन्द्व में वे रसज्ञता का वरण करने वाले आलोचक हैं। सौन्दर्यबोध और जीवनबोध को विकसित और समुन्नत करना वे आलोचना का मुख्य प्रकार्य मानते हैं। अपने आलोचना के कर्म के आरंभिक दौर में रामविलास शर्मा 'प्रेमचंद', 'भारतेंदु हरिश्चंद्र', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' और 'प्रगति और परंपरा' आदि में, जिस तरह राष्ट्रवाद के उत्साह में एकांगी और भ्रामक स्थापनाएँ कर रहे थे, शिवदान सिंह चौहान उसका विरोध करते हैं।

रामविलास शर्मा ने जिन महत्त्वपूर्ण लेखकों का सकारात्मक मूल्यांकन किया, भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमचंद, निराला, रामचंद्र शुक्ल और महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि, शिवदान सिंह चौहान कहीं भी उनका अकारण अवमूल्यन नहीं करते, लेकिन उनकी एकांगी और पक्षपातपूर्ण प्रशंसा का वे तीव्र और उग्र विरोध करते हैं। वे मानते हैं कि इससे मूल्यांकन का वास्तविक परिप्रेक्ष्य धुँधला होता है जिससे दूसरे लेखकों के प्रति अन्याय तो होता ही है, कुल मिलाकर आलोचना की विश्वसनीयता का क्षरण भी होता है। प्रगतिवादी आलोचना में वस्तुतः इस प्रकार की यांत्रिक और दुराग्रही आलोचना को ही उन्होंने कुत्सित समाजशास्त्रीयता का उदाहरण बनाकर उसकी तीव्र भर्त्सना की। वे स्वयं भी भारतेंदु हरिश्चंद्र को पुश्किन के समकक्ष रखकर देखते हैं लेकिन रामविलास शर्मा जिस तरह उन्हें शेक्सपियर से श्रेष्ठ लेखक बताकर प्रस्तुत

कर रहे थे, उस स्वेच्छाचारी और अराजक दृष्टि की वे निंदा करते हैं। इसी तरह प्रेमचंद को श्रेष्ठ बनाने के क्रम में वे प्रेमचंद के संदर्भ में टॉलस्टाय और गोर्की के अर्थहीन, भ्रामक और दुराग्रही अवमूल्यन का विरोध करते हैं। इसे ही वस्तुतः वे कुत्सित समाजशास्त्रीयता का पूरा दर्शन मानकर उसके उग्र विरोध में खड़े होते हैं। रामविलास शर्मा की प्रतिक्रियाओं के अपने सारे उग्र विरोध के बावजूद, शिवदान सिंह चौहान अपनी आलोचना में समग्रता और वस्तुपरकता का निर्वाह किस रूप में करते हैं, इसके उदाहरणस्वरूप प्रेमचंद के संबंध में ही उनका यह वक्तव्य देखा जा सकता है—''मैं यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि प्रेमचंद के प्रति मेरे हृदय में किसी से भी कम आदर की भावना नहीं है। क्योंकि प्रेमचंद चाहे जिस कोटि के उपन्यासकार क्यों न हों, कम-से-कम अभी तक हिन्दी-उर्दू के तो सर्वश्रेष्ठ कथाकार हैं ही और इन भाषाओं में आधुनिक और कहानी साहित्य के विकास में ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बड़ा महत्त्व है। लेकिन लेखकों में वे मेरे एक मात्र आराध्य नहीं हैं। विश्व में ही क्यों, भारत में भी उनसे बड़े-बड़े लेखक हुए हैं, इस युग में ही। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत् चट्टोपाध्याय को भुला देना मेरे लिए संभव नहीं।'' (साहित्य की समस्याएँ, पृ. 114) उन्होंने इस तरह की तुलनात्मक आलोचना का ही विरोध किया जो ऐसे अराजक और स्वेच्छाचारी निष्कर्षों की ओर ले जाती हैं। रामविलास शर्मा की ऐसी आलोचना पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—''ऐसी एकांगी और पथभ्रष्ट आलोचना तो स्कूल के विद्यार्थियों को भी शोभा नहीं देती।'' (वही) रामविलास शर्मा और शिवदान सिंह चौहान के बीच का यह विवाद वस्तुतः एकांगिता के विरुद्ध आलोचना-दृष्टि के समुचित परिप्रेक्ष्य और समग्रता के आग्रह को ही रेखांकित करता है।

अपने समय की रचनाशीलता और उसके परिप्रेक्ष्य की सही समझ ही वस्तुतः शिवदान सिंह चौहान के आलोचना संसार को एक ऐसा भरा-पूरापन देती है जो तत्कालीन प्रगतिवादी आलोचना में, एक सीमा तक सिर्फ प्रकाशचंद्र गुप्त के यहाँ ही उपलब्ध है। अपनी आलोचना में इसी परिप्रेक्ष्य की सही समझ और उपयोग के कारण एक ओर यदि वे आलोचना में विध्वंस और संहार से बचते हैं, वहीं वे लेखकों के एकांगी और अतिरंजित-अविश्वसनीय बखान से भी बचते हैं। 'मौत और दोशीजा' पर 'साहित्यानुशीलन' में संकलित अपनी रपट में वे प्रगतिवादी आलोचना में व्याप्त अराजकता और अवसरवाद का संकेत देते हैं। मृत्यु के संदर्भ में प्रेम की विजय को, जो इस कविता का विषय है, लोग क्रांति की राह में बाधा बताते हैं। इसे बीते जमाने की चीज बताकर लोग इसे खारिज करने की कोशिश करते हैं। लेकिन जब अंत में उन्हें बताया जाता है कि वह गोर्की की कविता 'डेथ एंड द मेडेन' का अनुवाद है, जिसके संबंध में स्वयं स्तालिन की राय थी कि मृत्यु पर प्रेम की विजय के संदर्भ में यह गेटे के 'फास्ट' से भी अधिक प्रभावशाली है, तो जैसे लोगों को साँप सूँघ जाता है। आलोचना में इस प्रवृत्ति को भी

शिवदान सिंह चौहान कुत्सित समाजशास्त्रीय से ही जोड़कर देखते हैं। लेखक का नाम जानकर आलोचना की यह प्रवृत्ति अवसरवाद को प्रोत्साहित करती है जो लेखक के नाम से ही रचना की स्तुति या निंदा में प्रवृत्त होती है।

शिवदान सिंह चौहान ने बहुत सीमित संख्या में ही रचनाओं की आलोचना की है लेकिन जो भी वे हैं, उनके चुनाव में उनके आलोचना विवेक को देखा जा सकता है। अपनी आलोचना में वे कहीं परस्पर विरोधी युग्म नहीं बनाते हैं—निराला और पंत या फिर प्रेमचंद और शरत्‌चंद्र जैसे, और न ही वे अपने प्रिय लेखकों को दूसरों पर लाठी की तरह इस्तेमाल करते हैं, जिसका अनिवार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रेमचंद, शुक्ल और निराला के बाद हिन्दी साहित्य का विशाल क्षेत्र एक लंबे-चौड़े बंजर में बदल जाता है। जिन लेखकों को वे आलोचना के लिए चुनते हैं, समूचे सामाजिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में वे उनके गुण-दोषों के विश्लेषण में प्रवृत्त होते हैं। राहुल सांकृत्यायन, यशपाल और रांगेय राघव को उन्हें साम्प्रदायिक, नस्लवादी और अश्लील मानकर खारिज कर देने की जरूरत नहीं होती। इनकी सीमाओं की अनदेखी किए बिना इनके रचनात्मक विस्फोट को धैर्यपूर्वक देख-समझकर वे उनका मूल्यांकन करते हैं। इसी तरह वे पंत का उपयोग सिर्फ निराला के एकांगी बखान के लिए नहीं करते। वे उस कुरुचि की भी भर्त्सना करते हैं जो पंत के संदर्भ में निराला से तुलना के प्रसंग में, रामविलास शर्मा शुरू से ही प्रदर्शित करते रहे हैं।

शिवदान सिंह चौहान की 'आलोचना के सिद्धांत' भी एक महत्त्वपूर्ण और व्यवस्थित पुस्तक है, भले ही अपनी प्रकृति में यह परिचयात्मक हो, जिसमें उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य आलोचना का विकास स्पष्ट करते हुए आलोचकों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी की हैं। इसके अंतिम खंड में उन्होंने 'मूल्यांकन की समस्या' शीर्षक से विभिन्न आलोचना-दृष्टियों की चर्चा करते हुए आलोचना को एक सामाजिक और सांस्कृतिक उपक्रम के रूप में व्याख्यायित किया है। आलोचना में मूल्य निर्णय को वे आलोचना दृष्टि की पूर्णता के लिए अपरिहार्य मानते हैं। सन् 1960 में जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई, वह हिन्दी आलोचना में पश्चिम की 'नयी समीक्षा' की व्यापक घुसपैठ का दौर था। आज हिन्दी आलोचना में जिसे 'साहित्य की स्वायत्तता' और 'साहित्य का जनतंत्र' कहकर प्रचारित किया जा रहा है, उसके मूल स्रोत कहीं न कहीं इस 'नयी समीक्षा' में ही मौजूद हैं। नयी समीक्षा की मूल स्थापना पर टिप्पणी करते हुए चौहान लिखते हैं—''ढाँचे की आंतरिक गठन और संगति के विश्लेषण तक ही आलोचना को सीमित कर देना इस रीतिवाद का सबसे अधिक प्रचलित नारा है, जिसमें रचना के अर्थ की पूर्ण उपेक्षा की जाती है।'' (आलोचना के सिद्धांत, पृ. 179) इस आलोचना प्रवृत्ति को वे मूलतः 'आतंकवादी' आलोचना मानते हैं, 'जो रचना में विचार, वस्तु और रूप की अभिन्नता से उपलब्ध समग्र-सौंदर्य को उद्‌घाटित करने के बजाय अपनी दुरूह, अमूर्त और अनगढ़ शब्दावली से केवल आतंकित भर

करना चाहती है, और एक भयंकर प्रकार की अबौद्धिकता और 'कूपमंडूकता' को प्रोत्साहन दे रही है।' (वही, पृ. 173)

रामविलास शर्मा से हुए इस विवाद को वे व्यक्तिगत नहीं मानते और विवाद को 'इतने नीचे स्तर पर घसीट लाने के लिए' वे रामविलास शर्मा की भर्त्सना भी करते हैं—इसे वे 'दो प्रवृत्तियों—सौंदर्यदृष्टियों, इतिहास चेतना और विश्वबोध का फर्क' मानते हैं। उस विवाद में रामविलास शर्मा ने चौहान पर 'विसर्जनवादी' होने का आरोप लगाया क्योंकि संकीर्णता के विरोध में जैसा कि डॉ. रामविलास शर्मा मानते हैं, चौहान मार्क्सवाद की मूल स्थापनाओं की ही अवहेलना करने लगते हैं। डॉ. शर्मा यह भी आरोप लगाते हैं कि चौहान ने जितना उनके विरोध में लिखा, उसका एक अंश भी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरोध में नहीं लिखा। लेकिन यह सरासर झूठा आरोप है क्योंकि स्वाधीन भारत में साहित्यिक-सांस्कृतिक चेतना के प्रसार की उनकी चिंता पूरी तरह से उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी नीतियों के परिणामस्वरूप पैदा हुए साहित्यिक मान-मूल्यों के विरोध की ही चिंता है। अज्ञेय, साही और भारती स्कूल से चला उनका लंबा और अनिर्णीत विवाद वस्तुतः उनकी इसी चिंता का विस्तार है।

इसी विवाद में रामविलास शर्मा की स्थिति और भूमिका पर टिप्पणी करते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल ने लिखा है, 'रणदिवे और रामविलास (शर्मा) में अंतर यह है कि रणदिवे अपनी तत्कालीन लाइन की नैतिक जिम्मेदारी लेने से नहीं कतराते, जबकि रामविलासजी के लेखों के किंचित् संक्षिप्त रूप में ये अंश खोजे नहीं मिलेंगे। डॉ. शर्मा ने पुराने लेखों का नया चोला कुछ ऐसे अंदाज में पेश किया है जैसे वे विवाद के तथ्यों की वास्तविक प्रस्तुति कर रहे हों। लेकिन इस प्रस्तुति की अभिप्रेत व्यंजना यह है कि जब सारा पार्टी नेतृत्व और किसी के नहीं, मानवेन्द्रनाथ रॉय के संकीर्णतावाद से ग्रस्त था, तब भी रामविलास शर्मा उससे मुक्त थे। जब कम्युनिस्ट पार्टी भारतीय स्वाधीनता को झूठी कहने की संकीर्णतावादी भूल कर रही थी, तब रामविलासजी इस भूल से अछूते रहकर ही विसर्जनवाद के विरुद्ध अकेले संघर्ष छेड़े हुए थे। हमारे इतने बड़े प्रगतिशील चिंतक की नैतिक, आत्मतुष्टि और दंभ सचमुच दुखदायी है। यह जहनियत चिंताजनक है जो तथ्यों के तोड़-मरोड़ में ही नहीं, उन्हें सिरे से गायब कर देने में भी रस लेती है।' (तीसरा रुख, पृ. 126) शिवदान सिंह चौहान जब इस विवाद को 'व्यक्तिगत' न माने जाने का आग्रह करते हैं तो उन पर विश्वास करने के समुचित कारण हैं। वे साहित्य में पार्टी-लाइन के अंध-समर्थन का विरोध करके प्रकारान्तर से साहित्य को राजनीति का पिछलग्गू बनाने के बचाव की लड़ाई ही लड़ रहे थे।

शिवदान सिंह चौहान हिन्दी-साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री और उसके स्वीकृत मूल ढाँचे को लेकर ही अपनी पूरी थीसिस प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि इतिहास लेखन के संदर्भ में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया

जाता रहा है। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल और मध्ययुग में उन बहुत-सी भाषाओं और बोलियों—राजस्थानी, मैथिली, अवधी और ब्रज आदि को भी 'हिन्दी' के अंतर्गत रखकर देखा जाता है। इसमें यह स्वीकृती-सी दिखाई देती है कि हिन्दी किसी एक भाषा का नाम नहीं बल्कि शौरसेनी और अर्ध-मागधी अपभ्रंशों से आठवीं-दसवीं शताब्दियों के बीच प्रचलित हुई जनपदीय-भाषा समूह का नाम है। 'लेकिन आधुनिक काल की चर्चा के प्रसंग में हम इन भाषाओं और बोलियों के प्रति असहिष्णु हो उठते हैं। इसी का स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि आधुनिक काल से पहले तक हम हिन्दी भाषा समूह का इतिहास लिखते हैं लेकिन आधुनिक काल आते ही हम संघ भाषा हिन्दी (खड़ी बोली का संस्कृतनिष्ठ साहित्यिक रूप) का इतिहास लिखने लगते हैं।' (हिन्दी-साहित्य के 80 वर्ष, पृ.7) इसमें खड़ी बोली के ही फारसीनिष्ठ रूप—उर्दू—को शामिल नहीं किया जाता। शिवदान सिंह चौहान मानते हैं कि इतिहास-लेखन की यह परंपरा 'अनैतिहासिक और स्वेच्छाचारी' है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास के बारे में उनकी मूल स्थापना यह है कि उसकी शुरुआत भारतेंदु-युग से हुई। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में जिसे हिन्दी-साहित्य का इतिहास कहकर प्रस्तुत किया जाता रहा है, वह वस्तुतः 'हिन्दी भाषा-समूह' का इतिहास है जिसमें मैथिली, अवधी, ब्रज और राजस्थानी आदि को शामिल किया जाता रहा है। इस पद्धति का सबसे बड़ा अंतर्विरोध यह है कि आदिकाल से रीतिकाल तक तो इस भाषा-समूह को 'हिन्दी' के रूप में स्वीकार किया जाता है लेकिन आधुनिक काल के इतिहास के संदर्भ में इस पद्धति को त्यागकर सिर्फ खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य को ही स्वीकृति दी जाती है। चूँकि भारतेंदु-युग में भी काव्य भाषा के रूप में ब्रज भाषा को स्वीकृति दी जाती थी, स्वयं भारतेंदु और उनके सहयोगियों ने ब्रजभाषा में ही काव्य रचना की थी इसलिए खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य का शुभारंभ शिवदान सिंह चौहान भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' से मानते हैं, जो 1873 में प्रकाशित हुआ। 'हिन्दी-साहित्य के 80 वर्ष' (1954) चूँकि सन् 1953 में लिखी जा रही थी, इसीलिए चौहान इस सम्पूर्ण कालावधि को 80 वर्षों की सीमा में बाँधकर देखते हैं। लेकिन खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य को इस संक्षिप्त काल-सीमा में रखकर भी वे हिन्दी को उतना ही पुराना मानते हैं जितनी भाषा समूह की अन्य भाषाएँ हैं। वे अमीर खुसरो और कबीर की रचनाओं में खड़ी बोली के यत्र-तत्र प्रयोगों के आधार पर खड़ी बोली की किसी प्राचीन परंपरा की खोज को व्यर्थ मानते हैं। 'क्योंकि किसी नैरन्तर्य और समुचित विकास के अभाव में अधिक से अधिक इन प्रयोगों से खड़ी बोली के प्राचीन अस्तित्व का ही पता चलता है।'

शिवदान सिंह चौहान प्रेम को साहित्य का मूल प्रेरक तत्त्व मानकर उसे अन्य मानवीय भावों का आदिस्रोत स्वीकार करते हैं। यह प्रेम को साहित्य से वर्जित और निष्कासित करने की उस नैतिकवादी दृष्टि का स्पष्ट विरोध है जो शुक्लजी से चलकर रामविलास शर्मा तक आती है, जिसके कारण वे शरतचंद्र से लेकर जैनेंद्र और यशपाल आदि को खारिज कर देते हैं। अपनी इस दृष्टि के कारण ही शुक्लजी की छायावादी प्रेमगीतों पर 'शृंगारी' या 'नाना अर्थभूमियों पर काव्य का प्रसार' रोक देने का लांछन लगाते हैं। शिवदान सिंह चौहान पर्याप्त बल देकर स्थापना करते हैं कि यह प्रेम भाव सामंत दृष्टि के विरोध का प्रतीक है। उस दौर में उनकी यह स्थापना एक क्रांतिकारी स्थापना थी, जिसके कारण आगे चलकर सूरदास और मीरा के काव्य पर पुनर्विचार की भूमिका तैयार हुई और प्रगतिवादी आलोचना में उन्हें स्वीकार्यता प्राप्त हुई। प्रसाद की 'कामायनी' के संदर्भ में शिवदान सिंह चौहान की टिप्पणी है, 'बुद्धि का तिरस्कार और श्रद्धा का ग्रहण ही उन्हें आधुनिक वर्ग-संघर्ष के अभिशापों से मुक्ति का एक मार्ग समझ में आया। यह प्रत्यावर्तन और पलायन का मार्ग भी है और पूँजीवादी समाज में व्यक्तिवाद की असामाजिक परिणति का भी।' (वही, पृ. 95) क्या वस्तुतः यह वही सूत्र नहीं है जो मुक्तिबोध के 'कामायनी : पुनर्विचार' में पूरी तरह पल्लवित और विकसित हुआ है?

× × ×

सन् 1977 के शुरू में, लोकभारती, इलाहाबाद के दिनेश चंद्र का एक पत्र मुझे मिला जिसमें यशपाल पर एक पुस्तक के सम्पादन का प्रस्ताव था। उसी में यह सूचना भी थी कि यह काम नामवरजी की देखभाल में होगा, अतः मैं उनसे सम्पर्क कर लूँ। दिल्ली जाने पर नामवरजी ने बताया कि प्रकाशक का आग्रह था कि वे ही इसे करें, लेकिन उन्होंने मेरा नाम सुझाते हुए उन्हें यह आश्वासन दिया था कि काम उन्हीं की देख-रेख में ठीक-ठाक ढंग से होगा। फिर यह तय हुआ कि एक-दो दिन वहीं रुककर मैं लेखों और लेखकों की एक आरंभिक सूची तैयार कर लूँ ताकि उसे उन्हें दिखाकर काम आगे बढ़ाया जा सके। मेरी उस सूची में स्वाभाविक रूप से शिवदान सिंह चौहान का भी नाम था, जिसमें उनका एक पूर्व प्रकाशित निबंध मैंने उनके नाम के आगे लिख रखा था। नामवरजी ने उस सूची में अधिक फेरबदल नहीं किया। उसमें उन्हें और मैनेजर पांडेय दोनों को ही 'मार्क्सवाद और यशपाल' पर एक-एक लेख लिखना था। यशपाल के यात्रा साहित्य पर मेरी इच्छा निर्मल वर्मा से लिखवाने की थी लेकिन नामवरजी ने कहा कि वे लिखेंगे नहीं और किताब व्यर्थ अटकी रहेगी, इसलिए उसे फिर छोड़ दिया। शिवदान सिंह चौहान का नाम उन्होंने उस सूची में से हटा देने को कहा। बोले, 'इन्हें बेकार रख दिया...यशपाल पर कुछ लिखने के बजाय यह अपना खाता सुलटाने की कोशिश करेंगे...' साहित्य की राजनीति और रणनीति मैं अब भी अधिक नहीं समझ पाता, तब तो खैर नहीं ही समझता था। वैसे उत्तर में मैंने यह अवश्य कहा कि यह तो उनका पुराना निबंध है, इसमें वे क्या खाता सुलटाएँगे। लेकिन नामवरजी की 'छोड़िए...' के बाद मैं चुप हो गया।

ऐसी अनेक शंकाओं और जिज्ञासाओं के बीच जब शिवदानजी से मिलना हुआ तो वे शरीर से बहुत जर्जर हो चुके थे और बैठकर उनके थोड़ा सुस्थिर हो लेने के बाद मुझे लगा कि अब बात की जा सकती है। शुरुआत मैंने ही की—''शिवदानजी, प्रायः ही आपने पत्रों में 'आलोचना' वाले प्रसंग को आलोचना कांड कहा है...कृपया उसके बारे में कुछ बताएँ कि कैसे, क्या हुआ?''

मुझे यह लगे बिना नहीं रहा कि मेरे सवाल ने उन्हें कुछ उत्तेजित कर दिया है, बोलते समय उनके गले की नसें उभर आने से भी यह स्पष्ट था। फिर भी अपनी बात उन्होंने बहुत धीमी आवाज में शुरू की—'मधुरेशजी, उस प्रसंग में मुझे शिकायत यह नहीं कि 'आलोचना' मेरे हाथ से गई...कुछ समय से ऐसी कुछ बातों की भनक मुझे मिल रही थी। मेरी शिकायत उसके ढंग को लेकर है...'' फिर वे धीरे-धीरे विस्तार से बताते रहे कि संधु साहब ने कभी इस बात का जिक्र उनसे नहीं किया। इस सत्ता-पलट की सूचना उन्हें 'आलोचना' में छपी विज्ञप्ति से ही मिली, जिसमें कहा गया था कि अगले अंक से पत्रिका का सम्पादन डॉ. नामवर सिंह करेंगे। इसके साथ ही उसके रूप-परिवर्तन और सम्पादकीय प्राथमिकताओं का ब्योरा भी था। फिर वे बोले—''अगर संधू साहब या स्वयं नामवर सिंह मुझसे कहते कि भाई साहब, अब आप 'आलोचना' छोड़ दीजिए, इसका सम्पादन मैं करूँगा तो क्या मैं मना कर देता? ऐसा करने में मैं एक मिनिट भी नहीं लगाता।'' और फिर वे बताने लगे कि 'हंस' में उन्होंने ऐसा ही किया भी था। तब अमृत राय जेल से छूटकर आए थे। एक दिन वे उनके पास आए और इधर-उधर की बातों के बाद बोले कि अम्मा चाहती हैं कि 'हंस' का सम्पादन अब घर का ही कोई आदमी करे। फिर शिवदानजी बोले—''वे एक-दो महीने रुकने को तैयार थे, लेकिन मैं नहीं माना। मैंने अमृत और अपने बीच हुई बात भी किसी को नहीं बताई। मैंने लोगों से यही कहा कि पार्टी के काम से मुझे बाहर जाना है...और दो दिन बाद ही मैंने बनारस छोड़ दिया। हालाँकि मेरे पास तब करने को कुछ नहीं था...'' उत्तेजना में बोलने से उनका चेहरा सुर्ख पड़ गया था और गले की फूली हुई नसें और ज्यादा फूली लग रही थीं। 'थोड़ा कुछ रामविलासजी के बारे में...मैंने पूछा।''

वे बोले—''रामविलास से मेरे मतभेद पूरी तरह सैद्धांतिक थे...ये दो आलोचना दृष्टियों का मामला था। भारतेंदु और उनके युग के दूसरे लेखकों का वे जैसा एकांगी, इकहरा और अतिरंजित मूल्यांकन कर रहे थे, मैं उसका विरोध करता था। हिन्दी लेखकों को बड़ा साबित करने के लिए वे विदेशी लेखकों की जैसी आलोचना कर रहे थे, उसमें मुझे अंधराष्ट्रवाद की गंध आती थी। इसी तरह पंत से लेकर राहुल और यशपाल के संबंध में उनकी जो दृष्टि थी, उसमें मुझे प्रगतिवादी आंदोलन और साहित्य के लिए गंभीर खतरा दिखाई देता था...यही सब बातें थीं...''

मैंने पूछा—''व्यक्तिगत रूप में वे आपको कैसे आदमी लगते हैं? स्वभाव के बारे में कुछ बताएँ...''

उत्तर में वे बोले—''बरसों से उनके दिल्ली में रहने पर भी मेरा मिलना नहीं होता। वैसे मैं भी गाँव की पृष्ठभूमि से ही आया हूँ...उनके ग्राम्य संस्कार और भदेस प्रकृति मैं कभी पसंद नहीं कर सका...धौल-धप्पा, पंजा-कुश्ती ये सब बातें मेरे अपने संस्कारों से मेल नहीं खातीं...'' और फिर जैसे अपनी बात को समाप्त करते हुए वे बोले—''जब मैं बनारस में था, वे जब-तब 'हंस' के दफ्तर में आते थे...औरतों के बारे में बड़ी फूहड़ बातें करते थे।''

शिवदान सिंह चौहान ने उस दिल्ली में अपने साहित्यिक निर्वासन के 30 वर्ष काटे जो राजनीति के साथ ही साहित्य, कला और संस्कृति की राजधानी भी कही और मानी जाती है। चूँकि वे किसी यूनिवर्सिटी में नहीं थे, छात्रों की कोई सेना उनके पास नहीं थी। साहित्य, संस्कृति और राजनीति से कटकर ये दो बूढ़े और स्वास्थ्य की दृष्टि से काफी जर्जर हो चुके लोगों की सिर्फ अपने में बंद और सीमित दुनिया थी। बेशक उनका अंतिम समय अपने बेटे-बहू वाले परिवार में बीता लेकिन बाहरी उपेक्षा की शीतलहर में यह पारिवारिक उष्मा भी उन्हें अधिक मिली हो, ऐसा मुझे लगा नहीं। साकेत में रहते हुए पास ही एक रेस्टोरेंट से उन्होंने खाने की व्यवस्था कर रखी थी। उसका आदमी दोनों समय सामान्यतः उन्हें इडली दे जाता था जिसे खाने और पचाने में आसानी होती थी।

दिल्ली में उनके रहने के बावजूद लगता नहीं था कि वे दिल्ली में हैं। जब 'पहल' का मार्क्सवादी आलोचना पर केन्द्रित अंक आया, जिसमें उन पर मेरा लेख था, तो बिना किसी तारीख और संबोधन के बड़े-बड़े मोटे और बेडौल अक्षरों में लिखित विजयजी ने एक पोस्टकार्ड में मुझे लिखा, 'सुना है कि श्री विष्णुचंद्रजी के पास 'पहल' का एक अंक आ गया है, यहाँ नहीं आया। आप उनसे कहकर यहाँ भिजवा दो। चौहानजी के सारे शरीर में कैंसर फैल गया है और वे बड़े कष्ट में हैं। 'पहल' का अंक मिलने पर शायद अपनी प्रतिक्रिया भेज सकें।

भवदीय

विजय चौहान

फिर उसी पत्र में, नीचे पुनश्च लिखकर शिवदानजी ने लिखा—''कृपया 'आलोचना के मान' के सारे लेख निकाल दीजिए। इस संग्रह (को) स्वतंत्र रूप से प्रकाशित करने के लिए विष्णुजी ने एक प्रकाशक से contact करवा दिया था। अब तो compore भी हो चुका होगा। मैंने आपको शायद लिखा था, आप 'साहित्यानुशीलन' में से कुछ पुस्तक-समीक्षाएँ ले लें।''

–चौहान

वस्तुतः यह साझा पत्र मुझे लिखा गया उनका अंतिम पत्र था। उनके निधन की सूचना, बरेली के ही किसी अखबार में पढ़कर राजेश ने मुझे फोन पर दी थी। लेकिन उसमें आकस्मिक जैसा कुछ नहीं था। लंबे समय से थोड़ा-थोड़ा करके वे उसी दिल्ली में मर रहे थे, जिसमें ढेरों साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ आए दिन बड़े उत्सवी ढंग से आयोजित होती रहती हैं। उनके निधन का सबसे विडंबनापूर्ण पक्ष यह है कि वह तब हुआ जब वे निष्कासन के अँधेरे से बाहर आने के लिए संघर्ष कर रहे थे और अपने रचनात्मक पुनर्वास की आशा, कुछ दूसरों के साथ स्वयं उनमें भी जागने लगी थी।

× × ×

जन्म : 15 मार्च, 1918 को, ग्राम—बमानी, पोस्ट—सेमरा, जिला—आगरा, उत्तर प्रदेश में।

शिक्षा : इलाहाबाद विश्वविद्यालय से 1937 में बी.ए.।

सम्मान : हिन्दी अकादमी, दिल्ली, 89 में तथा कानपुर विश्वविद्यालय द्वारा '93 में मानद डी. लिट्।

कार्य : 36-38 में इलाहाबाद स्टूडेंट ॲसोसिएशन के संयोजक-सचिव। अखिल भारतीय स्टूडेंट फेडरेशन के संस्थापक में से एक। 1937 में इसका पहला अधिवेशन संयोजित किया, जवाहरलाल नेहरू द्वारा उद्घाटन और मुहम्मद अली जिन्ना द्वारा अध्यक्षता। प्रगतिशील लेखक संघ की इलाहाबाद शाखा के इतिहासवेत्ता डॉ. विश्वंभर पांडेय के साथ मंत्री, 1937-38 कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और उस समय गैरकानूनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य, बनारस में 'हंस' का सम्पादन, कम्युनिस्ट पार्टी की बनारस शाखा के सेक्रेटरी 41-42; भारत छोड़ो आन्दोलन में गिरफ्तार। '42 में रिहा होने पर बंगाल के अकाल पर 'हंस' का विशेषांक सम्पादित कर 'हंस' से मुक्त। लखनऊ में पार्टी मुख्यालय में आकर प्रांत के सांस्कृतिक कार्यक्रमों का संचालन। 1946 में दिल्ली से साहित्य की परख पर वार्ता प्रसारित। दिल्ली में रहकर अख्तर हुसैन रायपुरी, फ़ैज़, तासीर, जैनेन्द्र, विष्णु प्रभाकर, चौधरी शेरजंग आदि लेखकों को साथ लेकर प्रगतिशील लेखक संघ की दिल्ली शाखा का गठन। विभाजन के बाद दिल्ली में शरणार्थियों के लिए श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में एक 'सेन्ट्रल कमेटी' का गठन कर पुनर्वास के कार्य में लगे। किंग्सवे कैम्प में शरणार्थियों के भोजन-आवास की व्यवस्था का दायित्व। नवम्बर 1947, पंडित नेहरू के निर्देश पर हिन्दी-उर्दू के बीस लेखकों का डेलीगेशन लेकर कबायली आक्रमणग्रस्त कश्मीर में। दिसम्बर 47 कश्मीर में 'नेशनल कल्चरल फ्रंट' के सेक्रेटरी। मई '51 तक फ्रंट की नाट्य मंडली लेकर घाटी के दूर-दराज के इलाके में सांस्कृतिक जागरण का कार्य। 'कश्मीर देश और संस्कृति' लिखा, कश्मीरी भाषा की पहली त्रैमासिक पत्रिका 'कुंगपोश' के प्रकाशन में योग। मई 51 में दिल्ली लौटकर अक्टूबर में आलोचना त्रैमासिक का सम्पादन। 1956 : दिल्ली में पहले एशियाई लेखक सम्मेलन के आयोजन में योग। सन् 1961, आल इंडिया पीस कौंसिल के कल्चरल सेक्रेटरी। इंडो-सोवियत कल्चरल सोसाइटी से जुड़े, 1962 से, सोवियत लॅण्ड नेहरू अवार्ड कमेटी में। 1962 विवेकानन्द जन्मशती समारोह में रूमानिया और विश्वशांति तथा निरस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए सोवियत संघ की यात्रा। अगस्त 67 में उज्बेकिस्तान में भारत की आजादी की बीसवीं बरस गाँठ के समारोह में भारतीय प्रतिनिधि मंडल के नेता रूप में सम्मिलित। अगस्त 2000 में दिल्ली में निधन।

प्रकाशित कृतियाँ : (1) रक्तरंजित स्पेन (स्पेन के गृहयुद्ध पर, भूमिका : जवाहरलाल नेहरू, 1938), (2) प्रगतिवाद (1946), (3) साहित्य की परख (1948), (4) कश्मीर; देश व संस्कृति (1949), (5) हिन्दी गद्य-साहित्य (1952), (6) हिन्दी-साहित्य के 80 वर्ष (1954), (7) हिन्दी-साहित्य की समस्याएँ (1954), (8) साहित्यानुशीलन (1955), (9) आलोचना के मान (1958), (10) आलोचना के सिद्धान्त (1960), (11) आधुनिक संस्कृति के निर्माता, (12) नेशनलिटीज क्वेश्चन इन यू.ॲस.ए. ॲण्ड यू.ॲस.ॲस.आर. (1976), (13) बाबा पृथ्वीसिंह आज़ाद, (14) परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए।

मूल लेखन के अतिरिक्त विश्व साहित्य की कुछ क्लासिकल कृतियों के श्रीमती विजय चौहान के साथ अनुवाद भी किये। उनमें दास्तोएवस्की के जुर्म और सजा, कारावास, वासना, महामूर्ख; पुश्किन का कप्तान की बेटी, गोर्की की तीन पीढ़ी, टॉलस्टाय के प्रेम या वासना और हुस्सार, चेख़व का संघर्ष, वाल्ज़ाक के क्या वह पागल था, पेरिस का कुबड़ा; मोपासां का एक औरत की ज़िन्दगी, डिकेन्स का दो शहरों की दास्तान, स्टीफन ज्विग का बुजदिल, कामू का प्लेग, मुल्कराज आनंद के वापसी और गाँव, आस्कर वाइल्ड का डेरियन ग्रे की तस्वीर, राबर्ट बेन का मुगलेआज़म, बर्नाड शॉ के नाटक डॉक्टर की उलझन, मिसेज वारेन का पेशा, शैतान, काँच के खिलौने और मैक्सिम गोर्की का 'व्यक्तित्व का विघटन' प्रमुख हैं।

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय

❑ नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के एक गंभीर अध्येता थे और आधुनिक काल के एक सृजनशील भारतीय दार्शनिक के रूप में उन्होंने अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की थी। उनकी दार्शनिक जिज्ञासा की बुनियादी शक्ति मार्क्सवादी प्रेरणा थी, जिसके कारण उन्होंने भारतीय दर्शन के इतिहास में मनोवाद और भौतिकवाद के आपसी द्वंद्व की यथार्थ प्रकृति को उद्‌घाटित किया। वे मानते थे कि जिस प्रकार यूनान में तत्त्वमीमांसा शब्द के मूल अर्थ का लोप हो गया और उसको आयोनियाई भौतिकवादियों के सुकरातपूर्व प्रकृतिवाद के विरोध में अमूर्त काल्पनिक चिंतन से जोड़ दिया गया, उसी प्रकार अधिकांश भारतीय दार्शनिक प्रणालियों ने अपने परिष्कृत रूपों में अपनी मूल भौतिकवादी अंतर्वस्तु से नाता तोड़ लिया और भौतिक जगत् से परे किसी काल्पनिक यथार्थ के अन्वेषण जैसे असंभव काम को अपना उद्देश्य बना लिया। इसलिए उन्होंने भारत की लोक-परंपरा और वैज्ञानिक परंपरा, दोनों में भौतिकवाद के ऐतिहासिक मूल्यों की खोज की जरूरत महसूस की। उन्होंने इसका पता लगाने की आवश्यकता भी महसूस की कि किस प्रकार शताब्दियों के दौरान अभिजात वर्गों द्वारा प्रचारित भ्रांतिपूर्ण विश्वदृष्टि के तकाजे पूरे करने के लिए परिष्कृत धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथों में इन परंपराओं को ऐसा विचारवादी रंग दे दिया गया कि वे पहचान के काबिल भी नहीं रहीं।

यही प्रो. चट्टोपाध्याय की आजीवन जिज्ञासा थी जिसके कारण वे एक विषय से दूसरे विषय की ओर उन्मुख होते रहे। उनका विश्वास था कि धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथों की अपने-आप में तब तक कोई उपयोगिता नहीं होती जब तक उनकी विषय-वस्तु को इतिहास और विज्ञान के परिणामों के संदर्भ में न रखा जाए। उनको एक ऐसी पद्धति की तलाश थी जिसकी सहायता से खंड-खंड बिखरे साक्ष्यों से आद्य-भौतिकवाद का चित्र तैयार करना ही संभव न हो, बल्कि समूचे आदिम जीवन को सामाजिक विकास के विभिन्न असमान चरणों में रह रहे मनुष्यों की उत्पादक गतिविधियों से

प्रत्यक्ष रूप से जोड़कर भी समझा जा सके। उनको ऐसी पद्धति का पता जार्ज टॉमसन के लेखन से चला। टॉमसन ने प्राचीन यूनानी साहित्य और दर्शन की व्याख्या के लिए मार्क्सवाद के बुनियादी सिद्धांतों का प्रयोग किया था, जो चट्टोपाध्याय को भारतीय स्थिति के विश्लेषण और व्याख्या के लिए भी सबसे कारगर लगा। इस पद्धति का उपयोग करते हुए उन्होंने तर्क दिया कि वैदिक विश्वदृष्टि अंततः जिस मनोवादी तामझाम से जुड़ गई, उसके बावजूद उसका आधारभूत तत्त्व एक प्रकार का आदिम आद्य-भौतिकवाद था जो अध्यात्मवाद से पूर्व की चेतना के चरण का सूचक था।

इस आद्य-भौतिकवाद को प्रो. चट्टोपाध्याय ने लोकायत नाम दिया। यही उनकी प्रमुख कृति का शीर्षक भी था। इस कृति का मूल बंगला संस्करण 1955 में प्रकाशित हुआ था। उसका अंग्रेजी अनुवाद 1959 में प्रकाशित हुआ और उसके बाद वह अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में अनूदित हुई। व्युत्पत्ति की दृष्टि से लोकायत का अर्थ है ''वह जो लोक में आयत (व्याप्त) हो'' और साथ ही 'वह जो मूलतः इहलौकिक हो।'' देवीप्रसाद के अनुसार लोकायत संबंधी प्राचीनतम उपलब्ध साक्ष्य बिल्कुल खंडित है और अक्सर मिथकीय कल्पनाओं में गुँथे हुए हैं। फिर भी, इनमें से कुछ का सावधानी से परीक्षण किया जाए तो कर्मकांडी आचारों की समष्टि से जुड़ी हुई आद्य-भौतिकवादी लोकदृष्टि के आदिम स्वरूप का एक धुँधला-सा चित्र अवश्य प्राप्त होता है। देहवाद इस विश्वदृष्टि की सबसे स्पष्ट विशेषता लगता है। इसका अर्थ यही है कि मानव की भौतिक काया ही ब्रह्मांड का संक्षिप्त रूप है।

देवीप्रसाद के अनुसार रहस्यमय अनुष्ठानों से जुड़े आद्य-भौतिकवाद का आदिम स्वरूप ही आगे चलकर तंत्रविद्या के अधिक प्रचलित नाम से जाना जाने लगा, भले ही यह बात स्वयं तंत्रविद्या के बारे में प्रचलित लोकव्यापी धारणाओं की विरोधी लगे। भारत के पूरे सांस्कृतिक इतिहास में तांत्रिक आचार-विचारों के विशेषकर इतने लंबे समय तक जीवित रहने का कारण सामाजिक वास्तविकता में उन भौतिक स्थितियों का बचे रहना है, जिनसे ये उत्पन्न हुए। आदिम या कबीलाई समाज के अवशेष हमेशा से ही भारत के सामाजिक ढाँचे की एक प्रमुख विशेषता रहे हैं। देवीप्रसाद ने इसे अपूर्ण वि-आदिवासीकरण (डिट्राइबलाइजेशन) का नाम दिया और इसे जनता की उपसांस्कृतिक संरचना, ग्राम-समुदाय, जाति-संगठन, परंपरागत विधानों, मातृसत्ता या स्त्रियों की मूल सामाजिक श्रेष्ठता और उस पर जबरन लादी गई पितृसत्ता के हवाले देकर स्पष्ट किया।

देहवाद और उससे जुड़े रहस्यमय अनुष्ठानों का भौतिक आधार अंततः क्या रहा होगा और जीवन-निर्वाह के भौतिक साधनों की प्राप्ति की पद्धति से किस प्रकार उनका संबंध स्थापित किया जा सकता है, इसका पता लगाने के लिए देवीप्रसाद ने आदिम कृषकों के प्रजनन संबंधी जादू-टोने में तंत्रविद्या का उद्‌गम ढूँढ़ने के प्रयास किए। उन्होंने यह तर्क दिया कि सांख्य दर्शन मूलतः उस आदिम आद्य-भौतिकवाद

का विकास था जो तंत्रविद्या का मूलाधार था। पृथ्वी की स्त्री से और प्राकृतिक उत्पत्ति की मानव-प्रजनन से पारंपरिक पहचान, जो कृषकों के अनेक विश्वासों और कर्मकांडों का मूल है, इस तथ्य के संकेत देती है कि प्रकृति के रहस्यों को मानव-काया के रहस्यों के द्वारा समझा जा सकता है और यह कि यह ब्रह्मांड की उत्पत्ति के समान या उससे मिलती-जुलती प्रक्रिया का परिणाम है। इस विचार-प्रणाली में ऐसी किसी बात के लिए कोई स्थान नहीं होता जो, ईश्वर, आत्मा और परलोक को प्राथमिकता देती हो। इस आद्य-भौतिकवादी तांत्रिक परंपरा का मूल चूँकि कृषि-संबंधी शारीरिक श्रम में था, इसलिए इसमें परवर्ती भारतीय विज्ञान और विशेष रूप से शरीर क्रिया विज्ञान तथा रसायन विद्या की संभावनाएँ भी मौजूद थीं। वैदिक ग्रंथों के आधार पर देवीप्रसाद ने यह तर्क भी दिया कि मानव-चेतना में मनोवादी दृष्टि के उदय के लिए कर्म से चिंतन का और शारीरिक श्रम से मानसिक श्रम का अलगाव तथा सामाजिक रूप से शारीरिक श्रम के प्रति तिरस्कार-भाव का जुड़ना आवश्यक था।

देवीप्रसाद की दूसरी प्रमुख रचना इंडियन फिलासफी : ए पॉपुलर इंट्रोडक्शन (1964) है, जो लोकायत में प्रस्तुत दृष्टिकोण को और आगे बढ़ाती है। आधुनिक युग की दार्शनिक आवश्यकताओं की चेतना के साथ लिखे गए इस ग्रंथ में देवीप्रसाद ने आवश्यक आलोचनात्मक और चयनमूलक दृष्टिकोण अपनाया है। जिन विचारों और सिद्धान्तों को उन्होंने आज की दार्शनिक आवश्यकताओं के प्रतिकूल समझा है, उन्हें उन्होंने आलोचनात्मक ढंग से खारिज किया है और जिनका कुछ महत्त्व शेष है उनको रेखांकित और उजागर किया है। उनके विचार में एक समय था जब अतीत की अंध उपासना हमारे स्वतंत्रता संघर्ष और देशहित का एक कारगर साधन थी। तिलक और दूसरों की रचनाओं में पारंपरिक दर्शन का जो उग्र समर्थन हम पाते हैं, उसने हमें सचमुच "एक प्रकार का उत्साह" प्रदान किया, भले ही स्वयं उस दर्शन की अपनी उपयोगिता कुछ भी रही हो। बहरहाल, तब कोई भी देशभक्त गीता को हाथ में लेकर सधे हुए कदमों से फाँसी के तख्ते तक भी चला जाता था। लेकिन राजनीतिक स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद स्थिति पूरी तरह बदल चुकी है। देवीप्रसाद के विचार में सामंतवाद सामंती विचारों के रूप में अभी भी हमारी चेतना में विराजमान है और निश्चय ही इनमें कुछ युगों पुराने दार्शनिक विचार भी शामिल हैं। वे कहते हैं कि प्रतिक्रियावादी विचारों से संघर्ष करने के अस्त्र हमें अपनी सांस्कृतिक धरोहर में ही मिलेंगे, "कारण कि हमारे पारंपरिक दार्शनिकों में वे लोग भी थे जिन्होंने उन वैचारिक प्रवृत्तियों को कड़ी चुनौती दी जिनके विरोध की पैरवी आज हम विज्ञान और प्रगति के हित में करते हैं।"

यहीं से हम उनकी तीसरी रचना 'इंडियन एंथीज्म : ए मार्क्सिस्ट एनैलिसिस' (1986) पर पहुँचते हैं। आज भारत में मार्क्सवाद के विरोध में जो प्रचार किया जाता है उसमें इस प्रचार से बढ़कर कुछ भी नहीं है कि मार्क्सवाद एक प्रकार का शुद्ध अनीश्वरवाद है और इसलिए यह हमारी उस राष्ट्रीय धरोहर के विनाश का कारण

बनेगा जो प्रचारकों के अनुसार ईश्वर को सर्वोच्च सत्ता मानती है। देवीप्रसाद इन प्रचारकों के सामने एक आसान-सा सवाल रखते हैं। नास्तिकता के आधार पर मार्क्सवाद को खारिज करने की माँग करने से पहले क्या उन्होंने हमारे दार्शनिकों की वास्तविक रचनाओं को पढ़ने का कष्ट उठाया है? अथवा यह कि क्या वे इन तमाम रचनाओं को इसलिए नष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय ज्ञान-विज्ञान के मूलतः ईश्वरमुखी होने की कपोलकल्पना की रक्षा कर सकें—उस कपोलकल्पना की जिसके सहारे वे भारत में मार्क्सवाद के प्रसार को रोकना चाहते हैं? देवीप्रसाद के विचार में परंपरागत भारतीय मनीषियों के बीच ईश्वर के निषेध पर ही सर्वाधिक स्पष्ट सहमति है। ये प्रमुख मनीषी भारतीय दर्शन प्रणालियों के विश्वसनीय प्रतिपादक थे और तथ्य यह है कि उनमें एक बहुत बड़ा भाग कट्टर नास्तिकों का था।

'व्हाट इज लिविंग ॲण्ड व्हाट इज डेड इन इंडियन फिलॉसफी' (1976) में प्रो. चट्टोपाध्याय ने धर्मनिरपेक्षता, बुद्धिवाद और वैज्ञानिक प्रवृत्ति के विरोधी विचारों और दृष्टिकोणों को अतीत के ऐसे बोझ माना है, जो प्राचीन काल और मध्यकाल की तरह आज की भारत की प्रगति में बाधा डालना चाहते हैं। उनके वास्तविक सामाजिक कार्य को निर्ममता से उद्घाटित करते हुए वे जोर देकर कहते हैं कि इन प्रतिक्रियावादी विचारों से आज मुख्यतः भारतीय मुहावरे में ही लड़ा जा सकता है, कारण कि सत्यान्वेषी भारतीय विचारकों ने बाद की पीढ़ियों के लिए केवल प्रवंचनाएँ और झूठ के सूत्र ही नहीं छोड़े हैं। उनमें ऐसे विचारक भी थे जो अपने ढंग से उन्हीं वैचारिक शक्तियों से लड़ते रहे, हालाँकि उन्होंने यह लड़ाई ऐतिहासिक रूप से अपरिहार्य सीमाओं के अंदर लड़ी। इस प्रकार परंपरागत भारतीय चिंतन के कोश में बहुत-कुछ ऐसा है जो हमारी समकालीन दार्शनिक आवश्यकताओं के लिए जीवंत महत्त्व रखता है। उन्होंने इसको खोजा, पहचाना और साक्ष्यों के साथ प्रस्तुत किया। देवीप्रसाद के अनुसार, आज के कड़े राजनीतिक संघर्ष में भारतीय दर्शन के उपयोग के प्रयास भी किए जा रहे हैं, और ऐसे चिंताजनक दिनों में भारतीय दर्शन में क्या जीवंत है और क्या मृत, इसके विश्लेषण को अधिक सावधानी के साथ और प्राथमिकता के स्तर पर हाथ में लिये जाने की जरूरत है।

इस प्रकार देवीप्रसाद ने भारतीय दर्शन में बुद्धिवाद, भौतिकवाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की एक समानांतर परंपरा ढूँढ़ निकाली। इसके लिए उन्होंने भारी परिमाण में ग्रंथों में उपलब्ध शुष्क तथ्यों का विश्लेषण आश्चर्यजनक सुबोधता, लेकिन तीक्ष्ण विश्वासोत्पादक तर्कपद्धति का प्रयोग करते हुए किया। लेकिन जो प्रश्न उनको परेशान कर रहा था वह यह था कि यह समानांतर परंपरा अपने अस्तित्व के भारी साक्ष्यों के बावजूद क्यों प्रमुखता नहीं प्राप्त कर सकी और युगों तक एक दमित विश्वदृष्टि क्यों बनी रही। उन्होंने इस प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश 'साइंस ॲण्ड सोसाइटी इन अंशिअंट इंडिया' (1977) में की है। इसमें वे कहते हैं कि प्राचीन भारत में प्रत्यक्षवादी विज्ञान का आरंभ जिस गंभीर संभावना के साथ हुआ, अंततः उसे एक

श्रेणीबद्ध समाज की वैचारिक आवश्यकताओं ने समाप्त कर दिया। श्रेणी-विन्यास से जुड़ी आकांक्षाएँ लगभग हर उस वस्तु को खतरा समझती थीं जो विज्ञान को संभव बनाती—इहलौकिकता, अनुभवाश्रित तथ्यों का बुद्धिसंगत अभिसंस्कार और प्रकृति के नियमों की अबाध खोज। भारतीय चिकित्सा विज्ञान के इतिहास के संदर्भ में वे कहते हैं कि उसने जादू और धर्म पर आधारित चिकित्सा से बुद्धिसंगत चिकित्सा प्रणाली की दशा में एक बड़ा कदम उठाया और ऐसी अनेक सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रस्थापनाएँ सामने रखीं जिनमें से कुछ तो आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक विज्ञान की दहलीज तक आ पहुँची हैं। लेकिन यह प्रगति जोखिम-भरी साबित हुई। इन प्रस्थापनाओं को बल पहुँचाने के लिए रहस्यवाद, कर्मकांड और धर्म के आवरण को नष्ट करना आवश्यक था, जिनको पुरोहितों के शक्तिशाली संगठनों तथा विधिनिर्माताओं ने भी निहित स्वार्थों को वैध ठहराने के लिए पवित्र घोषित कर रखा था। इसी कारण 1000 वर्षों से अधिक समय तक लगातार इन प्रस्थापनाओं की निंदा की जाती रही। इन दबावों के कारण हमारे वैज्ञानिकों ने अपनी वैज्ञानिक कृतियों पर रूढ़िवाद का आवरण चढ़ाकर विधिनिर्माताओं की निंदा से बचने की कोशिश की। यही कारण है कि इन कृतियों में बौद्धिक कचरे के ढेर जमा हो गये।

प्रो. चट्टोपाध्याय की अंतिम महान् रचना 'हिस्टरी ऑफ साइंस ॲण्ड टेक्नोलॉजी इन अंशिअंट इंडिया' (2 खंडों में, 1986, 1991) उनकी लोकायत से प्रारंभ हुई यात्रा का अंतिम बिंदु थी। प्रथम खंड का प्रमुख विषय प्रथम नगरीकरण के काल में, जिसकी विशेषता हड़प्पा सभ्यता थी, विज्ञान का आरंभ है। यह खंड कालक्रम-निर्धारण, नगरीकरण की प्रगति तथा मृद्‌भांड, यातायात, वस्त्रनिर्माण, धातुकर्म और संबद्ध कलाओं और शिल्पों में हुई प्रौद्योगिकीय प्रगति के विशेष संदर्भ में मगध साम्राज्य के उदय तक के काल की विवेचना करता है। देवीप्रसाद के विचार में प्रथम नगरीकरण के काल में विज्ञान का आरंभ केवल गणित और खगोलविद्या के सीमित अर्थ में ही हुआ और ''प्रकृति विज्ञान या प्रकृति के ज्ञान की संभावनाओं की उपेक्षा हुई क्योंकि यह किसी बाहरी तत्त्व से या प्रकृति के अधिष्ठाता समझे जाने वाले देवी-देवताओं से रहित होता है।'' दूसरा खंड इस प्रश्न से आरंभ होता है : पहले नगरीकरण के दौरान इस अर्थ में प्रकृति-विज्ञान क्यों संभव नहीं हुआ? इसका उत्तर प्राचीनतम नगरों के प्रशासनिक ढाँचे में ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है, जिसे बहुत बड़े पैमाने पर गणित और खगोलविद्या की उसी प्रकार जरूरत थी जिस प्रकार अंधविश्वासों की। लेकिन आठवीं या सातवीं शताब्दी ई. पू. के आसपास भारतीय इतिहास दूसरे नगरीकरण की दिशा में एक नाटकीय मोड़ लेने लगा। इस दूसरे नगरीकरण का प्रशासनिक ढाँचा अलग था और इसलिए उसका बौद्धिक परिवेश भी अलग था, जिसमें प्रकृति के प्रति एक लौकिक दृष्टिकोण के विकास की संभावना थी। एक गंभीर बौद्धिक उथल-पुथल जारी थी और विचारक प्रकृति को समझने के लिए विभिन्न वैकल्पिक मार्गों की तलाश में थे। इस प्रकार एक उत्तम वैज्ञानिक पद्धति

लेकर पहला वैज्ञानिक सामने आया। यही पद्धति थी जिसने जादू और धर्म पर आधारित चिकित्सा की जगह बुद्धिसंगत चिकित्सा पद्धति की दिश में एक क्रांतिकारी प्रगति का रास्ता तैयार किया। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में इस स्थिति ने परमाणुवाद की परिकल्पना को जन्म दिया। देवीप्रसाद राष्ट्रीय वैज्ञानिक-प्रौद्योगिकी और विकास अध्ययन संस्थान/वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् द्वारा प्रायोजित इसी ''विज्ञान का इतिहास'' शृंखला के शेष खंडों के लिए कार्यरत थे जब उनकी आकस्मिक मृत्यु ने उन्हें हमसे छीन लिया।

देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय का जन्म 1918 में हुआ था। 1941 में उन्होंने दर्शन में परास्नातक परीक्षा प्रथम श्रेणी में और प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। उन्होंने, प्रो. ॲस. ॲन. दासगुप्त के मार्गदर्शन में शोधकार्य किया तथा बंबई और कलकत्ता के विभिन्न महाविद्यालयों में अध्यापन कार्य किया। वे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के एक सक्रिय सदस्य थे और अपने आरंभिक दिनों में उन्होंने जनता और खासकर नए मार्क्सवादियों के लिए लेखन कार्य किया। उनकी लोकप्रिय पुस्तकें और खासकर बंगला में रचित पुस्तकें अनेक विषयों को समेटती हैं। उन्होंने नौजवानों के लिए बंगला में ज्ञानबार कथा लिखी। उन्हीं के लिए उन्होंने रामकृष्ण मैत्र के साथ मिलकर पृथ्वी-इतिहास भी लिखी। उन्होंने विदेशी वामपंथी बुद्धिजीवियों की पुस्तकों और लेखों का बंगला अनुवाद भी किया। उक्त कृतियों के अलावा उन्होंने लामा तारानाथ की एक पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद 'हिस्टरी ऑफ बुद्धिज्म इन इंडिया' का संपादन किया; यह अनुवाद लामा चिंपा और अलका चट्टोपाध्याय का किया हुआ था। उन्होंने मूलतः रमेश चंद्र द्वारा ऋग्वेद के बंगला अनुवाद का, भारतीय दर्शन के इतिहास पर उच्च कोटि के लेखों के चयन पर भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् की परियोजना का, और (मृणालकांति गंगोपाध्याय के सहयोग से पाँच खंडों में) वात्स्यायन के भाष्य समेत गौतमकृत न्यायसूत्र का भी संपादन किया। उन्होंने 1959 से इंडियन स्टडीज पॉस्ट ॲण्ड प्रेजेंट नामक एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन भी किया।

देवीप्रसाद को कलकत्ता विश्वविद्यालय ने डी. लिट्. की उपाधि दी तथा विज्ञान अकादमी, मास्को से उन्हें, डी. ॲस.सी. की मानक उपाधि प्राप्त हुई। उन्हें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से एक पुरस्कार तथा सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार भी प्राप्त हुए। उन्हें जर्मन विज्ञान, अकादमी, बर्लिन का अकादमिशियन, विश्व दर्शन कांग्रेस, वर्ना (1973) का उपाध्यक्ष, और विश्व संस्कृत सम्मेलन, वाइगर (1979) का अध्यक्ष भी चुना गया। भारत और विदेशों में बड़े पैमाने पर व्याख्यान देने के अलावा वे कलकत्ता विश्वविद्यालय, आंध्र विश्वविद्यालय और पुणे विश्वविद्यालय में विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। वे भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् से घनिष्ठ रूप से जुड़े थे।

(भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् नई दिल्ली की शोधपत्रिका 'इतिहास' के जनवरी-दिसंबर 1994 के अंक से उद्धृत)

अॅ. बी. शाह

❑ **डॉ. रमेन्द्र**

प्रो, अॅ. बी. शाह (1920-1981) इंडियन सेक्यूलर सोसाइटी के संस्थापक-अध्यक्ष थे। यह भारतीय समाज में धर्मनिरपेक्ष मानवतावादी मूल्यों को प्रोत्साहन देने वाली एक गैर-राजनीतिक संस्था है। वैसे तो बीसवीं सदी में भारत में कई बुद्धिवादी, मानवतावादी, निरीश्वरवादी और धर्मनिरपेक्षतावादी हुए हैं, लेकिन ए.बी. शाह सम्भवतः एकमात्र ऐसे प्रमुख मानवतावादी और निरीश्वरवादी हैं, जिन्होंने भारतीय मुसलमानों की समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया है। ए. बी. शाह की रचनाओं में व्हाट एल्स ऑवर मुस्लिम्स (भारतीय मुसलमानों का कष्ट क्या है?) शामिल है।

अॅ. बी. शाह का जन्म गुजरात के एक दिगम्बर जैन परिवार में हुआ था। परिणामस्वरूप वह बचपन से ही नास्तिक थे। (जैन परम्परा निरीश्वरवादी है।) फिर भी, कॉलेज जाने से पहले, 17 वर्ष की आयु तक वे विश्वास करने वाले और कुछ हद तक व्यवहार करने वाले जैन थे। अर्न्स्ट हैकल की 'द रिडल ऑफ द यूनिवर्स' और हाइमैन लेवी की 'द यूनिवर्स ऑफ सायंस' किताबों को पढ़ने के बाद शाह यह मानने लगे कि न सिर्फ ईश्वर बल्कि आत्मा का भी कोई अस्तित्व नहीं है। (जैन धर्म में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है)। शाह पर अॅम. अॅन. रॉय के विचारों का भी प्रभाव पड़ा। इसके अलावा, उन्होंने बर्ट्रेन्ड रसेल, मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन की रचनाओं का भी अध्ययन किया।

1947 के बाद से शाह अपने को एक विवेकशील नास्तिक मानते थे। उन्हें जीवन की कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी धर्म की सांत्वना की जरूरत नहीं पड़ी।

प्रो. शाह का शैक्षणिक जीवन मुख्यतः महाराष्ट्र के पुणे शहर में बीता। धर्म के गम्भीर अध्ययन में उनकी रुचि 1964 से शुरू हुई। शाह के अनुसार, मनुष्य पूरी तरह से मानव तभी हो सकता है जब वह धर्मों के सहारे को छोड़कर अपने पैरों पर खड़ा हो जाए। उनका यह मानना था कि धर्म समाज के विकास और

आधुनिकीकरण के रास्ते में एक बाधा है। उनकी यह राय थी कि हिन्दू व्यक्तित्व तब तक समकालीन विश्व की समस्याओं से नहीं निबट सकता है, जब तक कि वह अपने अतिशय आत्मप्रेम से छुटकारा न पा ले।

इस्लामी संस्कृमि में शाह की रुचि 1967 में हमीद दलवई (1930-1977) के सम्पर्क में आने के बाद शुरू हुई। नवम्बर, 1968 में शाह ने इंडियन सेक्युलर सोसाइटी की स्थापना की। इससे पहले अॅ. बी. शाह और हमीद दलवई ने 2 वर्षों तक धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में जनमत बनाने का प्रयत्न किया। हमीद दलवई की किताब 'मुस्लिम पॉलिटिक्स इन इंडिया' (धर्मनिरपेक्ष भारत में मुस्लिम राजनीति) का विमोचन इंडियन सेक्युलर सोसाइटी के स्थापना सम्मेलन में किया गया। सम्मेलन की अध्यक्षता प्रो. जी. डी. पारीख ने की थी, जो अॅम. अॅन. रॉय के निकट सहयोगी और यूनिवर्सिटी ऑफ बॉम्बे के पूर्व रेक्टर थे।

बाद में इंडियन सेक्युलर सोसाइटी के सहयोग से 1970 में मुस्लिम सत्यशोधक मंडल की स्थापना की गयी। हमीद दलवई और अॅ. बी. शाह के नेतृत्व में इस संगठन ने ऐसे धर्मनिरपेक्ष मुसलमानों को मंच प्रदान किया जो मुस्लिम समाज में सुधार लाने में और उसके आधुनिकीकरण में रुचि रखते थे। इस संगठन की स्थापना के अवसर पर बोलते हुए हमीद दलवई ने स्पष्ट तौर से कहा कि समाज-सुधार का कोई भी प्रयत्न बुद्धि और ज्ञान पर आधारित होना चाहिए। धर्म के आधार पर समाज में सुधार लाने का परिणाम उल्टा होगा; इससे धार्मिक रूढ़िवादियों को ही ताकत मिलेगी। धर्म को पूरी तौर से व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित कर दिया जाना चाहिए।

इंडियन सेक्युलर सोसाइटी और मुस्लिम सत्यशोधक मंडल द्वारा 1971 में दिल्ली में प्रगतिशील मुसलमानों के सम्मेलन और पुणे में मुसलमान महिलाओं के सम्मेलन का आयोजन किया गया। इन सम्मेलनों में अन्य बातों के अलावा समान नागरिक संहिता, परिवार नियोजन और मुस्लिम लड़के-लड़कियों को उदार, वैज्ञानिक शिक्षा दिए जाने के पक्ष में प्रस्ताव पारित किए गए।

शाह यह मानते थे कि आधुनिकीकरण के मामले में मुस्लिम समाज ईसाई और हिन्दू समाज की तुलना में पिछड़ गया है। वैसे तो आधुनिकता को अपनाने का प्रश्न सारे विश्व के मुसलमानों के लिए है, लेकिन शाह के अनुसार, भारतीय मुसलमानों के लिए यह जरूरी है, क्योंकि वे एक धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र में रह रहे हैं। शाह के अनुसार, भारत के मुसलमानों को ऐसे रेडिकल, उदार और आधुनिक सुधारकों की जरूरत है, जिनमें बुद्धि और ज्ञान के प्रकाश में सम्पूर्ण इस्लामी विरासत की कठोरतापूर्वक जाँच करने का साहस हो।

इस तरह, शाह के अनुसार, भारतीय मुसलमानों को एक मानवतावादी नवजागरण की जरूरत है। शाह की राय में हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक समस्या का समाधान राम-रहीम दृष्टिकोण द्वारा नहीं हो सकता है, जिसकी वकालत गाँधी करते थे। हिन्दू

अगर 'अच्छा हिन्दू' और मुसलमान अगर 'अच्छा मुसलमान' बन जाए तो इससे साम्प्रदायिक समस्या का समाधान नहीं होगा, क्योंकि साम्प्रदायिकता की जड़ें परम्परागत धर्मों में मौजूद हैं। दरअसल, धर्म इन्सान और इन्सान को एक-दूसरे से अलग कर देता है। शाह के अनुसार भारतीय समाज का तीव्र आधुनिकीकरण ही साम्प्रदायिकता की समस्या का एकमात्र समाधान है।

ऐसा नहीं है कि शाह ने सिर्फ इस्लामी रूढ़िवादिता की आलोचना की है। जैसा कि पहले जिक्र किया गया है, शाह ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। उनके अनुसार धर्म समाज के विकास में बाधक है। उन्होंने हिन्दू वर्ण-व्यवस्था और मनुस्मृति की भी कड़ी आलोचना की है। वे 1972 में मनुस्मृति के जलाने के कार्यक्रम में भी शामिल हुए। शाह को अपने जीवन काल में हिन्दू और मुस्लिम दोनों धर्मों के रूढ़िवादियों के आक्रोश का सामना करना पड़ा। शाह 1981 में अपनी मृत्यु तक इंडियन सेक्युलर सोसायटी की पत्रिका 'द सेक्युलरिस्ट' के सम्पादक थे। इसके अलावा, शाह इंस्टिट्यूट फॉर द स्टडी ऑफ इंडियन ट्रैडिशन्स के निदेशक और इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ एडुकेशन के मानक प्रोफेसर भी थे। इन दोनों संस्थाओं और इंडियन सेक्युलर सोसाइटी का मुख्यालय महाराष्ट्र के पुणे शहर में था।[1]

शाह की मुख्य रचनाएँ इस प्रकार हैं : सायंटिफिक मैथड, रिलीजन ॲण्ड सोसायटी इन इंडिया, व्हाट एल्स ऑवर मुस्लिम्स? चैलेन्जेस टु सेक्युलरिज्म और प्लानिंग फॉर डेमोक्रेसि ॲण्ड अदर एसेज। इसके अलावा, शाह ने जयप्रकाश नारायण द्वारा 1975 के इमरजेन्सी के दौरान लिखी प्रिजन डायरी का भी सम्पादन किया।

सन्दर्भ

1. इस समय इंडियन सेक्युलर सोसायटी का मुख्यालय मुम्बई में है।

शिबनरायन रे

बंगाल के प्रसिद्ध विचारक, शिक्षाविद्, दार्शनिक व 20वीं सदी भारत के साहित्यिक समालोचक व उग्र मानववादी और मार्क्सवादी-क्रान्तिकारी तथा मानवेन्द्र नाथ रॉय पर कई पुस्तकें लिखने वाले शिबनरायन रे के बारे में एक बार बर्ट्रेंड रसेल ने टिप्पणी की थी कि उनका दृष्टिकोण दुनिया के किसी भी समकालीन लेखक के दृष्टिकोण से ज्यादा तर्कपूर्ण है।

रे का जन्म 20 जनवरी, 1921 ई. को कोलकाता में पिता, प्रो. उपेन्द्र नाथ विद्याभूषण शास्त्री व माँ, कवयित्री राजकुमारी रॉय से हुआ था। उनके पिता ने स्वयं संस्कृत और अंग्रेजी में 50 पुस्तकें लिखी थीं। माँ भी पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर लिखा करती थीं। कोई आश्चर्य नहीं कि शिबनरायन ने 20 वर्ष का होने से पहले ही लिखना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने कोलकाता विश्वविद्यालय से अंग्रेजी भाषा व साहित्य में बी. ए. पास किया और सिद्धि कॉलेज, कोलकाता में प्रवक्ता नियुक्त हो गये, जहाँ वे 15 सालों तक इस पद पर रहे। इसी बीच उन्होंने गीता रे से शादी कर ली। बाद में वे मेलबर्न विश्वविद्यालय में भारतीय अध्ययन विभाग के विभागाध्यक्ष हो गये। उसके बाद वे लन्दन विश्वविद्यालय, शिकागो विश्वविद्यालय तथा फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, नीदरलैंड, डेनमार्क, स्वीट्जरलैंड, हंगरी, फ्रैंकफर्ट तथा स्टैनफर्ड के विश्वविद्यालयों में विज़िटिंग प्रोफेसर रहे। वे विश्वभारती विश्वविद्यालय में रवीन्द्र भवन के निदेशक (1981-1983) भी रहे। वे इण्डियन रिनेसाँ इन्स्टीट्यूट (1960-1969) के कार्यकारी सचिव भी रहे। फरवरी 26, 2008 ई. को शान्ति निकेतन में उनका देहान्त हो गया। जैसा कि उनकी इच्छा थी, उनका मृत शरीर छात्रों के अध्ययन के लिए मेडिकल कॉलेज को दे दिया गया।

रे युवा अवस्था में ही साम्यवाद से प्रभावित हो गये थे। रूस में स्टालिन की साम्यवादी सरकार के अत्याचारों के विरुद्ध होकर रे ने अपने विचारों में परिवर्तन किया और इन्हीं परिवर्तित विचारों को बाद में उग्र मानववाद का नाम दिया गया। इस रेडिकल मानववाद के मूल विचारक ॲम. ॲन. रॉय थे और वे अपने इन विचारों

पर शिबनरायन सहित कई कामरेडों से विचार-विमर्श किया करते थे। बाद में सन् 1948 ई. में ॲम. ॲन. रॉय ने अपना मानववादी आन्दोलन प्रारम्भ किया तो शिबनरायन उनके साथ थे। उग्र मानववादियों का कहना था कि धर्म और पार्टीबन्दी तथा अन्धविश्वास और ईश्वरवाद मनुष्य की तर्कबुद्धि को गुलाम बनाकर उसकी स्वतंत्र व स्वाभाविक-चिन्तन शक्ति को बाधित करते हैं। फिर वह आपने आचरण में भी गुलाम बन जाता है। अतः उग्र मानववादी मनुष्य को किसी एक धर्म, किसी एक विचारधारा, किसी एक राजनीति, किसी एक ईश्वर व किसी भी विश्वास मात्र से बँधने से रोकना चाहते थे। वे साम्यवाद के विरुद्ध नहीं थे पर आदमी को उसका गुलाम बनते भी नहीं देखना चाहते थे। इस दिशा में शिबनरायन का लेखन विश्व स्तर का माना जाता है।

सन् 1980 ई. में मेलबर्न में रहते हुए शिबनरायन रे ने कोलकाता से बंगला भाषा में एक पत्रिका निकालनी प्रारम्भ की। नाम था 'जिज्ञासा'। पत्रिका शीघ्र ही साहित्य, इतिहास, संस्कृति और दर्शन का मुखपत्र बन गई और बंगाल भर में बुद्धिजीवियों द्वारा पढ़ी जाने लगी। शिबनरायन ने ॲम. ॲन. रॉय के साहित्य को चार पुस्तक खण्डों में प्रकाशित किया है। मृत्यु के समय वे ॲम. ॲन. रॉय की जीवनी लिख रहे थे।

रे ने अपने जीवन के प्रारम्भ में कविताएँ भी लिखी थीं जो कविता-संग्रह के रूप में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके कुल प्रकाशनों की संख्या 50 से अधिक है। प्रमुख प्रकाशन निम्न हैं—

- प्रेक्षिता (इसका विषय है आधुनिक अंग्रेजी साहित्य का पतन)
- मौमाची तंत्र
- साहित्य चिंता, 1956
- कोथार-तोमार मन (कविता)
- ॲम. ॲन. रॉय दार्शनिक-क्रान्तिकारी, 1959.
- नायकेर मृत्यु, 1960
- प्रवासेर जर्नल
- रेडिकलिज़्म
- आई हैव सीन बंगाल्स फेस, 1973
- गाँधी, इण्डिया ॲण्ड द वर्ल्ड
- कबिर निर्वासन ओ अनन्य भावना, 1973
- इन क्वेस्ट ऑफ फ्रीडम-ए स्टडी ऑफ द लाइफ ॲण्ड वर्क्स ऑफ ॲम. ॲन. रॉय
- बिटविन रिनेसाँ ॲण्ड रिवोल्यूशन (लेख)
- फ्राम द ब्रोकेन नेस्ट टु विश्व भारती

- ए न्यू रिनेसाँ
- स्वदेश, स्वकाल, स्वजन, 1996
- सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ ॲम. ॲन. रॉय (4 खंड)
- बंगाल रिनेसाँ : 8 द फर्स्ट फेज़
- द यूनिवर्सिटी ऑफ मैन : द मेसेज ऑफ रोम्या रोब्लाँ
- वियतनाम सीन फ्राम ईस्ट ॲण्ड वेस्ट
- इन मैन्स ओन इमेज (सहलेखिका एलेन रॉय)

सम्मान

- रेजिना गुहा गोल्ड मेडल कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1942
- बर्ट्रेंड रसेल की प्रशंसा : "शिबनरायन का दृष्टिकोण दुनिया के किसी भी समकालीन लेखक के दृष्टिकोण से ज्यादा तर्कपूर्ण है।''
- कवि एडिथ सिटवेल की प्रशंसा : ''यह मेरी निश्चित धारणा है कि शिबनरायन रे हमारे समय के सर्वश्रेष्ठ आलोचकों में से हैं। उनके लिखे पृष्ठों से सर्वथा सौंदर्य, अर्थ व जीवन के लिए ऊर्जा छलकती रहती है।''

साहिर लुधियानवी

प्रसिद्ध उर्दू शाइर और फिल्मी गीतकार साहिर लुधियानवी (मूल नाम अब्दुल हई) का जन्म 8 मार्च, 1921 ई. को लुधियाना शहर के निकट करीमपुरा के एक रईस घर में हुआ था। उनका बचपन गरीबी व भयभरा था। कारण? जब साहिर मात्र 13 साल के थे, उनके रईस पिता ने दूसरी शादी कर ली। माँ, सरदार बेग़म को यह स्वीकार नहीं था, इसलिए, वह बेटे सहित पति का घर छोड़कर चली गईं। पति ने हर हथकंडा अपनाकर बेटे को अपनी गिरफ्त में करना चाहा, पर माँ ने हर मुसीबत झेलकर भी कोई समझौता करना कुबूल नहीं किया। बाद में दोनों का तलाक हो गया।

बालक अब्दुल हई ने खालसा हाई स्कूल, लुधियाना तथा सतीश चन्द्र धवन गवर्नमेंट कॉलेज, लुधियाना में शिक्षा लेने के समय अपनी नज्मों तथा ग़ज़लों के लिए शोहरत पा ली। गवर्नमेंट कॉलेज से उनको निकाल दिया गया (1943) क्योंकि उन्हें एक सहपाठिनी लड़की के साथ कॉलेज में बैठा पाया गया।

विद्यालय से निकाले जाने के बाद वे लाहौर जाकर रहने लगे। यहाँ सन् 1945 ई. में उनका शाइरी-संग्रह 'तलखियाँ' (कड़ुवाहटें) प्रकाशित हुआ, जिसे तत्काल प्रसिद्धि मिल गई। साहिर ने 4 पत्रिकाएँ भी प्रकाशित कीं, अदब-ए-लतीफ, शहकार, पिथलारी और सवेरा। पत्रिकाएँ भी बेहद सफल रहीं, परंतु सवेरा में कम्युनिस्टों से मिलते-जुलते और अनीश्वरवादी विचारों के कारण पाकिस्तान सरकार ने उनके विरुद्ध वारंट जारी कर दिया। सन् 1949 ई. में साहिर लाहौर से दिल्ली भाग आए। कुछ ही महीनों बाद वे मुम्बई चले गए और फिर जीवनभर वहीं रहे।

साहिर आजीवन कुँवारे रहे, यद्यपि उनका नाम प्रसिद्ध पंजाबी लेखिका, अमृता प्रीतम, सिने गायिका सुधा मल्होत्रा और कई अन्यों से कई बार कुछ बड़ी, कुछ छोटी स्वीकृतियों के साथ जोड़ा जाता रहा है। अमृता प्रीतम ने अपने लेखों, पुस्तकों व साक्षात्कारों में अपने प्रेम सम्बन्धों को खुलकर स्वीकारा भी है। हाल के वर्षों में भारत व पाकिस्तान में साहिर पर कई पुस्तकें छपी हैं, जिनमें उनका जीवन-वृत्त लिखा गया

है। सन् 2010 ई. में दानिश इकबाल ने साहिर नाम का एक नाटक लिखा, जिसका निर्देशन अनिवासी भारतीय प्रमिला ली हण्ट ने किया। दिल्ली में इस नाटक का सफल मंचन हुआ। इस नाटक में साहिर के जीवन व संघर्षों को गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। साहिर के कई, वयोवृद्ध दोस्त भी इस नाटक को देखने आए। अब सुनते हैं कि नाटक का सिने-रूपांतरण करने का भी प्रयास हो रहा है। नाटक के पात्रों में गुरुदत्त, यश चोपड़ा व अमृता प्रीतम भी हैं। साहिर घोर शराबी व चेन स्मोकर थे। कहते हैं कि उनके असफल प्यार ने ही उन्हें ऐसा बना दिया था। साहिर ने मुम्बई पहुँचकर अन्धेरी में एक आवास किराए पर लिया। कवि गुलजार और साहित्यकार कृशन चन्दर उनके पड़ोसी थे। सन् 1970 ई. में साहिर ने यहीं पड़ोस में एक शानदार बँगला बनवाया; नाम रक्खा परछाइयाँ। मृत्युपर्यंत (अक्टूबर, 1980) वे यहीं रहे।

साहिर ने फिल्मों में गीत लिखने का काम 'आज़ादी की राह' (1949) से ही प्रारम्भ कर दिया था। इस फिल्म में उनके 4 गीत थे। पहला गीत था 'बदल रही है जिंदगी'। फिल्म व गीत दोनों अप्रभावी रहे। इसके बाद सन् 1951 में 'नौजवान' आई। इसके संगीतकार ॲस. डी. बर्मन थे। फिल्म व गीत दोनों ही सफल रहे। इसी साल की गुरुदत्त की 'बाजी' भी बेहद सफल रही। अब साहिर की शोहरत आसमान पर थी और साहिर-बर्मन जोड़ी अपनी बुलंदियों पर। फिल्म 'प्यासा' के बाद साहिर-बर्मन जोड़ी टूट गई। कारण यह बताया जाता है कि इसके गीतों में साहिर को ज्यादा और बर्मन को कम आँका गया, जिससे रुष्ट होकर बर्मन ने साहिर को धुनें देना ही बंद कर दिया। अब साहिर को धुनें देने का काम दत्ता नायक के जिम्मे पड़ा। यहाँ भी साहिर ने सदाबहार गीत दिए।

सन् 1958 में साहिर ने रमेश सिप्पी की फिल्म 'फिर सुबह होगी' के लिए गीत लिखे। यह फिल्म दोस्तोएवस्की के उपन्यास, 'क्राइम ॲण्ड पनिश्मेंट' पर आधारित थी। एक्टर राज कपूर मुख्य किरदार निभा रहे थे। कहते हैं कि साहिर ने शंकर जय किशन की संगीतकारी को निरस्त कर उसे खय्याम को दिलाया। गीत, वह सुबह कभी तो आएगी, बेहद हिट गया। इसके बाद खय्याम और साहिर का साथ हो गया। फिल्मों 'कभी-कभी' और 'त्रिशूल' में खय्याम ने ही साहिर के गीतों को धुनें दीं। प्रशंसकों और आलोचकों दोनों का कहना है कि गुरुदत्त की 'प्यासा' मे साहिर का गीतकार अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में सुना गया। फिल्म का पात्र कवि विजय स्वयं साहिर का ही रूप था। साहिर पर आरोप लगते हैं कि शायरी, शोहरत और दौलत, तीनों की सफलता ने उन्हें बदमिजाज़ बना दिया था। वे समय के प्रचलन के विपरीत पहले गीत लिखते थे और बाद में धुन बनाने की जिद करते थे। वे फिल्म में लता मंगेशकर को दी गई रकम से स्वयं के लिए एक रुपया अधिक दिए जाने की ज़िद करते थे। यही कारण था कि ॲस. डी. बर्मन तथा साहिर में झगड़ा हो गया। साहिर ने

जब सुधा मल्होत्रा की गायकी को बढ़ावा देना चाहा, तो भी कई विवाद सामने आए।

ई. सन् 1970 के आते-आते साहिर का काम तो घटकर केवल यश चोपड़ा की फिल्मों तक सिमट गया था, पर गीतों का अंदाज़ पहले से ज़्यादा निखर गया था। 'कभी-कभी' के लिए सन् 1976 का फिल्म फेयर अॅवार्ड उन्हें दूसरी बार मिला। पहला अॅवार्ड सन् 1963 ई. में 'ताज महल' के लिए मिला था।

अक्तूबर 25, 1980 को दिल का दौरा पड़ने से साहिर का इन्तकाल हो गया। उस समय वे 59 वर्ष के थे। जुहू के मुस्लिम कब्रिस्तान में उन्हें दफनाया गया और एक कब्र भी बनाई गई। पर बाद में जमीन की कमी के कारण तोड़ दी गयी। साहिर नवोदित उर्दू शाइरों के लिए आज भी प्रेरणास्रोत बने हुए हैं।

साहिर के व्यक्तित्व व कृतित्व को धर्मनिरपेक्ष व अनीश्वरवादी दोनों रूपों में आँका गया है। उनके दोस्तों का कहना है कि उन्होंने पाकिस्तान इसलिए छोड़ा क्योंकि वे धर्मनिरपेक्ष भारत में रहना चाहते थे। उन पर रईसत व अहंवादिता के आरोप भी लगते हैं। फिर भी पर्दे के पीछे कई बातें उनके लचीलेपन को भी उजागर करती हैं। म्यूजिक कम्पनियों द्वारा गीतकार को रायल्टी देने तथा आल इंडिया रेडियो द्वारा प्रसारण से पूर्व गीतकार का नाम घोषित करने के प्रचलन के पीछे साहिर के अथक प्रयासों का हाथ था।

साहिर अपने अंतिम वर्षों में फिल्म गीतकारों में पितामह समान बन गए थे। फैज़ के साथ मिलकर उन्होंने उर्दू शाइरी को बौद्धिकता का पुट दिया। वे भारत की स्वतंत्रता के उत्साही गीतकार थे। वे धर्म के स्वयंभू ठेकेदारों, स्वार्थी राजनीतिज्ञों और शोषक पूँजीवादियों को एक छड़ी से हाँकते थे। 'ताजमहल' में साहिर के विचार (मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझसे) एकदम नए अंदाज के थे, जो केवल साहिर का जीवन जीने वाले शाइर के लिए ही संभव था। कोई संदेह नहीं कि साहिर अपने बाद के शाइरों के लिए सदैव ही एक आदर्श बने रहेंगे। ऐसा नहीं कि साहिर इससे नावाकिफ थे।

प्रकाशित पुस्तकें

1. लुधियानवी, साहिर (1921-1980) कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद।
2. शैडोज स्पीक (अनु.), ख्वाजा अहमद अब्बास की प्रस्तावना के साथ।
3. द विंटर हार्वेस्ट (1977) उर्दू मूल और अंग्रेज़ी अनुवाद, अजीज प्रका. लाहौर।
4. सोर्सरी (1989) उर्दू मूल और अंग्रेज़ी अनुवाद, स्वीडन से प्रकाशित।
5. गाता जाए बंजारा (फिल्मी गीतों का संग्रह)
6. तलख़ियाँ (हिन्दी और उर्दू में प्रकाशित)

साहिर लुधियानवी ने हिन्दी सिनेमा के कुछ श्रेष्ठतम गीत लिखे हैं। इन गीतों के लेखक के रूप में वे हिन्दी सिने प्रेमियों में अमर रहेंगे। उनके ऐसे गीत हैं–

- यह देश है वीर जवानों का; नया दौर, संगीत–ओ. पी. नैयर, गायन–मुहम्मद रफ़ी।
- ये दुनिया अगर मिल भी जाए तो क्या है (प्यासा, 1957), संगीत–अॅस. डी. बर्मन, गायन–मुहम्मद रफी।
- तू हिंदू बनेगा ना मुसलमान बनेगा (धूल का फूल, 1959), संगीत–दत्ता नायक, गायन–मुहम्मद रफ़ी।
- ये इश्क़ इश्क़ है (बरसात की रात, 1960), संगीत–रोशन, गायन–मुहम्मद रफ़ी।
- ना तो कारवाँ की तलाश है (बरसात की रात, 1960) संगीत–रौशन, गायन–मुहम्मद रफ़ी।
- अल्ला तेरो नाम ईश्वर तेरो नाम (हम दोनों, 1961), संगीत–जयदेव।
- चलो इक बार फिर से अजनबी बन जाएँ हम दोनों (गुमराह 1963), संगीत–रवि।
- मन रे तू काहे ना धीर धरे? (चित्रलेखा, 1964), संगीत–रोशन, गायन–मुहम्मद रफ़ी।
- ईश्वर अल्ला तेरे नाम (नया रास्ता, 1970), संगीत–दत्तनायक, गायन–मुहम्मद रफी।
- मैं पल, दो पल का शायर हूँ। (कभी कभी, 1976), संगीत–खय्याम
- कभी-कभी, (कभी-कभी, 1976) संगीत-खय्याम।

भारतरत्न सत्यजित रॉय

सत्यजित रॉय (2 मई, 1921-23 अप्रैल, 1992) एक भारतीय फिल्म निर्देशक थे, जिन्हें 20वीं शताब्दी के सर्वोत्तम फिल्म निर्देशकों में गिना जाता है। इनका जन्म कला और साहित्य के जगत् में जाने-माने कोलकाता (तब कलकत्ता) के एक बंगाली परिवार में हुआ था। इनकी शिक्षा प्रेसिडेंसी कॉलेज और विश्व-भारती विश्वविद्यालय में हुई। इन्होंने अपने कैरियर की शुरुआत पेशेवर चित्रकार की तरह की। फ्रांसीसी फिल्म निर्देशक जाँ रन्वार से मिलने पर औस्रंदन में इतालवी फ़िल्म लादी दि बिसिक्लेत (बाइसिकल चोर) देखने के बाद फ़िल्म निर्देशन की ओर इनका रुझान हुआ।

रॉय ने अपने जीवन में 37 फ़िल्मों का निर्देशन किया, जिनमें फीचर फ़िल्में, वृत्तचित्र और लघु फ़िल्में शामिल हैं। इनकी पहली फ़िल्म पथेर पांचाली (पथ का गीत) को कान फ़िल्मोत्सव में मिले ''सर्वोत्तम मानवीय प्रलेख" पुरस्कार को मिलाकर कुल ग्यारह अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार मिले। यह फ़िल्म **अपराजितो** और **अपुर संसार** (अपु का संसार) के साथ इनकी प्रसिद्ध अपु त्रयी में शामिल है। राय फ़िल्म निर्माण से सम्बन्धित कई काम खुद ही करते थे।—पटकथा लिखना, अभिनेता ढूँढ़ना, पार्श्व संगीत रचना, चलचित्रण, कला निर्देशन, संपादन और प्रचार सामग्री की रचना करना। फ़िल्में बनाने के अतिरिक्त वे कहानीकार, प्रकाशक, चित्रकार और फ़िल्म आलोचक भी थे। रॉय को जीवन में कई पुरस्कार मिले, जिनमें **अकादमी मानद पुरस्कार** और **भारतरत्न** शामिल हैं।

इनके दादा उपेन्द्रकिशोर राय चौधरी लेखक, चित्रकार, दार्शनिक, प्रकाशक और गैरपेशेवर खगोलशास्त्री थे। ये साथ ही **ब्राह्म समाज** के नेता भी थे। उपेन्द्र किशोर के बेटे सुकुमार रॉय ने लकीर से हटकर बांग्ला में निरर्थक कविता लिखी। वे योग्य चित्रकार और आलोचक भी थे। सत्यजित रॉय सुकुमार और सुप्रभा रॉय के बेटे थे। इनका जन्म कोलकाता में हुआ। जब सत्यजित केवल 3 वर्ष के थे तो इनके पिता चल बसे। इनके परिवार को सुप्रभा की मामूली तन्ख्वाह पर गुज़ारा करना पड़ा। रॉय ने कोलकाता के प्रेसिडेन्सी कॉलेज से अर्थशास्त्र पढ़ा, लेकिन इनकी रुचि ललित

कलाओं में थी। 1940 में इनकी माता ने आग्रह किया कि वे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित विश्व भारती विश्वविद्यालय में आगे पढ़ें। राय को कोलकाता का माहौल पसन्द था और शान्तिनिकेतन के बुद्धिजीवी जगत् से ये खास प्रभावित नहीं थे। माता के आग्रह और ठाकुर के प्रति आदरभाव की वजह से अंततः इन्होंने विश्व भारती जाने का निश्चय किया। शान्तिनिकेतन में रॉय पूर्वी कला से बहुत प्रभावित हुए। बाद में इन्होंने स्वीकार किया कि प्रसिद्ध चित्रकार नन्दलाल बोस और विनोद बिहारी मुखर्जी से इन्होंने बहुत कुछ सीखा। मुखर्जी के जीवन पर इन्होंने बाद में एक वृत्तचित्र 'द इनर आई' भी बनाया। **अजन्ता, एलोरा** और **एलिफेंटा की गुफाओं** को देखने के बाद ये भारतीय कला के प्रशंसक बन गए।

1943 में 5 साल का कोर्स पूरा करने से पहले राय ने शान्तिनिकेतन छोड़ दिया और कोलकाता वापस आ गए जहाँ उन्होंने ब्रिटिश, विज्ञापन अभिकरण डी. जे. केमर में नौकरी शुरू की। इनके पद का नाम ''लघु द्रष्टा'' ("junior visualiser") था और महीने के केवल अस्सी रुपये का वेतन था। हालाँकि **दृष्टि रचना** राय को बहुत पसंद थी और उनके साथ अधिकतर अच्छा ही व्यवहार किया जाता था, लेकिन एजेंसी के ब्रिटिश और भारतीय कर्मियों के बीच कुछ खिंचाव रहता था क्योंकि ब्रिटिश कर्मियों को ज्यादा वेतन मिलता था। साथ ही राय को लगता था कि ''एजेंसी के ग्राहक प्रायः मूर्ख होते थे''। उन्हीं दिनों ये डी. के. गुप्ता द्वारा स्थापित सिग्नेट प्रेस के साथ भी काम करने लगे। गुप्ता ने राय को प्रेस में छपने वाली नई किताबों के मुखपृष्ठ रचने को कहा और पूरी कलात्मक स्वतंत्रता दी। राय ने बहुत किताबों के मुखपृष्ठ बनाए, जिनमें **जिम कार्बेट** की **मैन-ईटर्स ऑफ कुमाऊँ** (कुमाऊँ के नरभक्षी) और जवाहरलाल नेहरू की **डिस्कवरी ऑफ इंडिया** (भारत की खोज) शामिल हैं। इन्होंने बांग्ला के जाने-माने उपन्यास पथेर पांचाली (पथ का गीत) के बाल संस्करण पर भी काम किया, जिसका नाम था आम आँटिर भेंपु (आम की गुठली की सीटी)। रॉय इस रचना से बहुत प्रभावित हुए और अपनी पहली फिल्म इसी उपन्यास पर बनाई। मुखपृष्ठ की रचना करने के साथ उन्होंने इस किताब के अन्दर चित्र भी बनाये। इनमें से बहुत से चित्र उनकी फ़िल्म के दृश्यों में दृष्टिगोचर होते हैं।

रॉय ने दो नए फॉण्ट भी बनाए—''राय रोमन'' और ''राय बिज़ार''। रॉय रोमन को 1970 में एक अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिता में पुरस्कार मिला। कोलकाता में राय एक कुशल चित्रकार माने जाते थे। राय अपनी पुस्तकों के चित्र और मुखपृष्ठ खुद ही बनाते थे और फ़िल्मों के लिए प्रचार सामग्री की रचना भी खुद ही करते थे।

1947 में चिदानन्द दासगुप्ता और अन्य लोगों के साथ मिलकर राय ने कलकत्ता फिल्म सभा शुरू की, जिसमें उन्हें कई विदेशी फ़िल्में देखने को मिलीं। इन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध में कोलकाता में स्थापित अमेरिकन सैनिकों से दोस्ती कर ली जो उन्हें शहर में दिखाई जा रही नई-नई फ़िल्मों के बारे में सूचना देते थे। 1949 में रॉय

ने दूर की रिश्तेदार और लम्बे समय में उनकी प्रियतमा बिजोय रॉय से विवाह किया। इनका एक बेटा हुआ, सन्दीप, जो अब ख़ुद फ़िल्म निर्देशक है। इसी साल फ्रांसीसी फ़िल्म निर्देशक जाँ रन्वार कोलकाता में अपनी फ़िल्म की शूटिंग करने आए। रॉय ने देहात में उपयुक्त स्थान ढूँढ़ने में रन्वार की मदद की। रॉय ने उन्हें पथेर पांचाली पर फ़िल्म बनाने का अपना विचार बताया तो रन्वार ने उन्हें उसके लिए प्रोत्साहित किया। 1950 में डी. जे. केमर ने रॉय को एजेंसी के मुख्यालय लंदन भेजा। लंदन में बिताए तीन महीनों में राय ने 99 फ़िल्में देखीं। इनमें शामिल थी, **वित्तोरिया दे सीका** की **नवयथार्थवादी** फ़िल्म **लादी दी बिसिक्लेते** (बाइसिकल चोर) जिसने उन्हें अंदर तक प्रभावित किया। रॉय ने बाद में कहा कि वे सिनेमा से बाहर आए तो फ़िल्म निर्देशक बनने के लिए दृढ़संकल्प थे। 1960 के दशक में रॉय ने जापान की यात्रा की और वहाँ जाने-माने फ़िल्म निर्देशक **अकीरा कुरोसावा** से मिले। भारत में भी वे अक्सर शहर के भागम-भाग वाले माहौल से बचने के लिए दार्जिलिंग या पुरी जैसी जगहों पर जाकर एकान्त में कथानक पूरे करते थे।

1983 में फ़िल्म 'घरे बाइरे' पर काम करते हुए रॉय को दिल का दौरा पड़ा जिससे उनके जीवन के बाकी 9 सालों में उनकी कार्य-क्षमता बहुत कम हो गई। घरे बाइरे का छायांकन रॉय के बेटे की मदद से 1984 में पूरा हुआ। 1992 में हृदय की दुर्बलता के कारण रॉय का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया, जिससे वह कभी उबर नहीं पाए। मृत्यु से कुछ ही हफ्ते पहले उन्हें सम्मानदायक अकादमी पुरस्कार दिया गया। 23 अप्रैल, 1962 को उनका देहान्त हो गया। उनकी मृत्यु होने पर कोलकाता शहर लगभग ठहर गया और हजारों लोग उनके घर पर उन्हें श्रद्धांजलि देने आए।

रॉय ने निश्चय कर रखा था कि उनकी पहली फ़िल्म बांग्ला साहित्य की प्रसिद्ध कृति पथेर पांचाली पर आधारित होगी, जिसे विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय ने 1928 में लिखा था। इस अर्धआत्मकथात्मक उपन्यास में एक बंगाली गाँव के लड़के अपु के बड़े होने की कहानी है। रॉय ने लंदन से भारत लौटते हुए समुद्रयात्रा के दौरान इस फिल्म की रूपरेखा तैयार की। भारत पहुँचने पर राय ने एक कर्मीदल एकत्रित किया जिसमें कैमरामैन सुब्रत मित्र और कला निर्देशक बंसी चन्द्रगुप्ता के अलावा किसी को फ़िल्मों का अनुभव नहीं था। अभिनेता भी लगभग सभी गैरपेशेवर थे। फिल्म का छायांकन 1952 में शुरू हुआ। राय ने अपनी जमापूँजी इस फ़िल्म में लगा दी, इस आशा में कि पहले कुछ शॉट लेने पर कहीं से पैसा मिल जाएगा, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। पथेर पांचाली का छायांकन 3 वर्ष के लम्बे समय में हुआ—जब भी रॉय या निर्माण प्रबन्धक अनिल चौधरी कहीं से पैसों का जुगाड़ कर पाते थे, तभी छायांकन हो पाता था। रॉय ने ऐसे स्रोतों से धन लेने से मना कर दिया जो कथानक में परिवर्तन कराना चाहते थे या फ़िल्म निर्माता का निरीक्षण जरूरी समझते थे। 1955 में पश्चिम बंगाल सरकार ने फ़िल्म के लिए कुछ ऋण दिया जिससे आखिरकार फ़िल्म पूरी हुई।

सरकार ने भी फ़िल्म में कुछ बदलाव कराने चाहे (वे चाहते थे कि अपु और उसका परिवार एक ''विकास परियोजना'' में शामिल हों और फ़िल्म सुखान्त हो) लेकिन सत्यजित रॉय ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया।

पथेर पांचाली 1955 में प्रदर्शित हुई और बहुत लोकप्रिय रही। भारत और अन्य देशों में भी यह लम्बे समय तक सिनेमा में लगी रही। भारत के आलोचकों ने इसे बहुत सराहा। द टाइम्स ऑफ इंडिया ने लिखा...''इसकी किसी और भारतीय सिनेमा से तुलना करना निरर्थक है। पथेर पांचाली तो शुद्ध सिनेमा है।'' अमेरिका में लिंडसी अंडरसन ने फ़िल्म के बारे में बहुत अच्छी समीक्षा लिखी। लेकिन सभी आलोचक फ़िल्म के बारे में इतने उत्साहित नहीं थे। **फ्रॉस्वा त्रुफ़ो** ने कहा—''गँवारों को हाथ से खाना खाते हुए दिखाने वाली फ़िल्म मुझे नहीं देखनी।'' इसके बावजूद यह फ़िल्म अमेरिका में बहुत समय तक चली। रॉय की अगली फ़िल्म अपराजितो की सफलता के बाद इनका अन्तरराष्ट्रीय कैरियर पूरे जोर-शोर से शुरू हो गया। इस फ़िल्म में एक नवयुवक (अपु) और उसकी माँ की आकांक्षाओं के बीच अक्सर होने वाले खिंचाव को दिखाया गया है। मृणाल सेन और ऋत्विक घटक सहित कई आलोचक इसे पहली फ़िल्म से बेहतर मानते हैं। अपराजितो को वेनिस फिल्मोत्सव में स्वर्ण सिंह (Golden Lion) से पुरस्कृत किया गया। अपु त्रयी पूरी करने से पहले राय ने दो और फिल्में बनाईं—हास्यप्रद पारस पत्थर और **ज़मींदारों** के पतन पर आधारित **जलसाघर**। जलसाघर को इनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियों में गिना जाता है।

अपराजितो बनाते हुए राय ने त्रयी बनाने का विचार नहीं किया था, लेकिन वेनिस में उठे एक प्रश्न के बाद उन्हें यह विचार अच्छा लगा। इस शृंखला की अंतिम कड़ी अपुर संसार 1959 में बनी। रॉय ने इस फ़िल्म में दो नए अभिनेताओं, सौमित्र चटर्जी और शर्मिला टैगोर को मौका दिया। इस फ़िल्म में अपु कोलकाता के एक साधारण मकान में गरीबी में रहता है और अपर्णा के साथ विवाह कर लेता है, जिसके बाद इन्हें कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कुछ आलोचक इसे त्रयी की सबसे बढ़िया फ़िल्म मानते हैं।

इस अवधि में रॉय ने कई विषयों पर फ़िल्में बनाईं, जिनमें शामिल हैं, **ब्रिटिश काल** पर आधारित **देवी**, **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** पर एक वृत्तचित्र, हास्यप्रद फ़िल्म **महापुरुष** और मौलिक कथानक पर आधारित इनकी पहली फ़िल्म कंचनजंघा। इसी दौरान इन्होंने कई ऐसी फ़िल्में बनाईं, जिन्हें मिलाकर भारतीय सिनेमा में स्त्रियों का सबसे गहरा चित्रांकन माना जाता है। अपुर संसार के बाद राय की पहली फ़िल्म थी देवी, जिसमें इन्होंने हिन्दू समाज में अंधविश्वास के विषय को टटोला। शर्मिला टैगोर ने इस फ़िल्म के मुख्य पात्र दयामयी की भूमिका निभाई जिसे उसके ससुर **काली** का अवतार मानते हैं। रॉय को चिन्ता थी कि इस फ़िल्म को सेंसर बोर्ड से शायद स्वीकृति नहीं मिले

या उन्हें कुछ दृश्य काटने पड़ें, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। 1961 में प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के आग्रह पर रॉय ने गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की जन्म शताब्दी के अवसर पर उनके जीवन पर एक वृत्तचित्र बनाया। ठाकुर के जीवन का फ़िल्मांकन बहुत कम ही हुआ था, इसलिए रॉय को मुख्यतः स्थिर चित्रों का प्रयोग करना पड़ा, जिसमें उनके अनुसार तीन फ़ीचर फ़िल्मों जितना परिश्रम हुआ। इसी साल में रॉय ने सुभाष मुखोपाध्याय और अन्य लेखकों के साथ मिलकर बच्चों की पत्रिका **सन्देश** को पुनर्जीवित किया। इस पत्रिका की शुरुआत इनके दादा ने शुरू की थी और बहुत समय से राय इसके लिए धन जमा करते आ रहे थे। सन्देश का बांग्ला में दो तरफा मतलब है—एक खबर और दूसरा मिठाई। पत्रिका को इसी मूल विचार पर बनाया गया—शिक्षा के साथ-साथ मनोरंजन। रॉय शीघ्र ही खुद पत्रिका में चित्र बनाने लगे और बच्चों के लिए कहानियाँ और निबन्ध लिखने लगे। आने वाले वर्षों में लेखन इनकी जीविका का प्रमुख साधन बन गया।

1962 में राय ने कंचनजंघा का निर्देशन किया, जिसमें पहली बार इन्होंने मौलिक कथानक पर रंगीन छायांकन किया। इस फिल्म में एक उच्च वर्ग के परिवार की कहानी है, जो दार्जिलिंग में एक दोपहर बिताते हैं और प्रयास करते हैं कि सबसे छोटी बेटी का विवाह लंदन में पढ़े एक कमाऊ इंजीनियर के साथ हो जाए। शुरू में इस फ़िल्म को एक विशाल हवेली में चित्रांकित करने का विचार था, लेकिन बाद में राय ने निर्णय किया कि दार्जिलिंग के वातावरण और प्रकाश व धुंध के खेल का प्रयोग करके कथानक के खिंचाव को प्रदर्शित किया जाए।

1964 में राय ने **चारुलता** फ़िल्म बनाई जिसे बहुत से आलोचक इनकी सबसे निष्णात फ़िल्म मानते हैं। यह ठाकुर की लघुकथा नष्टनीड़ पर आधारित है। इसमें 19वीं शताब्दी की एक अकेली स्त्री की कहानी है जिसे अपने देवर अमल से प्रेम होने लगता है। इसे राय की सर्वोत्कृष्ट कृति माना जाता है। राय ने खुद कहा है कि इसमें सबसे कम खामियाँ हैं, और यही एक फिल्म है जिसे वे मौका मिलने पर बिल्कुल इसी तरह दोबारा बनाएँगे। चारु के रूप में माधवी मुखर्जी के अभिनय और सुब्रत मित्र और बंसी चन्द्रगुप्ता के काम को बहुत सराहा गया है। इस काल की अन्य फ़िल्में हैं : महानगर, तीन कन्या, अभियान, कापुरुष (कायर) और महापुरुष। चारुलता के बाद के काल में राय ने विविध विषयों पर आधारित फ़िल्में बनाईं, जिनमें शामिल हैं, **कल्पनाकथाएँ**, **विज्ञानकथाएँ**, **गुप्तचर कथाएँ** और **ऐतिहासिक नाटक**। रॉय ने फिल्मों में नयी तकनीकों पर प्रयोग करना और भारत के समकालीन विषयों पर ध्यान देना शुरू किया। इस काल की पहली मुख्य फ़िल्म थी **नायक**, जिसमें एक फिल्म अभिनेता (उत्तम कुमार) रेल में सफर करते हुए एक महिला पत्रकार (शर्मिला टैगोर) से मिलता है। 24 घंटे की घटनाओं पर आधारित इस फ़िल्म में एक प्रसिद्ध

अभिनेता के मनोविज्ञान का अन्वेषण किया गया है। बर्लिन में इस फ़िल्म को आलोचक पुरस्कार मिला।

1969 में रॉय ने व्यावसायिक रूप से अपनी सबसे सफल फिल्म बनाई—**गुपी गाइन बाघा बाइन** (गुपी गाए, बाघा बजाए)। यह संगीतमय फ़िल्म इनके दादा द्वारा लिखी एक कहानी पर आधारित है। गायक गुपी और ढोली बाघा को भूतों का राजा तीन वरदान देता है, जिनकी मदद से वे दो पड़ोसी देशों में होने वाले युद्ध को रोकते हैं। यह राय के सबसे खर्चीले उद्यमों में से थी और इसके लिए पूँजी बहुत मुश्किल से मिली। राय की अगली फ़िल्म थी **अरण्येर दिन-रात्रि** (जंगल में दिन-रात), जिसकी संगीत-संरचना चारुलता से भी जटिल मानी जाती है। इसमें चार ऐसे नवयुवकों की कहानी है जो छुट्टी मनाने जंगल में जाते हैं। इसमें सिमी ग्रेवाल ने एक जंगली जाति की औरत की भूमिका निभाई है।

इसके बाद राय ने समसामयिक बंगाली वास्तविकता पर ध्यान देना शुरू किया। बंगाल में उस समय नक्सलवादी क्रांति जोर पकड़ रही थी। ऐसे समय में नवयुवकों की मानसिकता को लेकर इन्होंने कलकत्ता त्रयी के नाम से जानी जाने वाली तीन फ़िल्में बनाईं—**प्रतिद्वंद्वी** (1970), **सीमाबद्ध** (1971) और **जनअरण्य** (1975)। इन तीनों फ़िल्मों की कल्पना अलग-अलग हुई लेकिन इनके विषय साथ मिलाकर एक त्रयी का रूप लेते हैं। प्रतिद्वंद्वी एक आदर्शवादी नवयुवक की कहानी है, जो समाज से मोह-भंग होने पर भी अपने आदर्श नहीं त्यागता है। इसमें राय ने कथा-वर्णन की एक नयी शैली अपनाई, जिसमें इन्होंने नेगेटिव में दृश्य, स्वप्न दृश्य और आकस्मिक फ्लैश-बैक का उपयोग किया। जनअरण्य फिल्म एक नवयुवक की कहानी है जो जीविका कमाने के लिए भ्रष्ट राहों पर चलने लगता है। सीमाबद्ध में एक सफल युवक अधिक धन कमाने के लिए अपनी नैतिकता छोड़ देता है। 1970 के दशक में राय ने अपनी दो लोकप्रिय कहानियाँ—**सोनार केल्ला** (स्वर्ण किला) और **जॉय बाबा फेलुनाथ** का फ़िल्मांकन किया। दोनों फ़िल्में बच्चों और बड़ों दोनों में बहुत लोकप्रिय रहीं।

1977 में राय ने मुंशी प्रेमचन्द की कहानी पर आधारित **शतरंज के खिलाड़ी** फ़िल्म बनाई। यह उर्दू भाषा की फ़िल्म 1857 के भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के 1 वर्ष पहले अवध राज्य में लखनऊ शहर पर केन्द्रित है। इसमें भारत के गुलाम बनने के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें **बॉलीवुड** के बहुत से सितारों ने काम किया, जिनमें प्रमुख हैं—संजीव कुमार, सईद जाफरी, अमजदखान, शबाना आजमी, विक्टर बनर्जी और रिचर्ड एटनबरो। 1980 में राय ने गुपी गाइन बाघा बाइन की कहानी को आगे बढ़ाते हुए **हीरक राज** नामक फ़िल्म बनाई जिसमें हीरे के राजा का राज्य इंदिरा गाँधी के आपात्काल के दौरान के भारत की ओर इंगित करता है। इस काल की दो अन्य फ़िल्में थीं—लघु फ़िल्म पिंकूर डायरी (पिंकू की दैनन्दिनी) और घंटे-भर लम्बी हिन्दी फ़िल्म सद्गति।

रॉय बहुत समय से ठाकुर के उपन्यास '**घरे बाइरे**' पर आधारित फ़िल्म बनाने की सोच रहे थे। जो उन्होंने 1984 में बनायी। 1987 में उन्होंने अपने पिता सुकुमार राय के जीवन पर एक वृत्तचित्र बनाया। राय की आखिरी 3 फ़िल्में उनकी बीमारी के कारण मुख्यतः आन्तरिक स्थानों में शूट हुईं और इस कारण से एक विशिष्ट शैली का अनुसरण करती हैं। इनमें संवाद अधिक है और इन्हें राय की बाकी फ़िल्मों से निम्न श्रेणी में रखा जाता है। राय की अंतिम फ़िल्म आगन्तुक का माहौल हल्का है लेकिन विषय बहुत गूढ़ है। इसमें एक भूला-बिसरा मामा अपनी भांजी से अचानक मिलने आ पहुँचता है तो उसके आने के वास्तविक कारण पर शंका की जाने लगती है।

सत्यजित रॉय मानते थे कि कथानक लिखना निर्देशन का अभिन्न अंग है। यह एक कारण है जिसकी वजह से उन्होंने प्रारंभ में बांग्ला के अतिरिक्त किसी भी भाषा में फ़िल्में नहीं बनाईं। अन्य भाषाओं में बनी इनकी दोनों फ़िल्मों के लिए इन्होंने पहले अंग्रेजी में कथानक लिखा, जिसे इनके पर्यवेक्षण में अनुवादकों ने हिन्दी, या उर्दू में भाषांतरित किया। रॉय के कला निर्देशक बंसी चन्द्र गुप्ता की दृष्टि भी रॉय की तरह ही पैनी थी। शुरुआती फ़िल्मों पर इनका प्रभाव इतना महत्त्वपूर्ण था कि रॉय कथानक पहले अंग्रेजी में लिखते थे ताकि बांग्ला न जानने वाले चन्द्र गुप्ता उसे समझ सकें। शुरुआती फ़िल्मों के छायांकन में सुब्रत मित्र का कार्य बहुत सराहा जाता है, और आलोचक मानते हैं कि अनबन होने के बाद जब मित्र चले गए तो राय की फ़िल्मों के चित्रांकन का स्तर घट गया। रॉय ने मित्र की बहुत प्रशंसा की, लेकिन रॉय इतनी एकाग्रता से फ़िल्में बनाते थे कि चारुलता के बाद से रॉय कैमरा खुद ही चलाने लगे, जिसके कारण मित्र ने 1966 से राय के लिए काम करना बंद कर दिया। रॉय अपने को **फ्रांसीसी नव तरंग** के **जाँ लुक गोदार** और **फ्राँस्वा त्रूफो** का ऋणी मानते थे, जिनके नए तकनीकी और सिनेमा प्रयोगों का उपयोग राय ने अपनी फ़िल्मों में किया।

हालाँकि दुलाल दत्ता रॉय के नियमित फिल्म संपादक थे, राय अक्सर संपादन के निर्णय खुद ही लेते थे और दत्ता बाकी काम करते थे। वास्तव में आर्थिक कारणों से और रॉय के कुशल नियोजन से संपादन अक्सर कैमरे पर ही हो जाता था। शुरू में राय ने अपनी फ़िल्मों के संगीत के लिए रवि शंकर, विलायत खाँ और अली अकबर खाँ जैसे भारतीय शास्त्रीय संगीतज्ञों के साथ काम किया, लेकिन राय को लगने लगा कि इन संगीतज्ञों को फ़िल्म की अपेक्षा संगीत की साधना में अधिक रुचि है। साथ ही रॉय को पाश्चात्य संगीत का भी ज्ञान था जिसका प्रयोग वह फ़िल्मों में करना चाहते थे। इन तीन कारणों से तीन कन्या के बाद से फ़िल्मों का संगीत भी राय खुद ही रचने लगे। रॉय ने विभिन्न पृष्ठभूमि वाले अभिनेताओं के साथ काम किया, जिनमें से कुछ विख्यात सितारे थे, तो कुछ ने कभी फ़िल्म देखी तक नहीं थी। रॉय को बच्चों के अभिनय के निर्देशन के लिए बहुत सराहा गया है, विशेषतः अपु एवं दुर्गा (पथेर पांचाली), रतन (पोस्टमास्टर) और मुकुल (सोनार केल्ला)। अभिनेता के कौशल और अनुभव के अनुसार राय का निर्देशन कभी न के बराबर होता था (आगन्तुक में उत्पल दत्त) तो कभी वे अभिनेताओं को कठपुतलियों की तरह प्रयोग करते थे। (अपर्णा की भूमिका में शर्मिला टैगोर)।

रॉय की कृतियों को मानवता और सार्वदेशिकता से ओत-प्रोत कहा गया है। इनमें बाहरी सरलता के पीछे अक्सर गहरी जटिलता छिपी होती है। इनकी कृतियों को अन्यान्य शब्दों में सराहा गया है। अकिरा कुरोसावा ने कहा—''रॉय का सिनेमा न देखना इस जगत् में सूर्य या चन्द्रमा को देखे बिना रहने के समान है।'' आलोचकों ने इनकी कृतियों की अन्य कई कलाकारों से तुलना की है—और अंतोन चेखव, जाँ रन्वार, वित्तोरियो दे सिका, हार्वर्ड हॉक्स, मोत्सार्ट, यहाँ तक कि शेक्सपियर के समतुल्य पाया है। नायपॉल ने शतरंज के खिलाड़ी के एक दृश्य की तुलना शेक्सपियर के नाटकों से की है—''केवल तीन सौ शब्द बोले गए, लेकिन इतने में ही अद्‌भुत घटनाएँ हो गईं!'' जिन आलोचकों को रॉय की फ़िल्में सुरुचिपूर्ण नहीं लगतीं, वे भी मानते हैं कि राय एक सम्पूर्ण संस्कृति की छवि फ़िल्म पर उतारने में अद्वितीय थे।

रॉय की आलोचना मुख्यतः इनकी फ़िल्मों की गति को लेकर की जाती है। आलोचक कहते हैं कि वे एक 'राजसी घोंघे' की गति से चलती हैं। रॉय ने खुद माना कि वे इस गति के बारे में कुछ नहीं कर सकते, लेकिन कुरोसावा ने इनका पक्ष लेते हुए कहा—''इन्हें धीमा नहीं कहा जा सकता। ये तो विशाल नदी की तरह शान्ति से बहती हैं।'' कुछ आलोचक इनकी मानवता को सादा और इनके कार्यों को आधुनिकता-विरोधी मानते हैं और कहते हैं कि इनकी फ़िल्मों में अभिव्यक्ति की नई शैलियाँ नजर नहीं आती हैं। रॉय की आलोचना समाजवादी विचारधाराओं के राजनेताओं ने भी की है। इनके अनुसार रॉय पिछड़े समुदायों के लोगों के उत्थान के लिए प्रतिबद्ध नहीं थे, बल्कि अपनी फ़िल्मों में गरीबी का सौन्दर्यीकरण करते थे। ये अपनी कहानियों में द्वन्द्व और संघर्ष को सुलझाने के तरीके भी नहीं सुझाते थे। 1960 के दशक में राय और मृणाल सेन के बीच एक सार्वजनिक बहस हुई। मृणाल सेन स्पष्ट रूप से मार्क्सवादी थे और उनके अनुसार रॉय ने उत्तम कुमार जैसे प्रसिद्ध अभिनेता के साथ फ़िल्म बनाकर अपने आदर्शों के साथ समझौता किया। राय ने पलटकर जवाब दिया कि सेन अपनी फ़िल्मों में केवल बंगाली मध्यम वर्ग को ही निशाना बनाते हैं क्योंकि इस वर्ग की आलोचना करना आसान है। 1980 में **सांसद** एवं अभिनेत्री **नरगिस** ने रॉय की खुलकर आलोचना की थी कि ये ''गरीबी का निर्यात'' कर रहे हैं, और इनसे माँग की कि ये आधुनिक भारत को दर्शाती हुई फ़िल्में बनाएँ।

रॉय ने बांग्ला फ़िल्म के बाल-साहित्य में दो लोकप्रिय चरित्रों की रचना की—**गुप्तचर फेलुदा** और **वैज्ञानिक प्रोफेसर शंकु**। इन्होंने कई लघुकथाएँ भी लिखीं

जो बारह-बारह कहानियों के संकलन में प्रकाशित होती थीं और सदा उनके नाम में बारह से संबंधित शब्दों का खेल रहता था। उदाहरण के लिए '**एकेर पिठे दुइ**' (एक के ऊपर दो)। रॉय को पहेलियों और बहुअर्थी शब्दों के खेल से बहुत प्रेम था। इसे इनकी कहानियों में भी देखा जा सकता है—फेलुदा को अक्सर मामले की तह तक जाने के लिए पहेलियाँ सुलझानी पड़ती हैं। **शर्लक होम्स** और **डॉक्टर वाटसन** की तरह फेलुदा की कहानियों का वर्णन उनका चचेरा भाई तोपसे करता है। प्रोफेसर शंकु की विज्ञानकथाएँ एक दैनन्दिनी के रूप में हैं जो शंकु के अचानक गायब हो जाने के बाद मिलती हैं। रॉय ने इन कहानियों में अज्ञात और रोमांचक तत्त्वों को भीतर तक टटोला है, जो उनकी फ़िल्मों में नहीं देखने को मिलता है। इनकी लगभग सभी कहानियाँ हिन्दी, अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं।

रॉय के लगभग सभी कथानक बांग्ला की साहित्यिक पत्रिका 'एकशान' में प्रकाशित हो चुके हैं। रॉय ने 1982 में आत्मकथा लिखी (जब मैं छोटा था।) इसके अतिरिक्त इन्होंने फ़िल्मों के विषय पर कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें से प्रमुख हैं, आवर **फ़िल्म्स देयर फ़िल्म्स** (हमारी फ़िल्में, उनकी फ़िल्में)। 1976 में प्रकाशित इस पुस्तक में रॉय की लिखी आलोचनाओं का संकलन है। राय ने **चार्ली चैपलिन** और **अकीरा कुरोसावा** जैसे निर्देशकों और इतालवी नवयथार्थवाद जैसे विषयों पर विशेष ध्यान दिया है। 1976 में ही इन्होंने एक और पुस्तक प्रकाशित की—**विषय चलचित्र**, जिसमें सिनेमा के विभिन्न पहलुओं पर इनके चिंतन का संक्षिप्त विवरण है। इसके अतिरिक्त इनकी एक और पुस्तक **एकेई बोले शूटिंग** (इसको शूटिंग कहते हैं) 1979 में प्रकाशित हुई है।

निधन के कुछ ही दिन पहले मिले अकादमी पुरस्कार के साथ राय को जीवन में अनेकों पुरस्कार और सम्मान मिले। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने इन्हें मानद डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की। चार्ली चैपलिन के बाद ये इस सम्मान को पाने वाले पहले फ़िल्म निर्देशक थे। इन्हें 1985 में **दादा साहब फालके पुरस्कार** और 1987 में फ्रांस के **लेज्यो द ओनु पुरस्कार** से सम्मानित किया गया। मृत्यु के कुछ समय पहले इन्हें **सम्मानदायक अकादमी पुरस्कार** और भारत का सर्वोच्च सम्मान '**भारतरत्न**' प्रदान किये गए। मरणोपरांत **सेनफ्रांसिस्को अन्तरराष्ट्रीय फिल्मोत्सव** में इन्हें निर्देशन में जीवन-पर्यन्त उपलब्धि-स्वरूप अकिरा कुरोसावा पुरस्कार मिला, जिसे इनकी ओर से शर्मिला टैगोर ने ग्रहण किया। सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि दिल का दौरा पड़ने के बाद उन्होंने जो फ़िल्में बनाईं उनमें पहले जैसी ओजस्विता नहीं थी।

सत्यजित रॉय भारत और विश्वभर के बंगाली समुदाय के लिए एक सांस्कृतिक प्रतीक हैं। बंगाली सिनेमा पर रॉय ने अमिट छाप छोड़ी है। बहुत से बांग्ला निर्देशक इनके कार्य से प्रेरित हुए हैं—**अपर्णा सेन, ऋतुपर्ण घोष, गौतम घोष, तारिक मसूद**

और **तन्वीर मुकम्मल**। भारतीय सिनेमा पर इनके प्रभाव को हर शैली के निर्देशक मानते हैं, जिनमें **बुद्धदेव दासगुप्ता**, **मृणाल सेन** और **अदूर गोपालकृष्णन** शामिल हैं। भारत के बाहर भी **मार्टिन सोर्सीसी**, **जेम्स आइवरी**, **अब्बास कियारोस्तामी** और **एलिया काजान** जैसे निर्देशक भी इनकी शैली से प्रभावित हुए हैं।

1995 में भारत सरकार ने फ़िल्मों से सम्बन्धित अध्ययन के लिए सत्यजित रॉय फ़िल्म एवं टेलीविज़न संस्थान की स्थापना की। लंदन फ़िल्मोत्सव में नियमित रूप से एक ऐसे निर्देशक को सत्यजित रॉय पुरस्कार दिया जाता है जिसने पहली फ़िल्म में ही 'रॉय की दृष्टि की कला, संवेदना और मानवता' को अपनाया हो।

मधु लिमये

❑ **मस्तराम कपूर**

8 जनवरी, 1995 को शाम 9 बजे के लगभग मधु लिमये हमेशा के लिए हमसे विदा हुए। अंतिम साँस लेने से आधा घंटा पूर्व तक वे अपनी पूरी जागृत चेतना में रहे, उसी स्थिति में जिसमें वे होश सँभालने के बाद रहे। 18 वर्ष की अवस्था में ही वे स्वतंत्रता आन्दोलन में पूरी तरह संलग्न हो गये थे, जब 1940 में उन्हें ब्रिटिश सरकार का विरोध करने पर कारावास की पहली सजा हुई। इससे पहले वे ॲस. ॲम. जोशी और सेनापति बापट से आकृष्ट होकर अपना रास्ता बना चुके थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे संगठनों के प्रति उनकी वितृष्णा तभी से हो गयी थी, जब उन्होंने राष्ट्र सेवादल के जुलूस पर हमला करके ॲस. ॲम. जोशी और सेनापति बापट को बुरी तरह ज़ख़्मी किया था। कांग्रेस के रूढ़िवादी और यथास्थितिवादी चरित्र को भी वे समझ चुके थे, जिसके फलस्वरूप उन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल होकर समाजवाद के रास्तों को चुना था। 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दौरान भूमिगत रहते हुए उन्हें एक बार मालगाड़ी को उड़ाने का काम सौंपा गया, जिसमें एक रेलकर्मचारी की मृत्यु को गयी। भूमिगत आंदोलन 'न हत्या, न चोट' के आदर्श को लेकर चल रहा था फिर भी सरकारी व्यवस्था को भंग करने में जान जाने की संभावना तो रहती ही थी। इस घटना ने मधु लिमये के मन में तोड़फोड़ के कार्यों के प्रति वितृष्णा पैदा की और उन्हें गाँधी की अहिंसा की कल्पना को आत्मसात् करने के लिए प्रेरित किया। कम्युनिस्ट पार्टी से उनका मोह-भंग तभी से हो गया था, जब कम्युनिस्टों ने रूस पर हिटलर के आक्रमण के बाद रातों-रात अपनी निष्ठाएँ बदल ली थीं और स्वतंत्रता आंदोलन से विश्वासघात करके अंग्रेजों के दलालों के रूप में काम करना शुरू किया था। स्वाधीन भारत में गोवा मुक्ति आंदोलन के सिलसिले में उन्हें 12 साल के कठोर कारावास की सज़ा हुई थी और फिर इंदिरा गाँधी की इमरजेंसी में उन्हें 19 महीने जेल में बिताने पड़े। इस प्रकार जनता के लोकतांत्रिक अधिकारों को कुचलने वाली व्यवस्थाओं का विरोध उनका स्थायीभाव रहा। लोकसभा के सदस्य

के रूप में काम करते हुए(वे चार बार लोकसभा के लिए चुने गये) और फिर सक्रिय राजनीति से अलग होकर 12 साल के अपने लेखकीय जीवन में वे उन मूल्यों पर, जिन्हें उन्होंने अपनी समग्र चेतना के साथ चुना था, दृढ़ रहे और कोई भी प्रलोभन या भय उन्हें उन मूल्यों से नहीं डिगा सका। मृत्यु के अंतिम क्षणों तक वे इन मूल्यों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को नहीं भूले।

मधु लिमये का जन्म 1 मई, 1922 के दिन पूना में श्री रामचन्द्र माधव लिमये के घर हुआ। माध्यमिक शिक्षा सरस्वती मन्दिर, पूना में हुई, जहाँ मधु ने एक मेधावी छात्र के रूप में पाँचवीं, छठी और सातवीं एक ही साल में पास कर ली। पर 13 वर्ष की उम्र में मैट्रिक की परीक्षा में बैठने की अनुभूति न मिलने के कारण औपचारिक शिक्षा में बाधा पड़ी और इन बरसों का उपयोग उन्हीं विभिन्न विषयों की पुस्तकें पढ़ने में किया। अपनी पन्द्रहवीं बरसगाँठ पर उन्होंने सेनापति बापटे और ॲस. ॲम. जोशी के नेतृत्व में मई दिवस के जुलूस में भाग लिया, जिस पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने हमला कर अनेक लोगों को घायल कर दिया। राजनीति में प्रवेश का मधुजी का यह पहला कदम था।

उनकी दृष्टि साफ थी, प्रतिबद्धताएँ स्पष्ट थीं और वे अपनी बात बिना लाग-लपेट के कहते थे किंतु उनके मन में किसी के प्रति शत्रुभाव नहीं था, वे संकीर्णता और द्वेष से पूर्णतया मुक्त थे। जहाँ भी उन्होंने बुराई देखी, वहाँ वे हमला करने से नहीं चूके, चाहे वे उनके अपने लोग ही क्यों न हों और जहाँ कहीं अच्छाई देखी, वहाँ उसे स्वीकार करने में भी उन्हें संकोच नहीं हुआ, भले ही वे उनके विरोधी खेमे में रहे हों।

अपने राजनीतिक जीवन में जब कभी भी कांग्रेस के रूढ़िवादी और यथा-स्थितिवादी चरित्र के साथ अपने मन का तालमेल नहीं बैठा सके और इसलिए हमेशा कांग्रेस विरोधी खेमे में रहे। किंतु इस पार्टी की अच्छाइयों को उन्होंने कभी भी नजरों से ओझल नहीं किया। स्वाधीनता पूर्व की कांग्रेस के नेताओं के प्रति उनके मन में अगाध सम्मान था, हालाँकि वे कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में ही रहे। अपनी पुस्तकों में (जैसे स्वतंत्रता आंदोलन की विचारधारा, 'प्राइम मूवर्स', गाँधी-नेहरू रिलेशनशिप के चार भाग), उन्होंने कांग्रेस तथा उसके दिग्गज नेताओं—गाँधी, नेहरू, सरदार पटेल, सुभाष, मौलाना आजाद, राजेन्द्र बाबू आदि का जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया, उसमें इन नेताओं के प्रति सम्मान की भावना अनुस्यूत रही है। स्वाधीनता के बाद नेहरू और पटेल की नीतियों से मतभेद रखते हुए भी स्वाधीनता आंदोलन के दौरान उनके योगदान की सराहना करने में उन्होंने कंजूसी नहीं दिखायी। सरदार पटेल तो समाजवादियों को विशेष पसंद नहीं करते थे, (संभवतः इसलिए कि समाजवादी, नेहरू को अपना नेता मानते थे) फिर भी मधुजी ने सरदार पटेल का सुंदर मूल्यांकन प्रस्तुत किया (सरदार पटेल व्यवस्थित राज्य के निर्माता) और कांग्रेस के वंश-राज में विस्मृत

सरदार को 'भारतरत्न' दिलाने के लिए चंद्रशेखर सरकार को प्रेरित किया। स्वाधीनताप्राप्ति के बाद भी कांग्रेस की नीतियों के वे कट्टर आलोचक रहे। वे न सिर्फ कांग्रेस-विरोधी खेमे में रहे बल्कि लोहिया के गैर कांग्रेसवाद के प्रमुख स्तंभ भी रहे (हालाँकि गैरकांग्रेसवाद की नीति पर डॉ. लोहिया से उनका हमेशा मतभेद था), और यह भूमिका वे अंत तक निभाते रहे। 1977 में जनता पार्टी और 1989 में जनता दल के निर्माण में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा और बाद में जब यह समीकरण टूटने लगा और कुछ नेता गैरकांग्रेसवाद की मृत्यु की घोषणा करने लगे, तब भी गैरकांग्रेसवाद पर उनकी आस्था बनी रही। विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार में वे भाजपा और वामपंथी दलों की सक्रिय भागीदारी के पक्ष में थे। चंद्रशेखर और मुलायम सिंह का अपनी सरकारों के लिए कांग्रेस की मदद लेना उन्हें पसंद नहीं था। जनता पार्टी के निर्माण के समय जनसंघ गुट ने अपने अग्र संगठनों के विलय के मामले में जो अड़ियल रुख अपनाया था (जिसे दोहरी निष्ठा का सवाल कहा जाता है जिसके कारण जनता पार्टी अंततः टूटी) उस कटु अनुभव के बावजूद विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार में भाजपा की शिरकत का उन्होंने सुझाव दिया। इससे पता चलता है कि गैरकांग्रेसवाद में वे कितनी संभावना देखते थे।

किंतु कांग्रेस का इस कदर विरोधी होने पर भी वे अक्सर यह कहा करते थे कि इस देश में सही मामलों में कांग्रेस ही एकमात्र राष्ट्रीय पार्टी है। यह इसलिए कि इस पार्टी की जड़ें दूर-दूर तक फैली हैं और भारत का शायद ही कोई गाँव हो जहाँ एक-दो कांग्रेसी न मिल जायें। जहाँ वे दक्षिण में दलित-पिछड़ी जातियों की आकांक्षाओं का वाहन बनने के लिए कांग्रेस की प्रशंसा करते थे, उत्तर में इन जातियों के उत्कर्ष में बाधा बनने के कारण (उत्तर में कांग्रेस ने पिछड़े वर्गों को आरक्षण देने का 40 साल तक विरोध किया), वे कांग्रेस की आलोचना करते थे और इसे उसके आधार के क्षीण होने का कारण भी मानते थे। भाजपा के अनुकरण में हिंदू वोट बैंक बनाने के राजीव गाँधी-नरसिम्हा राव के प्रयासों से वे क्षुब्ध होते थे क्योंकि यह काम कांग्रेस की राष्ट्रीय छवि को कलंकित करने वाला था।

कांग्रेस की ढुलमुल और आत्मघाती नीतियों की आलोचना करने में वे कभी नहीं चूके। किंतु वे यह चाहते रहे कि कांग्रेस जैसी राष्ट्रवादी पार्टी का विघटन न हो, क्योंकि उन्हें लगता था कि इस विघटन से हुई रिक्ति क्षेत्रीयतावादी, सांप्रदायिकतावादी संकीर्ण दलों के उत्कर्ष का कारण बनेगी।

संघ परिवार के बारे में मधुजी के विचार शुरू से ही स्पष्ट थे। स्वाधीनता आंदोलन और उसके नेताओं के प्रति द्वेष-भावना से भरे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संबंध में उनके पास जो जानकारी उपलब्ध थी, वह संघ के बड़े-बड़े नेताओं के पास भी नहीं थी। इसलिए संघ परिवार के लोग मधुजी के लेखों को बड़े ध्यान से पढ़ते थे और कभी-कभी तो उनकी बातों का खंडन करने के लिए 'पाञ्चजन्य' तथा

'आर्गनाइजर' के कई-कई अंक समर्पित कर देते थे। जनता पार्टी के निर्माण के समय उन्हें पार्टी के सभी घटकों के अग्र संगठनों (छात्र, मजदूर संगठनों) की एकता का काम सौंपा गया था। जनता पार्टी के निर्माण से पहले सभी घटकों ने अपनी अलग पहचान को विसर्जित करने की सहमति जतायी थी। किंतु जब जनता पार्टी की सरकार बनी और जनसंघ धड़े को अपनी शक्ति का बोध हुआ, तो उसके नेता अपने वादे से मुकर गये और अपने अग्रसंगठनों का विलय न करने के लिए अड़ गये। उन्हें लगा कि वे अपने संगठनों के बल से जनता पार्टी पर कब्जा कर लेंगे। वे दोहरी निष्ठा को बनाए रखने के लिए उग्र रुख अपनाते गये और मधुजी को इस उग्रता का लक्ष्य बनाने लगे। मधुजी की जनसभाओं में हो-हल्ला मचाने के अलावा उन्होंने मधुजी को अपने पत्रों और बुद्धिजीवियों के माध्यम से जनता पार्टी के शत्रु के रूप में चित्रित करना शुरू किया और जब जनता पार्टी अंततः अनेक विरोधाभासों के चलते टूटी, तो उसका सारा दोष मधु लिमये के मत्थे मढ़ दिया। यह प्रचारित करके कि दोहरी निष्ठा का सवाल उन्होंने ही उठाया था और उसके कारण की पार्टी टूटी। मधुजी की दो भागों में प्रकाशित पुस्तक 'जनता पार्टी एक्सपेरिमेंट' में जनता पार्टी के बनने-टूटने का सारा इतिहास दिया गया है। इससे पता चलता है कि जनता पार्टी के टूटने के कई कारण रहे जिसमें दोहरी निष्ठा भी एक बड़ा कारण था। असली कारण तो विविध घटकों की स्वार्थ भावना थी और दोहरी निष्ठा उसी का एक पहलू था। उपर्युक्त पुस्तक के पहले खंड में संघ-परिवार के संबंध में जो लेख दिये गये हैं, वे संघ परिवार के असली चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। इनमें कई ऐसे प्रश्न उठाये गये हैं जिनका जवाब संघ परिवार के लोग न तब दे सके और न दे पायेंगे। यही कारण है कि संघ परिवार की नजर में मधु लिमये सबसे खौफनाक व्यक्ति बने रहे।

साम्यवादी पार्टियों के लगभग सभी नेताओं से अच्छी मित्रता के बावजूद मधु लिमये उनकी नीतियों की अपने लेखों में आलोचना करते रहे। प्रायः यह आलोचना इन पार्टियों द्वारा जड़ सिद्धांतों से चिपके रहने को लेकर होती थी। मधु लिमये मानते थे कि भाकपा की अपेक्षा माकपा अधिक डॉगमैटिक पार्टी है। उनका कहना था कि जब साम्यवादी चार दशकों से संसदीय राजनीति कर रहे हैं, तो फिर सर्वहारा की तानाशाही, रक्त-क्रांति और पार्टी-केन्द्रवाद के सिद्धांतों को तिलांजलि देने की खुली घोषणा ये पार्टियाँ क्यों नहीं करतीं? व्यवहार में तो वे इन सिद्धांतों को छोड़ ही चुकी हैं। सुपर स्ट्रक्चर और इंफ्रास्ट्रक्चर की दुविधा पर भी उन्होंने काफी हद तक काबू पा लिया है और अब वे सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं को केवल आर्थिक समस्या नहीं मानते हैं। आरक्षण व्यवस्था (मंडल आयोग की रिपोर्ट) को उनका समर्थन इस नयी दृष्टि का प्रमाण है। इसके अलावा मधुजी इसलिए भी साम्यवादी पार्टियों की आलोचना करते थे कि उनका नेतृत्व वृद्ध है और युवा-शक्ति को नेतृत्व सौंपने के मामले में वे बहुत कृपण हैं। उनका नेतृत्व अधिकतर सवर्ण जातियों के हाथ

में रहा है जबकि उनको जन-समर्थन गरीब तबकों और निम्न जातियों से अधिक मिलता है। मधुजी मजदूर संगठनों की राजनीति से भी क्षुब्ध थे और इसके लिए वे सभी पार्टियों के मजदूर संगठनों से अप्रसन्न थे, क्योंकि इन मजदूर संगठनों ने केवल वेतन-भत्तों की चिंता करके और उत्पादन तथा कार्य-नैतिकता की उपेक्षा करके सरकारी क्षेत्र के उद्योगों को बीमार बनाया और उनके निजीकरण की स्थितियाँ आमंत्रित कीं। गैट समझौते की नयी व्यवस्था के सामने हम आज इसीलिए विवश हैं कि हमने इन उद्योगों में उत्पादन और कार्य-नैतिकता पर ध्यान नहीं दिया।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सोशलिस्ट-कम्युनिस्ट इंटरएक्शन इन इंडिया' में उन्होंने समाजवादियों और साम्यवादियों के संबंधों पर व्यापक विचार-विश्लेषण किया और निष्कर्ष के रूप में उन्होंने दोनों के बीच एकता स्थापित करने का सुझाव दिया। उन्होंने कहा—"भारत में समाजवाद की शक्तियों के लिए समय खत्म होता जा रहा है। कम्युनिस्टों के लिए जरूरी है कि वे विचारधारात्मक मुहावरों से अपना पीछा छुड़ाएँ। समाजवादियों को चाहिए कि वे जिस भी पार्टी में हों, तुरंत अपने को सत्ता की राजनीति के जाल से मुक्त करें। यदि दोनों एक नहीं होंगे और नये आंदोलन की शुरुआत करके समाजवादी लोकतंत्र या लोकतांत्रिक समाजवाद की व्यापक आधार वाली पार्टी नहीं बनायेंगे, तो समाजवाद आने वाले वर्षों में हाशिये पर धकेल दिया जायेगा।"

गैट समझौते पर विश्व व्यापार संगठन की नई व्यवस्था से उत्पन्न स्थिति के संबंध में उन्होंने समाजवादियों और साम्यवादियों से कहा—"उपभोक्तावाद के आदर्श पर चलते हुए पश्चिम की गुलामी से मुक्त रहने की उम्मीद करना दिवा-स्वप्न होगा। यदि शिक्षित वर्ग सहित देश की जनता उपभोक्ता संस्कृति को नहीं छोड़ेगी, तो भारत पश्चिमी देशों और जापान का लकड़हारा और भिश्ती ही बना रहेगा।"

मधुजी की इच्छा थी कि समाजवादियों और साम्यवादियों का एक सशक्त वामपंथी संगठन बने, जो इस देश की आर्थिक-सामाजिक स्थितियों में आमूल परिवर्तन लाने का काम करें।

मधुजी को इस बात का दुःख था कि 1989 में जनता दल के रूप में जो शक्तिशाली समीकरण बना, वह बिखर गया और चार धड़ों में बँट गया। 1979 में जनता पार्टी के विघटन के समय मधु लिमये और उनके साथ के समाजवादियों ने चरणसिंह के नेतृत्ववाले धड़े के साथ मिलकर काम करने का निश्चय किया था। तब उन पर आरोप था कि उन्होंने समाजवादी सिद्धांतों का त्याग करके कुलक-शक्ति का साथ दिया। उनके अन्य समाजवादी साथियों—मधु दंडवते, सुरेन्द्र मोहन, चंद्रशेखर आदि—ने जनसंघ धड़े के साथ जनता पार्टी में रहना पसंद किया। मधु लिमये का निश्चित मत था कि पिछड़ी और किसान जातियों का समीकरण (लोकदल) ही कांग्रेस की सत्ता को भविष्य में चुनौती दे सकता है। उनकी इस धारणा की पुष्टि दिसंबर, 79 के चुनावों में हुई जब लोकदल धड़े को जनता पार्टी के शेष सब धड़ों की कुल

सीटों की तुलना में (जिसमें जनसंघ धड़ा, चंद्रशेखर धड़ा और संगठन कांग्रेस धड़ा शामिल थे), अधिक सीटें मिलीं। आगे चलकर इसी लोकदल धड़े के मुख्य आधार पर जनता दल का निर्माण हुआ क्योंकि इसका आधार मुख्य रूप से किसान, पिछड़ी, दलित जातियाँ और अल्पसंख्यक वर्ग था। यह काफी शक्तिशाली समीकरण था। इसकी काफी अच्छी सम्भावनाएँ थीं। इसने जनता दल के सारे धड़ों को (जनसंघ धड़े को छोड़कर) अपने में समेट लिया और वामपंथी दलों और भाजपा से तालमेल कर केन्द्र में सत्ता स्थापित की। किंतु दुर्भाग्य से जनता दल का नेतृत्व अपनी प्राथमिकताओं के मामले में ढुलमुल रहा और उसने पार्टी का संगठन मजबूत करने तथा उसे व्यापक बनाने के बजाय जोड़-तोड़ और तिकड़म की राजनीति करने का रास्ता अपनाया। मधु लिमये, जिन्होंने विश्वनाथ प्रताप सिंह पर बहुत उम्मीदें लगा रखी थीं, उनकी इस बात के लिए आलोचना करने लगे कि वे सिर्फ पद बाँटने और कमेटियाँ बनाने का काम कर रहे हैं और न पार्टी को मजबूत बनाने के लिए कुछ कर रहे हैं न ठोस निर्णय ले रहे हैं। मंडल रिपोर्ट को लागू करने का निर्णय उन्होंने देवीलाल को निकालने के बाद उनकी काट के लिए लिया। बाबरी मस्जिद-राम जन्म भूमि के सवाल पर वे दोनों पक्षों के साथ अलग-अलग बातें करते रहे और दोनों को एक साथ बिठाकर किसी निष्कर्ष को टालते रहे। भाजपा द्वारा रथ-यात्राएँ निकाले जाने पर भी वे साम्प्रदायिक माहौल के खराब होने की चिंता किये बिना जोड़-तोड़ में लगे रहे बल्कि अपनी ही पार्टी के मुख्यमंत्री (मुलायम सिंह) के पीछे भाजपा और विश्व हिंदू परिषद् से चुपचाप साँठ-गाँठ करते रहे। भाजपा द्वारा समर्थन वापस लिये जाने पर मधु लिमये चाहते थे कि विश्वनाथ प्रताप सिंह इस्तीफा देकर नये चुनाव कराने की सिफारिश राष्ट्रपति से करते। उनका विचार था कि ऐसा किया जाता, तो अयोध्या का बवंडर वहीं दब जाता क्योंकि सभी दल चुनावों की तैयारी में लग जाते। किंतु विश्वनाथ प्रताप सिंह ने दो सप्ताह का समय विश्वास-मत प्राप्त करने के लिए माँग लिया। इस बीच उन्होंने मुलायम को बलि का बकरा बनाकर भाजपा का समर्थन पुनः प्राप्त करने के लिए प्रयास किए किंतु मुलायम सिंह को इस षड्यंत्र का पता लग गया और वे जनता दल से अलग हो गए। बहरहाल वी. पी. की सरकार गिर गई और जनता दल के विधिवत् दो धड़े हो गए।

तब यह माना जा रहा था कि यदि मधु लिमये मोरारजी सरकार के दलबदल विरोधी विधेयक का विरोध न करते और विधेयक पास हो जाता, तो लोकदल धड़ा अलग न होता और सरकार बची रहती। किंतु मधु लिमये तो उस विधेयक का इसलिए विरोध कर रहे थे कि यही विधेयक जब इंदिरा गाँधी ने पेश किया था, तो सब विपक्षी नेताओं ने उसका विरोध किया था। बाद में जब राजीव गाँधी ने इस विधेयक को पेश किया, तब भी मधुजी ने संसद से बाहर आकर इसका विरोध किया जबकि सभी विपक्षी नेताओं ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। अब सब लोग इस कानून के

बदलने की बात कर रहे हैं लेकिन उस समय तो मधु लिमये को सभी लोग कोस रहे थे। मधुजी ने इस विधेयक/कानून का विरोध इसलिए किया कि यह असहमति के अधिकार पर पाबंदी लगाता था कि यह लोकतंत्र के लिए घातक है और इससे दलबदल रुकता नहीं था बल्कि थोक दलबदल को प्रोत्साहन मिलता था। गत वर्षों में इस कानून की आड़ में जिस भारी मात्रा में दलबदल हुआ और विधान मंडलों में अराजकता पैदा हुई, उसने मधुजी के मत की पुष्टि कर दी है।

रांगेय राघव

❑ **गोविंद रजनीश**

रांगेय राघव का जन्म 17 जनवरी, 1923 को आगरा में तमिलभाषी अयंगर परिवार में हुआ था। पिता श्री रंगाचार्य संस्कृत, फारसी और तमिल के उद्‌भट विद्वान थे, जिनकी देखरेख में पप्पू का लालन-पालन हुआ। रांगेय राघव के घर का नाम पप्पू, संस्कारी नाम तिरुमलनिंबाक्कम वीर राघव ताताचार्य था। ये मित्रों में आचार्यजी के नाम से विख्यात थे। कई पीढ़ी पहले ताताचार्य परिवार श्रीमूष्णम (दक्षिण आरकट) से चलकर जयपुर होता हुआ भरतपुर रियासत के वैर नामक स्थान पर आया था। यहीं पर पिता श्री रंगाचार्य रामानुज संप्रदाय के प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिर 'सीतारामजी का मन्दिर' के आचार्य रूप में प्रतिष्ठित हुए। मंदिर से लगी बारौली की जागीर इन्हें मिली। परिवार में सबसे छोटे होने के कारण पप्पू लाड़ले रहे। पिता के निधन के बाद माता कनकवल्ली का भरपूर स्नेह उन्हें मिला। कन्नड़भाषी होते हुए भी माँ का ब्रजभाषा पर पूरा अधिकार था। माँ के उदार एवं स्नेहशील व्यक्तित्व का रांगेय राघव की चेतना पर गहरा असर था।

बच्चों की शिक्षा के लिए श्री रंगाचार्य परिवार सहित वैर से आगरा आ गए। आगरा के सेंट जोंस स्कूल में रांगेय राघव ने प्रारंभिक शिक्षा पाई। इण्टर के बाद इनकी शिक्षा सेंट जोंस कॉलेज में हुई। इन्होंने 21 वर्ष की आयु में हिन्दी से एम. ए. और 25 वर्ष की आयु (1948) में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। इन्होंने पी-एच. डी. के लिए 'गोरखनाथ और उनका युग' पर शान्तिनिकेतन में रहकर शोध कार्य किया। यहीं पर उन्होंने संगीत व चित्रकला का अभ्यास किया। बाद में कविताओं के भावसाम्य पर उन्होंने अनेक चित्र बनाए। जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। 'भामिनीविलास', 'ऋतुसंहार; व 'किरणें बुहार लो' के चित्रों पर शांति निकेतन शैली का पूरा प्रभाव है। पिता ने मंदिर का आचार्यत्व दिलाने के लिए उन्हें पं. बालकेश्वर शास्त्री से संस्कृत का गहन अध्ययन कराया, किन्तु प्रगतिशील चेतना के कारण उन्होंने मंदिर और उससे लगी जागीर से अपने

को असंपृक्त कर लिया। बाद में यह दायित्व उनके मँझले भाई श्री टी. एन. के. आचार्य को मिला। सबसे बड़े भाई श्री लक्ष्मी नरसिंह आचार्य पहले ही उत्तर प्रदेश की सिविल सर्विस में आ गए थे।

रांगेय राघव की प्रथम रचना टी. एन. वी. आचार्य के नाम से कॉलेज पत्रिका में छपी थी। यह लंबा नाम हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल समझकर वे 1939 से रांगेय राघव के नाम से नियमित तौर पर लिखने लगे। 'रांगेय' (रंगापुत्र) के साथ अपने नाम का 'राघव' शब्द जोड़कर उन्होंने यह नाम गढ़ा था। उस समय उनके अवचेतन पर गांगेय का व्यक्तित्व अधिक हावी था। अटल, दृढ़व्रती व्यक्तित्व, अविवाहित रहने और कर्म करने का अटूट संकल्प गांगेय से साम्य रखते हैं। अपने अंतिम समय में इस अद्भुत चरित्र को बड़ी गरिमा और उदात्तता से उन्होंने अपने महाकाव्य 'उत्तरायण' में उतारना चाहा था। इसका एक सर्ग वे पूरा कर चुके थे। भावविभोर होकर उन्होंने इसे कई बार सस्वर सुनाया था। इसे लिखना उनके जीवन की सबसे बड़ी साध थी, जो पूरी न हो सकी।

गोरखनाथ के जीवन और साहित्य पर उन्होंने प्रचुर मात्रा में सामग्री संकलित की थी। गोरखनाथ के व्यक्तित्व का विश्लेषण और उस काल के सामाजिक परिवेश की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या इस शोध के महत्त्वपूर्ण अंश हैं। रांगेय राघव ने गोरखनाथ के व्यक्तित्व को आत्मसात् किया था। मत्स्येन्द्रनाथ योगी और भोगी थे जबकि गोरखनाथ वैरागी। साधना के लिए वैरागी रूप के चयन में गोरखनाथ का भी योग है। गोरखनाथ के समान ही रांगेय राघव का व्यक्तित्व भी भव्य एवं सुन्दर था। गौरवर्ण, उन्नत व दीप्त भाल, रोमनों जैसी सुघड़ नासिका, पतले और तराशे हुए होठों व बड़ी-बड़ी आँखों में कभी व्यंग्यभरी मुस्कान, कभी चुटकी लेती शरारत, कभी कोमल, स्निग्ध और ममताभरी मुस्कराहट नाचती और झाँकती रहती थी। साधनामूलक अहंकार से सामयिक रचनाकारों और आलोचकों को चुनौती देते हुए उनके 'गोरखीय' व्यक्तित्व में एक अजीब आकर्षण था। 'गोरखनाथ और उनका युग' के माध्यम से रांगेय राघव ने मध्यकालीन संस्कृति और इतिहास पर व्यापक अध्ययन व मनन किया था जो उनकी कई कृतियों में व्यंजित हुआ है।

रांगेय राघव ने प्रगतिशील साहित्यिक आंदोलन के अभ्युदय के साथ हिंदी के साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश किया और उसी के विकास के साथ उनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन और विकास हुआ। 1939 के लगभग आगरा में प्रगतिशील लेखक संघ की सभाएँ प्रति सप्ताह होती थीं। संघ का तब व्यापक आधार था। इन सभाओं में बाबू गुलाबराय, डॉ. नगेन्द्र, डॉ. सत्येन्द्र, विश्वंभर मानव, नेमिचन्द्र जैन और भारतभूषण अग्रवाल बराबर भाग लेते थे। लगभग हर बैठक में रांगेय राघव कविता, कहानी या उपन्यास का अंश लिखकर लाते और सुनाते थे। प्रगतिशील लेखक संघ के सभी सदस्य उनकी प्रतिभा से चकित थे।

रांगेय राघव की पहली औपन्यासिक कृति 'घरौंदे' (1946) है। हिन्दी कथा-साहित्य में कॉलेज जीवन पर लिखा हुआ उनका यह प्रथम उपन्यास था। इस कृति के माध्यम से रांगेय राघव एक ऐसे आस्थावादी लेखक के रूप में उभरे जो यथार्थ के आवरण में छिपी संगठित शक्तियों का अन्वेषी और जीवंत शक्तियों का पक्षधर था। उनका विद्रोही रूप इस कृति में अधिक उभरा है जो समाज-व्यवस्था की विगलित, जड़ और कुंठित रूढ़ियों, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद तथा सामंतवाद के प्रति तीव्र घृणा से जलता-उबलता है। 'घरौंदे' के बीच-बीच में आए उद्बोधन और कथन इसके प्रमाण हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ यहाँ उनका बौद्धिक साहचर्य न होकर रागात्मक अंतरावलोकन है। 'घरौंदे' से लेकर 'आखिरी आवाज़' तक रांगेय राघव की यही कोशिश कभी अनंत हाहाकार बनकर कभी अपराजित जिजीविषा के रूप में व्यक्त हुई है। 'घरौंदे' रांगेय राघव की प्रथम कृति होते हुए भी उनकी परिष्कृत गद्य-शैली में पकते-जमते जीवनानुभवों की तलाश है। उसका महत्त्व मानवीय और निजी संभावनाओं की खोज में है।

इस दौरान रांगेय राघव भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के प्रति ब्रिटिश साम्राज्यवाद की हिंसात्मक एवं दमनकारी नीतियों से क्षुब्ध रहे। यह क्षोभ उनकी कविताओं और रिपोर्ताजों में विशेष रूप से लक्षित होता है। रांगेय राघव में अनुभवों से सीधे साक्षात्कार करने और स्थितियों से टकराने की क्षमता और आकांक्षा थी। वे अन्य प्रगतिवादियों की तरह केवल सिद्धांतों के बखान में अपने को चुकाने की अपेक्षा स्थितियों को रचनात्मक और वास्तविक धरातल पर भोगने में विश्वास रखते थे। यही कारण है कि उन्होंने 1943-44 में बंगाल के अकाल में आगरा के डॉक्टरी जत्थे के साथ जाकर और घर-घर घूमकर 'रिलीफ' कार्य किया था। बंगाल की अभिशप्त और संतप्त भूमि के भयावह दृश्य, रौरव का हाहाकारी रूप, हास-विलास में आकंठ डूबे वणिक वृत्ति के अंग्रेज़ बैतालों का पैशाचिक अट्टहास, रांगेय राघव को बुरी तरह झिंझोड़ गया था। धार तो रांगेय राघव में पहले से ही थी, अकाल ने उसे सान पर चढ़ाकर और तेज बना दिया। लौटकर रांगेय राघव ने बंगाल के अकाल पर सशक्त और दहकते रिपोर्ताज लिखे। रिपोर्ताज के रूप में उन्होंने हिन्दी गद्य को एक नई विधा दी। इन्हीं रिपोर्ताजों का संग्रह 'तूफानों के बीच' में हुआ है। रांगेय राघव के प्रारंभिक लेखन में तूफानी गति, निर्बाध प्रवाह और प्रचण्ड आवेग था। दूसरी ओर उनमें करुणाजन्य मानवतावादी दृष्टि व विद्रोह का ताप था। वे 'तूफानों के बीच' में लिखते हैं—
"उनकी इस दशा पर आँसू बहाने के बदले उनसे घृणा करने वाले धर्मध्वजियों का अभाव नहीं था। उनके मुखोपाध्याय ऐसे थे जो क्षुधित-पीड़ित चमार के घाव पर पट्टी बाँधने वाली, दान के अहं की छलना और गर्व की भावना से हीन सेवा का व्रत लेने वाली, किंतु अपनी क्षुधा के कारण सतीत्व को बेचकर भी पतियों की सेवा करने वाली नारी के प्रति घृणा, ग्लानि और आक्रोश प्रकट करने में ही गौरव अनुभव करते थे और अन्न को चुराने वाले ऐसे मारवाड़ी सेठों का भी अभाव नहीं था, जो

हर घर में वेश्या होने का वर्णन करने में और बंगाल के चरित्र पर टीका-टिप्पणी करने में गर्व का अनुभव करते थे।

अकाल से नाजायज फायदा उठाने वाले इन मुनाफाखोरों, महाजनों व साम्राज्यवादियों पर व्यंग्य धीरे-धीरे आक्रोश में बदल जाता था—''आज मैं रोऊँगा नहीं क्योंकि रोकर नहीं बचेगा बंगाल। सुलगानी होगी हममें उन खूनियों के प्रति नफरत की आग जो तहस-नहस कर दे। डाकुओं और ठगों का यह गिरोह जो खून से भीगे दाँत लेकर हँस रहा है और जिसकी कड़ी उँगलियों में फँसी माँ की गर्दन अभी छटपटा रही है।''

बंगाल के अकाल पर उन्होंने 'विषादमठ' (1946) नामक उपन्यास लिखा था जो बंकिम बाबू के 'आनंद मठ' से भिन्न चित्र उपस्थित करता है। रांगेय राघव साहित्य की सामाजिक भूमिका को महत्त्व देते थे। बंगाल के अकाल के समय अथक साधना से उन्होंने बंगभूमि की व्यथा के प्रति भारतीय चेतना को जाग्रत किया। इस दौरान अकाल पर उन्होंने अनेक उद्‌बोधक गीत लिखे जिन्हें इप्टा के कलाकारों के साथ उन्होंने स्वयं गाया और अकालपीड़ितों के लिए चन्दा एकत्र किया। उन्होंने अकाल पर एक नृत्य नाटिका भी लिखी, जिसका मंचन अपने निर्देशन में आगरा में कराया।

उस समय के माहौल में अजीब सनसनी थी। स्वाधीनता संग्राम का अंतिम दौर, बंबई के जहाजियों की हड़ताल, लाठीचार्ज, ग्वालियर आदि में गोलीकांड और उनसे कदम मिलाते हुए रांगेय राघव के रिपोर्ताज 'हंस' में अपनी तूफानी गति से निकल रहे थे। ग्वालियर गोलीकांड पर लिखा हुआ उनका रिपोर्ताज उस समय काफी चर्चित हुआ था। रिपोर्ताजों की भाषा और अभिव्यक्ति सरल, प्रवाहमयी, लाक्षणिक और व्यंग्य प्रधान है। इनके माध्यम से रांगेय राघव ने हिंदी जगत् का ध्यान अपनी ओर तेजी से खींचा था।

रांगेय राघव ने मूलतः कविहृदय पाया था। मायकोवस्की जैसी तड़प, हाहाकार और वज्रनिनाद का जीवंत रूप उनकी कविताओं में मिलता है। संवेदना की ताज़गी, मानवतावादी दृष्टि और सामयिक विसंगतियों के प्रति विद्रोह की सशक्त व्यंजना उनके काव्य के प्रमुख आधार हैं। यह उस कवि का दुर्भाग्य ही था कि उसकी प्रतिभा काव्येतर विधाओं में लीन हो गई। एक बार उन्होंने मुझसे कहा भी था—''मैं मूलतः कवि हूँ परिस्थितियों ने मुझे उपन्यासकार और अनुवादक आदि सब कुछ बना दिया है।'' उनकी 'मेधावी', 'अजेय खँडहर, 'पिघलते पत्थर' और 'राह के दीपक' जैसी कृतियाँ वादप्रवाह में अचर्चित रहीं और 'मेधावी' की उदात्त गरिमा शनैः-शनैः उपन्यासों, कहानियों, नाटकों व आलोचनाओं में डूब गईं जबकि उन्हें इस कृति पर 1946 में 'हिन्दुस्तानी अकादमी' से सर्वश्रेष्ठ हस्तलिखित काव्यकृति का पुरस्कार मिला था।

रांगेय राघव ने 1938 से ही कविता लिखना प्रारंभ कर दिया था। 'अजेय खँडहर' (1944) उनका पहला खण्डकाव्य था, जिसमें उन्होंने स्तालिनग्राद में लड़े

गए युद्ध में लाल सेना के शौर्य और नाज़ियों की बर्बरता के मर्मस्पर्शी चित्र उकेरे हैं। स्तालिनग्राद के संघर्ष को रांगेय राघव ने भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन से संपृक्त करके अपनी राष्ट्रीय प्रतिबद्धता और अंतरराष्ट्रीय बोध को व्यक्त किया है। उसमें उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की भूमिका को नाजियों की बर्बरता के समकक्ष ठहराया है। 'पांचाली' और 'रूपछाया' पौराणिक मिथकों और संदर्भों को लेकर लिखी गई कृतियाँ हैं, जिनमें रांगेय राघव का प्रगतिशील व्यक्तित्व उभरकर सामने आया है। 'पिघलते पत्थर' (1946) और 'राह के दीपक' (1948) कविताओं व गीतों के संग्रह हैं जिनमें तपन, वैयक्तिक संवेदन, विद्रोह और अवसादपूर्ण मनःस्थितियों के चित्र हैं। इन कविताओं के बीच कुछ ऐसे भी गीत हैं जिनमें व्यष्टि और समष्टि का सामंजस्य है। अनुभूति अपनी व व्यथा सबकी है। संवेदना सबकी और सौंदर्य की इयत्ता अपनी है।

रांगेय राघव की वैचारिकता का जो रूप 'अजेय खँडहर' में मिलता है, उसका और भी निखरा एवं व्यापक रूप 'मेधावी' (1947) में है। 'मेधावी' में कवि ने सृष्टि के उद्‌भव व मानव के आविर्भाव के साथ इतिहास की प्रमुख घटनाओं की प्रगतिशील भूमिका को स्पष्ट किया है और ह्रासोन्मुख स्थितियों की गहरी काट की है।

सारे जीवन रांगेय राघव को यह दुःख सालता रहा कि उनका कवि समग्र रूप से अभिव्यक्त नहीं हो सका है। उसके कई कारण हैं। रांगेय राघव के पास चिंतन का कच्चा माल तो था, परंतु वह उस कीमियागीरी से रहित थे, जो अनुभव की वैयक्तिकता को कला की निर्वैयक्तिकता में ढाल देती है। कविता अंतर्विरोधों का व्यक्त रूप है, जिसमें अंतःसंघर्ष और बाह्यसंघर्ष अपनी प्रबल भूमिका अदा करते हैं। रांगेय राघव ने अंतःसंघर्ष झेला था, बाह्यसंघर्ष नहीं। संघर्ष के इस रूप को झेले बिना कविता में जान और अर्थवत्ता नहीं आ पाती।

प्रेरणा, अनुभव, विचार और संवेदनाएँ पकने, ढलने, निखरने और मूर्त होने में संयम और धैर्य की अपेक्षा रखती हैं। प्रभंजन-सी गति वाले रांगेय राघव के पास इतना संयम व धैर्य नहीं था। उनकी अंतिम कोशिश 'उत्तरायण' के रूप में व्यक्त होती है जो एक सर्ग से आगे नहीं बढ़ पाया। 'मेधावी' उनकी उत्कृष्ट काव्यरचना है, जिसका सही मूल्यांकन नहीं हुआ।

इस दौरान रांगेय राघव ने अनेक कहानियाँ लिखीं जो 'देवदासी', 'साम्राज्य का वैभव', 'जीवन के दाने', 'अंगारे न बुझे', 'समुद्र के फेन' आदि संग्रहों में संकलित हैं। 'पंच परमेश्वर', 'देवदासी', 'नई जिंदगी के लिए' कहानियाँ काफी चर्चित हुईं। रांगेय राघव की इन कहानियों में आगरे का मुहावरा था। नगर के विभिन्न हिस्सों, गली-कूचों में घूमकर ये कहानियाँ लिखी गई थीं। बाग मुज़फ़्फ़र खाँ में हुई गड़रियों की एक पंचायत ने ही 'पंच परमेश्वर' लिखने की प्रेरणा दी थी।

रांगेय राघव में जनजीवन से निरंतर जुड़े रहने की उत्कट इच्छा थी। इसके लिए जब भी जैसा भी मौका मिला, उन्होंने उसका उपयोग किया। 1948 में उनका

श्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास 'मुर्दों का टीला' प्रकाशित हुआ। प्रागैतिहासिक काल की सैंधव संस्कृति के विशाल कैनवास को आधार बनाते हुए रांगेय राघव ने उत्खनन से प्राप्त सामग्री और कल्पना-शक्ति के आधार पर 'मुर्दों का टीला' का भव्य और विराट् परिवेश अंकित किया है। यह अतिप्राकृत शक्ति द्वारा महानगर के विनाश की महागाथा है, जिसके माध्यम से द्रविड़ सभ्यता और संस्कृति के वैभव और विलासमय सुनहले युग की मोहक परिकल्पना की गई है। गणराज्य व्यवस्था, विशाल पोत, सुदूर पश्चिम तक फैला हुआ व्यापार, विशाल स्नानगृह, कूटनीति के दाँव-पेंच, मदिरा, नर्तकी और अबाध विलास से युक्त सैंधव सभ्यता के वर्णन 'अंकिल टाम्स केबिन' और 'दि लास्ट डेज ऑफ पांपिआई' के वर्णनों जैसे भव्य हैं। इस उपन्यास में रांगेय राघव ने कुछ पात्रों के मानवीय और उदात्त रूप की सुंदर व्यंजना की है। विल्लिभित्तूर, नीलूफर, हेका, विश्वजितू और अपाप ऐसे ही पात्र हैं। मणिबंध अपनी कुटिलता के बावजूद एक सशक्त पात्र है। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में 'मुर्दों का टीला' का विशिष्ट स्थान है। इसकी शैली में वह प्रवाह है जो कमजोरियों को अपने में बहाता हुआ चलता है और एक भरी-पूरी सभ्यता के समूचे परिदृश्य को मूर्त कर देता है।

रांगेय राघव 'क्लासिक' परंपरा के लेखक हैं। यह रूप उनकी काव्यसर्जना और उसके पाठ में, औपन्यासिक रचनाओं में भलीभाँति दिखाई पड़ता है। 'मुर्दों का टीला' से 'आखिरी आवाज' तक रांगेय राघव का मन अतीत से समकालीन के बीच भटकता रहा है। पुरातत्त्व व इतिहास का प्रेम उन्हें अतीतोन्मुखी बना देता है। उसी को मानसिक स्तर पर जीते हुए रांगेय राघव ने 'विषादमठ', 'चींवर', 'प्रतिदान', 'पक्षी और आकाश', 'राणा की पत्नी', 'महायात्रा' तथा 'देवकी का बेटा', 'यशोधरा जीत गई', 'लखिमा की आँखें', 'लोहे का ताना', 'रत्ना की बात', 'भारती का सपूत' आदि जीवनीपरक उपन्यास लिखे थे। वैर के पुरातत्त्वीय महत्त्व पर अंग्रेजी में लिखी गई 60-70 पृष्ठों की रिपोर्ट 'ॲन आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ वैर' भी उसी पुरातत्त्वीय प्रेम की सूचक है। भारतीय इतिहास की उन्होंने भौतिकवादी व्याख्या की। इतिहास जहाँ पुरातत्त्व से समर्थित नहीं है, वहाँ रांगेय राघव ने परम्परा में इतिहास को खोजने का प्रयास किया है। 'प्राचीन परम्परा में इतिहास' और 'महायात्रा' के दोनों खंड उनकी इतिहास-परक रचनाएँ हैं। 'प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास' पर 1951 में डालमिया पुरस्कार मिला था।

रांगेय राघव ने आलोचना, निबंध और नाटक भी लिखे। नाटकों में 'विरूढ़क' 'स्वर्गभूमि का यात्री', 'रामानुज' आदि प्रमुख हैं। गोवा के मुक्ति आन्दोलन पर उनका पूर्णकालिक नाटक 'आखिरी धब्बा' 'इप्टा' आगरा द्वारा अनेक बार मंचित हुआ था। इसके गीत, यथार्थ मूलक संवाद, नया शिल्प और छायाभिनय काफी चर्चित हुए थे। इस क्षेत्र में उनके उल्लेखनीय प्रयास 'मृच्छकटिकम्' और 'मुद्राराक्षस' के अनुवाद

हैं। 'संगम और संघर्ष' तथा 'भारतीय चिंतन' निबंध-संग्रह हैं। आलोचना के क्षेत्र में 'काव्य, कला और शास्त्र' 'काव्य, यथार्थ और प्रगति', 'प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड' 'समीक्षा और आदर्श', 'महाकाव्य विवेचन', 'आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और शृंगार', 'आधुनिक हिन्दी कविता में विषय और शैली' उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

काव्य में 'रस' के महत्त्व को उन्होंने नकारा नहीं, अपितु उसकी समाजवादी व्याख्या करते हुए साधारणीकरण को 'रस की सामाजिकता' के रूप में स्वीकृति दी— "काव्य का मनोविज्ञान नीरस नहीं हो सकता। वह वर्गीकृत विचारों और अनुभूतियों का वैज्ञानिक विश्लेषण भर बनकर प्रभाव नहीं डाल सकता। दुरूह से दुरूह मानसिक उलझन काव्य का विषय हो सकती है, किंतु वह तभी काव्य बन सकती है जब न केवल सामाजिक रूप धारण करे, वरन् अभिव्यक्ति में ऐसी हो जिसे दूसरे भी समझ सकें। इसी को साधारणीकरण कहते हैं।" (काव्य, कला और शास्त्र) उन्होंने मार्क्सवाद को एक वैज्ञानिक खोज के रूप में लिया और सापेक्ष सत्य की परख का माध्यम बनाया। उन्होंने मार्क्सवाद को देश, काल और परिस्थिति के आयामों में रखकर जनता के संघर्ष को व्यक्त किया।

वे समाज की मूल विकृति सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण की असमानता और शोषण को मानते थे। उसके लिए उन्होंने अपनी कृतियों में समाजवादी यथार्थ का पोषण और समर्थन किया। रांगेय राघव का व्यक्तित्व स्वतंत्र चिंतन और प्रचंड मेधा से निर्मित था। उनका वैचारिक धरातल मार्क्सवादी अनुचेतना से अनुप्राणित था पर इसके लिए उन्होंने पार्टी लिटरेचर नहीं लिखा। वे 'पर्सनैलिटी कल्ट' और पार्टी के एकाधिकार के विरोधी और लेखकीय स्वतंत्रता के हामी थे। उनका लेखन मार्क्सवादी फ्रेमवर्क के रहते हुए भी काफी उदार और विशुद्धतः मानवतावादी है। कुत्सित समाजशास्त्र की उन्होंने आलोचना की है। मार्क्सवादी धारणाओं को लेकर रांगेय राघव और रामविलास शर्मा में काफी सैद्धान्तिक मतभेद था। लेकिन वैयक्तिक स्तर पर दोनों के सम्बन्ध सौजन्यपूर्ण रहे। रांगेय राघव की मान्यता थी कि 'रूस के साम्यवादी दल का इतिहास आतंकपूर्ण रहा है जबकि भारतीय साम्यवादी दल का इतिहास गलतियों का इतिहास रहा है।' इसके बावजूद वे मानते थे कि साम्यवादी दल और समाजवादी शक्तियाँ ही भारत का नवनिर्माण कर सकती हैं। भारतीय इतिहास, धर्म, दर्शन, कला और साहित्य की व्याख्या उन्होंने मार्क्सवाद के सुसंगत एवं ठोस आधार पर की है।

'मुर्दों का टीला' उनकी प्रतिभा का उच्चतम शिखर था। 1948 से उनके साहित्य में बिखराव आया। तब रांगेय राघव ने बहुत लिखा। महीने में दो-तीन कृतियों का निकलना सामान्य बात थी। लोग हैरत में पड़े थे। फिर निंदा और फुसफुसाहटों का जो बाजार गर्म हुआ, वह अपवाद की इस सीमा तक पहुँचा कि रांगेय राघव काग़ज़ तोलकर लिखते हैं। पहली पंक्ति लिखकर शेष की पूर्ति बाद में करते हैं आदि-आदि।

पर यह बात सही नहीं है कि अधिक लिखना हमेशा घटिया लिखना है। रांगेय राघव की शायद ही ऐसी कोई कृति हो जो शिल्प और कथ्य की दृष्टि से बहुत कमजोर हो। वस्तुतः रांगेय राघव में ऐसी अजस्र बहुमुखी प्रतिभा थी कि वह कृतियों में सिमट नहीं पा रही थी। एक ओर ज्ञान की ऐसी पिपासा कि उसे मुट्ठी में बाँधने का संकल्प, दूसरी ओर उसे शब्दबद्ध करने की अधीर किंतु बलवती लालसा। यही कारण है कि 140 पुस्तकें—काव्य, नाटक, उपन्यास, आलोचना, समाजशास्त्र, अपराधशास्त्र, मानवशास्त्र, इतिहास और संस्कृति पर जिस थिरकती-फुदकती गति से आई वैसी गतिशीलता और आनन-फानन की शक्ति भारतीय भाषा के किसी भी लेखक के पास नहीं थी। सुविधाजीवी लेखकों के लिए यह तथ्य अचरज का विषय हो सकता है; पर दस-बारह घण्टे की बैठक, लेखन की अटूट तल्लीनता और रचनात्मकता से परिपूर्ण ऐसी प्रतिबद्धता विरल है। विपुल लेखन में केवल राहुल ही रांगेय राघव के समकक्ष ठहरते हैं। वस्तुतः रांगेय राघव के पास प्रचंड मेधा थी जिसके साथ थोड़े समय में सब कुछ उँडेल देने की प्रबल लालसा जुड़ी हुई थी। उनका विश्वास बाँटने में था, बटोरकर सँवारने में नहीं। बाँटने के लिए ही उन्होंने लंबे समय तक वैर में रहकर बदलते ग्रामीण यथार्थ का खाका खींचा था और 'अलख' जगाया था। नटों और लोहपीटों के समीप रहकर उन्होंने 'कब तक पुकारूँ' और 'धरती मेरा घर' का ताना-बाना बुना था और 34 वर्ष की आयु तक एकाकी जीवन का अभिशाप ओढ़ा था। रांगेय राघव चाहते तो किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में अध्यापन कर सकते थे। ऐसे आग्रह उनसे किए भी गए थे किंतु उन्होंने इन प्रस्तावों को गंभीरता से नहीं लिया। यह रांगेय राघव की भूल थी। जिसका अहसास उन्हें 1961 में हुआ। तब रांगेय राघव ने मुझसे यह इच्छा जाहिर की थी, काश! उनकी आय का स्थायी जरिया होता और वे 'मन की मौज' में लिखते। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी और मौत दरवाजा खटखटा रही थी।

रांगेय राघव ने साहित्य को व्यावसायिक स्तर पर न लेकर 'इन्ट्यूशन' से प्रेरित होकर लिखा होता तो उनके साहित्य में इतना बिखराव न आता। उन्होंने जीवन की अनिवार्यताओं के त्याग के साथ ऐसा कठोर जीवन स्वेच्छा से चुना था। उस समय बहसें कॉफी हाउसों तक सिमटकर रह गयी थीं। उनका इन सबसे दूर निभृत एकांत में अपनी साधना में लीन रहना सुखद अचरज की बात है।

सन् 1954 में रांगेय राघव वैर आ गए। यह उनकी प्रतिभा के विस्फोट का दूसरा और आखिरी दौर था। इन्हीं दिनों गर्दन पर उठा फोड़ा रक्त कैंसर का प्रारंभिक रूप बना जिसका इलाज 'कब तक पुकारूँ' का नायक सुखराम कपड़ों के तह में लिपटी गर्म ईंट से सेंक करके और जड़ी बूटी का रस पिलाकर कर रहा था।

रांगेय राघव की रचना-प्रक्रिया अनुभवों के सीधे साक्षात्कार से जुड़ी हुई थी। सुखराम ने जड़ी-बूटियों के साथ जो कथा रस दिया था, वही पककर 'कब तक पुकारूँ'

(1957) में रूपायित हुआ। नटों के डेरे हर साल फुलवाड़ी में लगते रहे। रांगेय राघव हर अनुभव और भोगे हुए यथार्थ से अपने उपन्यास को सँजोते रहे। 'कब तक पुकारूँ' सुखराम के शोषण की वह गाथा है जिसको रांगेय राघव ने प्रेमचन्दोत्तर युग के बदलते ग्रामीण यथार्थ के साथ चित्रित किया है। समाज के उपेक्षित जरायमपेशा नटों के रहन-सहन, मान्यताओं, परंपराओं और यौन सम्बन्धों को रांगेय राघव ने बड़ी ही यथार्थपरक-सशक्त अभिव्यक्ति दी है।

रांगेय राघव का कवि-व्यक्तित्व रचनात्मक स्तर पर कथाकार-व्यक्तित्व में संक्रमित होता रहा है। 'घरौंदा', 'मुर्दो का टीला', उनके जीवनीपरक समस्त उपन्यास और 'कब तक पुकारूँ' में कविता की लय विद्यमान है। उपन्यास में कविता का निषेध नहीं होता बल्कि उपन्यास की आंतरिक संगति में इसकी एकतानता आवश्यक हो जाती है। रांगेय राघव यह एकतानता बनाए रखने में सफल हुए हैं।

'कब तक पुकारूँ' में लेखक के हृदय की आंतरिक पुकार है। यह पुकार रांगेय राघव के मानवतावादी दृष्टिकोण को पुष्ट करती है। वह आधुनिकता की चुनौती को जनवादी दृष्टि और समष्टि चिंतन के धरातल पर स्वीकारते हैं—''शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी। वह मिट जाएगी। सत्य सूर्य है। वह सदैव मेघों से घिरा नहीं रहेगा। मानवता पर से यह बरसात एक दिन अवश्य दूर होगी और तभी शरद में नए फूल खिलेंगे, नया आनन्द व्याप्त हो जाएगा।''

'कब तक पुकारूँ' क्लासिकी परंपरा का उपन्यास है जिसमें रांगेय राघव ने पात्र की कथा उसी के मुख से कहलाकर प्रेमचंद की सर्वसमर्थ और सर्वव्यापक शैली से हटकर सीमित दृष्टिकोण वाली शैली अपनाई है। पात्रों की मानसिकता और निषिद्ध भावों को उजागर करने के लिए रांगेय राघव ने स्वगत कथन (सॉलिलोकी) का खुलकर प्रयोग किया है। उनके पात्र छिपकर दूसरे पात्रों के संवादों को सुनते व ताक-झाँक में पूरी दिलचस्पी लेते हैं। यह 'वोयरिज्म' की प्रवृत्ति साहित्य की समस्त विधाओं पर आधिपत्य करने के मूल में भी है।

प्रतिभा के उन्मेष और उत्कृष्ट लेखन की दृष्टि से रांगेय राघव के जीवन का पहला दौर 1943 से 1948 के बीच का था, जब 'घरौंदा', 'पंच परमेश्वर', 'मेधावी', और 'मुर्दो का टीला', जैसी श्रेष्ठ कृतियाँ लिखी गईं। दूसरा दौर 1953 से 1956 तक का है, जब 'कब तक पुकारूँ' और 'गदल' जैसी जेनुइन कृतियाँ लिखी गईं। इन दोनों कृतियों में अनुभव की प्रामाणिकता और संवेदना की ईमानदारी है। 'गदल' हिन्दी की सर्वाधिक चर्चित कहानियों में से है। यह डाँग में भोज की एक सच्ची घटना पर आधारित कहानी है। उस सामान्य घटना की संवेदना को नया मोड़ देते हुए रांगेय राघव ने गदल के जटिल चरित्र को बनाया। दो पात्रों के अद्भुत तनाव के बीच भावनात्मक लगाव, उत्कट प्रेम और बलिदान का व्यक्त रूप बड़ा प्रभावी बन गया है। 'गदल' के शिल्प में बड़ी कसावट है। 'गदल', 'कफन' और 'नयी कहानी'

के विकास की मंजिलों को जोड़ने वाली कड़ी है। रांगेय राघव ने इस कहानी के माध्यम से मानवीय संवेदनाओं और संबंधों की गहरी पहचान कराई है और 'गदल' जैसा ओजस्वी और चट्टानी व्यक्तित्व हिन्दी कथा-साहित्य को दिया है। इस बीच रांगेय राघव की जनवादी और मानवतावादी दृष्टि में आशावादी तत्त्व अधिक रहा है। 'मेधावी' में वे कहते हैं—

एक दिन मानव का श्रम श्वास,
मिटा देगा यह पाप महान।
विश्व होगा केवल सुख स्थान,
एक घर-सी होगी यह भूमि।
और भौतिक के दुख से चूर,
बनाएँगे मानव वह पंथ
जहाँ शोषण का रहे न नाम!

'कब तक पुकारूँ' में भी सुखराम की कथा के माध्यम से शोषण की घुटन से मुक्ति का आशावादी स्वर व्यक्त किया गया है। 'आखिरी आवाज' की भूमिका में कहा गया है—''मेरी किसी आदर्श में आस्था नहीं, मेरी आस्था मानव में है, उसके शाश्वत कल्याण में है।'' 'धरती मेरा घर' में भी यही स्वर है—''आकाश को ऐसा ही खुला रहने दो। धरती को मत बाँधो। तुमने जो बीच-बीच में दीवारें खड़ी कर दी हैं, उन्हें गिरा दो क्योंकि वह तुम्हीं ने बनाई हैं। आज मैं निर्मल और स्वतंत्र हूँ, क्योंकि आकाश मेरी छत है और धरती मेरा घर।''

इस प्रकार रांगेय राघव की हर रचना उनके जनवादी और मानववादी दृष्टि का प्रतिफल है। इससे रांगेय राघव पर 'सोद्देश्यवादी' लेखक का ठप्पा लगाया जा सकता है, किंतु बिना उद्देश्य के समाज के पुनर्निर्माण की प्रक्रिया सदैव अधूरी रही है।

रांगेय राघव ने अपनी एकांत साधना के लिए वैर के सुरम्य, शांत और नीरव परिवेश को ही चुना। सीता-राम के विग्रह से युक्त धवल वैष्णव मंदिर का ऊपरी कक्ष उनका साधना-स्थल बना। जेठ की भयानक तपन के बाद बारादरी को पानी से ठंडा कर दिया जाता था। शाम को जीवद के बने मूढ़ों पर मुलाकाती बैठे रहते। मंदिर के सामने नहर (जिसको 'कब तक पुकारूँ' में झील कहा गया है) से आवेष्टित अधूरा किला था जिसकी उन्नत बुर्जियाँ ऊपर उठने के लिए चुनौती दिया करती थीं। पीछे थी फुलवारी जिसमें रात की रानी, मौलश्री, बेला, नींबू, करौंदे की मिली-जुली भीनी-भीनी गंध परिवेश को और भी मोहक और रहस्यमय बनाती रहती थीं। साँझ होते ही धोती-कुरता पहने, हाथ में बेंत लिये, रांगेय राघव दौलाबाग, रेस्ट हाउस, नौलक्खाबाग की तरफ निकल जाते थे। उन दिनों फुलवारी में नटों के डेरे पड़े रहते थे। उनके समीप जाकर, काफी घुल-मिलकर रांगेय राघव ने उनके रीति-रिवाजों, परंपराओं और मान्यताओं का सूक्ष्म अध्ययन किया था। रात के गहराते ही रांगेय राघव अपनी विशाल मेज पर जम जाते, जिस पर छोटे अक्षरों में लिखी योजना वाली फूली-फूली डायरी, स्याही की दवात, स्याही में डुबोकर इस्तेमाल किया जाने वाला कलम, कई दस्ते कागज और एक किनारे जलती हुई लालटेन रखी होती थी। जैसे-जैसे रात ढलती जाती, रांगेय राघव के विचार और कल्पनाएँ शब्दों में ढलते जाते।

नटों के समान लोहपीटों के जीवन को भी रांगेय राघव ने 'धरती मेरा घर' (1961) में निकट से देखा है। लोहपीटों में व्याप्त अंधविश्वासों और रूढ़ियों को व्यक्त करने में रांगेय राघव की दृष्टि जनवादी अधिक रही जो शोषितों और उपेक्षितों में अंतर्निहित सौंदर्य को व्यक्त करती है। इस जीवन को देखने में रांगेय राघव का दृष्टिकोण 'रोमांटिक' अधिक रहा। इसकी अपेक्षा 'आग की प्यास' (1961) कहीं अधिक यथार्थ के निकट है। सूदखोर बोहरे की कंजूसी, उसका टुच्चापन कहीं अधिक गहरे उतरता है। यह पात्र भी रांगेय राघव का जाना-बूझा स्वयं दृष्ट था।

इसी बीच शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद (1958), समाजशास्त्र की छः पुस्तकें (1961) (जिनमें से तीन का सहलेखक मैं भी था) 'महायात्रा' का दूसरा भाग 'रैन और चंदा' (1964) और 'पतझर' (1962) जैसी रचनाएँ लिखी गईं। वे जनवरी 1961 में राजस्थान साहित्य अकादमी के रवीन्द्र सेमिनार के निदेशक होकर जयपुर आये। पुनः जुलाई 1961 में स्थायी रूप से रहने के लिए वे जयपुर आ गए। 'पक्षी और आकाश' (1958), 'मेरी कहानियाँ' (1959) राजस्थान साहित्य अकादमी से पुरस्कृत हुईं।

रांगेय राघव ने नगरीय जीवन पर अपेक्षाकृत कम लिखा है। 'हुजूर', 'सीधा सादा रास्ता', 'कल्पना', 'प्रोफेसर', 'पतझर', 'छोटी-सी बात', नगरीय समस्याओं, स्थितियों और विसंगतियों को लेकर लिखे गए उपन्यास हैं। विसंगतियों के प्रति रांगेय राघव के तेवर आक्रामक रहे हैं। उनके व्यंग्य की धार मारक और व्यवस्था को दूर तक छीलने वाली रही है। 'हूजूर' में कुत्ते के माध्यम से सामयिक विसंगतियों को बेनकाब किया गया है। 'छोटी-सी बात' में पत्रात्मक शैली में सरकारी अफसरों की तुच्छताओं, अनैतिकताओं और कमीनी हरकतों को उभारा गया है। 'सीधा-सादा रास्ता' में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के पात्रों को सही साम्यवादी रास्तों पर चलाकर उनके व्यक्तित्व का विकास दिखाया गया है। नगरीय जीवन को लेकर लिखी गई इन कृतियों में रांगेय राघव का व्यंग्य-विवेक, तीखा और चुटीला हो गया है।

रांगेय राघव का परवर्ती लेखक-जीवन वैर के परिवेश से ही जुड़ा है। इस गाँव के समग्र यथार्थ को उन्होंने अपनी कृतियों में समेटने का प्रयास किया है। वहाँ की बोली-बानी, रीति-रिवाज, अंधविश्वास, मान्यताएँ जस की तस उनकी कृतियों से व्यंजित हुई हैं। उन्होंने आंचलिक भाषा के भी सौष्ठवपूर्ण प्रयोग किए हैं। 'कब तक पुकारूँ' और 'गदल' मन की मौज में लिखी गई कृतियाँ हैं। यहाँ तक कि वे अपने पात्रों को मानवीय गरिमा और उदारता से गढ़ते रहे। युग-सत्य से समन्वित

जनकल्याणाभिमुखी दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए उन्होंने बीच-बीच में मानव चेतना के निखार, परिष्कार, उन्नयन को प्रश्रय दिया।

ग्रामीण यथार्थ को व्यक्त करने वाली परवर्ती रचनाओं में प्रतिक्रियावादी ताकतें ही अधिक उभरकर आई हैं। अतः वहाँ का यथार्थ, कुरूपता, विकृति, भ्रष्टाचार, अनैतिकता और अमानुषिकता का है। वे ऐसे कुछ पात्रों ओौर धटनाओं को चुनते थे जो जनप्रवाद का माध्यम बन चुके थे। 'पथ का पाप' (1960) के लिए उन्होंने गाँव के ऐसे पात्र को चुना जो अनेक वैयक्तिक और सामाजिक कमजोरियों और विसंगतियों से ग्रस्त है फिर भी वह समाज में सम्मान का पात्र बना रहता है। वैर के एक धाकर परिवार के नाजायज संबंधों को लेकर 'राई और पर्वत' लिखा गया है। ये पात्र रांगेय राघव के जाने-बूझे थे। अपने जाने-पहचाने कथा-बिंदुओं को उठाकर रांगेय राघव ने बदलते हुए ग्रामीण यथार्थ की विसंगतियों को व्यंग्य-विवेक से छीला और उभारा है। इस प्रक्रिया में उनकी व्यापक मानवीय चेतना युगयथार्थ से निरंतर संघर्ष करती रही है।

रांगेय राघव का अंतिम उपन्यास 'आखिरी आवाज' (1962) है। इसका नाम पहले 'लौटती आवाज' रखा गया था। यह नाम 'कब तक पुकारूँ' की सार्थक परिणति का बोध कराता था। रांगेय राघव की मृत्यु के बाद छपने के कारण इसका नाम 'आखिरी आवाज' कर दिया गया। यह भी एक सच्ची घटना पर आधारित उपन्यास है। कत्ल का यह मुकद्दमा लम्बे समय तक अदालतों में चला था और अपराधी पैसे और पहुँच के बल पर बेदाग़ छूट आये थे। नारायण के अंतःकरण में बदलाव रांगेय राघव की वैसी ही कल्पना है जैसी प्रेमचंद की 'प्रेमाश्रम' में थी। रांगेय राघव ने मुकद्दमे के सूक्ष्म ब्योरों को बड़ी बारीकी के साथ उपन्यास में अंकित किया है।

'आखिरी आवाज' बुझते दीये की अंतिम लौ है जो बुझने से पूर्व पूरे वेग और शक्ति के साथ उठी थी। ग्रामीण समाज में व्याप्त नैतिक खोखलापन, विकृतियाँ भ्रष्टाचार, राजनीतिक विसंगतियाँ, अमानुषिकता, कुत्सित दाँव-पेंच अपने भयावह रूप से लेखकीय व्यंग्य-विवेक के साथ मूर्त हो उठे हैं। यथार्थ के इन भयावह पहलुओं को रांगेय राघव ने बड़ी तल्खी और कसैलेपन के साथ उभारा है। चोट करते समय उनका स्वर काफी पैना और मारक हो गया है। वे सामयिक मानवीय स्थितियों और संबंधों को पूरी जटिलता के साथ व्यक्त करते हैं।

उन पर सितम्बर 1961 में कैंसर का जबरदस्त आक्रमण हुआ। कैंसर से ही माँ का निधन हुआ था। शायद यह रोग रांगेय राघव को विरासत में मिला था। उसका संबंध न अधिक मेहनत से था, न अधिक धूम्रपान से। रोग की पहचान न होने के कारण वे कई महीने तक जयपुर में एलोपैथी और होम्योपैथी चिकित्सा कराते रहे। इन दिनों उनका मन वैर जाने के लिए छटपटाता रहा। मोती डूँगरी का चक्कर लगाते हुए एक रोज वे बोले—''मैं अब शीघ्र ही अच्छा होने वाला हूँ। स्वस्थ होते ही वैर जाकर पुनः काम में लग जाऊँगा।'' लेकिन उन्हें मृत्यु से कुछ समय पूर्व उसका अभास हो गया था। मैं एक रोज डॉक्टर से बातें करके लौटा ही था कि वे बोले—''देख, श्मशान में जाने से पूर्व शव के उद्गारों पर एक कविता लिखी है।'' यह सुनकर और शय्या पर पड़ी उनकी कृशकाया को देखकर धक्का लगा। मैं चुप रहा। वे फीकी हँसी के साथ बोले—''अभी मेरी मौत दूर है। इसे आज ही भेज देना।'' कई महीने बीत गए। ज्वर उतरने का नाम ही नहीं लेता था। ज्वर में भी लिखने की छटपटाहट बढ़ती जा रही थी। काफी दिनों बाद पता चला कि रक्त-कैंसर है। मार्च 1962 में वे बंबई के टाटा इंस्टीट्यूट में चिकित्सा के लिए चले गए। बीमारी की हालत में भी उन्होंने 'भामिनी विलास' का सचित्र अनुवाद किया। 'किरणें बुहार लो' कविता-संग्रह भी उन्होंने इसी दौर में तैयार किया। 12 सितंबर, 1962 को बंबई में ही उनका निधन हो गया।

रांगेय राघव के व्यक्तित्व की बुनावट में सबसे प्रमुख रेखा सहृदयता और अपनत्व की है। कोली, माली, धोबी, गड़रिया, नाई, नट, किसान, मजदूर, छात्र, अध्यापक और बौद्धिक-अबौद्धिक सभी जातियों तथा वर्गों से रांगेय राघव बड़ी सहजता और आत्मीयता से मिलते-जुलते और दुःख-सुख में समभागी बनते थे। उन्होंने अनेक दुखियों, रिक्शेवालों और ताँगेवालों की सहायता की थी। उनका सरल और उदार मन सर्वहारा तथा शोषित वर्ग से गहरा तादात्म्य रखता था। यही कारण है कि उनके सुख-दुःख को रांगेय राघव ने अपने साहित्य में बड़ी संवेदना के साथ उतारा है। अनेक वर्ष बीत गए फिर भी बाग मुज़फ़्फ़रखाँ के लोग गाहे-बागहे उन्हें याद करते रहते हैं। कुछ वर्ष हुए मेरे कमरे में टँगे रांगेय राघव के चित्र को अपलक निहारते देखकर, मैंने पोस्टमैन से पूछा, 'इन्हें जानते हो?' एक गहरी साँस लेकर वह बोला, 'यहाँ, उन्हें कौन नहीं जानता।' तब मुझे अहसास हुआ कि बाग मुज़फ़्फ़रखाँ के लोगों के मन में रांगेय राघव अब भी कितने गहरे बसे हुए हैं।

वैर में बिताए दिन याद आते हैं। वे समस्त गाँववालों के 'भैयाजी' थे। सायंकालीन भ्रमण के समय बौद्धयुगीन भिक्षु के सामने गरिमाभिभूत हुए व्यक्ति स्वयं झुक जाते थे। बात यह नहीं थी कि रांगेय राघव आचार्य परंपरा से संबद्ध थे या उनकी दृष्टि में प्रतिभाशाली लेखक थे जिनके कारण वे झुकते थे। शायद, उन सीमित-बोध वाले व्यक्तियों की समझ से परे था कि पुस्तक-रचना कैसे और क्यों होती है? रचना की सार्थकता और संगति क्या है? उन्हें केवल इतना पता था कि यह व्यक्ति महान् है, आत्मीयता का पुतला है, जिसको दर्प छू तक नहीं गया है। आत्मीय और निश्छल व्यवहार से उनको छोटी आयु में ही जनसामान्य से काफी सम्मान मिला था, भले ही आलोचकों ने उनकी उपेक्षा की हो।

रांगेय राघव की बौद्धिक मुद्रा गोष्ठियों और समवयस्क लेखकों तक ही सीमित थी। वह स्थायी मुद्रा नहीं थी। उनका अहंकार ऐसे अवसरों पर भले ही प्रकट हुआ

हो, पर वह कलाकार का 'पॉजिटिव' अहं था जो उसे सृजन से निरंतर जुड़े रहने को प्रेरित करता था। व्यक्तिगत जीवन में मैंने उन्हें निरभिमान और निरावेश देखा है। क्रोध पर ऐसी लगाम कम ही दिखाई पड़ती है। इसके लिए दो ही घटनाओं का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। 'प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास' पर रांगेय राघव को 'डालमिया पुरस्कार' मिला था। गाँव के लोगों के बीच इस पुरस्कार की चर्चा चल रही थी। बैठे हुए लोगों में पेशे से एक पुजारी और एक ठेकेदार भी थे। पुजारी सुनकर बोला—''महाराज (आचार्य परंपरा के कारण) बड़ी खुशी की बात है। गाँव का अहोभाग्य है।'' तभी ठेकेदार बोला—''कितना रुपया मिला?'' रांगेय राघव के चेहरे पर क्षणभर के लिए अयाचित भाव आया, तुरंत सहज होकर उत्तर दे दिया। उनके चले जाने पर केवल एक वाक्य कहा—''व्यवसाय के साथ मनुष्य की वैचारिकता भी बदल जाती है।''

ऐसे अनेक अवसर रांगेय राघव के जीवन में आए। जयपुर में एक मकान मालिक ने दो सौ रुपये अग्रिम लेकर न मकान दिया न अग्रिम लौटाया। बहुत-से परिचित लौटाने का वादा करके, कर्ज के रूप में काफी बड़ी रकमें ले गए। और नहीं लौटायीं, जब कि कैंसर से पीड़ित रांगेय राघव को बंबई जाने और इलाज कराने के लिए इसकी भीषण आवश्यकता थी। ऐसे लोगों ने उल्टे उनसे मिलना-जुलना छोड़ दिया। भरतपुर निवासी एक व्यक्ति, जिसने काफी बड़ी राशि गिड़गिड़ाकर रांगेय राघव से ली थी, माँगने पर उसने साफ इनकार कर दिया और कहा कि उसने कोई पैसा नहीं लिया था। अन्ततः अपने विवाह में मिले चाँदी के बर्तनों को मेरे द्वारा बिकवाकर उन्होंने अपनी बंबई यात्रा का प्रबंध किया था। ऐसी हालत में भी मैंने रांगेय राघव को कभी उद्वेलित, उद्विग्न और हताश नहीं देखा। रांगेय राघव में ग़जब की सहनशीलता व धैर्य था। ये गुण उन्हें अपनी माँ से मिले थे। स्वाभिमानी इतने थे कि लेखकों के प्रयासों से केन्द्र सरकार की सहायता-राशि को लेने से अस्वीकार कर दिया। ऐसे में चिकित्सा की व्यवस्था की जा रही थी कि परमुखापेक्षी होने की अपेक्षा 'मरण आया मेरे द्वार' गाते-गाते वे चले गये।

रांगेय राघव ने खुला और दरिया दिल पाया था। लोगों का यथोचित सत्कार करने और दूसरों पर खर्च करने में वे काफी उदार थे। उनकी सायंकालीन चाय पर दस-पंद्रह लोग साथ देते थे। बाग मुज़फ़्फ़रखाँ के रेस्त्राँ और राजामंडी के होटलों का भुगतान उनकी ही जेब से होता था। वे उच्चतर जीवनमूल्यों के पक्षधर, विराट् के पुजारी और टुच्चेपन से नफरत करने वाले थे। उनके अनुभव, विचार और कर्म में समरसता थी।

रांगेय राघव की वाग्विदग्धता और हाज़िरजवाबी भी काबिले तारीफ थी। उनके सहज और मुक्त अट्टहासों से बाग मुज़फ़्फ़रख़ाँ व राजामंडी के रेस्त्राँ एवं होटल गूँजा करते थे। वे यारों के सच्चे यार थे। मित्रमंडली में चल रहे कहकहों, तीखे चुभते व्यंग्यों से लोग मर्माहत भी होते थे और प्रसन्न भी। इन बैठकों को लोग जानसन की गोष्ठियों से कम उपादेय नहीं मानते थे। उनकी मीठी चुटकियों के स्मरण मात्र से मित्रों का मन अब भी सरस हो जाता है।

व्यंग्य-विनोद उनके जीवन और साहित्य के अपरिहार्य अंग थे। उनके परिहास प्रायः शिष्ट, समयानुकूल एवं पात्रानुकूल होते थे। वैर के एक अध्यापक बात-बात में अपने को उनका दासानुदास कहा करते थे। एक-दो रोज उन्होंने धैर्यपूर्वक सुना, टोका भी, पर वे अपनी आदत से बाज़ नहीं आए। एक रोज अपने नौकर को बुलाकर उन्होंने कहा, 'ये तुम्हारे दास हैं। इन्हें चाय पिलाओ।' साथ बैठी हुई मंडली ने जोर का ठहाका लगाया। उस रोज से फिर कभी उन्होंने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया। खाली समय में हास्य-व्यंग्य के अनेक किस्से और संस्मरण सुनाकर रांगेय राघव मित्रमंडली का खासा मनोरंजन करते थे।

रांगेय राघव में कर्म के प्रति अटूट निष्ठा और लेखन के प्रति गहन प्रतिबद्धता थी। वे विचारों, अनुभवों और धारणाओं को कर्म में ढालने और उन पर अमल करने में विश्वास करते थे। उनका अध्ययन अत्यन्त व्यापक, वक्तृता शैली बड़ी प्रभावी थी। रवीन्द्र सेमिनार के उद्घाटन पर दिया गया उनका भाषण मुक्तकण्ठ से सराहा गया था। एक अहिंदीभाषी लेखक; हिन्दी में सृजन के लिए समर्पित होकर चुक गया, पर टूटा नहीं, झुका नहीं। दीपक की तरह जल-जलकर जीवन होम कर दिया उसने।

515, शीला भवन, पश्चिमपुरी
सिकन्दरा, आगरा-282007

रामस्वरूप वर्मा

❑ भगवान स्वरूप कटियार

प्रखर एवं प्रतिबद्ध समाजवादी रामस्वरूप वर्मा आजादी के बाद भारतीय राजनीति में सक्रिय उस पीढ़ी के राजनेता थे, जिन्होंने विचारधारा और व्यापक जनहितों की राजनीति के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। बेशक वे अपने समय की राजनीति के एक फिनॉमिना (परिघटना) थे, लगभग 50 साल तक राजनीति में सक्रिय रहे रामस्वरूप वर्मा को राजनीति का कबीर कहा जाता है। डॉ. राममनोहर लोहिया के निकट सहयोगी और उनके वैचारिक मित्र तथा 1967 में उत्तर प्रदेश सरकार के चर्चित वित्तमंत्री रामस्वरूप वर्मा जिन्होंने उस समय 20 करोड़ लाभ का बजट बनाकर पूरे आर्थिक जगत् को अचंभित किया। उनका सार्वजनिक जीवन सदैव निष्कलंक, निडर, निष्पक्ष और व्यापक जनहितों को समर्पित रहा। राजनीति में जो मर्यादा और मानदण्ड उन्होंने स्थापित किये और जिन्हें उन्होंने स्वयं भी जिया, उनके लिए वे सदैव आदरणीय और स्मरणीय रहेंगे। बेशक उत्तर प्रदेश विधान सभा के इतिहास में रामस्वरूप वर्मा मूल्यों, सिद्धांतों, जनसरोकारों की राजनीति की एक मिसाल के रूप में सदैव प्रेरणास्रोत रहेंगे।

22 अगस्त, 1923 को कानपुर (वर्तमान कानपुर देहात) के ग्राम—गौरीकरन में एक किसान परिवार में जन्मे रामस्वरूप ने राजनीति को अपने कर्मक्षेत्र के रूप में छात्र जीवन में ही चुन लिया था बावजूद इसके उन्होंने छात्र राजनीति में कभी हिस्सा नहीं लिया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा कालपी और पुखरायाँ में हुई, जहाँ से उन्होंने हाई स्कूल और इंटर की परीक्षाएँ उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। वर्माजी सदैव मेधावी छात्र रहे और स्वभाव से अत्यन्त सौम्य, विनम्र, मिलनसार पर आत्मसम्मान उनके व्यक्तित्व में कूट-कूटकर भरा था। उन्होंने 1949 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम. ए. और इसके बाद एल. एल. बी. की डिग्री हासिल की। उन्होंने भारतीय प्रशासनिक सेवा की परीक्षा भी उत्तीर्ण की और इतिहास में सर्वोच्च अंक पाये जबकि इतिहास उनका विषय नहीं था, पर नौकरी न करने के निश्चय के कारण

साक्षात्कार में शामिल नहीं हुए। इनके पिता का नाम वंशगोपाल था। वर्माजी अपने चार भाइयों में सबसे छोटे थे, अन्य तीन भाई गाँव में खेती-किसानी करते थे पर उनके सभी बड़े भाइयों ने वर्माजी की पढ़ाई-लिखाई पर न सिर्फ विशेष ध्यान दिया बल्कि अपनी रुचि के अनुसार कर्मक्षेत्र चुनने के लिए भी प्रोत्साहित किया। पढ़ाई के बाद सीधे राजनीति में आने पर परिवार ने कभी आपत्ति नहीं की बल्कि उन्हें प्रोत्साहन और सहयोग दिया। सर्वप्रथम वे 1957 में सोशलिस्ट पार्टी से भोगनीपुर विधान सभा क्षेत्र से उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य चुने गये। उस समय उनकी उम्र मात्र 34 वर्ष की थी। 1967 में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी से, 1969 में निर्दलीय 1980, 1989 में शोषित समाजदल से उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य चुने गये। 1991 में छठी बार शोषित समाजदल से उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। जनान्दोलनों में भाग लेते हुए वर्माजी ने 1955, 1957, 1958, 1960, 1964, 1969 और 1976 में आई. पी. सी. की धारा 3 स्पेशल एक्ट धारा 144 डी. आई. आर. आदि के अन्तर्गत जिला जेल कानपुर, बाँदा, उन्नाव, लखनऊ तथा तिहाड़ जेल दिल्ली में राजनीतिक बन्दी के रूप में सजाएँ भोगीं। वर्माजी ने 1967-68 में उत्तर प्रदेश की संविद सरकार में वित्तमंत्री के रूप में 20 करोड़ के लाभ का बजट पेश कर पूरे आर्थिक जगत् को अचम्भे में डाल दिया। बेशक संविद सरकार की यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी। कहा जाता है कि एक बार सरकार घाटे में आने के बाद उसे फायदे में नहीं लाया जा सकता है, अधिक से अधिक घाटा कम किया जा सकता है। दुनिया के आर्थिक इतिहास में यह एक अजूबी घटना थी जिसके लिए विश्व मीडिया ने वर्माजी से साक्षात्कार कर इसका रहस्य जानना चाहा। संक्षिप्त जवाब में तो उन्होंने यही कहा कि किसान से अच्छा अर्थशास्त्री और कुशल प्रशासक कोई नहीं हो सकता क्योंकि लाभ-हानि के नाम पर लोग अपना व्यवसाय बदलते रहते हैं पर किसान सूखा-बाढ़ झेलते हुए भी किसानी करना नहीं छोड़ता। वर्माजी भले ही डिग्रीधारी अर्थशास्त्री नहीं थे फिर भी उन्होंने कृषि, सिंचाई, शिक्षा, चिकित्सा, सार्वजनिक निर्माण जैसे तमाम महत्त्वपूर्ण विभागों को गत वर्ष से डेढ़ गुना बजट देते हुए तथा कर्मचारियों के महँगाई भत्ते में वृद्धि करते हुए फायदे का बजट पेश किया।

अपनी पढ़ाई-लिखाई पूरी करते-करते वर्माजी समाजवादी विचारधारा के प्रभाव में आ गये थे और डॉ. राममनोहर लोहिया को अपनी पार्टी के लिए एक युवा विचारशील नेतृत्व मिल गया, जिसकी तलाश उन्हें थी। डॉ. लोहिया को वर्माजी के व्यक्तित्व की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह लगी कि उनके पास एक विचारशील मन है, वे संवेदनशील हैं, उनके विचारों में मौलिकता है, इन सबसे बड़ी बात यह थी कि किसान परिवार का यह नौजवान प्रोफ़ेसरी और प्रशासनिक रुतबे की नौकरी से मुँह मोड़कर राजनीति को सामाजिक कर्म के रूप में स्वीकार कर रहा है। डॉ. लोहिया वर्माजी को अपना

सबसे विश्वसनीय वैचारिक मित्र मानते थे क्योंकि वर्माजी भी डॉ. लोहिया की तरह देश और समाज के लिए कबीर की तरह अपना घर फूँकने वाले थे। वर्माजी अपने छात्र जीवन में आजादी की लड़ाई के चश्मदीद गवाह रहे पर उसमें हिस्सेदारी न कर पाने का मलाल उनके मन में था इसीलिए भारतीय प्रशासनिक सेवा की रुतबेदार नौकरी को लात मारकर राजनीति को देश सेवा का माध्यम चुना और राजनीति भी सिद्धान्तों और मूल्यों की। उन्होंने उत्तर प्रदेश विधान सभा के लिए पहला चुनाव 1952 में भोगनीपुर चुनाव क्षेत्र से एक वरिष्ठ कांग्रेसी नेता रामस्वरूप गुप्ता के विरुद्ध लड़ा और महज चार हजार मतों से वे हारे पर 1957 के चुनाव में उन्होंने रामस्वरूप गुप्ता को पराजित किया। उनके प्रतिद्वन्द्वी रामस्वरूप गुप्ता उम्र में उनके पिता तुल्य थे और कांग्रेस के धनाढ्य वरिष्ठ नेता थे। गुप्ताजी ने वर्माजी से कहा कि रामस्वरूप, अभी तुम नौजवान हो और किसान परिवार से हो, राजनीति में बहुत पैसा खर्च होता है और तमाम दाँव-पेंच आजमाये जाते हैं। तुम्हारे जैसे भले और गरीब लोगों के लिए यह कर्म उपयुक्त नहीं है। चाहो तो प्रोफ़ेसरी वगैरह तुम्हें मिल सकती है और इसमें मैं तुम्हारी मदद कर सकता हूँ। पर वर्माजी नहीं डिगे और आगामी 1957 में रामस्वरूप गुप्ता को हराकर विधान सभा पहुँचे और यह सिद्ध कर दिया कि राजनीति सिर्फ धनवानों का खेल नहीं है बल्कि किसानों और मजदूरों के बेटे भी वहाँ पहुँचकर अपने वर्ग के हितों को रख सकते हैं।

उनका ध्येय एक ऐसे समाज की संरचना करना था, जिसमें हर कोई पूरी मानवीय गरिमा के साथ जीवन जी सके। वे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक बराबरी के प्रबल योद्धा थे और इसके लिए वे चतुर्दिक् क्रान्ति की लड़ाई एक साथ लड़े जाने पर जोर देते थे। वर्माजी ने 1968 में अर्जक संघ का गठन किया और अर्जक साप्ताहिक का सम्पादन और प्रकाशन प्रारंभ किया। अर्जक संघ अपने समय का सामाजिक क्रान्ति का एक ऐसा मंच था जिसने अंधविश्वासों पर न सिर्फ हमला किया बल्कि उत्तर भारत में महाराष्ट्र और दक्षिण भारत की तरह सामाजिक न्याय के आन्दोलन की शुरुआत की। उन्हें उत्तर भारत का आम्बेडकर भी कहा गया। मंगलदेव विशारद और चौ. महाराज सिंह भारती जैसे तमाम समाजवादी वर्माजी के इस सामाजिक न्याय के आन्दोलन से जुड़े और अर्जक साप्ताहिक में क्रान्तिकारी वैचारिक लेख प्रकाशित हुए। उस समय का अर्जक साप्ताहिक विचारों का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। उत्तर प्रदेश में सामाजिक बदलाव की जिस जमीन पर मायावती और मुलायम सिंह सत्ता की राजनीति कर रहे हैं और अपनी-अपनी सरकारें उसी ब्राह्मणवादी ढर्रे पर चला रहे हैं, इस सामाजिक और राजनीतिक चेतना की पृष्ठभूमि वर्माजी ने अर्जक संघ के आन्दोलन के जरिये तैयार की थी पर उन्हें दुःख था सपा और बसपा ने ब्राह्मणवाद और कार्पोरेट ताकतों से गठजोड़ कर जनता को धोखा

दिया और सामाजिक न्याय के आन्दोलन को नुकसान पहुँचाया। वी. पी. सिंह ने भले ही सामाजिक न्याय के लिए अपनी सरकार कुर्बान की हो पर मायावती और मुलायम सिंह सत्ता के लिए ब्राह्मणवाद से गठजोड़ ही करते रहे।

वर्माजी ने ''क्रान्ति क्यों और कैसे'', ब्राह्मणवाद की शव परीक्षा, अछूत समस्या और समाधान, ब्राह्मण महिमा क्यों और कैसे? मनुस्मृति राष्ट्र का कलंक, निरादर कैसे मिटे, आम्बेडकर साहित्य की जब्ती और बहाली, भंडाफोड़, मानववादी प्रश्नोत्तरी, जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं जो अर्जक प्रकाशन से प्रकाशित हुई। महाराज सिंह भारती और रामस्वरूप वर्मा की जोड़ी ''मार्क्स और एंगेल्स'' जैसे वैचारिक मित्रों की जोड़ी थी और दोनों का अंदाज बेबाक और फकीराना था। दोनों किसान परिवार के थे और दोनों के दिलों में गरीबी, अपमान, अन्याय और शोषण की गहरी पीड़ा थी। चौ. महाराज सिंह भारती ने सांसद के रूप में पूरे विश्व का भ्रमण कर दुनिया के किसानों और उनकी जीवन-पद्धति का गहन अध्ययन किया और उन्होंने महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। ''सृष्टि और प्रलय'' उनकी पुस्तक डार्विन की ''ऑरजिन ऑफ स्पेसीज'' की टक्कर की सरल हिन्दी में लिखी गयी पुस्तक है, जो आम आदमी को यह बताती है कि यह दुनिया कैसी बनी? और यह भी बताती है कि इसे ईश्वर ने नहीं बनाया है बल्कि यह स्वतः कुदरती नियमों से बनी है और इसके विकास में मनुष्य के श्रम की अहम भूमिका थी। उनकी 'ईश्वर की खोज' और 'भारत का नियोजित दिवाला' जैसी अनेक विचारपरक पुस्तकें हैं जो अर्जक प्रकाशन से प्रकाशित हुई हैं। इन दोनों महापुरुषों का साहित्य आज के दौर में हमारी महत्त्वपूर्ण चेतना शक्ति हो सकती है, जब हम कार्पोरेट पूँजी और ब्राह्मणवाद के शिकंजे में फँसे हुए हैं।

बिहार के लेनिन कहे जाने वाले जगदेव बाबू ने वर्माजी के विचरों और उनके संघर्षशील व्यक्तित्व से प्रभावित होकर शोषित समाज दल का गठन किया। जगदेव बाबू के राजनीतिक संघर्ष से आतंकित होकर उनके राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों ने उनकी हत्या करा दी। जगदेव बाबू की शहादत से शोषित समाज दल को गहरा आघात लगा पर सामाजिक क्रान्ति की आग और तेज हुई। जगदेव बाबू बिहार के पिछड़े वर्ग के किसान परिवार से थे और वर्माजी की तरह वे भी अपने संघर्ष के बूते बिहार सरकार में मंत्री रहे। वर्माजी का संपूर्ण जीवन देश और समाज को समर्पित था, उन्होंने ''जिसमें समता की चाह नहीं/ वह बढ़िया इंसान नहीं; समता बिना समाज नहीं/ बिन समाज जनराज नहीं'' जैसे कालजयी नारे गढ़े। राजनीति और राजनेता के बारे में एक साक्षात्कार में दिया गया उनका बयान गौरतलब है। राजनीति के बारे में उनका मानना था कि यह शुद्धरूप में अत्यन्त संवेदनशील सामाजिक कर्म है और एक अच्छे राजनेता के लिए सबसे ज्यादा जरूरी है कि उसे देश और स्थानीय समाज की समस्याओं की गहरी और ज़मीनी समझ हो और उनको हल करने की प्रतिबद्धता

हो। जनता अपने नेता को अपना आदर्श मानती है इसलिए सादगी, ईमानदारी, सिद्धान्तवादिता के साथ-साथ कर्तव्यनिष्ठा निहायत जरूरी है। वर्माजी ने विधायकों के वेतन बढ़ाये जाने का विधान सभा में हमेशा विरोध किया और स्वयं उसे कभी स्वीकार नहीं किया। वर्माजी ने संविद सरकार में सचिवालय से अंग्रेजी टाइप राइटर्स हटवा दिये और पहली बार हिन्दी में बजट पेश हुआ जो परंपरा अब तक बरकरार है। वर्माजी ने बजट में खण्ड-6 का समावेश किया जिसमें प्रदेश के कर्मचारियों/अधिकारियों का लेखा-जोखा होता है। इसके पहले सरकारें बिना किसी लेखा-जोखा के अपने कर्मचारियों को वेतन देती थीं। वर्माजी के चिन्तन में समग्रता थी, उन्होंने क्रान्ति को परिभाषित करते हुए कहा कि क्रान्ति, ''जीवन के पूर्व निर्धारित मूल्यों का जनहित में पुनर्निर्धारण करना है।'' वे बाबा साहब डॉ. आम्बेडकर, चार्वाक, काल मार्क्स और गौतम बुद्ध के विचारों से प्रभावित थे पर कहीं-कहीं इनसे असहमत भी थे। यही बेबाकी उनकी खासियत थी। आज हमें उन जैसे नेताओं की बेहद जरूरत है क्योंकि पूरा देश एक दिशाहीन राजनीति के गहरे गड्ढे की ओर जा रहा है। उनके विचार हमारा बहुत बड़ा संबल हैं। राजनीति के इस कबीर का निधन 19 अगस्त, 1998 के दिन हुआ था।

2, मानस नगर, जियामऊ
हज़रतगंज, लखनऊ-226001

डॉ. दत्तात्रेय धोंडोपंत बंदिष्टे

❑ बक़लमे ख़ुद

विगत लगभग 40 वर्षों से मैं खुद को लौकिकवादी, बुद्धिवादी तथा मानववादी कहता आ रहा हूँ। उपर्युक्त शब्दों का अर्थ थोड़ा आगे चलकर स्पष्ट करूँगा परंतु एक बात बता दूँ कि चिंतन की इस अवस्था पर मैं कोई बचपन से ही नहीं था। मेरा जन्म नागपुर में सन् 1923 की जुलाई 23 तारीख को हुआ। पिताजी शासकीय सेवा में थे। हमारी आर्थिक स्थिति अच्छी ही थी। परंतु मेरे पिताजी की मृत्यु, मैं जब 6 साल का था तभी हो गई। मेरी माताजी मुझे और मेरे 4 साल के छोटे भाई को लेकर अपने मायके चली गई जो कि एक बिलकुल देहात था, जहाँ न रेलवे थी, न बस, न नल, न बिजली, न अस्पताल और न ही पोस्ट ऑफिस। स्कूल भी था केवल सातवीं तक। पढ़ाई में मैं अच्छा था। पाँचवीं बोर्ड की परीक्षा में मेरा प्राविण्य सूची में प्रथम स्थान था। परंतु सातवीं के बाद की पढ़ाई का क्या होगा?

गरमी की छुट्टियों में पूना से दूर के हमारे एक रिश्तेदार यूँ ही हमारे यहाँ आए। वापसी में वे मुझे आगे की पढ़ाई के लिए पूना ले गए। पूना के बारे में मेरे मन में बचपन से ही बड़े ऊँचे भाव थे। बहुत ही उत्साह से मैं उनके साथ गया। उनकी भी आर्थिक हालत कोई खास अच्छी नहीं थी। मुझे देखकर उनकी पत्नी का माथा एकदम ठनका। कहाँ से एक और आर्थिक बोझ मेरे रूप में वे ले आए। रोज ही मुझे ताने और कड़वे बोल सुनने पड़ते। ये अभागा लड़का अपने बाप को खा चुका है, यहाँ पता नहीं और किसको खाएगा। मेरे वहाँ के वास्तव्य के दौरान उस परिवार की आठ महीने की एक लड़की की मृत्यु हो गई। मुझे सुनाने को तानों की धार और तेज हो गई। उस परिवार की कुछ आर्थिक मदद हो इसलिए स्कूल के बाद सब्जी मंडी में दरी पर बैठकर मैंने सब्जी बेची। खैर, वार्षिक परीक्षा के बाद मैं अपना सारा सामान लेकर वापिस अपने गाँव लौट आया। इसी तरह लुढ़कते जाते मैं हायर सेकेंडरी परीक्षा पास हो गया। मुझे द्वितीय श्रेणी मिली और रसायन शास्त्र में प्राविण्य।

देशभक्त तो मैं बचपन से था। सभाओं में जाता, प्रभातफेरियों में जाता आदि।

हायर सेकंडरी की परीक्षा तो मैंने एक मंदिर में रहकर पूजा-पाठ करके पास की। उस समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में मैंने प्रवेश किया। मेरे एक शिक्षक को संघ का काम शुरू करने के लिए आंध्रप्रदेश में भेजा गया। वे मेरी माताजी को समझाकर आगे की पढ़ाई का आकर्षण देकर मुझे साथ ले गए।

उस समय आर.एस.एस. (संघ) की हिंदुओं को जाग्रत करो और संगठित करो वाली विचार प्रणाली हिंदू युवकों पर इसलिए असर कर गई कि ब्रिटिशों का भारत पर राज्य था तथा वे मुसलमानों को पुचकारते रहते थे और ''बाँटो और राज करो'' सिद्धांत पर अमल करते थे। ऐसी स्थिति में हिंदू नेताओं को लगता था कि अगर हिंदू संगठित हुए तो वे अकेले ही अपने बल पर भारत को आजाद करा सकेंगे। इसी उद्देश्य से मैं भी संघ में शामिल हुआ और बिना विवाह किए आजन्म संघ का ही काम करने का तय किया। सन् 1942 में मैंने इंटरमीडिएट परीक्षा पास की। सितम्बर 1942 में मेरी माताजी का कैंसर से देहांत हुआ। मेरा छोटा भाई फौज में भर्ती हुआ। घर पर कोई आकर्षण बचा नहीं और इधर संघ का काम करने का जबर्दस्त आकर्षण। मैं पुनः आंध्रप्रदेश गया। संघ में लोगों को बनाए रखने के लिए विचारधारा के अलावा कार्यकर्ताओं के मधुर व्यक्तित्व का भी आकर्षक होना चाहिए। जहाँ-जहाँ मुझे भेजा गया मैं काफी सफल होता गया।

सन् 1946 के नवंबर के अंत में संघ के अखिल भारतीय प्रमुख ने मुझे आंध्र-प्रदेश से आसाम भेजा, जहाँ के प्रांत के मुखिया ने मुझे डिब्रूगढ़ भेजा। जल्दी ही मैंने दो-तीन जिलों में संघ की शाखाओं का जाल फैला दिया। संघ के दुर्भाग्य से सन् 1948 में जनवरी 30 को गाँधीजी की हत्या हो गयी। संघ पर प्रतिबंध लग गया। संघ के कार्यकर्ताओं को जेल में डाला गया; मुझे भी। चार महीनों बाद मुझे बिना किसी मुकदमे के रिहा कर दिया गया। परंतु संघ पर प्रतिबंध जारी रखा। मैं घर आ गया। 1949 की जुलाई में संघ पर प्रतिबंध उठा लिया गया। मैं पुनः आसाम पहुँचा। नये प्रांत प्रचारक ने मुझे गुवाहाटी रहने को तथा कॉलेज में विद्यार्थियों के संपर्क में आने की दृष्टि से प्रवेश लेने को कहा। जैसी उनकी आज्ञा। 7 साल के अंतराल के बाद मैं पुनः विद्यार्थी बना। मैंने दर्शनशास्त्र में ऑनर्स तथा अन्य विषय चुने। कक्षाओं में मैं जाता अवश्य परंतु प्रोफेसर क्या पढ़ा रहे हैं, इस ओर मेरा ध्यान ही नहीं रहता। कक्षा की आखिरी लाइन में मैं बैठता, चिट्ठियाँ लिखता, संघ के कार्य की योजनाएँ बनाता आदि। खैर, मैं 2 वर्ष बाद बी.ॲ. विद ऑनर्स इन फिलॉसफी की डिग्री लेकर पास हो गया। पुनः संघ का ही काम। प्रांत प्रचारक ने मुझे मणिपुर जाने के लिए कहा। सो मैं मणिपुर गया।

लगभग 1 वर्ष रहने के बाद क्षेत्र प्रचारक ने मुझे सुझाव दिया कि मैं मणिपुरी लड़की से विवाह करूँ और मणिपुर निवासी हो जाऊँ। मैंने उन्हें कहा कि मैं तो विवाह करना नहीं चाहता हूँ। विवाह होने पर परिवार आ जाएगा, पत्नी-बच्चे आ

जाएँगे, उदरनिर्वाह आदि बातें आएँगी। अतः सोचने की तथा अपनी डिग्री बढ़ाने की इजाजत माँगी। वह उन्होंने दी। मैंने ॲम. ॲ. के लिए दर्शनशास्त्र विषय चुना तथा अध्ययन हेतु विश्वप्रसिद्ध बनारस हिंदू यूनिवर्सिटी चुनी। मैं भी स्वामी विवेकानंद की तरह हिंदू दर्शन की श्रेष्ठता दुनिया में सिद्ध करना चाहता था। परंतु दर्शन के ॲम. ॲ. के अध्ययन ने ही हिंदू दर्शन के सर्वश्रेष्ठ होने के विषय में मेरा मोह भंग कर दिया।

मैंने पाया कि भारत में हिंदू दर्शन नाम का कोई दर्शन है ही नहीं। यहाँ तो हैं छह वैदिक संप्रदाय—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा (अद्वैत विशिष्टाद्वैत) और तीन अवैदिक संप्रदाय—लोकायत (चार्वाक), बौद्ध और जैन। ये संप्रदाय एक-दूसरे की न केवल आलोचना करते हैं बल्कि एक-दूसरे की मजाक भी उड़ाते हैं; वे एक-दूसरे के शत्रु हैं। हर संप्रदाय में कुछ अच्छी बातें हैं तो कुछ बुरी बातें भी हैं। ॲम. ॲ. दर्शन के अध्ययन के दौरान मुझे पाश्चात्य दर्शन भी पढ़ना पड़ा; उसके भी कई संप्रदाय हैं। उनमें भी कुछ अच्छे मुद्दे हैं तो कुछ बुरे। अंततः मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हमारा दर्शन सही और दूसरे का ग़लत, यह सोच ही ग़लत है। सही दृष्टिकोण यह है कि अच्छा दर्शन कौन-सा और बुरा या हानिकारक दर्शन कौन-सा! इस तरह मेरा दृष्टिकोण ही बदल जाने के कारण मेरा संघ के काम हेतु आसाम या और कहीं जाना निरस्त हो गया। मैं घर आ गया। मेरी उपाधियों का स्तर काफी अच्छा होने के कारण मुझे महाविद्यालय में व्याख्याता की नौकरी मिल गई, मेरा विवाह हो गया आदि। तो अच्छा दर्शन कौन-सा है यह बताने के पहले थोड़ा कम्युनिस्ट विचारधारा तथा कार्य-प्रणाली संक्षेप में हम देखें। कम्युनिज्म इसलिए कि वही एक स्पष्ट विचार-प्रणाली है तथा कार्य-प्रणाली भी है। तथापि मेरे उससे कुछ मतभेद भी हैं। वे हैं—

- साम्यवाद आर्थिक पक्ष को ही सब कुछ मानता है। सौंदर्य, प्रेम, देश आदि को कोई महत्त्व नहीं देता। यह ठीक है कि हमारी जैविक आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए परंतु इन्सान शेष प्राणियों से कुछ ज्यादा भी है। वह विवेकशील भी है तथा सांस्कृतिक प्राणी भी है। इस तथ्य की ओर साम्यवाद ध्यान नहीं देता।
- साम्यवाद धर्म को नहीं मानता, परंतु मार्क्स लेनिन के कथनों को धर्मवाक्य ही मानता है। मार्क्स-लेनिन के कथनों से थोड़ा भी इधर-उधर हटना नहीं चाहते।
- ''साध्य साधनों का औचित्य सिद्ध करता है'' इस सिद्धांत से मैं सहमत नहीं हूँ। पूँजीवादी मालिक मजदूरों से अतिरिक्त मूल्य हड़प लेते हैं, वे चोर हैं, ठग हैं। चोर के यहाँ चोरी करना कोई बुरा नहीं है। अतः, साम्यवादी उद्देश्य प्राप्त करने के लिए झूठ, हिंसा, आगजनी, लूटपाट सब कुछ उचित

है। परंतु पूँजीवाद के नष्ट होने के बाद भी यह मनोवृत्ति रही तो समाज ठीक से नहीं चलेगा। ''साधनों का औचित्य साध्य सिद्ध करेगा'' यह सिद्धांत ही ग़लत है।

अस्तु! मैं अब अपने चिंतन की दशा और दिशा संक्षेप में बताऊँगा—

- मैं इंद्रियानुभव की वैज्ञानिकता को सत्यज्ञान प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन मानता हूँ; अनुमान तथा शब्द (दूसरों का) ये प्रत्यक्ष के मित्र हैं।
- परंतु प्रत्यक्ष अनुभव भी तो गलत हो सकता है। जी हाँ, मैं यह भी बात मानता हूँ। इसलिए मेरी भूमिका अर्धविरामात्मक है और रहेगी। हमें अड़ियल नहीं होना चाहिए। अर्धविरामात्मक भूमिका से सामाजिक तनाव नहीं होते। अपनी भूमिका स्पष्ट करते समय हमें, आरंभ ही इस बात से करना चाहिए कि ''हो सकता है कि मैं ग़लत होऊँ।''
- हमें अपने राष्ट्रीय या धार्मिक सुवर्णकाल (?) के गुणगान करने के बजाय सुवर्ण भविष्यकाल के निर्माण करने को सोचना चाहिए। यह सुवर्णकाल इसी पृथ्वी पर मानव जाति के सामूहिक प्रयत्नों से निर्मित होगा। स्वातंत्र्य, समानता, बंधुत्व, अभावमुक्ति, दुःखमुक्ति, प्रगति, सुरक्षा, रोमांच, साहित्य, विज्ञान, प्रवास, नौकायन, पर्वतारोहण आदि बातों से वह पल्लवित होता जाएगा। हमारा सुवर्ण भविष्य यह कोई एक पूर्णविराम नहीं होकर बीते हुए कल से आने वाला कल बेहतर हो, ऐसी स्वप्रयत्नों से निर्मित एक अनंत सुखदायी स्थिति होगी।
- हमें याद रखना चाहिए कि वर्तमान में बहुत-से देश शक्तिशाली परमाणु अस्त्रों से संपन्न हैं और उनमें से कितने ही एक-दूसरे के जानी दुश्मन हैं। भविष्य में अगर परमाणुयुद्ध हुआ तो वह सामूहिक आत्महत्या ही सिद्ध होगा। उस परमाणुयुद्ध से न केवल सब इन्सान मारे जाएँगे बल्कि सब पशु, पक्षी, जीव मारे जाएँगे तथा पेड़-पौधे भी जल जाएँगे। इस सामूहिक आत्महत्या की संभावना को समाप्त किया जाना चाहिए।
- हमें अब एक कारगर विश्व-लोकसभा तथा एक कारगर विश्व-शासन निर्माण करना चाहिए। विश्व न्यायालय भी होना चाहिए। सेना विश्व सरकार के पास हो। विभिन्न देशों के पास स्थानीय शांति रखने के लिए पुलिस ही हो।
- हमें प्रबुद्ध इन्सान की हैसियत से रहना चाहिए। प्रबुद्ध व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि हमारी सही अर्थ में उन्नति पड़ोस-पड़ोसी की उन्नति के साथ ही होगी। मैं सुखी होऊँ दुनिया जाए भाड़ में—यह नीच कोटि की मनोवृत्ति है। मैं सुखी रहूँ, तुम भी सुखी रहो, यह है मध्यम कोटि की मनोवृत्ति और पड़ोसी को सुखी करते हुए मैं सुखी होऊँ, यह हुई सही मनोवृत्ति। इसे हमें अपनाना चाहिए।
- उपर्युक्त जीवन-शैली आवश्यक तथा संभव इसलिए हो गई है कि प्रवास के तीव्रगति साधन, संवाद के इंटरनेट, मोबाइल, टेलीफोन, ई-मेल आदि त्वरित साधनों के कारण अपना यह विश्व एक विश्व ग्राम हो गया है। हमारी (देश, धर्म, प्रजाति, संस्कृति) श्रेष्ठता के सारे दंभ हमें छोड़ना अब संभव तथा जरूरी हो गया है।

प्रबुद्ध व्यक्तियों को अब जितना बने, उतना गतिशील तथा संगठित होना चाहिए। जो सही लगे वह हमें बोलना-लिखना चाहिए तथा जो संभव हो वह करना चाहिए।

सेवानिवृत्त प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र
148, इन्द्रपुरी कॉलोनी, इन्दौर-452001
फोन : 0731-2362391

अबू अब्राहम

अतुपुर्थू मैथ्यू अब्राहम (अबू) एक प्रसिद्ध भारतीय व्यंग्य-चित्रकार, पत्रकार, लेखक, बुद्धिवादी व अनीश्वरवादी थे। अपने 78 वर्षों के जीवनकाल और करीब 50 वर्षों के कार्यकाल में उन्होंने कई राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय पत्रों यथा—बाम्बे क्रॉनिकल, शंकर्स वीकली, ब्लिट्ज़, ट्रिब्यून, द आब्ज़र्बर, द गार्जियन और द इण्डियन एक्सप्रेस के लिए काम किया। इन अखबारों या पत्रिकाओं के हाथ में आते ही प्रायः पाठक अबू के कार्टूनों को सर्वप्रथम देखने की चाहत रखते थे।

अबू का जन्म 12 जून, 1924 को केरल प्रांत के अवेलिकारा में पिता ए. ॲम. मैथ्यू व माँ कान्तम्मा से हुआ था। कहते हैं कि उन्होंने 3 वर्ष की आयु में ही कार्टून बनाने प्रारंभ कर दिए थे। तिरुअनन्तपुरम विश्वविद्यालय से फ्रेंच, अंग्रेजी तथा गणित के साथ सन् 1945 ई. में उन्होंने बी. ए. की डिग्री ली। फिर वे मुम्बई चले आए और बाम्बे क्रॉनिकल में पत्रकार हो गए। यहाँ वे क्रॉनिकल के साथ ही बाम्बे सेन्टिनेल, ब्लिट्ज़ व भारत को भी कार्टून देते थे। सन् 1951 ई. में भारत के सर्वोच्च व्यंग्यकार, आर. शंकर पिल्लई ने उन्हें अपने पास दिल्ली, अपने साप्ताहिक, शंकर्स वीकली में बुला लिया। शंकर भी केरलवासी थे। सन् 1953 ई. में अबू की मुलाकात लंदन के फ्रेड जास से हुई। वे उन्हें लंदन बुला ले गए। वे यहाँ पन्च, डेली स्केच, एवरीबडीज़ लन्दन ओपीनियन और ईस्टर्न वर्ल्ड को अब्राहम नाम से अपने कार्टून देने लगे। सन् 1956 ई. में द आब्जर्बर के सम्पादक, डैविड ॲस्टर ने उन्हें अपने यहाँ राजनीतिक व्यंग्य-चित्रकार की स्थायी नौकरी दे दी। ॲस्टर ने ही अब्राहम को उनके यहूदी लगने वाले नाम, अब्राहम को छोड़ बचपन का नाम अबू लिखने को प्रेरित किया और फिर वे पूरी तरह से अबू ही हो गए।

लंदन में रहकर अबू ब्रिटिश समाज में घुलमिल गए और कई बेहद प्रभावशाली व यादगार कॉर्टून बनाए। वे राजघराने, राजनीति व संसद को एक साथ प्रभावित करते थे।

सन् 1969 ई. में वे इण्डियन एक्सप्रेस के राजनीतिक व्यंग्य-चित्रकार होकर

भारत लौट आए। उनकी पहली पत्नी, सरोजनी (वे तमिल थीं) जिन्हें उन्होंने बाद में तलाक दे दिया, दो पुत्रियाँ, आयशा और जानकी उनके साथ थीं। सन् 1972 ई. में इंदिरा गाँधी ने उन्हें राष्ट्रपति से राज्यसभा में मनोनीत करवा दिया। सन् 1975 ई. में भारत में आपातूकाल की घोषणा हुई तो अबू व इंदिरा गाँधी में तनातनी हो गई। अबू के जो कॉर्टून व लेख आपातूकाल में नहीं छप सके उन्होंने 'गेम्स ऑफ द इमरजेन्सी'' नामक पुस्तक में 1977 में छाप दिये। इन कॉर्टूनों व लेखों में इन्दिरा सरकार की इमर्जेन्सी नीतियों पर बेहद तीखे प्रहार किए गए थे। राजनीतिक भ्रष्टाचार पर एकदम संहारक हमले करना अबू के कॉर्टूनों की विशेषता रहती थी।

सन् 1981 से अबू ने सिंडीकेट बनाकर स्वतंत्र व्यंग्य-चित्रकारी प्रारम्भ कर दी। इन दिनों स्ट्रिप कॉर्टून, ''साल्ट ॲण्ड पेपर'' और ''क्रो ॲण्ड एलीफेण्ट'' बेहद प्रसिद्ध हुए। यह कॉर्टून राजनीतिक कम, दार्शनिक ज्यादा होते थे। सन् 1988 में अबू दिल्ली से केरल लौट गए। दिसंबर 2, 2002 में तिरुअनन्तपुरम के उनके अपने मकान 'सरनम' में उनकी मृत्यु हो गई। इस समय इंग्लैण्ड में जन्मी उनकी द्वितीय पत्नी, साइक व पहली पत्नी से दो पुत्रियाँ उनके पास थीं। राज्य सभा में 2 मिनट का मौन रखकर उनको श्रद्धांजलि दी गई। अबू अपने सरल, सपाट, तीखे, निश्छल व बेलाग व्यंग्यचित्रों तथा लेखों के लिए सदैव ही भारतीय कॉर्टून जगत् के एक शलाकापुरुष के रूप में जाने जाएँगे।

आर. पी. सराफ

❑ **सुखदेवसिंह भूपाल तथा घनश्याम डेमोक्रेट**

सन् 1924	:	जन्म साम्बा, जम्मू-कश्मीर (भारत)
सन् 1946	:	पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर से ॲम. ए. इतिहास, के बाद नेशनल कॉन्फ्रेंस में सक्रिय।
सन् 1952	:	प्रांतीय संविधान सभा के सदस्य चुने गए। विधान सभा क्षेत्र साम्बा-विश्वनाह से 10 वर्षों तक लोगों का प्रतिनिधित्व किया।
सन् 1958	:	डेमोक्रेटिक नेशनल कॉन्फ्रेंस का गठन तथा सी. पी. आई. की केन्द्रीय कमेटी के सदस्य बने। इसी दौरान उर्दू साप्ताहिक जम्मू सन्देश निकाला और 1969 तक उसका सम्पादन किया।
सन् 1964	:	सी. पी. आई. के विभाजन के वक्त आर. पी. सराफ सी. पी. ॲम. की केन्द्रीय कमेटी में सम्मिलित हुए।
सन् 1966	:	चीन समर्थक लाइन की वजह से गिरफ्तार एवं रिहा।
सन् 1967	:	सी. पी. आई. (ॲम. ॲल.) की पोलित ब्यूरो के सदस्य बने।
सन् 1967	:	जम्मू-कश्मीर के सरकारी कर्मचारी आन्दोलन के दौरान भूमिगत रहे।
सन् 1971-1973	:	जेल में तथा 1973 में रिहा होने के बाद भूमिगत।
सन् 1973-1977	:	'द इंडियन सोसायटी', 'द प्रेजेण्ट इण्डियन सोसाइटी', 'वाइ इण्डियन कम्युनिस्ट मूवमेंट कुड नोट गेट इट्स गोल यट', 'द करेक्टर ऑफ इण्डियन स्टेट क्लासेज, पोलिटिकल पार्टिज ॲण्ड रिवोल्यूशन', 'द टू वर्ल्ड आउटलुक' नामक पुस्तकों का प्रकाशन किया।

आर. पी. सराफ का पूरा जीवन उसूलों पर आधारित था। उठना, बैठना, मिलना, बातचीत करना, सोना, खाना, रहना आदि छोटी से छोटी दिनचर्या से लेकर संगठनात्मक

प्रक्रिया किसी न किसी धारणा या उसूलों से निर्धारित होती थी। बचपन से ही वे खोजी प्रवृत्ति के थे, उनकी एक विशेषता यह थी कि कोई सवाल सामने आ जाए तो उसका जवाब जब तक खोज नहीं लेते, तब तक उनको नींद नहीं आती थी। वो कहा करते थे जैसा सोचो, वैसा कहो, जैसा कहो वैसा करो तथा कोई काम कर लिया तो उसके करने की क्या सोच थी, वो कहो यानी कथनी, करनी एवं सोच में एकरूपता लाना। उनका पूरा जीवन मानव समाज व्यवस्था को तर्कसंगत, समतावादी तथा न्याय आधारित बनाने के लिए समर्पित रहा। प्रकृति एवं मानव समाज के बारे में (या तर्कसंगत एवं न्याय आधारित समाज बनाने के बारे में) जैसा उनका विश्लेषण या समझ होती थी, उसी के मुताबिक उनकी कथनी एवं करनी होती थी, संगठन को भी उसी विश्लेषण या समझ के अनुसार समयानुकूल बनाने की वो भरसक कोशिश करते थे। यदि संगठन समकालीन विश्लेषण के अनुसार न हो तो उसे बनाने की संगठित कार्यवाही करना। इस प्रक्रिया में संगठन की एकता बनाए रखते हुए उसे बदलने या रूपान्तरित करने की कोशिश उनका मूल उसूल रहा।

प्रकृति एवं मानव समाज के विश्लेषण के संदर्भ में उनके जीवन को निम्न चरणों में समझा जा सकता है—

पहला चरण—सन् 1952 से 1964 तक का माना जा सकता है, जब वे सत्तावादी पार्टियों में उच्च पदों पर नेतृत्वकारी भूमिका में रहे, जम्मू-कश्मीर की संविधान सभा के सदस्य रहे तथा साम्बा-विश्नाह विधानसभा क्षेत्र से 10 वर्षों तक लोगों का प्रतिनिधित्व किया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सीपीआई) तथा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सवादी (सीपीआईॲम) की केन्द्रीय कमेटी के सदस्य रहे।

विधान सभा में शेख अब्दुला की सत्तावादी एवं सामन्तवादी नीतियों की जमकर खिलाफ़त की। जम्मू-कश्मीर के प्रथम सदर-ए-रियासत (राज्य प्रमुख) के चुनाव पर शेख अब्दुल्ला ने प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की सलाह पर काम करते हुए करणसिंह (महाराजा हरिसिंह के पुत्र) का नाम प्रस्तावित किया। आर. पी. सराफ ने शेख अब्दुल्ला के सामन्ती प्रस्ताव का विरोध किया। उन्होंने इस पद के लिए अनुसूचित जाति के प्रत्याशी महाशय नाहरसिंह को खड़ा किया। विधान सभा के बाहर उन्होंने मेहनतकशों, दलितों के हक में बड़ा आन्दोलन किया। जम्मू-कश्मीर भूमि सुधार आन्दोलन में सक्रिय नेतृत्वकारी भूमिका निभाकर जमीनों को दलितों एवं भूमिहीनों में बाँटा।

दूसरा चरण—1964 से 1973 तक का माना जा सकता है। चीन समर्थक लाइन होने के कारण डिफेन्स ऑफ इंडिया एक्ट (डी. आई. आर.) के तहत आर. पी. सराफ 1966 तक जेल में रहे। 1967 के जम्मू-कश्मीर सरकार के कर्मचारी आन्दोलन में भूमिगत रहे। 1968 में कॉरडिनेशन कमेटी ऑफ कम्युनिस्ट रिवोल्यूशनरीज के प्रथम नक्सलवादी संगठन में सम्मिलित हुए। 1969 में कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (ॲम.

ऑल.) के पोलित ब्यूरो के सदस्य बने। 1971 में फिर गिरफ्तार हुए तथा 1973 में रिहा हुए।

तीसरा चरण–सन् 1973 से 1977 तक रहा। इस दौरान आर. पी. सराफ ने विभिन्न कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के गुटों को संगठित करने और जोड़ने का प्रयास किया। इस दरम्यान उन्होंने भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन को आगे बढ़ाने से सम्बन्धित किताबें लिखीं। उनमें से–

1. क्या कारण है कि भारतीय क्रांति अभी तक अपना लक्ष्य हासिल नहीं कर पाई।
2. भारतीय जनवादी क्रांति की स्थिति।
3. वर्तमान भारतीय समाज।
4. दो विश्व-दृष्टिकोण।
5. वर्तमान भारतीय राज्य, वर्गों, राजनीतिक पार्टियों और क्रांति का चरित्र।
6. इंडियन सोसाइटी, नामक किताबें लिखीं एवं प्रकाशित कीं, जो मूल रूप से माओवादी विचारधारा लिये हुए थीं। इस पूरे समय में वे भूमिगत रहे।

चौथा चरण–1978 से 2009 तक–विभिन्न क्रांतिकारी ग्रुपों से वैचारिक अन्तर क्रिया और सम्पर्क के अथक प्रयासों के बावजूद कोई सफलता नहीं मिली। जनवरी, 1978 में आर. पी. सराफ ने अपने सभी सम्पर्कों को एक ग्रुप में संगठित किया तथा 'ए रिवोल्यूशनरी व्यूपाइंट' नाम से नियमित पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। प्रकृति एवं मानव समाज के विश्लेषण में वास्तविकता के और नजदीक पहुँचते हुए इसी पत्रिका का जनवरी, 2003 में 'नेचर-ह्यूमन सेन्ट्रिक व्यू पाइंट' में रूपान्तरण हुआ। इन्हीं प्रकाशनों के इर्द-गिर्द वे एक ग्रुप में वैचारिक, व्यावहारिक एवं संगठनात्मक काम करते रहे। प्रकृति एवं मानव समाज के बारे में आम विश्लेषण इन्हीं प्रकाशनों में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए 'ए रिवोल्यूशनरी व्यू पाइंट' (जनवरी, 1978 से दिसम्बर, 1982 तक) मार्क्सवाद-लेनिनवाद तथा माओत्सेतुंग विचारधारा को भारत में लागू करने का नजरिया लिये हुए थी, जबकि प्रोलीटेरियन व्यूपाइंट' (जनवरी, 1983 से मार्च, 1986 तक) के वक्त यह समझ बनी कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर लागू करना है, आगे 'इन्टरनेशनलिस्ट डेमोक्रेटिक व्यू पाइंट (अप्रैल 84 से दिसम्बर 2002) के दौरान एक ऐसे जनतांत्रिक विश्वव्यापी मॉडल की समझ विकसित हुई जिसमें पूँजीवादी और समाजवादी विचारधाराओं के सकारात्मक पक्ष भी शामिल थे।

जनवरी, 2003 ('नेचर-ह्यूमन सेन्ट्रिक व्यूपाइंट' पत्रिका) से पहले के सभी प्रयास कॉरपोरेट व्यवस्था के दायरे में ही सुधार के प्रयास थे। हालाँकि, प्रकृति-मानव केन्द्रित मॉडल का दार्शनिक, वैचारिक और समाजशास्त्रीय आधार 'इन्टरनेशनलिस्ट डेमोक्रेटिक, व्यू पाइंट' के दौरान ही विकसित हो चुका था। आर. पी. सराफ ने एक ऐसे समाजशास्त्र एवं दर्शन की खोज की है जो ग्लोबल वार्मिंग या मौसम परिवर्तन की चुनौती के

साथ-साथ प्राकृतिक संसाधनों की तथा मानव समाज के अमानवीयकरण की प्रक्रिया के समाजशास्त्रीय कारणों की व्याख्या करता है। अमानवीय एवं अन्याय पर आधारित वर्तमान कॉरपोरेट व्यवस्था के विकल्प में उचित, न्यायिक, व्यावहारिक एवं तर्कसंगत प्रकृति-मानव केन्द्रित मॉडल को प्रस्तुत करता है। प्रकृति-मानव केन्द्रित मॉडल को विश्वव्यापी जन-आन्दोलन बनाकर, विश्व के लोगों को गाँव से लेकर यू. एन. ओ स्तर तक संगठित करके लागू किया जाना है। इस मॉडल को 'नेचर-ह्यूमन सेन्ट्रिक व्यू पाइंट' (जनवरी, 2003 से 2009 तक) के प्रकाशनों में देखा जा सकता है।

आर. पी. सराफ के मार्गदर्शन में दिसम्बर, 2002 की प्रकृति-मानव केन्द्रित जन-आन्दोलन (नेचर-ह्यूमन सेन्ट्रिक पीपल्स मूवमेंट) का गठन हुआ। इस मूवमेंट के गठन की पृष्ठभूमि ॲडम स्मिथ एवं मार्क्सवादी समाजशास्त्र के सिद्धान्त और व्यवहार का लेखक द्वारा मूल्यांकन तथा विश्व की नई उभर रही ग्लोबल वार्मिंग या जलवायु-परिवर्तन की चुनौती के साथ-साथ चल रही कॉरपोरेट व्यवस्था द्वारा प्राकृतिक संसाधनों की बर्बादी एवं मानवीय समाज में तेज हो रही अमानवीयकरण की प्रक्रिया की समझ रही।

प्रकृति-मानव केन्द्रित जन-आन्दोलन का सिद्धान्त राष्ट्र-राज्यों की अन्तरनिर्भरता की नई उभरी सामाजिक प्रक्रिया से विश्व परिदृश्य पर सामने आया है। जबकि पूँजीवाद या उदारवादी सिद्धांत तथा साम्यवादी या मार्क्सवादी सिद्धान्त राष्ट्र-राज्य आधारित व्यवस्था के दौर में विद्यमान सामाजिक हालात की उपज थे।

इसमें इस प्रश्न पर विचार किया गया कि क्या कारण है कि लाखों सालों की मानव सभ्यता इस पृथ्वी ग्रह पर से सम्पूर्ण जैव-जीवन के साथ समाप्त होने की ओर बढ़ रही है? इस प्रश्न पर अध्ययन के दौरान आर. पी. सराफ इस नतीजे पर पहुँचे कि वर्तमान कॉरपोरेट व्यवस्था का चरित्र प्रकृति एवं मानव सहित सम्पूर्ण जैव-जगत् के ख़िलाफ़ है। यह व्यवस्था केवल पूँजी (धन-दौलत, मुद्रा) के प्रबंध की व्यवस्था है। पूँजी का प्रबंध चाहे कॉरपोरेट व्यवस्था के जरिए प्रबंधित किया जाए या राज्य के नेतृत्व में 'समाजवादी' तरीक़े से प्रबंधित किया जाए। चूँकि राज्य आधारित 'समाजवादी' मॉडल पूँजी के प्रबंध की प्रतियोगिता में कॉरपोरेट प्रबंध से पीछे रह गया, इसलिए यह उसका कनिष्ठ भागीदार या सहयोगी बन गया है। जबकि ग्लोबल वार्मिंग या मौसम परिवर्तन की चुनौती ने मानव-समाज के सामने प्राकृतिक संसाधनों और मानवीय संसाधनों को प्रबंधित, संरक्षित एवं विकसित करने की अभूतपूर्व चुनौती प्रस्तुत कर दी है। जबकि बाजार आधारित कॉरपोरेट और राज्य आधारित समाजवादी मॉडल केवल और केवल पूँजी का ही प्रबंध कर सकते हैं, अतः ये अपनी प्रासंगिकता खो चुके हैं। इस प्रक्रिया में आर. पी. सराफ इस वास्तविकता के नजदीक पहुँचे कि मानव-समाज को आज नए मॉडल की जरूरत है, एक ऐसा मॉडल जो पूँजी के प्रबंधन की जगह प्रकृति और मानव के प्रबंधन को प्राथमिकता दे।

नेचर-ह्यूमन सेन्ट्रिक पीपल्स मूवमेंट को संगठित करने के दौरान आर. पी. सराफ ने एक नए समाजशास्त्र की खोज की है, जो ग्लोबल वार्मिंग या मौसम परिवर्तन के संकट के हल का रास्ता प्रदान करके मानव जाति सहित सम्पूर्ण जैव-जगत् के पृथ्वी ग्रह पर जिन्दा रहने की गारण्टी सुनिश्चित करता है। प्रकृति-मानव केन्द्रित एजेण्डे की महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रीय धारणाएँ कॉरपोरेट समाजशस्त्रीय धारणाओं से भिन्न हैं। उदाहरण के लिए—

1. पूँजीवादी दार्शनिक ॲडम स्मिथ एवं साम्यवादी चिन्तक मार्क्स के अनुसार मानव-समाज के अस्तित्व, विकास एवं परिवर्तन की प्रक्रिया में मानव की प्रमुख भूमिका है, यानी, पूँजीवादी एवं साम्यवादी दोनों समाजशास्त्र मानव केन्द्रित हैं, जबकि प्रकृति मानव केन्द्रित मॉडल की मान्यता के अनुसार मानव-समाज के अस्तित्व, विकास एवं परिवर्तन के लिए प्रकृति एवं मानव दो समान महत्त्वपूर्ण कारक हैं।
2. ॲडम स्मिथ एवं मार्क्सवाद के अनुसार समाज का आधार पूँजी है, जबकि प्रकृति-मानव केन्द्रित मॉडल के अनुसार समाज का आधार प्राकृतिक संसाधन और मानव स्वयं है।
3. ॲडम स्मिथ की प्रस्तावना के अनुसार 'मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है', जबकि मार्क्स के अनुसार 'मनुष्य सामाजिक प्राणी है'। इन दोनों एकतरफा धारणाओं से अलग प्रकृति-मानव केन्द्रित विचारधारा के अनुसार मनुष्य का स्वभाव जैव-सामाजिक, यानि इसका व्यक्तिगत अस्तित्व एक तरफ जैविक चरित्र लिये है तो दूसरी तरफ इसका जीने का ढंग, कार्यशैली एवं संगठन (परिवार, शहरी या ग्रामीण इकाई से लेकर संयुक्त राष्ट्रसंघ तक) सामाजिक है।
4. ॲडम स्मिथ का पूँजीवादी विचार बाजार (मार्केट) की पूँजी निर्धारित करने वाला कारक घोषित करता है, जबकि मार्क्सवादी विचार पूँजी को संचालित करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी नियंत्रित राष्ट्रीयकरण या समाजवाद की अवधारणा आगे लाता है। वे दोनों अवधारणाएँ मानव के जैव-सामाजिक चरित्र और पर्यावरण के साथ मानव के सहजीवन की वर्तमान विश्वव्यापी वास्तविकता से मेल नहीं खाती हैं।

इनके उलट प्रकृति-मानव केन्द्रित जन-आन्दोलन का दृष्टिकोण है कि चल रहे घातक संकट का बुनियादी हल मौजूदा बाजार आधारित कॉरपोरेट पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान पर प्रकृतिमानव-केन्द्रित व्यवस्था लाने में निहित है और जो पाँच बुनियादी उसूलों अर्थात् पर्यावरणीय संवर्द्धन, उचित समानता (प्रत्येक वंचित एवं जरूरतमंद व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा तथा अतर्कसंगत आय के अन्तर को 1:5 तक लाकर इसे तर्क-संगत बनाना), उत्पादकता (या वृद्धि-दर), लोक-नेतृत्व जनवाद (यानी, कॉरपोरेट समर्थित राजनीतिक पार्टियों एवं व्यापारिक घरानों की बनिस्बत लोगों का सशक्तिकरण करना) तथा चहुँमुखी पारदर्शिता पर आधारित होगी।

5. आज की अन्तरनिर्भर दुनिया में 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त अनुपयोगी और जैव-जीवन के लिए आत्मघाती बन चुका है। आज इस ग्रह पर जीवन-सुरक्षित करने के लिए समस्त विश्व के लोगों के बीच एक अविभाजित मजबूत मानवीय एकता की जरूरत है। विश्व शांति आज की दुनिया की प्रथम जरूरत है।
6. हमारे ग्रह ही प्रकृति तथा 21वीं सदी के राष्ट्र-राज्यों की अन्तरनिर्भर सामाजिक वास्तविकता, हमें एक प्रकृति-मानव केन्द्रित विश्व-दृष्टि प्रदान करते हैं। इस नजरिये से हमारी पहचान का प्रधान रूप वैश्विक नागरिकता है, क्योंकि हमारे जिन्दा रहने या मरने का सबब विश्व के समस्त नागरिकों और हमारे ग्रह के पर्यावरण से सीधा जुड़ गया है। यही कारण है कि आज पूरी पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों एवं मानव संसाधनों के विश्व स्तरीय प्रबंधन की जरूरत है।
7. प्रकृति-मानव केन्द्रित कार्यक्रम दुनिया के लोगों के सशक्तिकरण की प्रक्रिया सुनिश्चित करता है—यानी प्रकृति-मानव समर्थक फैसले लेने के निर्णायक अधिकार सम्बन्धित लोगों के पास हो और उन्हें लागू करने पर लोगों का पूर्ण नियंत्रण हो, जबकि किसी भी संगठन या व्यक्ति को अपनी राय देने, उस पर लोगों से विचार-विमर्श करवाने और लोगों के फैसले व नियंत्रण में काम करने का अधिकार प्राप्त हो, यही प्रकृति-मानव केन्द्रित अगुवाई का स्वरूप हो सकता है।
8. लोक-नेतृत्व आधारित डेमोक्रेसी का प्रकृति-मानव केन्द्रित मॉडल मानता है कि सभी सामाजिक प्रक्रियाओं—राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक—का मानव-जीवन में समान महत्त्व है और इनमें से किसी एक पहलू को निर्णायक बनाना पर्यावरणीय और मानवीय एकजुटता को छिन्न-भिन्न करने वाले लोगों के सशक्तीकरण के ख़िलाफ़ है।

अतः प्रकृति-मानव समर्थक, लोक-नेतृत्व आधारित जनवादी प्रबंध व्यवस्था के लिए गाँव/वार्ड से लेकर ब्लॉक, जिला, राज्य, देश और विश्व स्तर तक राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभाओं की स्थापना की जाए, जिसमें राजनीतिक सभा, कानून और व्यवस्था, अपराध रोकथाम, न्यायिक कार्यवाही के सम्बन्ध में कार्यक्रम और नीतियाँ बनाए; आर्थिक विकास सभा, आर्थिक एवं वित्तीय मसलों, जैसे विकास योजना, कृषि उद्योग, सेवाएँ, वित्त और बजट से सम्बन्धित कार्यक्रम और नीतियाँ बनाए जबकि सांस्कृतिक सभा, शिक्षा, स्वास्थ्य, नैतिक मूल्यों, भाषा, संगीत, नृत्य सिनेमा, मीडिया आदि से सम्बन्धित कार्यक्रम और नीतियाँ बनाए और उन्हें लागू करने के लिए लोक-कल्याणकारी इरादे गठित करे, इत्यादि-इत्यादि।

महाश्वेता देवी

❑ कृपाशंकर चौबे

14 जनवरी, 1926 को ढाका के जिंदाबहार लेन में जन्म के समय महाश्वेता देवी की माँ धरित्री देवी मायके में थीं। माँ की उम्र तब 18 वर्ष और पिता मनीष घटक की 25 वर्ष थी। पिता मनीष घटक ख्यातिप्राप्त कवि और साहित्यकार थे। माँ धरित्री देवी भी साहित्य की गंभीर अध्येता थीं। वे समाज सेवा में भी संलग्न रहती थीं। महाश्वेता ने जब बचपन में साफ-साफ बोलना शुरू किया तो उन्हें जो जिस नाम से पुकारता, वे भी उसी नाम से उसे पुकारतीं। पिता इन्हें तुतुल कहते थे तो ये भी पिता को तुतुल ही कहतीं। आजीवन पिता उनके लिए तुतुल ही रहे। थोड़ी बड़ी हुई तो ढाका के इंडेन मांटेसरी स्कूल में भर्ती कराया गया। 4 वर्ष की उम्र में ही बांग्ला लिखना-पढ़ना सीख गई थीं। पिता को नौकरी मिल गई थी। कई बार बदली हुई। तबादले पर उन्हें ढाका, मेमनसिंह, जलपाईगुड़ी, दिनाजपुर और फरीदपुर जाना पड़ा। ढाका के जिंदाबहार लेन में महाश्वेता का ननिहाल था और नतून भोरेंगा में पिता का गाँव। ननिहाल आना-जाना लगा रहता था। दुर्गापूजा की छुट्टियाँ तो ननिहाल में ही कटतीं। बचपन में महाश्वेता नटखट थीं।

पिता जब जलपाईगुड़ी में थे तो तिस्ता में ज्वार-भाटा देखा। बहुत रोमांचित हुई। सिर तक पानी आ गया। वह स्मृति बाद में 'चोट्टि मुंडा और उसका तीर' लिखने में उपयोग में आई। 1935 में पिता का तबादला मेदिनीपुर हुआ तो महाश्वेता का वहाँ के मिशन स्कूल में दाखिला कराया गया। लेकिन उसके अगले वर्ष ही मेदिनीपुर से नाता टूट गया क्योंकि उन्हें शांतिनिकेतन भेजने का फैसला किया गया। तब वे 10 वर्ष की थीं। शांतिनिकेतन के प्रासपेक्ट्स के मुताबिक लाल किनारे वाली साड़ी, बिस्तर, लोटा, गिलास वगैरह खरीदा गया। 1936 में शांतिनिकेतन गईं तो खूब रोईं। माँ छूटीं, पिता छूटे। इधर शांतिनिकेतन में मिली नई जगह। कई एक सुंदर भवन। लाइब्रेरी, सिंह सदन, श्री भवन, कला भवन, उत्तरायण, कोणार्क। स्थापत्य कला में सभी एक से सुंदर एक। वहाँ महाश्वेता को उन्मुक्त प्रकृति मिली। नई सहेलियाँ

मिलीं। वहाँ की दिनचर्या ऐसी थी कि सभी छात्र सुबह से देर रात तक व्यस्त रहते। शिक्षा का माध्यम बांग्ला होने के बावजूद अंग्रेजी अनिवार्य थी। लड़के शिशु भवन और लड़कियाँ श्री भवन में रहती थीं। भोर का घंटा बजते ही उठकर बिस्तर सरिहाना, फ्रेश होना, किचन में जाना, फिर क्लास। क्लास के बाद स्नान, फिर भोजन। लेख लिखना है तो लाइब्रेरी से लेकर किताब पढ़ना। बच्चों में पढ़ाई के साथ ही गीत-संगीत-नाटक-चित्रकला में भी रुचि जगाई जाती थी। उससे भी बढ़कर प्रकृति से प्यार करना सिखाया जाता था। शांतिनिकेतन में महाश्वेता का जल्दी ही मन लग गया। वहाँ उन्हें श्रेष्ठ शिक्षक मिले। बकौल महाश्वेता, 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिंदी पढ़ाते थे। सभी आश्रमवासी उन्हें छोटा पंडितजी कहते थे। 1937 में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी बांग्ला की क्लास ली थी उत्तरायण के बदामदे में। तब सातवीं कक्षा की छात्रा महाश्वेता के लिए यह अविस्मरणीय घटना थी। इससे पहले 1936 में बंकिम शतवार्षिकी समारोह में रवीन्द्रनाथ का भाषण सुना था महाश्वेता ने।

महाश्वेता शांतिनिकेतन में 3 साल ही रह सकीं क्योंकि 1939 में उन्हें कलकत्ता बुला लिया गया। शांतिनिकेतन जाने पर वे जितना रोई थीं, उससे ज्यादा उसके छूटने पर रोईं। पिता कलकत्ता आ गए थे। तब महाश्वेता से छोटे पाँच भाई-बहन थे। माँ गर्भवती थीं और उसी अवस्था में सीढ़ी से फिसलकर गिर पड़ी थीं। बिस्तर पर पड़ी माँ का जीवन खतरे में था। तब महाश्वेता महज 13 साल की थीं पर उसी उम्र में उन्हें बड़ा होना पड़ा। अस्वस्थ माँ की देखभाल करना, साथ ही भाई-बहनों को सँभालना, उन्हें नहलाना, थाली में दाल-भात सानकर सबको खिलाना, कहानी सुनाना, रात में हाथ-पैर धुलवाकर सबको सुलाना महाश्वेता की दिनचर्या बन गई। वे छोटे भाई-बहनों की पढ़ाई में भी मदद करतीं और किसी चूक पर डाँटतीं भी।

1939 में शांतिनिकेतन से लौटने के बाद कलकत्ता के बेलतला बालिका विद्यालय में आठवीं कक्षा में महाश्वेता का दाखिला हुआ। उसी साल उनके काका ऋत्विक घटक भी घर आकर रहने लगे। वे 1941 तक यहाँ रहे। 1939 में बेलतला स्कूल में महाश्वेता की शिक्षिका थीं अपर्णा सेन। उनके बड़े भाई खगेन्द्र नाथ सेन 'रंगमशाल' निकालते थे। उन्होंने एक दिन रवीन्द्रनाथ की पुस्तक 'छेलेबेला' देते हुए महाश्वेता से उस पर कुछ लिखकर देने को कहा। महाश्वेता ने लिखा और वह 'रंगमशाल' में छपा भी। यह महाश्वेता की पहली रचना थी। स्कूली जीवन में ही महाश्वेता ने राजलक्ष्मी और धीरेश भट्टाचार्य के साथ मिलकर एक अल्पायु स्वहस्तलिखित पत्रिका निकाली—'छन्नछाड़ा'। महाश्वेता बचपन में अपराध साहित्य भी पढ़ती थीं और अखबारों के क्रासवर्ड का हल भी करती थीं। वह आदत अब भी वैसी ही बनी हुई है।

नानी, दादी व माँ ने महाश्वेता को अच्छा साहित्य पढ़ने के संस्कार दिए। कोई किताब पढ़ने के बाद कोई प्रसंग दादी माँ पूछ भी लेती थीं। बचपन में दादी

की लाइब्रेरी से ही लेकर महाश्वेता ने 'टम काकार कुटीर' पढ़ा था। घर का पूरा माहौल ही शिक्षा और संस्कृतिमय था। इसलिए लिखने-पढ़ने का एक नियमित अभ्यास छुटपन में ही हो गया। हेम-बन्धु-बंकिम-नवीन-रंगलाल को उन्होंने 12 वर्ष की उम्र में ही पढ़ लिया। माँ देश-प्रेम और इतिहास की पुस्तकें पढ़ने को देतीं।

घर में वैसे पढ़ने के प्रति हरेक सदस्य का अलग से अनुराग था। यह भी सही था कि पढ़ने के अलावा रिक्रिएशन का और कोई साधन नहीं था। बांग्ला की तुलना में अंग्रेजी की पढ़ाई महाश्वेता ने बाद में शुरू की। जब वे बेलतला बालिका विद्यालय में आठवीं में पहुँचीं, तब इंग्लिश क्लासिक्स पढ़ना अनिवार्य था। इस तरह पुस्तक प्रेम बचपन से ही रहा। पुस्तक पाते ही महाश्वेता दूसरी दुनिया में खो जातीं। पिता की भी बड़ी समृद्ध लाइब्रेरी थी। तब के नोबेल पुरस्कार प्राप्त कई लेखकों की रचनाएँ महाश्वेता ने पिता की लाइब्रेरी से ही लेकर पढ़ी थीं। 1939-1944 के दौरान महाश्वेता के पिता ने कलकत्ता में सात बार घर बदले। 1942 में घर के सारे कामकाज करते हुए महाश्वेता ने मैट्रिक की परीक्षा पास की। उस वर्ष भारत छोड़ो आंदोलन ने महाश्वेता के किशोर मन को बहुत उद्वेलित किया। 1943 में अकाल पड़ा। तब महिला आत्मरक्षा समिति के नेतृत्व में उन्होंने राहत और सेवा कार्यों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया था। अकाल के बाद महाश्वेता ने कम्युनिस्ट पार्टी के मुखपत्र 'पीपुल्स वार' और 'जनयुद्ध' की बिक्री भी की थी। पर पार्टी की सदस्य वे कभी नहीं हुईं।

अकाल राहत व सेवा कार्यों में महाश्वेता की संगिनी थीं तृप्ति भादुड़ी। ये दोनों सहपाठी थीं। दोनों एक दिन काली घाट में शिरीष के एक पेड़ के नीचे लगे राहत शिविर में गईं। वहाँ लोगों को मरते देखा। ऐसी कई मौतों की वे प्रत्यक्षदर्शी थीं। इसका उनके जीवन और चिंतन पर काफी प्रभाव पड़ा।

उधर किशोरवय में ही कंधे पर आ चुके पारिवारिक दायित्व को निभाने के प्रति भी महाश्वेता सदा सजग रहतीं। माँ के जीवन के आखिरी वर्षों में महाश्वेता ने पुरानी सिलाई मशीन चलाकर कपड़ों की सिलाई की। गमलों में पेड़-पौधे लगाना और खाना बनाने का काम भी अबाध गति से चलता रहा। 1944 में महाश्वेता ने कलकत्ता के आशुतोष कॉलेज में इण्टरमीडिएट किया। पारिवारिक दायित्व से कुछ मुक्ति मिली यानी वह भार छोटी बहन मितुल ने सँभाला तो महाश्वेता फिर शांतिनिकेतन गईं, कॉलेज की पढ़ाई करने। वहाँ 'देश' के संपादक सागरमय घोष आते-जाते थे। उन्होंने महाश्वेता से 'देश' में लिखने को कहा। तब महाश्वेता बीए तृतीय वर्ष में थीं। उस दौरान उनकी तीन कहानियाँ 'देश' में छपीं। हर कहानी पर दस रुपये का पारिश्रमिक मिलता था। तभी उन्हें बोध हुआ कि लिख-पढ़कर भी गुजारा संभव है। उन्होंने शांतिनिकेतन से 1946 में अंग्रेजी में ऑनर्स के साथ स्नातक किया। उसके सालभर बाद 1947 में प्रख्यात रंगकर्मी विजन भट्टाचार्य से उनका विवाह हुआ। विजन

कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। वह समय कम्युनिस्टों के लिए बहुत मुश्किल भरा था। उन्हें अन्न-वस्त्र जुटाने के लिए काम ढूँढ़ने में काफी मुश्किलें पेश आती थीं। 1948 में पद्मपुकुर इंस्टीट्यूशन में अध्यापन कर महाश्वेता ने घर का खर्च चलाया। उसी वर्ष पुत्र नवारुण भट्टाचार्य का जन्म हुआ। 1949 में महाश्वेता को केन्द्र सरकार के डिप्टी एकाउंटेंट जनरल पोस्ट ॲण्ड टेलीग्राफ ऑफिस में अपर डिवीजन क्लर्क की नौकरी मिल गई। लेकिन वर्षभर के भीतर ही, पति के कम्युनिस्ट होने के कारण, वह छूट गई। महाश्वेता अतुल गुप्त के पास गईं। उनकी नोटिस के दबाव में महाश्वेता की फिर बहाली हुई लेकिन इस बार महाश्वेता की दराज में मार्क्स और लेनिन की किताबें रखकर, कम्युनिस्ट होने का आरोप लगाकर और अस्थायी होने के चलते, दुबारा नौकरी से उन्हें हटा दिया गया। नौकरी जाने के बाद जीवन-संग्राम ज्यादा कठिन हो गया। महाश्वेता ने कपड़ा धोने के साबुन की बिक्री से लेकर ट्यूशन करके घर का खर्चा चलाया। यह क्रम 1957 में रमेश मित्र बालिका विद्यालय में मास्टरी मिलने तक चला। विजन भट्टाचार्य से विवाह होने से ही महाश्वेता जीवन संग्राम का यह पक्ष महसूस कर सकीं और एक सुशिक्षित, सुसंस्कृत परिवार की लड़की होने के बावजूद स्वेच्छा से संग्रामी जीवन का रास्ता चुन सकीं।

संघर्ष के इन दिनों ने ही लेखिका महाश्वेता को भी तैयार किया। उस दौरान उन्होंने खूब रचनाएँ पढ़ीं। विश्व के मशहूर लेखकों-चिंतकों की रचनाएँ, इलिया एरेनबर्ग, अलेक्सी टॉलस्टाय, गोर्की, चेखव, सोल्झेनित्सिन, मायकोवस्की और रूस के कई अन्य लेखकों की पुस्तकें पढ़ीं। लेकिन मजे की बात ये है कि मार्क्स और लेनिन को कभी नहीं पढ़ पाईं। बाद में पति और बेटे ने भी बहुत कहा, फिर भी नहीं पढ़ा। हाँ यह है कि दरिद्रता, भूख, बेबसी, शोषण को नजदीक से देखकर यह सिद्धान्त उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव से अर्जित किया। उसी समय विजन भट्टाचार्य को एक हिंदी फिल्म की कहानी लिखने के सिलसिले में मुंबई जाना पड़ा। उनके साथ महाश्वेता भी गईं। मुंबई में महाश्वेता के बड़े मामा सचिन चौधरी थे। मामा के यहाँ ही महाश्वेता ने पढ़ा—वी. डी. सावरकर 1957; उससे इतनी प्रभावित हुईं कि उनके मन में भी इसी तरह का कुछ लिखने का विचार आया। तय किया कि झाँसी की रानी पर वे किताब लिखेंगी। उन पर जितनी किताबें थीं, सब जुटाकर पढ़ीं। मुंबई से आने के बाद ट्यूशन वगैरह तो चल ही रहा था। लेखन को भी जीविका का साधन बनाने का विचार दृढ़ होता गया।

महाश्वेता ने प्रतुल गुप्त को अपने मन की बात बताई कि वे झाँसी की रानी पर लिखना चाहती हैं। और झाँसी की रानी के भतीजे गोविंद चिंतामणि से पत्र व्यवहार शुरू किया। सामग्री जुटाने और पढ़ने के साथ-साथ महाश्वेता ने लिखना भी शुरू कर दिया। फटाफट चार सौ पेज लिख डाले। पर इतना लिखने के बाद उनके मन ने कहा—यह तो कुछ भी नहीं हुआ। उन्होंने उसे फाड़कर फेंक दिया। झाँसी की

रानी के बारे में और जानना पड़ेगा। तो इसके लिए 6 वर्ष के बेटे नवारुण भट्टाचार्य और पति को कलकत्ता में छोड़कर झाँसी चली गईं। तब न पति के पास नौकरी थी न उनके पास। जैसे-तैसे शुभचिंतकों से पैसे लेकर वे 1954 में झाँसी की यात्रा पर निकलीं। अकेले उन्होंने बुंदेलखंड के चप्पे-चप्पे को अपने कदमों से नापा। वहाँ के लोकगीतों को कलमबद्ध किया। तब झाँसी की रानी की जीवनी लिखने वाले वृंदावन लाल वर्मा झाँसी कंटोनमेंट में रहते थे। उनसे भी वे मिलीं। उनके परामर्श के मुताबिक झाँसी की रानी से जुड़े कई स्थानों का दौरा किया। बुंदेलखंड से लौटकर महाश्वेता ने नए सिरे से 'झाँसी की रानी' लिखी और 'देश' में यह रचना धारावाहिक छपने लगी। 'न्यू एज' ने इसे पुस्तक के रूप में छापने के लिए महाश्वेता को पाँच सौ रुपये दिए। इस तरह महाश्वेता की पहली किताब 1956 में आई।

लेखिका ने अपनी पहली पुस्तक 'झाँसीर रानी' स्वर्गीय श्री गोविंद राम चिंतामणि ताम्बे, लक्ष्मणराव झाँसीवाले और ग्वालियर में रानी लक्ष्मीबाई की छतरी के नीचे हेमंत ऋतु में बिताए गए एक दिन की पवित्र स्मृति को समर्पित की है। महाश्वेता ने जिस ढंग से इस उपन्यास को लिखा है, उससे लेखिका का रोमांटिक आवेग रानी के जीवन की घटनाओं की नाटकीयता के साथ घुलमिल गया है। पुस्तक लिखते समय लोकगीत, लोककथा, बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास, रासो लोकगाथाएँ, लोगों के मुख से सुने गान आदि लेखिका की सामग्री के स्रोत रहे। तात्पर्य यह है कि इस जीवनीमूलक उपन्यास को लिखने के लिए लक्ष्मीबाई के बारे में व्याप्त तरह-तरह की किंवदंतियों के घटाटोप को पार कर तथ्यों व प्रामाणिक सूचनाओं का उन्होंने सहारा लिया। इस ग्रंथ को महाश्वेता ने कलकत्ता में बैठकर नहीं, बल्कि सागर, जबलपुर, पूना, इंदौर, ललितपुर, झाँसी, ग्वालियर, कालपी में घटित तमाम घटनाओं के साथ चलते हुए लिखा। इसमें कथा का प्रवाह कल्पना के सहारे नहीं, बल्कि तथ्यों व दस्तावेजों के सहारे निर्मित किया गया है। इसीलिए महाश्वेता की पुस्तक जीवनी के साथ-साथ इतिहास का भी आनंद देती है। 'झाँसीर रानी' लिखने के बाद ही महाश्वेता समझ पाईं कि वे कथाकार बनेंगी। वे अपनी रचनाओं में इतिहास, भूगोल और लोक संस्कृति पर खास जोर देतीं। बुंदेलखंड में रहते हुए कई स्थानों के स्केच उन्होंने बनाये। 'झाँसीर रानी' पुस्तक में जो मानचित्र है, उन्हीं का बनाया हुआ है। महाश्वेता ने जो साहित्य रचा, उसके अधिकांश के लिए पढ़ना और सामग्री जुटाना एक तरह से अनिवार्य रहा है। महाश्वेता में शुरू से ही प्रखर इतिहास चेतना रही है, जो लगातार उनके लेखन में हावी रही है। इसके लिए तथ्यों पर निर्भर रहना ही पड़ता है। शुरुआती कृतियों 'झाँसीर रानी', 'नटी', 'आंधार माणिक', 'अमृतसंचय', 'विवेक विदायपाला' से लेकर 'जल' व 'स्तनदायिनी' तक के लिए उन्हें तथ्य संग्रह करने पड़े हैं; उनका मनन करना पड़ा है, मनन के बाद उनका उन्होंने इस्तेमाल किया है।

'झाँसीर रानी' (1956) के बाद महाश्वेता की दूसरी पुस्तक 'नटी' 1957 में

आई। उसी कड़ी में 'जली थी अग्निशिखा' आई। ये तीनों किताबें 1857 के महासंग्राम पर केन्द्रित हैं।

साठ का दशक महाश्वेता के जीवन के लिए बड़ा उथल-पुथल वाला रहा। 1962 में विजन भट्टाचार्य से उनका विवाह-विच्छेद हो गया। असीत गुप्त से दूसरा विवाह हुआ। किंतु उनसे भी 1975 में विच्छेद हो गया। उसके बाद उन्होंने लेखन और आदिवासियों के बीच कार्य करते हुए हमेशा सृजनात्मक कार्यों में अपने को व्यस्त रखा। यह भी गौर करने योग्य है कि महाश्वेता कभी पारिवारिक कर्तव्यों से च्युत नहीं हुईं। घर में बेटी, दीदी, पत्नी, माँ और दादी माँ की भूमिका उन्होंने बखूबी निभाई। तीसरी पीढ़ी के बच्चे भी महाश्वेता के घर आकर ज्यादा आजादी व आनन्द का अनुभव करते हैं। भाई-बहनों के बच्चों के साथ महाश्वेता का व्यवहार भी बहुत ही आत्मीय और अनौपचारिक रहता है। महाश्वेता ने अपनी कई किताबें अपने पत्रकार पौत्र तथागत भट्टाचार्य को समर्पित की हैं। महाश्वेता अपने घर में बिलकुल सादगी से रहती हैं। मनोरंजन के साधन भी नहीं, पर बच्चे अवकाश पाते ही उनके घर दौड़ लगाते हैं। महाश्वेता आरंभ से ही अलग किस्म की महिला रही हैं। अब भी हैं इसलिए दो-दो बार विवाह-विच्छेद होने के बावजूद उनके सम्मान पर कोई आँच नहीं आई। महाश्वेता का उनके पति भी बहुत सम्मान करते थे। इसलिए विवाह-विच्छेद के बाद भी विजन या असीत ने महाश्वेता के विरुद्ध या महाश्वेता ने उन दोनों के विरुद्ध कभी कुछ नहीं कहा। विजन की मृत्यु के बाद महाश्वेता दिन-भर वहाँ रहीं। वहाँ महाश्वेता की उपस्थिति को बहुत सम्मान दिया गया।

आम लेखकों से महाश्वेता का जीवन और साहित्य भिन्न है तो उसकी वजह है। झारखंड, पश्चिम बंगाल और उड़ीसा के आदिवासियों और शोषितों की व्यथा-कथा लिखने वाली महाश्वेता लेखक के सक्रिय सामाजिक हस्तक्षेप में भरोसा रखती हैं। हमारे देश में काम से ज्यादा काम का प्रचार होता है। महाश्वेता अपने को चौबीसों घंटे काम में व्यस्त रखती हैं। प्रचार से दूर भागती हैं। विभिन्न विसंगतियाँ देखकर मन में जो उद्विग्नता होती है, वह लेखन में उतर आती है।

1964 में महाश्वेता को विजयगढ़ ज्योतिष राय कॉलेज में अध्यापन का अवसर मिला। वहाँ उन्होंने 20 साल अध्यापन किया और 1984 में स्वेच्छावकाश ले लिया। हर काल-परिस्थिति में लिखना-पढ़ना जारी रहा। महाश्वेता की रचनाएँ अन्याय के विरुद्ध इंसान के संघर्ष के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज हैं। उनकी कृतियों को पढ़ना इतिहास में भिन्न-भिन्न कालखंड की समाज व्यवस्था और तब व्यवहार होने वाली जनभाषा और शोषक व शोषितों के बीच संघर्ष के सभी पहलुओं से वाकिफ़ होना है। उदाहरण के लिए महाश्वेता की शवदाह और मृत्यु पर कई कथाकृतियाँ हैं लेकिन उनमें भिन्न समाजों, भिन्न तबकों में भिन्न तरीके के लोकाचार हैं। बिरसा मुंडा ने मृतदेह का पैसा लेकर खाद खरीदा था क्योंकि पैसा तो मृतदेह के काम आएगा नहीं। वह तो

जीवन के ही काम आएगा। जीवित व्यक्ति के लिए ही तो अन्न की आवश्यकता है। इसी अपराध में वह अपने समाज से बहिष्कृत होता है और जंगल में चला जाता है जहाँ उसे लगता है कि आदिवासियों को शिक्षित करने की जरूरत है। जल, जंगल और जमीन पर उनके अधिकार का आदिवासियों में बोध कराने के लिए संग्राम चलाने का वह फैसला करता है। अपने उपन्यास 'अरण्येर अधिकार' (जंगल के दावेदार) में महाश्वेता समाज में व्याप्त मानवीय शोषण और उसके विरुद्ध उबलते विद्रोह को उम्दा तरीके से रेखांकित करती हैं। 'अरण्येर अधिकार' में उस बिरसा मुंडा की कथा है जिसने सदी के मोड़ पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनजातीय विद्रोह का बिगुल बजाया। मुंडा जनजाति में समानता, न्याय और आज़ादी के आंदोलन का सूत्रपात बिरसा ने किया था। असफलता हाथ लगी लेकिन आंदोलन के पतन से सपनों का अंत नहीं होता। सपने निरंतर कुलबुलाते हैं।

'अरण्येर अधिकार' आदिवासियों के सशक्त विद्रोह की महागाथा है, जो मानवीय मूल्यों से सराबोर है। महाश्वेता ने मुख्य मुद्दे पर उँगली रखी है। मसलन बिरसा का विद्रोह सिर्फ अंग्रेजी शासन के विरुद्ध नहीं था, अपितु समकालीन सामंती व्यवस्था के विरुद्ध भी था। बिरसा मुंडा के इन पक्षों को सहेजकर साहित्य और इतिहास में प्रकाशित करने का श्रेय महाश्वेता को ही है। 'अरण्येर अधिकार' लिखने के पीछे की कहानी है कि 1974 में फ़िल्म निर्माता शांति चौधरी ने महाश्वेता से बिरसा मुंडा पर कुछ लिखकर देने को कहा। श्री चौधरी, बिरसा पर फिल्म बनाना चाहते थे। बिरसा पर लिखने के लिए महाश्वेता ने पहले तो कुमार सुरेश सिंह की किताब पढ़ी। फिर दक्षिण बिहार गईं, वहाँ के लोगों से मिलीं। कई तथ्य संग्रह किए। फिर लिखा। 1979 में जब इस किताब पर साहित्य अकादमी अॅवार्ड मिला तो आदिवासियों ने जगह-जगह ढाक बजा-बजाकर गाया था—'हमें साहित्य अकादमी मिला है।' तब मुंडा नाम से ही उनमें असीम गौरव बोध जगा था। जो मुंडा भूमिज नाम से सरकारी रिकॉर्ड में दर्ज थे, उन्होंने अपने को मुंडा नाम से दर्ज करने की प्रशासन से दरख्वास्त की थी। साहित्य अकादमी मिलने पर मुंडाओं ने महाश्वेता का अभिनंदन करने के लिए उन्हें अपने यहाँ (मेदिनीपुर में) बुलाया। 1979 की उस सभा में आदिवासी वक्ताओं ने कहा था—'मुख्यधारा ने हमें कभी स्वीकृति नहीं दी। हम इतिहास में नहीं थे। तुम्हारे लिखने से हमें स्वीकृति मिली।' साहित्य अकादमी पाने पर महाश्वेता को जितनी खुशी नहीं हुई, उससे ज्यादा इन आदिवासियों की प्रसन्नता से हुई। महाश्वेता को लगा, आदिवासियों के बारे में उनका दायित्व और बढ़ गया है। उन्होंने आदिवासियों के लिए यथासंभव काम करते जाने और उनके बारे में और भी जानने की कोशिश जारी रखी। मुंडा विद्रोह, खेड़िया विद्रोह पढ़कर ही बैठ नहीं गईं। जहाँ जो भी मिलता, पढ़तीं। जितना बन पड़ता, काम करतीं। आदिवासी इलाकों में जातीं, उनके सुख-दुख में शरीक होतीं। उनका लेखन शोषित शासित आदिवासी समाज और उत्पीड़ित दलितों में केंद्रित हो गया। न्यूनतम मजदूरी, मानवीय गरिमा, सड़क, पेयजल, अस्पताल, स्कूल की सुविधा से वंचित भूमिहीन होने को अभिशप्त इन आदिवासियों और दलितों को आजादी के इतने साल बाद भी न्याय नहीं मिला है। यही महाश्वेता की चिंता के कारण हैं। महाश्वेता के भीतर की वेदना को 'टेरोडेक्टिल' उपन्यास की चंद पंक्तियों में देखा जा सकता है, जब एक पात्र कहता है—''आदिवासी कल्याण के मद में प्राप्त रुपयों से इन राजपथों, सड़कों का निर्माण हुआ है, ताकि मालिक, महाजन, दलाल और अय्याश लोग आदिवासियों द्वारा बनाई शराब और आदिवासी युवतियों के इच्छुक लफंगे, अहंकारी युवक सीधे आदिवासियों की बस्ती तक पहुँच सके। ये आदिवासी जब इन रास्तों पर चलते हैं तो वे उनकी शिक्षा व्यवस्था, सिंचाई के पानी, पीने के पानी और स्वास्थ्य केन्द्रों की समाधि के ऊपर पाँव रखकर चलते हैं...उनका प्राप्य क्या है? भारत की कुल आबादी के सात दशमलव सात छह प्रतिशत जो लोग हैं, उन पाँच करोड़ छियानबे लाख, अट्ठाईस हजार छह सौ अड़सठ लोगों का प्राप्य क्या है, यह अब भी उन्हें नहीं बताया गया है। न दूरदर्शन बताता है, न रेडियो, न अखबार, न एम एल ए, एम पी के प्रत्याशी, न पंच, न पंचायत, न राज्य सरकारें, न आदिवासी सलाहकार। न बताने की इस नीति का अनुसरण करने के लिए कितना विपुल श्रम और अर्थ व्यय होता है। कितने ही दिग्गज बुद्धिजीवी इसमें लगे हैं। कितने ही राजनीतिक दाँव-पेंच इसे लेकर चले जाते हैं। उनका प्राप्य क्या था, इसे जाने बिना ही आदिवासी अपनी प्रेतछाया से ढँकी जिंदगियाँ लेकर इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर जाएँगे।''

ये शब्द महाश्वेता के भीतर खौल रहे हैं तो इसलिए कि आदिवासियों के सुख-दुख की वे सहयात्री रही हैं। महाश्वेता की यह चिंता उनकी दूसरी कृतियों में भी देखी जा सकती है। महाश्वेता देवी ने मनुष्य होने के कारण भी और लेखक होने के नाते भी सदियों से उत्पीड़ित आदिवासियों की व्यथा-कथा को अपने उपन्यासों का कथ्य बनाया है। आदिवासियों के संगठित संग्राम की झलक महाश्वेता की कई रचनाओं में मिलती है। बिहार-बंगाल के संथालों से अपना लोहा मनवाने और आदिवासियों की स्वतंत्र प्रवृत्ति पर नियंत्रण करने के लिए गोरों ने जब जंगल उत्पादों की खरीद शुरू की तो संथाल भड़क उठे। संथाल परगना के आदि विद्रोही तिक्का माँझी ने विद्रोह की कमान सँभाली। महाश्वेता ने 'शालगिरह की पुकार पर' कृति में संथाल जीवन और अंग्रेज़ों के विरुद्ध उनके ऐतिहासिक संग्राम को दर्ज किया है। 'शालगिरह की पुकार पर' में महाश्वेता देवी की स्थापना है—हिंदुस्तान में गोराशाही लूट पर टिकी थी। व्यापार करने आई ईस्ट इंडिया कम्पनी ने लूट-व्यापार को स्थायी बनाने के लिए षड्यंत्र और सैनिक हस्तक्षेप के जरिए पलासी युद्ध में जीत के बाद सत्ता हाथ में ले ली। मगर रियाया पर प्रभुत्व स्थापित करना आसान न था। गोरों के ख़िलाफ़ असंतोष फैलने लगा था। मुनाफे के लिए गोरे अकाल और भूख की तिजारत कर

रहे थे। अपने शासन क्षेत्र का विस्तार कर रहे थे। संथाल जीवन और गोरों के विरुद्ध उनके ऐतिहासिक संग्राम की गाथा 'शालगिरह की पुकार पर' में मार्मिक तरीके से व्यक्त हुई है। यह न केवल इतिहास है बल्कि हर भारतीय के लिए गौरव-स्मृति भी है। 'चोट्टि मुंडा और उसका तीर' में महाश्वेता देवी पूछती हैं—आदिवासियों के हित में कानून बने पर लागू कितने हुए? क्या बँधुआ आदिवासी मुक्त हो गए? बेगी प्रथा समाप्त हुई? हवाई योजनाविदों का विश्वास है कि इन इलाकों में कुछ ग्राम हैं, जहाँ सबके सब कुष्ठ रोगी हैं। पर ऐसा गाँव नहीं मिलता। काग़ज़ी विकास योजनाओं के पीछे दृष्टि है कि आदिवासी मनुष्य नहीं, तमाशे के खिलौने हैं। जब आदिवासी समाज में हिंसा का ज्वार उभरता है, तब दिल्ली हतप्रभ रह जाती है। आदिवासियों के बारे में दिल्ली की समझ अंग्रेज़ों जैसी है। 'चोट्टि मुंडा और उसका तीर' को पढ़े बगैर आदिवासी समाज की हकीकत को समझना मुश्किल है। 'अमृत संचय' उपन्यास 1857 से थोड़ा पहले प्रारंभ होता है। संथाल परगना में अंग्रेज़ी के विरुद्ध बग़ावत, नीलकर को लेकर असंतोष और अपेक्षित वेतन न मिलने के कारण सेना भी नाखुश थी। उपन्यास इसी संधिस्थल से शुरू होकर 33 साल बाद वहाँ खत्म होता है, जहाँ जनमानस में परिवर्तन नजर आने लगता है। देश-विदेश के करीब सौ पात्रों को समेटकर महाश्वेता ने इस उपन्यास में अपनी विलक्षण प्रतिभा का सबूत दिया है। 'अमृत संचय' में प्रतिकूल स्थितियों में भी जीवन के प्रति जो ललक है और प्रतिरोध की जो चेतना है, वह इस उपन्यास को कालजयी बनाती है। गोरों के विरुद्ध ही वह चेतना नहीं थी, बल्कि आजाद भारत में भी प्रतिरोध की चेतना रही है जिसे महाश्वेता पूरे साहस के साथ अभिव्यक्त करती हैं। महाश्वेता इतिहास, मिथक और वर्तमान राजनीतिक यथार्थ के ताने-बाने को सँजोते हुए सामाजिक परिवेश की मानवीय पीड़ा को स्वर देती हैं।

'अग्निगर्भ' में महाश्वेता देवी पूछती हैं—जब बँटाईदार अधिया जैसी घृणित प्रथा में किसान पिस रहे हों, खेतिहर मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी न मिले, बीज-खाद-पानी-बिजली के लाले पड़े हों, उनका अस्तित्व दाँव पर हो, ऐसे में वह सामंती हिंसा के विरुद्ध हिंसा को चुन ले तो क्या आश्चर्य? 'अग्निगर्भ' का संथाल किसान बसाई टुडू किसान-संघर्ष में मरता है। लाश जलने के बावजूद उसके फिर सक्रिय होने की खबर आती है। बसाई फिर मारा जाता है। वह अग्निबीज है और अग्निगर्भ है, सामंती कृषि व्यवस्था। 'अग्निगर्भ' उपन्यास में महाश्वेता देवी मानती हैं कि इस धधकते वर्ग-संघर्ष की अनदेखी करने वालों और इतिहास के इस संधिकाल में शोषितों का पक्ष न लेने वाले लेखकों को इतिहास माफ नहीं करेगा। असंवेदनशील व्यवस्था के विरुद्ध सूर्य के समान क्रोध ही उनकी प्रेरणा है। अग्निगर्भ में उन संघर्षशील लोगों की कथा है जिन्होंने सामाजिक न्याय के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर दिए।

'श्री श्री गणेश महिमा' में बर्बर और हिंसक व्यवस्था के विरुद्ध तनकर खड़े

हैं राका दुसाध, नक्सली जुगलकरन, गाँधीवादी अभय महतो और बस्तियों से भागकर आई भीड़। 'श्री श्री गणेश महिमा' आज भी बिहार की हकीकत है। यह बिहार के एक गाँव की कहानी है जो अभी मध्ययुग के बीहड़ अँधेरों में जी रहा है। उस गाँव में इक्कीसवीं सदी की आहट नहीं सुनाई पड़ रही। वहाँ सवर्णों का राज चलता है। राजपूत मालिक ही तय करते हैं कि निचली जाति के लोग कब गुलाम हों, कब बँधुआ मज़दूर और कब सर्वहारा किसान। निचली जाति की औरतों की नियति है सवर्णों की रखैल बनना। ठाकुर मेदिनी सिंह की रखैल लछिमा मेदिनी सिंह के अनाथ बेटे को पाल-पोसकर बड़ा करती है, लेकिन गणेश जब दलितों पर बेतरह अत्याचार करता है तो वही लछिमा गणेश को दलितों की उत्तेजित भीड़ के हवाले कर देती है। सवर्णों के निरंकुश शासन के विरुद्ध महाश्वेता उद्घोष करती हैं। 'आधार माणिक' में उन्होंने बंगाल के सामाजिक जीवन में आए परिवर्तन का चित्र खींचा। महाश्वेता देवी का उपेक्षितों और शोषितों के प्रति लगाव स्थायी और वास्तविक है। 'तारार आधार' में मध्यवृत्त की ट्रेजडी, थोड़ी आशा है। सर्कस की पृष्ठभूमि पर लिखा 'प्रेमतारा' प्रेम की कथा है फिर भी उसकी पृष्ठभूमि में सिपाही विद्रोह रहता है। 'अक्लांत कौरव' में महाश्वेता देवी बताती हैं—चुनाव में जब जनपक्षीय राजनीति की विजय होती है और वे सत्ता में भी आते हैं तो वंचितों की यह आकांक्षा जोर मारती है कि अब दिन फिरेंगे। लेकिन सत्तासीन वामपंथी कार्यकर्ताओं के लिए क्रांति का अर्थ बदल जाता है। जनाकांक्षाएँ धूल खाती हैं और जन-जन में असली परिवर्तनकामी कार्यकर्ताओं की पहचान की प्रक्रिया शुरू होती है। 'अक्लांत कौरव' की कथा छोटी है। लेकिन अपने गर्भ में विस्फोटक तथ्य छिपाए है। वाम राजनीति के दक्षिणी छोर वाले द्वैपायन सरकार पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा बँटाईदारों के हित में चलाए गए ऑपरेशन बर्गा के दरम्यान जागुला गाँव आते हैं। वे सब्जबाग दिखलाकर आदिवासियों की एकता तोड़ना चाहते हैं। वहीं ईमानदार इंद्र प्रामाणिक गाँव में काम करने आता है तो स्थानीय कार्यकर्ता उसे नक्सली सिद्ध करते हैं। फिर भी आदिवासी असली हितैषी को पहचान लेते हैं।

शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ निरंतर संघर्ष करने वाले गरीब और समर्पित स्कूल मास्टर की कथा के जरिए साठ-सत्तर के दशक में अपने नक्सल आंदोलन के वैचारिक सरोकारों और लोगों में आती प्रतिरोध की चेतना को लेखिका ने 'मास्टर साब' उपन्यास में दर्शाया है। यह एक जीवनीपरक, विचारोत्तेजक और मार्मिक उपन्यास है। शोषण और दोहन के विरुद्ध जो चेतना जगा रहे थे, मास्टर साब, वे अपने ही लोगों के हाथों मारे जाते हैं। मास्टर साब अब इतिहास हो गए हैं, महाश्वेता अनवरत उन्हें खोजती रहती हैं। जिनका कोई नाम नहीं है पर वो अन्याय व शोषण के विरुद्ध जेहाद छेड़ देते हैं। महाश्वेता ने 'हजार चौरासी की माँ' में नक्सल आंदोलन को माँ की नजर से देखा। नक्सल आंदोलन की वे साक्षी रही थीं। जनसंघर्षों ने उनके जीवन

को भी परिवर्तित किया और लेखन को भी। 'हजार चौरासी की माँ' उस माँ की मर्मस्पर्शी कहानी है जिसने जान लिया है कि उसके पुत्र का शव पुलिस हिरासत में कैसे और क्यों है।

आदिम जनजातियों, प्रकृति जीवियों के जीवन को तहस-नहस करने वाले कपटी सभ्य समाज के जीवन की दूसरी विकृतियों को भी महाश्वेता ने निर्वस्त्र किया है। अपने उपन्यास 'नील छवि' में उन्होंने रोचक ढंग से बताया है कि ड्रग्स और ब्लू फिल्में किस तरह समाज को भीतर से खोखला कर रही हैं और कला-जगत्, पत्रकारिता और उच्च व निम्न मध्य वर्ग किन विडंबनाओं का शिकार है? बुरी तरह उपभोक्ता संस्कृति में जकड़ा समाज किस तरह अपनी विलासिता और महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सारे मानवीय और नैतिक मूल्यों को तिलांजलि दे चुका है।

उच्च मध्य वर्ग की विडंबना की तसवीर उपन्यासकार ने पत्रकार दंपति के बीच चंद संवादों में ही पेश कर दी है। पत्नी जलि अपने पति अभ्र से कहती है, 'तुम्हारे साथ अब मैं नहीं रह सकती और मुझे यह भी लगता है कि मेरे बिना तुम्हारा काम चल जाएगा।' पति कहता है कि ऐसा तो मैंने सोचा भी नहीं। जलि, मैं क्या तुम्हारे कैरियर के रास्ते में बाधा हूँ? सच बताना। जलि कहती है, 'तुम कैरियर के रास्ते में बाधा नहीं हो पर वरुण उसमें बहुत मददगार है वरना 5 साल में ही एक मामूली कॉपी राइटर से एक बड़े एक्जीक्यूटिव के पद पर कैसे पहुँचती? इस तरह जलि अपने पति को छोड़ वरुण के साथ रहने लगती है पर वरुण के साथ भी उसकी ज्यादा दिन नहीं निभती। जलि ने वरुण का सीढ़ी के रूप में इस्तेमाल किया। इसके बाद अभ्र और जलि की बेटी सेऊती ड्रग्स की दुनिया में फँस जाती है। फिर तो उपन्यास में जिज्ञासा और उत्तेजना का अनुपात काफी बढ़ जाता है। 'ड्रग्स खिलाकर पहले उसकी लत लगाओ फिर अचानक ड्रग्स बंद। तब तरुण-तरुणियाँ पैर पड़ेंगे, रोएँगे और जानवरों की तरह चीखेंगे। उस समय वे ड्रग्स के लिए कुछ भी करने को तैयार हो जाएँगे। विकृत यौनाचार चलाओ, मैं तसवीरें खींचता जाऊँ।' उपन्यास के इन चंद संवादों से सभ्य समाज की हकीकत नंगी हो जाती है पर इससे महाश्वेता की आस्था डिग नहीं जाती क्योंकि इसी उपन्यास में बेटी के लिए अभ्र और जलि फिर मिलते हैं और बेटी को स्थायी रूप से पारिवारिक और सामाजिक जीवन से जोड़ने का संकल्प करते हैं। महाश्वेता की आस्था नहीं डिगने का एक कारण तो यह है कि उन्हें लगता है कि विकृतियों की शिनाख्त हो रही है तो यही आश्वासन भी है, वे दूर की जा सकती हैं।

महाश्वेता देवी ने अपने कई उपन्यासों की तरह अपनी अनेक कहानियों में भी सदियों से मुख्यधारा से बाहर धकेली गई आदिवासी अस्मिता के प्रश्न को शिद्दत से उठाया है। महाश्वेता की कई कहानियाँ आदिवासियों की प्रामाणिक संघर्ष गाथाएँ हैं बल्कि उन्हें महागाथाएँ कहना ज्यादा उचित होगा। इन महागाथाओं में आदिवासी

समाज की चिंता कदाचित् पहली बार बेचैनी के साथ प्रकट हुई। अपनी कथाकृतियों में हाशिए पर धकेले गए आदिवासी को नायक बनाकर महाश्वेता देवी हिंदी में प्रेमचंद तो बांग्ला में ताराशंकर बंद्योपाध्याय और माणिक बंद्योपाध्याय से भी आगे निकल गईं। प्रेमचंद और ताराशंकर किसान को नायक बना चुके थे तो माणिक बाबू मछुआरों को। उससे काफी आगे जाकर महाश्वेता ने जनजातियों और आदिवासियों के विद्रोही नायकों को अपनी कथाकृतियों का नायक बनाया। महाश्वेता अपनी कहानियों में समाज को शोषण, दोहन और उत्पीड़न से मुक्त कराते संघर्षशील नायकों का संधान करती हैं। इन संघर्षशील आदिवासी नायकों का संधान महाश्वेता की कहानी 'बाढ़' में बागदी के रूप में, 'बाँयेन' में डोम, 'शाम सवेरे की माँ' में पाखमारा, 'शिकार' में ओराँव, 'बीज' में गंजू, 'मूल अधिकार और भिखारी दुसाध' में सुसाध, 'बेहुला' में माल या ओझा, और 'द्रौपदी' में संथाल के रूप में सहज ही हो जाता है। इनमें गंजू लोगों का काम है—मृत मवेशियों की खाल निकालना, भिखारी दुसाध की जीविका है—घूम-घूमकर बकरी चराना, बाँयेन बन जाने के पहले चंडी का पारिवारिक काम था—श्मशान में मुर्दे गाड़ना। पाखमारा जरा ब्याध के वंशधर हैं तो डोम श्मशान का मालिक है। आदिवासियों का यह तो आनुवंशिक काम है। यही उन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी आदिवासी बनाए रखता है। कुछ लोग तीन-पाँच कर जरूर ऊपर उठकर जिले के लाशघर में काम पा जाते हैं। जैसे 'बाँयेन' कहानी में मलिंदर गंगापुत्र श्मशान से ऊपर उठकर जिले के लाशघर में काम पा जाता है और सरकार बाबू के साथ मिलकर लावारिस लाशों के कंकाल के व्यापार में लगता है पर अपने संस्कारों से नहीं उबर पाता। 'बाँयेन' कहानी में महाश्वेता देवी अत्यंत मार्मिकता के साथ यह रेखांकित करती हैं कि जो स्वयं मुख्य धारा से निर्वासित हैं, वे स्वयं अपने में से किसी व्यक्ति को समाज से निर्वासित करते हैं तो वह निर्वासित स्त्री मनुष्येतर श्रेणी में पहुँच जाती है। तुर्रा यह कि उसे भी वह अपनी नियति मानकर कबूल करती है। चंडी बाँयेन बन जाती है तो मलिंदर अपने बेटे भगीरथ से कहता है पहले वह आदमी थी, तेरी माँ थी। भगीरथ को किंतु पिता की बात गले नहीं उतरती। वह अपनी माँ को मनुष्य ही मानता है, बाँयेन नहीं। वह बाँयेन स्त्री ही एक बड़ी रेल दुर्घटना रोकती है, अपनी आहुति देकर तो आदिवासी समाज ठगा-सा रह जाता है और भगीरथ जब देश और शासन के सामने अपना परिचय चंडी बाँयेन के पुत्र के रूप में देता है तो कहानी अपने अत्यंत मार्मिक क्षण में पहुँच जाती है।

बाँयेन मलिंदर अपनी जाति से जिस तरह ऊपर उठ जाता है, उसी तरह 'शाम-सवेरे की माँ' में जटी ने पारिवारिक या आनुवंशिक जीविका के बजाय दूसरा काम चुना पर वे अपने संस्कारों से ऊपर नहीं उठ पाए। 'बेहुला' में भी संस्कार से आदिवासियों को मुक्त करने की आकांक्षा कथाकार में है। 'बेहुला' में संस्कारों की मुक्ति श्रीपद की मृत्यु में होती है।

महाश्वेता की कहानियाँ बताती हैं कि संस्कार, असामर्थ्य और डर आदिवासियों के मन और चरित्र पर भी असर डालते हैं। आदिवासियों की जिंदा रहने की प्रणाली बदलती है तो शाम-सवेरे की माँ में जटी का रूपांतरण होता है—ठकुरानी के रूप में और बाँयेन रेल-दुर्घटना रोकने की भूमिका में अवतीर्ण होती है। यही क्रम आगे चलकर प्रतिरोध का रूप लेता है। द्रौपदी में वह प्रतिरोध संगठित आंदोलन की शक्ल लेता है। महाश्वेता कहती हैं—एक लंबे अरसे से मेरे भीतर जनजातीय समाज के लिए पीड़ा की जो ज्वाला धधक रही है, वह मेरी चिता के साथ ही शांत होगी। महाश्वेता की कई कहानियों के केन्द्र में आदिवासी मनुष्य हैं जो समाज की मूलधारा से कटकर जी रहे हैं। ये कहानियाँ लोककथाओं और पुराकथाओं के सहारे कही गयी हैं।

सन् 1984 में प्रकाशित अपने 'श्रेष्ठ गल्प' की भूमिका में महाश्वेता देवी ने लिखा है—साहित्य को केवल भाषा-शैली और शिल्प की कसौटी पर रखकर देखने के मापदण्ड गलत हैं। साहित्य का मूल्यांकन इतिहास के परिप्रेक्ष्य में होना चाहिए। किसी लेखक के लेखन को उसके समय और इतिहास के प्ररिपेक्ष्य में रखकर न देखने से उसका वास्तविक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है। मैं पुराकथा, पौराणिक चरित्र और घटनाओं को वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में फिर से यह बताने के लिए लिखती हूँ कि वास्तव में लोक-कथाओं में अतीत और वर्तमान एक अविच्छिन्न धारा के रूप में प्रवाहित होते हैं। यह अविच्छिन्न धारा भी वायवीय नहीं है बल्कि जात-पाँत, खेत और जंगल पर अधिकार और सबसे ऊपर सत्ता के विस्तार तथा उसके कायम रखने की पद्धति को केन्द्र में रखकर निम्न वर्ग के मनुष्य के शोषण का क्रमिक इतिहास है।

'द्रौपदी' कहानी में द्रौपदी मेझेन को पुलिस प्रशासन विश्वासघाती मजदूरों के साथ साजिश कर जंगल से पकड़कर सेनापति के कैम्प में ले जाता है। द्रौपदी अपने दोनों घायल स्तनों से सेनानायक को धक्का देती है और पहली बार सेनापति को निःशस्त्र टारगेट के सामने खड़ा होने से डर लगता है, भयंकर डर। द्रौपदी कहानी में जंगल और प्रशासन का संघर्ष है। उसी तरह 'शिकार' कहानी का आधार भी जंगल ही है। 'द्रौपदी' और 'शिकार' एक ही कथा के दो पहलू हैं। द्रौपदी का रक्त विशुद्ध है, कोई मिलावट नहीं। ''द्रौपदी को अपने पुरखों पर गर्व हुआ जो अपनी स्त्रियों के खून पर काली कुचिला का विष लेकर पहरा देते थे।'' 'शिकार' कहानी में मेरी उराँव का रक्त साहबी रक्त है। तहसीलदार सिंह द्वारा लगातार पीछा किए जाने से मेरी का धैर्य खत्म होने लगा था। रास्ते में एक बार तहसीलदार ने मेरी का हाथ जोर से पकड़ लिया और बोला—''आज तुझे नहीं छोड़ूँगा।'' मेरी को उस दिन तहसीलदार एक जानवर जैसा लगा। मेरी ने यह कहकर उससे पिंड छुड़ाया। आज नहीं 'खड्ड के पास होली के दिन।' तहसीलदार मान गया और होली के दिन उसने तहसीलदार को खड्ड में धकेल दिया। सबसे बड़े जानवर का शिकार करने

के बाद अन्य चौपायों के बारे में जो डर मेरी उराँव के रक्त में समाया था, वह अब पूरी तरह गायब था।

'द्रौपदी', 'बीज' और 'शिकार' कहानियों में आदिवासियों में प्रतिरोध की चेतना जाग्रत होती दिखाई देती है। आदिवासी अब लड़ाई के मैदान में उतर गए हैं। 'द्रौपदी' में वह प्रतिरोध संगठित आंदोलन का रूप लेता है। महाश्वेता ने अपने कहानी-संग्रह 'भारतवर्ष तथा अन्य कहानियाँ' में घुमंतू मानी जाने वाली जनजातियों की लड़ाई जीतने की जंग दर्ज की है।

'घहराती घटाएँ' और 'ईंट के ऊपर ईंट' जैसे कहानी-संकलनों में वर्तमान समाज व्यवस्था में मनुष्य के संघर्ष का बहुत ही समर्थ चित्रण किया है महाश्वेता ने। मूर्ति और उसके बाद की कहानी पुस्तकें भी संघर्ष की अगली कड़ियाँ हैं। कहना न होगा इस संघर्ष में महाश्वेता का सरोकार बहुत गहरा है। संघर्ष का स्वर कहीं मार्मिक है तो कहीं तीखा।

महाश्वेता की कहानियों में सामंती ताकतों के शोषण, उत्पीड़न, छल-छद्म के विरुद्ध पीड़ितों और शोषितों का संघर्ष अनवरत जारी रहता है। संघर्ष में वह मार भी खाता है पर थककर बैठ नहीं जाता। क्रूरता और बर्बरता में भी पीड़ित तबका टिका रहता है। कई उपन्यासों की तरह उनकी कहानियों में भी आदिम जनजातीय स्रोतों से प्राप्त कथा तो है ही, जीवन और समाज के दूसरे ज्वलंत मुद्दों को भी उन्होंने साधिकार स्पर्श किया है। 'रुदाली' कहानी में महाश्वेता ने औरत की अस्मिता का प्रश्न उम्दा तरीके से उठाया तो 'अक्लांत कौरव' में विकास और छद्म प्रगतिवाद की तीखी आलोचना की।

पलामू के बँधुआ मजदूरों के बीच काम करते हुए महाश्वेता ने कई तथ्य एकत्रित किए थे। उसी के आधार पर निर्मल घोष के साथ मिलकर उन्होंने 'भारत के बँधुआ मजदूर' नामक पुस्तक लिखी थी। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आदिवासी अंचलों के सुख-दुख के बारे में उन्होंने समय-समय पर जो लिखा, वे भी संकलित होकर पुस्तक रूप में छप चुकी हैं। 'डस्ट आन रोड'। महाश्वेता की टिप्पणियों के इस संकलन को मैत्रेयी घटक (महाश्वेता के छोटे भाई) ने संपादित किया है।

हाल के वर्षों से लेखन ही महाश्वेता की आजीविका का एकमात्र साधन रहा है। इसलिए उनका पेशेवर लेखिका होना स्वाभाविक है। लेकिन समान निष्ठा से ही उन्होंने लघु पत्रिकाओं में भी लिखा है। लघु पत्रिकाओं के लिए उन्होंने संघर्ष भी किया। उन्होंने अपने सम्पादन में निकलने वाली 'वर्तिका' में छोटे पत्रों की तालिका भी नियमित छापी। लेकिन महाश्वेता आज छोटे पत्रों तक सीमित नहीं। महाश्वेता की सृजनशीलता, उनकी जीवनयापन प्रणाली, पत्रकारिता और वर्तिका का सम्पादन सबका मूल्यबोध एक है। इसी तरह वर्तिका का निजी चरित्र समझा जा सकता है। महाश्वेता बचपन से ही काम करते चलने में विश्वास करती हैं। यह संस्कार उन्हें

शांतिनिकेतन में मिला था। सुबह उठने से लेकर रात को सोने जाने तक काम में व्यस्त रहने का संस्कार जीवन की सांध्य वेला में भी यथावत् है। इसके लिए उन्हें कठोर नियमों का पालन करते रहना पड़ा है। यह भूल जाना पड़ा है कि आराम भी कोई चीज है। उन्होंने पूरी तरह आमोद-प्रमोद का विसर्जन किया है। स्वभाव, चिंतन, आचरण, खान-पान में कोई थ्रिल नहीं। जिनमें है, वे पसंद नहीं। प्रशंसा या पुरस्कारों से उन्हें प्रसन्नता की अनुभूति नहीं होती। नया कपड़ा पहनना पसंद नहीं। भगवान पर भरोसा नहीं। पर इस बात के लिए महाश्वेता हमेशा सचेष्ट रही हैं कि अपने लेखन व्यवहार या काम से किसी का अहित नहीं हो।

1980 में उन्होंने पत्रिका 'वर्तिका' का संपादन शुरू किया था। उसके पहले उनके पिता मनीष घटक उसे संपादित करते थे। पिता का 1979 में निधन हो गया तो महाश्वेता ने पत्रिका का चरित्र ही बदल डाला। वर्तिका एक ऐसा मंच बन गया जिसमें छोटे किसान, खेत मज़दूर, आदिवासी, कारखानों में काम करने वाले मज़दूर, रिक्शाचालक अपनी समस्याओं और जीवन के बारे मे लिखते हैं। 'वर्तिका' में मेदिनीपुर के लोधा और पुरुलिया के खेड़िया शबर आदिवासियों ने बहुत कुछ लिखा। इसके जरिए आदिवासियों ने जीवन में पहली बार किसी प्रकाशन में लिखा। पहली लोधा स्नातक लड़की चुनी कोटाल ने भी 1982 में वर्तिका में लिखा था, अपने जीवन संघर्ष के बारे में। इस तरह वर्तिका के जरिए महाश्वेता ने बांग्ला में वैकल्पिक साहित्यिक पत्रकारिता की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किया।

महाश्वेता ने बँधुआ मज़दूर, किसान, फैक्टरी मज़दूर, ईंट भट्ठा मज़दूर, आदिवासियों की जमीन से बेदखल किए जाने और बंगाल के हरेक आदिवासी समुदाय पर वर्तिका के विशेष अंक निकाले। उन्होंने बांग्लादेश और अमेरिका के आदिवासियों पर भी विशेष अंक निकाले। वर्तिका ने अपनी गहरी संपादकीय दृष्टि और संपादकीय विवेक का परिचय दिया। मध्य वर्ग के एक्टिविस्ट भी इसमें लिखते हैं। महाश्वेता तथ्यों, आँकड़ों, सर्वेक्षणों पर आधारित लेख ही छापती हैं। सर्वेक्षणों के लिए वे प्रश्नावलियाँ बनाती हैं और खेतिहर मज़दूरों, छोटे किसानों, आदिवासी समूहों, रिक्शाचालकों, असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों से लेकर गाँवों के आम सामाजिक, आर्थिक जीवन पर सर्वेक्षण कराती हैं। यह अवदान क्या कम महत्त्वपूर्ण है?

कई दूसरे पक्ष भी हैं उनके व्यक्तित्व के। लेखिका, सामाजिक कार्यकर्ता, रिपोर्टर और छोटे-छोटे वंचित, शोषित लोगों के समूहों की संगठक—ये सभी एक साथ हैं क्योंकि उनके व्यक्तित्व के ये सभी आयाम एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं। लेखिका के रूप में तो उनका अवदान व्यापक है ही। संख्या ही नहीं साहित्यिक दृष्टि से भी। 'कवि वैद्यघोटी गइनेर जीवन-मृत्यु' में महाश्वेता ने निचली जाति के युवक के मानवाधिकार हासिल करने के संघर्ष को वाणी दी है।

दरअसल दक्षिण बिहार, बंगाल, उड़ीसा, गुजरात व महाराष्ट्र की जनजातियों

के बीच वर्षों काम करने के अनुभव ने महाश्वेता को पैनी दृष्टि और ऐसी शक्ति दी जिससे वे आधुनिक भारतीय जीवन के पीड़ादायक मुद्दों का अनुभव कर सकीं और अपनी कृतियों में अभिव्यक्त कर सकीं। आदिवासियों के जीवन और वृत्तांत के माध्यम से उन्होंने इतिहास, मिथक और वर्तमान राजनीतिक यथार्थ के ताने-बाने को सँजोते हुए सामाजिक परिवेश की माननीय पीड़ा को स्वर दिया। भारतीय आदिवासी समाज और दूसरे उपेक्षित-वंचित तबकों के बारे में ही उन्होंने ज्यादा लिखा है। अपनी ढाई सौ पुस्तकों के जरिए उन्होंने जीवन के विविध रंगों को उकेरा। और तीन दशकों से ज्यादा समय से उन्होंने आदिवासियों के बीच फील्ड वर्क ही नहीं किया बल्कि पलामू के बँधुआ मज़दूरों, मेदिनीपुर के लोधा और पुरुलिया के खेड़िया शबर आदिवासियों के जीवन को अपनी लेखनी के जरिए वाणी भी दी। जाहिर है महाश्वेता के कर्म और कथ्य में रत्ती भर फर्क नहीं है। महाश्वेता की कृतियाँ पढ़कर ही रचना-कर्म के महत्त्व और लेखन के सामाजिक सरोकार को समझा जा सकता है।

एसोसिएट प्रोफेसर तथा प्रभारी,
कोलकाता केन्द्र, म. गाँ. अं. हिं. वि. वि.
2ए/2बी मुर्गेंद्रलाल मित्र रोड, कोलकाता-17
मोबाइल : 09836219078

डॉ. मस्तराम कपूर

❑ हरीश अड्यालकर

जीवन में कई मोड़ आये कुछ बनने, सुधरने और कुछ हासिल करने के लिए। कुछ लोगों से काफी कुछ सीखने को मिला। मेरे लिए वैचारिक, साहित्यिक दिशा पाने के लिए यह जरूरी था। वामपंथी विचारों से लेकर समाजवाद और गाँधीवाद तक के सफर में साहित्य हो या विचार या फिर दर्शन, कई लोगों से सीखने का प्रयास किया। इस कड़ी में डॉ. मस्तराम कपूर की लम्बी सक्रियता और निरंतर उनके संपर्क में आने पर समाजवादी साहित्य दर्शन ने काफी आकर्षित किया। पिछले तीन दशकों से अधिक समय तक उनसे संपर्क रहा।

कपूर साहब के बारे में जब पता चला तो हमने उनका व्याख्यान नागपुर में लोहिया अध्ययन केन्द्र में आयोजित किया। उस समय हमारे पास खुद का भवन नहीं था इसलिए राष्ट्रभाषा भवन में उनका कार्यक्रम रखा। वे बड़े मिलनसार और प्रेमी जीव थे। किसी भी प्रकार के आडम्बर के बजाय सादगी के साथ जीने में उन्हें आनंद आता था। पहली मुलाकात के बाद उनसे निरंतर सम्पर्क रहा। कभी-कभार दिल्ली में किसी कामकाज के सिलसिले में मिले। सरकारी नौकरी से सेवानिवृत्त होने के बाद जब वे प्रतिपक्ष में कार्यरत थे, तब पत्राचार के जरिए मेरा उनसे परिचय हुआ जो आगे चलकर बहुत गहरे संबंधों में तब्दील हो गया। उनसे जुड़ी कुछ घटनाओं को मैं यहाँ रेखांकित करना चाहूँगा। भारत सरकार की कुछ योजनाओं की जानकारी उनसे प्राप्त होती थी। हम प्रोजेक्ट बनाकर भेजते थे और मंजूर होने पर नागपुर में कार्यक्रम आयोजित करते थे। प्रख्यात साहित्यकार श्री रामवृक्ष बेनीपुरी की जन्मशताब्दी जब देशभर में मनायी जा रही थी तब हमने नागपुर में कार्यक्रम आयोजित किया। इस कार्यक्रम के बहाने समाजवाद, साहित्य और रामवृक्ष बेनीपुरीजी के विपुल समग्र साहित्य की जानकारी, समाजवादी नेताओं का मार्गदर्शन प्राप्त करने का मौका कपूर साहब के कारण मिला। इस आयोजन में वे अपने साथ श्री जनेश्वर मिश्र, पूर्व केन्द्रीय मंत्री तथा एक पत्रकार को साथ लेकर पहुँचे। उद्घाटन के लिए पूर्व प्रधानमंत्री श्री चंद्रशेखरजी को आमंत्रित किया गया था। वे आने वाले थे। पूरी छानबीन, प्रोटोकॉल जाँच आदि हो गई, पर वे नहीं आए। कारण पता नहीं, कोई राजनीतिक घटनाक्रम हो सकता है।

कपूर साहब ने समाजवाद के प्रसार-प्रचार की दृष्टि से चेतना मंच की स्थापना की, पर्चे छपवाये, फॉर्म तैयार किए और मेरे पास भिजवाए। मैंने कुछ कोशिश की, पर अपेक्षित सफलता नहीं मिली। उन्होंने समाजवादी साहित्य संस्थान की स्थापना की और कई छोटी पुस्तिकाएँ निकालीं। वे जो भी काम शुरू करते, उसकी सूचना मुझे देते रहे। वे निरंतर संपर्क बनाये रखते थे। मैं नागपुर में सीमित साधनों से उनकी पुस्तकें बिकवाने का काम करता रहा। वे देशभर की वैचारिक/साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में तथा लोहिया अध्ययन केन्द्र द्वारा प्रकाशित सामान्यजन संदेश के प्रत्येक अंक में वैचारिक लेख निरंतर लिखते रहे। कपूर साहब लोहिया साहित्य के वरिष्ठतम विचारक थे। इसीलिए उन्होंने ढेर सारी किताबें खुद और प्रकाशक के जरिये निकलवाईं। वे नये लिखने वाले को विचारों के साथ लिखना भी सिखाते थे। खासतौर पर समाजवादी और परिवर्तनवादी साहित्य लिखने वाले लोगों को तैयार करने का कार्य उन्होंने किया। एक समय था जब मैं हैदराबाद से डॉ. लोहिया का साहित्य बिक्री हेतु मँगाता था। इससे मिलनेवाला कमीशन लोहिया अध्ययन केंद्र को चलाने और कार्यक्रमों के खर्च हेतु काम आता था। कपूर साहब ने अनामिका प्रकाशन के श्री पंकज शर्मा से कहा कि नागपुर के लोहिया अध्ययन केन्द्र जितनी किताबें माँगें उन्हें भेजें। हम किताबें बिक जाने पर प्रकाशक को पैसा भेज देते थे। कपूर साहब की भी कई सस्ती पुस्तकें प्रकाशक ने छापी हैं। वे बड़े स्नेही, शालीन और आदर्शवादी व्यक्ति थे।

देश में लगातार लोहिया साहित्य के प्रकाशन और प्रचार के दृष्टिकोण से देखा जाय तो बहुत कम लोग हैं जिन्होंने लिखा और छापा है। कुछ साहित्यकारों के अब तक साहित्य प्रकाशित हुए ही नहीं हैं। वे गुमनाम हैं। इस संबंध में उन्होंने मुझे लिखने के लिए कहा। कुछ लोगों पर मैंने लिखा जिनसे मेरा सम्पर्क था। मैं लिखता रहा। शायद कपूर साहब समाजवादी आन्दोलन के कुछ साथियों पर पुस्तकें प्रकाशित करना चाहते थे, लेकिन उनके असामयिक निधन से यह काम अधूरा रह गया।

डॉ. कपूर साहब द्वारा संपादित लोहिया रचनावली हिंदी तथा अंग्रेजी में 9-9 खंडों में प्रकाशित हुई हैं। हम नागपुर में उनका सम्मान करना चाहते थे, पर लगातार तबीयत खराब होने के कारण वे मना करते रहे। दिल्ली में साथी रघु ठाकुर की पुस्तकों का प्रकाशन होने पर हमने उनका सम्मान किया। इस कारण भी उनसे भेंट-चर्चा होती रही। समाजवाद की संकल्पना और लोहिया के चिंतन पर विवादास्पद लेखन करने वालों पर उनकी पैनी दृष्टि रहती थी। किसी खुराफाती लेखक द्वारा डॉ. लोहिया के संबंध में दुष्प्रचार का वे ऐतिहासिक प्रमाणों के साथ मुँहतोड़ जवाब देते थे।

कुछ समय पूर्व उन्होंने ''वैकल्पिक राजनीति की पहल'' शुरू की थी और वे

लगातार इस काम में जुटे रहे। दरअसल, वे कांग्रेस और भाजपा से अलग एक नये मोर्चे के गठन की कल्पना पर काम कर रहे थे। इस सिलसिले में समाजवादी पार्टी, भाकपा, फॉरवर्ड ब्लॉक, जद (यूनाइटेड), तेलुगुदेशम, इंडियन जस्टिस पार्टी, लोसपा के अलावा वे देश के गण्यमान्य नेता और बुद्धिजीवियों से मिलकर चर्चा, कार्यक्रम आयोजित भी कर चुके थे। उन्होंने वैकल्पिक राजनीति का एजेंडा (कार्यक्रम) भी बनाया था। तमाम छोटे दलों को एकजुट कर कुछ कार्यक्रम भी वे चलाना चाहते थे, पर सब कुछ धरा रह गया।

–लोहिया भवन, सुभाष मार्ग, नागपुर

मस्तराम कपूर

जन्म : 22 दिसंबर, 1926, सकड़ी, हिमाचल प्रदेश में।

शिक्षा : ॲम. ए. पीएच-डी.।

समाजवादी आंदोलनों में सक्रिय भागीदारी। 1951 से अब तक कहानी, उपन्यास, नाटक, विचार-प्रधान निबंध, बाल-साहित्य, सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर छोटी-बड़ी सौ से अधिक पुस्तकें और डेढ़ दर्जन फैम्फलेट प्रकाशित।

प्रमुख रचनाएँ

उपन्यास : विपथगामी, एक सदी बाँझ (एक अटूट सिलसिला, तीसरी आँख का दर्द, स्वप्न भंग की त्रयी), रास्ता बंद काम चालू, विषय-पुरुष, कौन जात हो, नाक का डॉक्टर और दो दूनी पाँच।

कहानी-संग्रह : एक अदद औरत, ग्यारह पत्ते, ब्रीफकेस, होनी और अन्य कहानियाँ (मेरी कथा-यात्रा : सिंहावलोकन में संगृहीत)।

कविता-संग्रह : कूड़ेदान से साभार।

बाल-साहित्यिक : बाल-कथानिधि, पाँच उपन्यास, पंद्रह नाटक।

साहित्यक निबंध : साहित्यकार का संकट, अस्तित्ववाद से गाँधीवाद तक, पं. चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी', इतिहास और राजनीति, साहित्य और संस्कृति और नैतिक लोकतंत्र की तलाश।

राजनीतिक-सामाजिक विमर्श : हम सब गुनहगार, समसामयिक प्रतिक्रियाएँ, राष्ट्रीय एकता का संकट और सांप्रदायिक शक्तियाँ, मंडल रिपोर्ट : वर्ण-व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था की ओर, साम्यवादी विश्व का विघटन और समाजवाद का भविष्य, भारतीय राजनीति की अधोयात्रा : राजीव से गुजराल तक और भारतीय राजनीति : अटल से अतल तक (भाग एक और दो)

जीवन-चरित्र एवं मूल्यांकन : प्रेरणा के स्रोत : राममनोहर लोहिया, आचार्य नरेंद्र देव और अपराजित प्रतिनायक चौधरी देवीलाल।

संपादित ग्रंथ : स्वतंत्रता सेनानी ग्रंथमाला (11 खंड) तथा डॉ. राममनोहर लोहिया रचनावली (9 खंड)।

निधन : 2 अप्रैल, 2013, नयी दिल्ली।

–संपादक

राही मासूम रज़ा

❑ **डॉ. कुँवरपाल सिंह**

प्रेमचंद ने अपने जीवन को सपाट मैदान बताया था। जिसमें कोई बहुत उतार-चढ़ाव नहीं था। लेकिन राही मासूम रज़ा के जीवन में बहुत उतार-चढ़ाव, जटिलताएँ और अंतर्विरोध मिलते हैं। वे पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर जिले के एक ज़मींदार परिवार में पैदा हुए। पिता सैयद बशीर हुसैन आबिदी की गणना पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध वकीलों में होती थी। गंगौली बशीर साहब की जमींदारी का गाँव था। ननिहाल उनकी रज़ा मुशीर हसन के यहाँ थी। उनके पिता ने गाजीपुर में गंगा के किनारे चौबीस कमरों का मकान बनवाया था जिसमें तीन बड़े-बड़े आँगन थे। इस संपन्नता और लाड़-प्यार में राही का जीवन बीता। राही मासूम रज़ा का जन्म 1 अगस्त, 1927 को हुआ था लेकिन स्कूल के सर्टिफ़िकेट में उनकी जन्मतिथि 1 सितंबर, 1927 लिखी हुई है। राजकमल से प्रकाशित उनकी अधिसंख्य पुस्तकों में 1 सितंबर ही उनकी जन्मतिथि दी गई है। इस संबंध में राही मासूम रज़ा ने स्वयं कहा था कि राजकमल वालों ने मेरी उम्र एक महीना कम कर दी है। राही मासूम रज़ा की माँ का नाम नफ़ीसा बेगम था जो इनके बचपन में ही अल्लाह को प्यारी हो गई थीं। राही ने एक स्थान पर लिखा है—''मैं तीन माँओं का बेटा हूँ, नफ़ीसा बेगम, अलीगढ़ यूनिवर्सिटी और गंगा। यह 'सीन 75' (उपन्यास) अपनी तीन माँओं को भेंट करता हूँ।'' राही का लालन-पालन उनकी दादी ने किया था जिन्हें वह दद्दा के नाम से पुकारते थे। आधा गाँव में दद्दा का नाम बार-बार आता है। राही का पारिवारिक नाम सैयद मासूम रज़ा आबिदी था, लेकिन सैयद साहब कब विदा हो गए और कब राही में तब्दील हो गए, इसकी भी एक अलग कहानी है। 18 वर्ष की उम्र में राही जब प्रगतिशील आंदोलन का हिस्सा बने तो आबिदी भी नाम का हिस्सा नहीं रहा। फिर वह जीवन भर राही मासूम रज़ा ही रहे। उन्हें फिर कभी सैयद और आबिदी शब्दों से मोह नहीं हुआ।

गंगौली में राही का घर दक्षिण पट्टी में शिया सैयदों में सबसे बड़ा था, जिसकी

आन-बान और शान पूरे क्षेत्र में फैली हुई थी। राही चार भाइयों में दूसरे थे। बड़े भाई प्रो. मूनिस रज़ा, उनसे छोटे प्रो. मेहँदी रज़ा और सबसे छोटे अहमद रज़ा हैं। प्रो. मूनिस रज़ा आरंभ में कम्यूनिस्ट पार्टी के पूर्णकालिक कार्यकर्ता बन गए और उन्होंने किसान और मजदूर आंदोलनों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाद में वह दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति और समाज विज्ञान संस्थान के अध्यक्ष रहे। जुलाई, 1994 में उनका देहांत हो गया। प्रो. मेहँदी रज़ा भूगोल विभाग के अध्यक्ष रहे। चौथे भाई डॉ. अहमद रज़ा अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष वाशिंगटन में भारतीय विभाग के प्रभारी रहे। उनकी गणना देश के प्रमुख अर्थशास्त्रियों में होती है। पिछले दिनों उन्होंने भी अवकाश ग्रहण कर लिया है और वाशिंगटन में ही बस गए हैं। अहमद रज़ा राही के सबसे प्रिय जनों में से थे। राही मूनिस रज़ा को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। मूनिस रज़ा से उन्होंने मार्क्सवाद सीखा और कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बने लेकिन सबसे अधिक मोहब्बत हद्दन से ही करते थे। राही 1967 के आरंभ में अलीगढ़ छोड़कर मुंबई में हद्दन के पास ठहरे थे। उन बुरे दिनों में हद्दन ने उनकी हर प्रकार से सहायता की।

11 वर्ष की उम्र में राही मासूम रज़ा को टी. बी. हो गई जो उस समय असाध्य रोग होता था। राही के पिता उन्हें भुवाली ले गए, जहाँ उनका 5 साल तक इलाज होता रहा। 1942 में ग़ाज़ीपुर लौट आए और फिर पढ़ाई में जुट गए। उनके एक चचा उर्दू में शायरी करते थे। राही भी शायरी करने लगे और उन्होंने पहला अखिल भारतीय मुशायरा मऊ में पढ़ा। 'हिन्दुस्तान की यह सरज़मीं' इस नज़्म की ख्याति के साथ-साथ राही की भी ख्याति चारों तरफ़ फैलने लगी। राही की गिनती प्रगतिशील शायरों में होने लगी। इसके साथ राही राजनीतिक गतिविधियों और सांस्कृतिक आंदोलनों में भाग लेने लगे। राही बचपन से ही बहुत जिज्ञासु प्रवृत्ति के थे। उनमें श्रेष्ठता और उच्चता का भाव नहीं था। इसलिए उन्हें अहीर और जुलाहों के बच्चों के साथ खेलने में बहुत आनन्द आता था। उनके परिवारवाले इसका विरोध करते थे। लेकिन राही पर इसका कोई ख़ास असर नहीं होता था। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत कठिनाइयों और रोगों पर कैसे विजय पाई, वह अपने आप में एक उदाहरण है। जानलेवा बीमारी के बीच घर में रखी सारी किताबें पढ़ डालीं। ग़ाज़ीपुर के पुस्तकालय में जो भी पुस्तकें उपलब्ध थीं, वह भी मँगाई जाने लगीं। राही उस समय केवल उर्दू भाषा जानते थे। उनका दिल बहलाने के लिए और कहानी सुनाने के लिए कल्लू कक्का रखे गए। राही ने यह स्वीकार किया है कि कल्लू कक्का न होते तो मुझे कहानी की सही पकड़ कभी न आती। मैं उनका सदैव आभारी रहूँगा। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि राही ने जो महाभारत लिखा, उसके संस्कारों के पीछे राही द्वारा बचपन में पढ़ा महाभारत का उर्दू अनुवाद था।

बीमारी से ठीक हुए तो उनकी परंपरागत रूप में शिक्षा-दीक्षा प्रारंभ हुई। मौलवी

मुनव्वर रखे गए। मौलवी साहब राही को कभी पसंद नहीं थे, क्योंकि उन्हें पढ़ाई से ज्यादा पिटाई करने में मज़ा आता था। ''हम पिटाई से बचने के लिए अपना जेबख़र्च मौलवी मुनव्वर को दे देते थे। इसलिए हम लोगों का बचपन बड़ी ग़रीबी में गुज़रा और शायद यही वज़ह है कि ख़रीद-फरोख़्त की कला न मुझे, न भाई साहब (मुनीस रज़ा) को है। हम लोग झट से पैसा ख़र्च करने के आदी हैं। शायद इसलिए कि मौलवी मुनव्वर का डर अभी तक नहीं निकला है। हम डरते हैं कि पैसा ख़र्च न किया गया तो पैसा मौलवी साहब झपट लेंगे।

पढ़ाई के साथ यहाँ धार्मिक शिक्षा भी जारी रही। बचपन में राही बहुत धार्मिक व्यक्ति थे। धार्मिक क्रियाकलापों में वे बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे। लेकिन जब राही ने गाज़ीपुर और गंगोली में भूखे और अभावग्रस्त लोगों को देखा, किसान-मज़दूरों की दुर्दशा देखी तो वे द्रवित हो उठे। उनकी सारी मान्यताएँ चटकने लगी। वह बेचैन रहने लगे। वे जानना चाहते थे कि इस ग़रीबी का कारण क्या है। उन्होंने कुरान शरीफ पढ़ाने वाले मौलाना वली मुहम्मद साहब से पूछा कि अल्लाह सबको रोटी देता है, उसकी नज़र में सब बराबर हैं, फिर ग़रीब क्यों भूखों मरता है और अमीर लोग क्यों ऐश करते हैं। राही ने उस दिन से दूसरी राह पकड़ी। वह ग़रीबों के बीच काम करने लगे। धीरे-धीरे उनकी हैसियत एक विद्रोही शायर की हो गई। शायरी के साथ राही स्वाध्याय भी करते थे और हाई स्कूल परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की, लेकिन टी. बी. की बीमारी ने फिर हमला बोला। इस बार राही कश्मीर भेजे गए और तीन साल तक उनका इलाज चलता रहा।

कश्मीर में राही ने अपनी शायरी में परिवर्तन किया। अब प्रकृति भी उनकी शायरी का हिस्सा हो गई। देश की विख्यात चित्रकार किशोरी कौल के सान्निध्य और मित्रता का व्यापक प्रभाव पड़ा। वर्षों तक वे उनकी निकटतम मित्र रहीं और दोनों एक-दूसरे की रचनाओं और कृतियों से प्रभावित हुए।

स्वस्थ होकर राही फिर गाज़ीपुर आ गए। अब शायरी, राजनीतिक गतिविधियाँ और अध्ययन तीनों साथ-साथ चलते रहे। राही के व्यक्तित्व को समझने के लिए एक घटना बहुत महत्त्वपूर्ण है। राही उन दिनों पढ़ाई के साथ-साथ कम्युनिस्ट पार्टी में भी काम किया करते थे। कम्युनिस्ट पार्टी ने तय किया कि ग़ाज़ीपुर नगरपालिका के अध्यक्ष पद के लिए कामरेड पब्बर राम को खड़ा किया जाए। पब्बर राम भूमिहीन मज़दूर थे। राही और मूनिस रज़ा दोनों कामरेड पब्बर राम का कार्य करने लगे। उसी समय कांग्रेस ने राही के पिता श्री बशीर हसन आबिदी को अपना उम्मीदवार घोषित कर दिया। दोनों भाइयों के सामने बड़ा धर्मसंकट पैदा हो गया। दोनों मिलकर अपने पिता के पास गए और उन्होंने समझाया कि वे चुनाव में खड़े न हों। बशीर साहब ने कहा, मैं 1930 का कांग्रेसी हूँ। कांग्रेस का अनुशासित सिपाही हूँ। पार्टी ने जो आज्ञा दी है, उसका मैं उल्लंघन नहीं करूँगा। राही ने कहा, हमारी भी मजबूरी

है कि हम आपके ख़िलाफ़ पब्बर राम को चुनाव लड़ाएँगे। हो सकता है आप चुनाव हार जाएँ। राही घर से अपना सामान उठाकर पार्टी ऑफिस में चले गए और कामरेड पब्बर राम को जिताने में जुट गए। जब चुनाव परिणाम आए तो सब स्तब्ध रह गए कि एक भूमिहीन मज़दूर जिले के सबसे प्रसिद्ध वकील को भारी बहुमत से पराजित करने में समर्थ रहा। राही अपने पिता की बहुत इज़्ज़त करते थे। बाप-बेटों में बहुत मुहब्बत थी। जो जीवनपर्यन्त रही, लेकिन सिद्धांत का मामला था, जहाँ बाप-बेटे की मुहब्बत भी सिद्धांतों के आगे हार गई।

परिवार वालों ने राही का 18 वर्ष की आयु में फ़ैज़ाबाद की महरबानो के साथ विवाह कर दिया। राही के साथ इनका किसी तरह का कोई साम्य नहीं था। राही की इनसे कभी नहीं पटी और 3 साल बाद दोनों परिवारों ने परस्पर सहमति से तलाक दिलवा दिया। राही ने दूसरा विवाह श्रीमती नय्यर जहाँ के साथ 1965 के अंत में किया। श्रीमती नय्यर शादीशुदा थीं।

राही की एकमात्र पुत्री मरियम रज़ा अपने पति मज़ाज मूनिस के साथ अमेरिका में रहती हैं। बेटी के पति प्रसिद्ध न्यूरो सर्जन हैं और मरियम एक विश्वविद्यालय में काम करती हैं। राही की पत्नी श्रीमती नय्यर जहाँ अधिकांश समय अलीगढ़ में रहती हैं।

राही की ख्याति एक प्रसिद्ध शायर और संस्कृतिकर्मी की थी। उनमें एक संगठनकर्ता की, और नए क्षितिजों के पार देखने की अपार क्षमता थी। निरंतर कुछ नया करने की उनमें अदम्य शक्ति थी। इससे एक ओर उनकी लोकप्रियता बढ़ी, दूसरी ओर उनसे ईर्ष्या करने वालों की संख्या भी बढ़ी। 1963 में अपना शोध-प्रबंध **तिलिस्मे होशरुबा** में भारतीय संस्कृति और सभ्यता समाप्त किया। उसके तुरंत बाद उन्हें अलीगढ़ विश्वविद्यालय के उर्दू विभाग में अस्थायी प्राध्यापक की नौकरी मिल गई। वे एक लोकप्रिय प्राध्यापक सिद्ध हुए। उन्होंने पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कराए, एक सौ नंबर का प्रश्नपत्र हिन्दी साहित्य का रखा, जिसे वह स्वयं पढ़ाते थे। 1 साल में यह पाठ्यक्रम बहुत लोकप्रिय हुआ। इसी तरह के प्रयास हिन्दी में भी हुए कि उर्दू के महत्त्वपूर्ण रचनाकारों को पढ़ाया जाए। लेकिन उर्दू में राही के जाने के बाद यह कोर्स आगे नहीं चल सका।

1965 में राही के विद्यार्थियों को एक महत्त्वपूर्ण हथियार मिल गया। नय्यर जहाँ से विवाह क्या किया, अलीगढ़ में तूफ़ान आ गया। नय्यर ज़हाँ कर्नल यूनुस की पत्नी थीं, जो नवाब रामपुर के साले थे। सुप्रसिद्ध इतिहासकार और कला संकाय के तत्कालीन डीन प्रो. नूरुल हसन नवाब रामपुर के दामाद थे। तत्कालीन कुलपति अली यावर जंग भी नवाब रामपुर के निकट संबंधी थे। पहले तो सभी ने राही को समझाने की कोशिश की कि नय्यर जहाँ से शादी मत करो, वरना हानि होगी। आप अस्थायी अध्यापक हैं, नौकरी जा सकती है। राही ने कहा कि जान भी चली जाए

तो भी कोई बात नहीं, नौकरी तो बहुत छोटी बात है। राही बेहद संवेदनशील, स्वाभिमानी, जिद्दी और आन-बान के व्यक्ति थे। वह अपने स्वाभिमान की रक्षा करने के लिए कुछ भी कर सकते थे। जो लोग राही के पास बैठते थे, वे मुँह चुराने लगे। उन दिनों प्रो. अली अहमद सुरूर उर्दू विभाग के अध्यक्ष थे। उनकी अध्यक्षता में चयन समिति आयोजित की गई। सर्वसम्मति से चयन समिति ने निर्णय दिया कि राही को साहित्य की समझ नहीं है इसलिए उनकी नियुक्ति नहीं की जा सकती। विश्वविद्यालय के इतिहास में ये सबसे बड़ा मज़ाक था।

राही ने न्याय पाने के लिए बहुत हाथ-पैर मारे और न्यायालय का दरवाजा भी खटखटाया। लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। अलीगढ़ उनके लिए बेगाना हो गया। तब तक '**आधा गाँव**' छप चुका था। राही को पैसा तो नहीं, लेकिन ख्याति ज़रूर मिल रही थी। राही ने बहुत प्रयास किया कि दिल्ली अथवा लखनऊ में कहीं प्राध्यापक हो जाएँ। दिल्ली में आकाशवाणी में जरूर नौकरी मिली जो राही ने स्वीकार नहीं की। प्रसिद्ध निर्माता-निर्देशक आर. चंद्रा अलीगढ़ के थे और राही से परिचित थे। उन्होंने मुंबई में भाग्य आज़माने की सलाह दी और मदद का आश्वासन भी दिया। हारकर राही 1967 के आरंभ में मुंबई चले गए। वहाँ उनके अनुभव कटु रहे। कृश्न चंदर के अतिरिक्त उन्हें सब अपना विरोधी समझने लगे। जो शायर थे, वे कहने लगे, तुम शायरी नहीं डायलॉग लिखो और संवाद लेखकों ने शायरी के क्षेत्र में भाग्य आजमाने की सलाह दी। केवल हिन्दी के दो साहित्यकारों ने राही की बहुत मदद की। वे थे सारिका के संपादक कमलेश्वर और धर्मयुग के संपादक धर्मवीर भारती। राही बेहद जीवट के व्यक्ति थे। संघर्ष और मुसीबतें जीवन भर उनके साथ रहीं। 4 साल की कड़ी मेहनत रंग लाई और उनकी फिल्में सफल होने लगीं। 5 साल के संघर्ष के बाद उनकी गिनती फ़िल्मों के सफलतम संवाद लेखकों में होने लगी। संघर्ष के इन्हीं दुर्दिनों में उनके तीन उपन्यास 'टोपी शुक्ला' (1968), 'हिम्मत जौनपुरी' (1969), और 'ओस की बूँद' (1970) प्रकाशित हुए। इन सबकी समस्या सांप्रदायिकता, सामाजिक विघटन और जातिवाद है। टोपी शुक्ला का अंग्रेजी, इटैलियन और जापानी भाषा में अनुवाद भी प्रकाशित हो गया है। इसी प्रकार 'आधा गाँव' का पेंगुइन ने पहला अंग्रेजी अनुवाद 1995 में छापा था। अब उसका दूसरा संस्करण पिछले दिनों प्रकाशित होकर आया है। इसके साथ ही मराठी और बाङ्ला अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। 38 साल बाद आधा गाँव का उर्दू संस्करण भी अक्तूबर, 2003 में प्रकाशित हो गया। राही की इच्छानुसार उनके गाँव गंगौली में इसका विमोचन हुआ। आधा गाँव के विमोचन समारोह में पूरा गाँव उपस्थित था।

1972 में राही की रोज़ी-रोटी की समस्या हल हो गई। उनकी फ़िल्में चलने लगीं। 1974 में वे सफल संवाद और पटकथा लेखक के रूप में विख्यात हो गए, लेकिन राही ने अपना रचनाकर्म नहीं छोड़ा। राही कहते थे, 'फिल्म तो मेरी रोज़ी-रोटी

है और साहित्य मेरा ओढ़ना-बिछौना है। मैं साहित्य सृजन के बिना जीवन की कल्पना नहीं कर सकता हूँ।' यह बहुत अद्भुत बात है कि फ़िल्म और टेलीविज़न की व्यावसायिकता से राही ने साहित्य को बिल्कुल मुक्त रखा। अपने व्यस्ततम जीवन में से राही साहित्य के लिए समय निकाल लेते थे। उपन्यास लेखन के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर सामाजिक, राजनीतिक विषयों पर लिखते रहते थे और साहित्यिक बहसों में हिस्सेदारी करते रहते थे। इसके साथ ही फिल्म के समाज और साहित्य से क्या रिश्ते हों, इस पर भी वह तमाम पत्रिकाओं धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, माधुरी और सारिका आदि में निरंतर लिखते रहते थे। राही की मृत्यु के बाद के सारे लेख तीन पुस्तकों में प्रकाशित हुए जिनके नाम हैं लगता है बेकार गये हम (1999), खुदा हाफ़िज़ कहने का मोड़ (1999) तथा सिनेमा और संस्कृति (2000)। ये तीनों पुस्तकें पाठकों में बेहद लोकप्रिय हुई हैं। इनमें राही ने सांप्रदायिकता, भ्रष्ट राजनीति, धर्म का व्यापार तथा साहित्यिक और सामाजिक विषयों पर बेबाक टिप्पणियाँ की हैं। राही ने किसी को क्षमा नहीं किया है, चाहे वह संघ परिवार हो, अकाली दल हो अथवा मुस्लिम लीग और जमात-ए-इस्लामी के ठेकेदार हों। उनकी पैनी क़लम ने सबकी ख़बर ली है। राही मुंबई में रहकर भी शिवसेना और बाल ठाकरे पर तीखी टिप्पणियाँ करते रहे। जल में रहकर मगर से वैर करके भी उनका बाल बाँका नहीं हुआ। अभिव्यक्ति के सारे खतरे राही ने उठाए और अपने समकालीन बुद्धिजीवियों का आह्वान किया कि बुजदिली दिखाने का समय नहीं है। जनता आपकी ओर देख रही है, वह सिद्धांत में नहीं, व्यवहार में भी आपकी सार्थक भूमिका देखना चाहती है। राही को समझने के लिए एक प्रसंग महत्त्वपूर्ण होगा। 1975-76 में इंदिराजी का आपात्काल दुखद सपना था। अधिसंख्य लेखक और बुद्धिजीवी कोनों में दुबक कर बैठ गए थे। मैडम का हर क्षत्रप अपने को तानाशाह से कम नहीं समझता था। उस समय के सूचना प्रसारण मंत्री थे विद्याचरण शुक्ल और उनके सहयोगी थे ओम मेहता। फिल्मवालों और पत्रकारों दोनों को रास्ते पर लाने का दायित्व इन लोगों को सौंपा गया था। वे समय-समय पर बैठक करके फिल्मवालों को उपदेश देते थे और सही राह पर चलने की सलाह भी। एक दिन मंत्री महोदय ने फ़िल्मी लेखकों की बैठक बुलाई और सत्ता के प्रति उनके दायित्व समझाए। राही बहुत देर तक सुनते रहे, जब उनके बर्दाश्त के बाहर हुआ तो बैठक से वाकआउट कर गए। किसी की समझ में कुछ न आया। सभी हतप्रभ थे और समझ रहे थे कि राही अब तो जेल जाएँगे। राही भी यही सोचते थे। उन्होंने अपने मित्रों से कहा कि मेरी बीवी-बच्चों का ख़याल रखना। राही ने लिखा है, मैं उस रात सो नहीं सका और रात भर पुलिस की प्रतीक्षा करता रहा।

राही मासूम रज़ा का जीवन मानवीय सत्य की स्थापना करने के प्रयास में गुज़रा। राही की दृष्टि में यह मानवीय सत्य, मनुष्य को धर्म, जाति, संप्रदाय तथा

वर्ग विभेद के आधार पर विभाजित होने की स्वीकृति नहीं प्रदान करता। आज समाज में चारों ओर जो सांप्रदायिक वैमनस्य व्याप्त है, राही ने हमेशा ही उसका विरोध किया है। राही आरंभ से ही भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता के पक्षधर रहे। राही का आक्रोश उन सभी राजनीतिक स्वार्थों पर कहर ढाता है जो समाज को धर्म के नाम पर, संप्रदाय के नाम पर अथवा क्षेत्रीयता और भाषा के नाम पर विभाजित करते हैं। राही की दृष्टि में ये कठमुल्ले अपने स्वार्थों के लिए समाज में अनेकानेक विद्रूपताएँ फैलाते हैं। ये पूँजीवादी व सामंतवादी अपनी स्वयं की जीवनी-शक्ति, अपने आदर्श, अपनी संस्कृति आदि को खो चुके हैं, इनका न तो स्वयं के ही जीवन का कोई लक्ष्य है और न ही यह समाज का मार्गदर्शन करने के योग्य हैं। राही को अपने राष्ट्र, अपनी धरोहर, अपनी संस्कृति से अगाध प्रेम था और राही की आत्मा त्रस्त थी चारों ओर व्याप्त विद्रूपताओं से। सन् 1966 में राही का पहला उपन्यास 'आधा गाँव' प्रकाशित हुआ। यों तो आधा गाँव राही के अपने गाँव गंगौली तथा राही के स्वयं के परिवेश की कथा है परंतु व्यापक स्तर पर आधा गाँव संपूर्ण विश्व-साहित्य में संप्रदायवाद की त्रासदी को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला वह उपन्यास है, जिसमें इस शताब्दी की महत्त्वपूर्ण घटना भारत विभाजन की त्रासदी को चित्रित किया गया है। भारत में यह विभाजन धर्म के नाम पर हुआ तथा 'पाकिस्तान' को इस्लामी राष्ट्र की संज्ञा दी गई, परंतु जिन धार्मिक कठमुल्लों ने राष्ट्रीयता को धर्म के साथ जोड़ने का प्रयास किया; वे यह नहीं जानते थे कि भारत में रहने वाले मुसलमान इस विभाजन के पक्षधर नहीं थे। राही का मानना था कि 'इस्लाम' एक धर्म है, राष्ट्र और धर्म को एक समझना इतिहास विरोधी चेतना है तथा इसके आधार पर जो भी राजनीति की जाएगी, उसके सदैव दुष्परिणाम ही सामने आएँगे।

आधा गाँव हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में से एक है, जिसमें राही ने मुस्लिम समाज की मानसिकता, मनोविज्ञान को समझना तथा समझाना चाहा है। राही यह बात सबके सम्मुख रखने का प्रयास करते हैं कि एक मुसलमान भी अपनी मिट्टी से उतना ही प्रेम करता है, जितना कि एक हिन्दू, परंतु राही कहते हैं कि एक मुसलमान के राष्ट्रीय भाव को लोग शक की निगाहों से क्यों देखते हैं? एक मुसलमान को भारतीय मुसलमान क्यों कहा जाता है? एक हिन्दू को भारतीय हिन्दू क्यों नहीं, जबकि दोनों के जन्म का इतिहास और दोनों के पुरखों का इतिहास समान है। आधा गाँव के माध्यम से राही ने उस मुस्लिम दृष्टिकोण, मुस्लिम राष्ट्रीयता को जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया है जो भारतीय मात्र होने की ही अधिकारी हैं।

आधा गाँव मूलतः फारसी लिपि में लिखा गया था, जिसका बाद में देवनागरी में लिप्यंतरण हुआ। आधा गाँव में ज़मींदारी व्यवस्था तथा उसका टूटना और उसके पश्चात् ज़मींदारों और शिल्पी वर्ग की क्या स्थिति हुई, इन सबका यथार्थ चित्रण है। आधा गाँव और रागदरबारी एक ही साथ 1966 में प्रकाशित हुए। 1968 में

दोनों ही उपन्यास 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' के दावेदार हुए, परंतु पुरस्कार रागदरबारी को मिला। इस संदर्भ में राही मासूम रज़ा लिखते हैं—''मैंने किसी पुरस्कार के लिए उपन्यास नहीं लिखा। यदि मिल जाता तो कोई बात नहीं, ''नहीं मिला तो मुझे कोई अफसोस नहीं है। सुना है यार, प्रेमचंद, मुक्तिबोध और निराला को भी कोई पुरस्कार नहीं मिला था।''

इस उपन्यास के साथ अनुचित व्यवहार एक बार नहीं हुआ। आगे चलकर सन् 1972 में इसे जोधपुर विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से अश्लीलता का आरोप लगाकर हटा दिया गया। राही ने जहाँ परिस्थितियों एवं वातावरण के सृजन में, लोकजीवन से परिचित कराने के प्रयास में, आम तौर पर लोक में प्रचलित ग़ालियों का जो प्रयोग उपन्यास में सहजता और प्रामाणिकता लाने के लिए किया था, वहीं लोगों ने इसे अनुचित ठहराया, उन्होंने वास्तविकता की तह तक पहुँचने का प्रयास ही नहीं किया। मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद में भी एम. ए. के पाठ्यक्रम से आधा गाँव इसी आरोप के तहत हटा दिया गया।

राही को दुःख है कि आज भारत विभिन्न छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त है, कोई पंजाबी है, कोई गुजराती, कोई बंगाली है, कोई मराठी, लेकिन हिन्दुस्तानी कोई नहीं। राही का साहित्य इसी हिन्दुस्तान की तलाश है, हिन्दुस्तान की कल्पना है, जिसमें राही हिन्दू-मुसलमान अथवा गुजराती-मराठी का भेद नहीं करते हैं।

आधा गाँव के अतिरिक्त राही ने दिल एक सादा काग़ज़, टोपी शुक्ला, ओस की बूँद, सीन 75, कटरा बी आर्ज़ू, हिम्मत जौनपुरी और असंतोष के दिन उपन्यास लिखे।

राही ने हिन्दी में कई वर्षों तक लेखन किया, परंतु कविता उर्दू में ही लिखते थे। जब उन्होंने हिन्दी लेखन के क्षेत्र में क़दम रखा, उससे पहले उनके सात कविता-संग्रह आए, जिन्होंने यह साबित कर दिखाया कि राही सिर्फ अच्छे उपन्यासकार ही नहीं, वरन् अच्छे कवि भी हैं।

हिन्दी में उनका पहला संग्रह 'मैं एक फेरीवाला' 1976 में प्रकाशित हुआ। उनके विभिन्न उर्दू कविता-संग्रहों में संकलित कविताओं का अनुवाद इस संग्रह में प्रस्तुत है।

राही ने सन् 1857 की क्रांति पर उर्दू में महाकाव्य लिखा था जो हिन्दी में 'क्रांति कथा' के नाम से प्रकाशित हुआ। 1857 में प्रत्येक व्यक्ति अंग्रेज़ी दासता की ज़ंजीरों को तोड़ देना चाहता था। पुरुषों के साथ-साथ महिलाएँ भी सामंती जकड़न व गुलामी से मुक्ति चाहती थीं। उस समय यदि वह क्रांति सफल हो जाती तो आज भारत की तस्वीर दूसरी होती, इस परिकल्पना को राही ने क्रांतिकथा में व्यक्त किया है।

राही मासूम रज़ा उन साहित्यकारों में से थे, जिन्होंने संस्कृति से जुड़कर स्वयं

को एक सच्चे राष्ट्रभक्त के रूप में प्रस्तुत किया था। राही का पूरा जीवन समकालीन राजनीतिक-सामाजिक जीवन की विसंगतियों को और उसकी तमाम विडंबनाओं को सामाजिक पटल पर से उखाड़ फेंकने के प्रयास में गुज़रा। राही भारत के बेटे थे और अपने पूरे जीवन में भारत को अपनेपन की तलाश करते रहे। जिस समय राही का जन्म हुआ, देश में चारों ओर सांप्रदायिकता की आग धधक रही थी; देश में सभी धर्म—हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई—अपनी बहुलता, अपनी अस्मिता को स्थापित करने का प्रयास कर रहे थे।

राही बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने जिस भी क्षेत्र में ज़ोर आजमाया, उसमें सदैव सफलता ही पाई, परंतु राही पर नशा नहीं छाया। ऐसा नहीं कि उन्होंने अपने जीवन में जो चाहा, उन्हें मिला, लेकिन उनकी प्रतिभा और प्रयास ने सदैव ही हर कठिनाई पर विजय पा ली। राही राजनीतिक षड्यंत्रों के भी शिकार हुए, किन्तु ये षड्यंत्र कभी भी उनकी जीवनदृष्टि को प्रभावित नहीं कर पाए। राही धर्म को संकीर्ण अर्थ में देखने वाले कट्टरपंथियों के हमेशा विरोधी रहे, चाहे वह बाल ठाकरे हों, आडवाणी हों, सैयद शहाबुद्दीन हों, शाही इमाम हों या बनातवाला। राही की दृष्टि में राम जन्मभूमि तथा बाबरी मस्ज़िद विवाद के पीछे छिपी सांप्रदायिकता इन्हीं कट्टरपंथियों की अंधनीति का परिणाम है। धर्म और राजनीति के विरुद्ध राही में गहरा आक्रोश देखने को मिलता है। राही का मानना था—''आधुनिक भारत में यह तय करना मुश्किल है कि धर्म ज्यादा बड़ा व्यापार है या राजनीति। लेकिन दोनों व्यापारों में पैसा स्मगलिंग से ज्यादा है, इसलिए जिसे देखिए वही राजनीति और धर्म का धंधा कर रहा है।

डॉ. श्रीराम लागू

डॉ. श्रीराम लागू शिक्षा से डॉक्टर परंतु पेशे से गुजराती व मराठी सिनेमा के अभिनेता हैं। वे अब तक 100 से अधिक फिल्मों तथा 40 से अधिक नाटकों में अभिनय कर चुके हैं। वे 20 से अधिक मराठी नाटकों का निर्देशन भी कर चुके हैं। उनकी मुख्य प्रसिद्धि चरित्र अभिनेता के रूप में ही है। सामाजिक, प्रगतिशील तथा तर्काधारित उद्देश्यों के लिए उनकी सक्रियता सर्वत्र सराही जाती है। जब अन्ना हजारे ने भ्रष्टाचार के विरुद्ध अनशन किया था तो लागू भी उसमें शामिल हुए थे। हिन्दी फिल्म **घरौंदा** के लिए उन्हें सन् 1978 ई. का सर्वश्रेष्ठ सहअभिनेता का पुरस्कार भी मिला था।

डॉ. लागू का जन्म महाराष्ट्र राज्य के सतारा जिले में 16 नवम्बर, सन् 1927 ई. को हुआ था। वे अपने पिता डॉ. बालकृष्ण चिन्नामन व माँ, सत्यभामा की चार संतानों में सबसे बड़े हैं। उनकी शिक्षा भावे हाई स्कूल, फरगुशन कॉलेज तथा बी. जे. मेडिकल कॉलेज, पुणे में हुई। पहले तो उन्होंने मेडिकल की प्रैक्टिस प्रारम्भ की तथा पुणे व तबोश (तंजानिया) में प्रैक्टिस करते रहे और इंग्लैण्ड जाकर ई. एन. टी. के विशेषज्ञ सर्जन की ट्रेनिंग ली, पर मेडिकल की पढ़ाई के दौरान एक्टिंग का जो शौक लगा था, बढ़ता ही चला गया। अंततः सन् 1969 ई. में वे मराठी रंगमंच के पूर्णकालिक एक्टर बन गए और मेडिकल प्रैक्टिस छोड़ दी।

डॉ. लागू प्रसिद्ध मराठी नाटक, नटसम्राट (ले.—विष्णु शिववामन शिखाडकर कुसुभांग्रज) के प्रथम नायक बने। वे आज भी अपने उस किरदार के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। मराठी नाटक व सिनेमा में उनका अभिनय आज भी किंवदन्ती बना हुआ है। मराठी चलचित्र यथा—सिंहासन, पिंजरा, मुक्त व कई अन्य आज भी आख्यान माने जाते हैं। उनकी पत्नी, दीपा लागू भी नाटक, सिनेमा व छोटे पर्दे की प्रतिष्ठित अदाकारा हैं।

डॉ. लागू एक प्रख्यात अधार्मिक बुद्धिवादी हैं। पुणे की एक संस्था त्रिदल ने उन्हें पुणेभूषण की उपाधि से नवाज़ा। इसके तुरंत बाद पत्रकार, सुधीर गाडगिल ने उनका इन्टरव्यू लिया। जब्बार पटेल के एक नाटक में लागू को विट्ठल देव की प्रतिमा

के सामने भक्त के रूप में खड़ा होना पड़ा था। गाडगिल ने पूछा कि आप खड़े होते समय क्या अनुभव कर रहे थे? देवता के सामने खड़े थे या पत्थर के सामने? लागू का उत्तर था पत्थर के सामने। लागू के लेख, 'ईश्वर को सेवानिवृत्त करने का समय' (टाइम टु रिटायर गाड) ने मीडिया तथा बुद्धिजीवी वर्ग में एक गंभीर चर्चा को जन्म दिया था। लागू ने यह लेख डॉ. अब्राहम कोवूर पर लिखी एक पुस्तक के परिचय के रूप में लिखा था। उनका कहना है कि ईश्वर का विचार अब व्यर्थ हो चुका है। वे महाराष्ट्र में अंधविश्वास विरोधी आन्दोलन से सक्रियता से जुड़े हैं। वे ईश्वर को एक नया अंधविश्वास मानते हैं। संक्षेप में वे ईश्वर को कुछ इस प्रकार नकारते हैं—''ईश्वर में मेरा कोई विश्वास नहीं है। मैं सोचता हूँ कि अब ईश्वर को पूरी तरह छुट्टी दे देनी चाहिए। ईश्वर का विचार कवि की कोरी कल्पना जैसा है। मानव सभ्यता के प्रारम्भ में इस विचार की उपयोगिता रही होगी। अब आदमी ज्ञान व तर्क की उस सीढ़ी पर खड़ा है जहाँ से हर बात को तर्क की कसौटी पर कसना आवश्यक हो गया है। पिछले 5 हज़ार वर्षों में ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला है कि ईश्वर कभी था और आज वह है। ईश्वरत्व एक दृश्य प्रपंच मात्र है। उसे साबित नहीं किया जा सकता। वह अंधविश्वास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ईश्वर के नाम पर अमानवीय प्रक्रियाएँ अत्याचार और युद्ध बहुत हो चुके हैं। अब यह हमारा मानवीय दायित्व है कि हम यह सब खत्म करने के लिए पहले ईश्वर को ही खत्म कर दें। ईश्वर मानवता के विरुद्ध एक बहुत बड़ा अन्याय है।''

''मनुष्य भी एक पशु है। निरे पशु से अलग वह मानव तभी बनता है, जब उसमें सोचने की क्षमता हो। ईश्वर को मान लेने का अर्थ है सोचने की शक्ति का विलोप। बचपन में तर्कहीनता की दशा में पाये गए ईश्वर के अंधविश्वास की मनोवृत्ति के आगे आजीवन तर्कहीन समर्पण। यहाँ तो पशुता है।

''मानव सभ्यता के विकास के प्रारम्भिक दिनों में, जब मनुष्य समाज में रहने लगा तो नैतिकता बनाये रखने के लिए एक सर्वोच्च सत्ता की कल्पना आवश्यक थी। यह सत्ता भयभाव से उत्पन्न अतार्किक सत्ता थी। प्रकृति के कई परिदृश्य जो मनुष्य की समझ से परे थे, उसमें भय का भाव उत्पन्न करते थे। इन परिदृश्यों की यह समझ तर्कपूर्ण नहीं थी। इसे उस समय दैवीय मान लेना समझा जा सकता है, पर आज भी वैसा ही मानते रहना समझदारी नहीं होगी। मनुष्य को जीवन-मूल्यों की कितनी भी बड़ी आवश्यकता हो पर इसे ईश्वर-आधारित बताना कोई समझदारी नहीं होगी।''

चलचित्रों में अभिनय

डॉ. श्रीराम लागू ने मराठी चलचित्रों, सिंहासन (1980), सामना (1974) तथा पिंजरा (1973) में यादगार अभिनय किया। हिन्दी सिनेमा में उनके अभिनय की श्रृंखला

बहुत लम्बी है। औरत औरत औरत (1996), खुद्दार (1994), दुश्मन देवता (1991), काला बाज़ार (1989), मज़ार (1987), मेरा रक्षक (1987), अवाम (1987), इंसाफ की पुकार (1987), काला धन्धा गोरे लोग (1986), मुद्दत (1986), समय की धारा (1986), सवेरे वाली गाड़ी (1986), सिंहासन (1986), सितमगर (1986), अनकही (1984), मकसद (1981), तरंग (1984), बद और बदनाम (1984), पुकार (1984), कलाकार (1983), मवाली (1983), सदमा (1983), सौतन (1983), चोरनी (1982), गाँधी (1982), गज़ब (1982), कामचोर (1982), मैं इन्तकाम लूँगा (1982), रास्ते प्यार के (1982), सम्राट (1982), विधवा (1982), घुँघरू की आवाज (1981), लावारिस (1981), चेहरे पे चेहरा (1981), गहराई (1980), स्वयंवर (1980), इन्साफ का तराज़ू (1980), सरगम (1979), तराना (1979), हम तेरे आशिक हैं (1979), मंज़िल (1979), मीरा (1979), मुकद्दर का सिकंदर (1978), देश-परदेश (1978), इनकार (1977), किताब (1977), किनारा (1977), घरौंदा (1977), ईमान-धरम (1977), अन्ना, आज का ये घर (1976) और बुलेट (1976), उनकी 52 हिन्दी फ़िल्में हैं।

पुरस्कार

- 1978, फ़िल्म फेयर ॲवार्ड
- 1997 कालिदास सम्मान
- 2006 दीनानाथ मंगेशकर स्मृति पुरस्कार
- 2007 पुणे भूषण
- 2010, संगीत नाटक अकादमी फेलोशिप

विजय तेंदुलकर

विजय तेंदुलकर भारत के ख्यातिलब्ध नाटककार, चलचित्र लेखक, साहित्यिक निबंधकार, राजनीतिक पत्रकार और सामाजिक टिप्पणीकार थे। उनका अधिकांश लेखन मराठी में है। उनके प्रमुख नाटक—खामोश, अदालत ज़ारी है (1967), घासीराम कोतवाल (1972) और सखाराम बाइंडर (1972) हैं। उनके नाटक वास्तविक जीवन की घटनाओं एवं सामाजिक उथल-पुथल से प्रेरित होते थे। उन्होंने संयुक्त राज्य अमेरिका के विश्वविद्यालयों में उन छात्रों का लम्बे समय तक मार्गदर्शन किया, जो नाटक लिखना सीख रहे थे। वे लगभग 50 वर्षों तक मराठी रंगमंच पर छाए रहे। विजय धूँधूपंत तेंदुलकर का जन्म जनवरी 9, 1928 को महाराष्ट्र के कोल्हापुर में एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता पेशे से क्लर्क व प्रकाशक थे। घर के साहित्यिक वातावरण ने उन्हें लेखन की ओर प्रेरित किया। पश्चिमी नाटकों ने उन्हें बचपन में ही प्रभावित करना प्रारम्भ किया। मात्र 11 वर्ष की आयु में ही वे लेखन, निर्देशन व अभिनय करने लगे। जब वे मात्र 14 वर्ष के थे स्वतंत्रता आन्दोलन में हिस्सा लेने लगे थे।

तेंदुलकर का लेखक जीवन उनके अखबारों के लिए लेखन से प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम उन्होंने मराठी में 'हमसे कौन प्यार करेगा' नामक नाटक लिखा। फिर 'गृहस्थ' नाटक लिखा। इन नाटकों को कोई भी मान्यता न मिलने से निराश तेंदुलकर ने आगे न लिखने का संकल्प लिया, पर यह संकल्प तोड़कर उन्होंने सन् 1956 ई. में 'श्रीमंत' नाटक लिखा। इस नाटक की कथा बेहद क्रांतिकारी थी, जिसने उन्हें श्रेष्ठ लेखकों की श्रेणी में ला खड़ा किया। कथा में तत्कालीन मध्यवर्ग की खोखली आदर्शवादिता पर करारी चोट की गई थी। अब वे कोल्हापुर छोड़कर मुम्बई में किराए की एक चाल में रहने लगे, जहाँ से उन्होंने शहरी निम्न मध्यवर्ग की जिंदगी की वास्तविकताओं को बेहद नज़दीक से देखा। यहाँ उन्होंने 'रंगायन' थिएटर मंडली की सदस्यता ली, जिसने उनके नाटकों को मंचित करना प्रारम्भ कर दिया। इस थिएटर ग्रुप में श्री राम लागू, मोहन अगाशे व सुलभा देशपांडे जैसे कलाकारों ने तेंदुलकर

के काम को काफी सरल बना दिया। उन्होंने सन् 1961 ई. में 'गीध' नाटक लिखा इस नाटक में नैतिक पतन के शिकार एक परिवार का बेहद भावनात्मक चित्रण था। इसके बाद उन्होंने पारिवारिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक व यौन हिंसा को अपने लेखन का विषय बनाया। सन् 1967 ई. में उनका नाटक 'ख़ामोश! अदालत ज़ारी है' पहली बार मंचित हुआ। सत्यदेव दुबे ने इसे पर्दे पर पेश किया। स्वयं तेंदुलकर ने इसकी पटकथा लिखी थी। सन् 1972 के नाटक 'सखाराम बाइंडर' में तेंदुलकर ने स्त्री पर पुरुष पति के वर्चस्व का बेहद कुशल चित्रण किया था। मुख्य पात्र सखाराम पूरी तरह से नैतिकता रहित व्यक्ति है और स्वयं घोषणा करता है कि सड़ी-गली सामाजिक नैतिकताओं में उसका कोई विश्वास नहीं है। उसके लिए स्त्री व विवाह दोनों ही मात्र ऐन्द्रिक सुख के माध्यम मात्र हैं। वह तमाम ऐसे खोखले तर्क देता है जिनसे वह अपनी घोर अनैतिक कामलिप्सा को सही साबित कर सके। वह कई स्त्रियों से यौनाचार करता है और सतही तौर पर इन स्त्रियों को समझा देता है कि यह आधुनिकता है। यह स्त्रियाँ शीघ्र ही इस आधुनिकता की स्वच्छंदता की गुलामी का अनुभव करने लगती हैं। वे इस गुलामी से मुक्ति चाहने लगती हैं। सन् 1972 ई. में तेंदुलकर ने 'घासीराम कोतवाल' लिखा। इसमें राजनीतिक हिंसा का विवेचन था। यह सखाराम से कहीं ज्यादा प्रभावशाली साबित हुआ। इसने मराठी रंगमंच को नए आयाम दिए। परिणाम यह हुआ कि तेंदुलकर को जवाहरलाल नेहरू फेलोशिप (1974-75) मिल गई। घासीराम कोतवाल, भारतीय रंगमंच के सर्वाधिक, मंचित होने वाले नाटकों में शामिल हो गया है।

तेंदुलकर ने भारतीय सिनेमा के लिए पटकथाएँ भी लिखीं। निशांत (1974), आक्रोश (1980) तथा अर्धसत्य (1984) ने उन्हें आधुनिक युग का हिंसा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पटकथा लेखक बना दिया। उन्होंने हिन्दी में 11 तथा मराठी में 8 चलचित्रों की पटकथा लिखी। मराठी में सामना (1975), सिंहासन (1979) और अम्बर्थ (1981) सर्वाधिक प्रशंसित हैं।

सन् 1991 ई. में तेंदुलकर ने एक रूपकात्मक नाटक, 'सफर' लिखा। सन् 2001 ई. में उन्होंने नाटक द मैस्यूर (अंगमर्दक) लिखा। सन् 2002-3 में उन्होंने एक वृद्ध व्यक्ति के स्वप्न चित्रों पर आधारित कादम्बरी—एक व कादम्बरी—दो उपन्यास लिखे। सन् 2004 ई. में उन्होंने एक एकांकी, 'द फ़िफ्थ वूमन' अंग्रेज़ी में लिखा। इससे पूर्व वे टी. वी. सीरियल, 'स्वयंसिद्ध' लिख चुके थे।

मई 19, 2008 ई. में तेंदुलकर का देहावसान हुआ। पत्नी निर्मला, पुत्र राजा व पुत्री प्रिया पहले ही दिवंगत हो चुके थे।

सन् 2002 ई. में गुजरात के गोधरा दंगों पर तेंदुलकर की प्रतिक्रिया दूर तक सुनी गई।

अपने लगभग 50 वर्षों के लेखक जीवन में तेंदुलकर ने 27 नाटक व 25

एकांकी लिखे। उनके कई मराठी नाटक गौरवग्रंथ बने। प्रायः नाटकों का कई-कई भाषाओं, विशेषकर हिन्दी में अनुवाद हुआ। वे अपने जमाने के महाराष्ट्र के क्रांतिस्वर थे। उन्होंने अपने समय की व पूर्ववर्ती राजशक्तियों की संकीर्ण मानसिकता को बेहद साहसिकता से झकझोरा। तत्कालीन राजसत्ता ने उन पर नियंत्रण पाने के प्रयास किए पर उनको हर स्तर पर इतना व्यापक समर्थन मिला था कि उनके विरोधी उनसे टकराने का पर्याप्त साहस नहीं दिखा सके।

बीसवीं सदी के 7वें दशक में महाराष्ट्र में शिव सेना का उदय हुआ। 'घासीराम कोतवाल' में शिव सेना के जन्म व विकास का प्रतिबिंब देखा जा सकता है। एक अन्य नाटक, कमला में एक पत्रकार द्वारा ग्रामीण यौन-व्यवसाय से खरीदी गई उस लड़की की विडंबनाओं का चित्रण है, जिसे पत्रकार मात्र यौन-व्यापार तथा उसमें पुलिस की संलिप्तता को प्रमाणित करने के लिए खरीदता है और प्रमाण सिद्ध होने के बाद उसे त्याग देता है।

तेंदुलकर ने अन्यों द्वारा रचित नौ उपन्यासों, दो जीवनियों और पाँच नाटकों के मराठी में अनुवाद किए। उपर्युक्त के अतिरिक्त उनके सम्पूर्ण वाङ्मय में एक जीवनी, दो उपन्यास, लघुकथाओं के 5 संग्रह, बच्चों के लिए 16 नाटक और 5 साहित्यिक लेख संग्रह भी शामिल हैं।

पुरस्कार

महाराष्ट्र गौरव पुरस्कार, 1999
संगीत नाटक अकादमी ॲवार्ड, 1970
संगीत नाटक अकादमी फेलोशिप (रत्न सदस्य), 1998
पद्म विभूषण, 1984
नेशनल फिल्म ॲवार्ड—सर्वश्रेष्ठ पटकथा लेखन (मंथन) के लिए, 1977

डॉ. पुष्प मित्र भार्गव

❑ **डॉ. चंदना चक्रवर्ती**

भारतीय वैज्ञानिक, सामान्यतया, दुहरी जिंदगी जीते देखे जाते हैं— वे अपनी-अपनी प्रयोगशालाओं में दृढ़ वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ संदेह व विश्लेषण की जिंदगी जीते हैं पर व्यक्तिगत जीवन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण (संदेह व विश्लेषणात्मकता) को एकदम छोड़कर अंध आस्था पर उतर आते हैं। अपने इन वैज्ञानिकों में से अधिकांश को जब हम खुल्लमखुल्ला हास्यास्पद अंधविश्वासों का आचरण करते देखते हैं तो हमें बहुत आश्चर्य होता है। इसका परिणाम यह है कि भारतीय वैज्ञानिकों में से बहुत कम नास्तिक देखे जाते हैं। नास्तिकता और मानववाद के मशालवाहक, भारतीय वैज्ञानिकों में डॉ. पुष्प मित्र (पी. ॲम.) भार्गव का नाम एकदम अग्रगण्य है। उन्होंने रूढ़िवादिता तथा अतार्किकता के विरुद्ध सदैव ही सतत व निर्मम संघर्ष किया है।

डॉ. भार्गव एक वैज्ञानिक, लेखक, विचारक, संस्था निर्माता तथा प्रशासक होने के साथ-साथ भारत में आधुनिक जीवविज्ञान तथा जैव तकनीकी के संस्थापक भी माने जाते हैं। प्रायः भारतीय विज्ञान के ताज का हीरा कहे जाने वाले हैदराबाद के प्रतिष्ठित सेन्टर फॉर सेलुलर ॲण्ड मॉलीक्यूलर बायलोजी (सी. सी. ॲम. बी.) की प्रारंभिक परिकल्पना, निर्माण व निर्देशन का कठिन कार्य (लगातार 13 वर्षों तक) डॉ. भार्गव ने ही किया था। आधारभूत आधुनिक जीववैज्ञानिक खोजों को समर्पित इस प्रयोगशाला की स्थापना सन् 1977 ई. में हुई थी। यह दुनिया भर में अपने किस्म की सर्वश्रेष्ठ प्रयोगशालाओं में से एक है। यह अपनी उत्कृष्टता के कारण ही अपने क्षेत्र में दुनिया के यूनेस्को-मान्यताप्राप्त संस्थानों में से एक है।

डॉ. भार्गव का जन्म फरवरी 22, 1928 ई. को अजमेर में डॉ. राम चन्द्र भार्गव के पुत्र के रूप में हुआ था। माँ का नाम श्रीमती गायत्री भार्गव था। इनका प्रारम्भिक पालन-पोषण व शिक्षा इलाहाबाद, वाराणसी तथा लखनऊ में हुई। 10 वर्ष की आयु में इनकी पहली स्कूली शिक्षा वाराणसी के बिंसेन्ट थियोसोफिकल स्कूल में प्रारम्भ हुई। इससे पहले इनके शिक्षण का कार्य इनके वृद्ध बाबा ने घर पर ही किया। बिंसेन्ट

स्कूल के बाद इन्होंने वाराणसी के ही क्वीन्स कॉलेज से इन्टरमीडिएट उत्तीर्ण किया। यह कॉलेज अपने समय में उत्तर प्रदेश के सर्वश्रेष्ठ स्कूलों में था। इसके बाद इन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से रसायन विज्ञान में ॲम. एस-सी. किया। बाद में इन्होंने मात्र 21 वर्ष की आयु में यहीं से रसायन विज्ञान में पी-एच.डी. की डिग्री ली। फिर वे हैदराबाद चले गए। यहाँ इन्होंने 3 वर्षों तक (1950-53) इन्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ केमिकल टेक्नालोजी (आई. आई. सी. टी.) में काम किया। फिर हैदराबाद के ही उस्मानिया विश्वविद्यालय चले गए।

सन् 1953 से 1956 तक इन्होंने अमेरिका के विस्कान्सिन विश्वविद्यालय में प्रो. चार्ल्स हीडेलबर्गर के साथ काम किया, जहाँ कई अन्य वैज्ञानिकों के साथ मिलकर कैन्सर अवरोधी ओषधि 5-फ्लोरिसिल की खोज की। यह एक बड़ी उपलब्धि थी।

सन् 1956-57 में करीब 1 वर्ष तक इन्होंने लंदन में नेशनल इन्स्टीट्यूट फॉर मेडिकल रिसर्च में काम किया, जहाँ इन्होंने अपना अध्ययन-क्षेत्र रसायन विज्ञान से जीवविज्ञान में परिवर्तित कर लिया। सन् 1957 ई. में यह भारत लौटे तो हैदराबाद में अपनी पुरानी प्रयोगशाला कौंसिल ऑफ साइन्टिफिक ॲण्ड इन्डस्ट्रियल रिसर्च का जिम्मा इनके पास आ गया था और इसका नाम आई. आई. सी. टी. हो गया था।

डॉ. भार्गव का वैज्ञानिक कार्य कई असामान्य क्षेत्रों में विभाजित है। इनका प्रारम्भिक क्षेत्र गणित था। फिर ये भौतिकी में गए। भौतिकी से ये रसायन विज्ञान में गए। इनके प्रारम्भिक लगभग एक दर्जन शोध-पत्र सांश्लेषिक जैव रसायन विज्ञान में थे। ये पहले भारतीय वैज्ञानिक हैं, जिन्होंने गणित, भौतिकी व रसायन विज्ञान की पृष्ठभूमि से जीवविज्ञान में प्रवेश किया। इन्होंने अपने छात्र जीवन में जीवविज्ञान की शिक्षा कभी नहीं ली। पर आज इनका नाम भारत के प्रथम श्रेणी के जीव वैज्ञानिकों में लिया जाता है।

डॉ. भार्गव का कार्य-विस्तार, आश्चर्यजनक रूप से, बहुआयामी है। दुनिया में इतने बहुआयामी वैज्ञानिक बिरले ही हैं। जीवविज्ञान के क्षेत्र में इन्होंने कई ऐसे विषयों पर कार्य किया है, जो इनसे पूर्व अछूते रहे थे। यही इनकी अंतरराष्ट्रीय प्रसिद्धि का कारण बना। जानकार क्षेत्रों में आम समझदारी यह भी है कि यदि डॉ. भार्गव को भारतीय वैज्ञानिक क्षेत्र की सीमाओं में बँधकर कार्य करने की विवशता न रही होती तो इन्होंने कई नई ऊँचाइयाँ लाँघी होतीं। फिर भी डॉ. भार्गव ने ऐसे तमाम वैज्ञानिक सम्मान पाने में सफलता पाई, जो आज के किसी बड़े वैज्ञानिक को प्राप्त हो सकते हैं।

जीवविज्ञान के क्षेत्र में डॉ. भार्गव का जो योगदान है, उसमें प्रमुख क्षेत्र प्रजनन जीवविज्ञान (रिप्रोडक्टिव बायलोजी), जीवन का प्रारम्भ, कैन्सर बायलोजी, कोशिका का समाजशास्त्र, ऊतकों में कोशिका की संरचना तथा कोशिका का विलेयक चरण प्रमुख हैं। 'द्वितीय आनुवंशिकी सूत्र (सेकंड जेनेटिक कोड)' का नाम डॉ. भार्गव का दिया हुआ है।

डॉ. भार्गव को अब तक एक सौ से अधिक राष्ट्रीय व अंतरराष्ट्रीय सम्मान प्राप्त हुए हैं। भारत सरकार द्वारा इन्हें पद्मभूषण, फ्रांसीसी सरकार द्वारा लीजन डी. आनार तथा बर्दवान विश्वविद्यालय द्वारा नेशनल सिटीजन्स ॲवार्ड तथा मानद डी. एस-सी. प्रदान की जा चुकी हैं। वे भारत के सार्वजनिक उद्धरित वैज्ञानिकों में से हैं।

विज्ञान के क्षेत्र के बाहर भी डॉ. भार्गव का योगदान बेहद विस्तृत है। यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना विज्ञान के क्षेत्र में। विशुद्ध विज्ञान के क्षेत्र के बाहर इन्होंने शिक्षा; वैज्ञानिक मानसिकता का निर्माण; तर्कबौद्धिकता; वस्तुगत तार्किकता; वैज्ञानिक नैतिकता; औषधीय विज्ञान; सरकारों, नौकरशाहों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीच अनैतिक गठजोड़; विज्ञान और कला के रिश्ते; खाद्य-सुरक्षा; कृषि-सुरक्षा; होम्योपैथी, दैवीय पुरुषों तथा अतार्किक आचरणों का खंडन तथा बौद्धिक संपदा पर कुल मिलाकर 500 से ज्यादा गंभीर लेख लिखे व प्रकाशित किए। ये लेख न केवल उनकी बौद्धिकता व तार्किकता का परिचय देते हैं वरन् इनके साहस व स्पष्ट कथन के भी स्पष्ट उदाहरण हैं। इनके इतनी बड़ी संख्या के लेखों ने दुनिया भर में इनके प्रशंसकों व अनुयायियों की भारी संख्या खड़ी कर दी है।

भारत देश के अंदर शिक्षा, विशेषकर विज्ञान शिक्षण एवं तर्कपूर्ण मानसिकता निर्माण के लिए डॉ. भार्गव को एक जिहादी (धर्मयोद्धा) के रूप में भी देखा जाता है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में इन्होंने दिल्ली में 'मेथड ऑफ साइंस' नामक प्रदर्शनी लगाई। इस प्रदर्शनी में कलाकारों, शिक्षकों व वैज्ञानिकों का व्यापक सहयोग लिया गया था। सरकार घबरा गई। उसने प्रदर्शनी पर अप्रत्यक्ष हमला कर दिया। प्रदर्शनी नष्ट हो गई। डॉ. भार्गव ने हार नहीं मानी। उन्होंने उसे पुनः संगठित किया। प्रदर्शनी पर फिल्म बनी जो देश भर में प्रदर्शित हुई। पत्र-पत्रिकाओं ने भी उसकी उपलब्धियाँ प्रकाशित कीं। यह प्रदर्शनी महज प्रदर्शनी न होकर अंधविश्वास, रूढ़ियों और अतार्किकता की गुलामी के विरुद्ध एक बौद्धिक अभियान साबित हुई, जो इस दिशा में डॉ. भार्गव के समर्पण, संघर्ष व लगनशीलता का परिणाम थी।

अंधविश्वासों के विरुद्ध अपने जिहाद में इन्होंने अपने समय के शक्तिशाली देव-पुरुष, महेश योगी व सत्य साईं बाबा तक को नहीं छोड़ा। आप ने साईं बाबा के घटिया चमत्कारों व महेश योगी के हवा में उठने के दावे को खुली चुनौती दी। आप ने देश के उच्च-पदासीन राजनीतिज्ञों द्वारा चमत्कारी व धूर्त बाबाओं के प्रति श्रद्धा दिखाने की भी निन्दा की।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में भारत में एन. डी. ए. का शासन स्थापित हो गया। फासीवाद, पुनरुत्थानवाद, रूढ़िवाद और कुतर्कवाद पुनर्जीवित होने लगे। भारत सरकार ज्योतिष जैसे विषयों में वैज्ञानिक डिग्री देने के लिए विश्वविद्यालयों को निर्देश देने लगी। डॉ. भार्गव ने केन्द्र सरकार के इस निर्देश की खुली खिल्ली

उड़ाई व लोकहित याचिका के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय जाकर भारत सरकार के इस कुप्रयास को रुकवाया।

होम्योपैथिक चिकित्सकों ने डॉ. भार्गव के कार्यालय पर सामूहिक हमला बोलकर भारी तोड़फोड़ की। वे इनके होम्योपैथी की वैज्ञानिकताविहीन ओषधियों के विरुद्ध एक बयान का विरोध करने आए थे। डॉ. भार्गव इस हमले से तनिक भी विचलित हुए बिना अपने बयान पर कायम रहे। उन्होंने हर अतार्किकता व अवैज्ञानिकता के विरुद्ध निरंतर खुलकर अपनी सक्रियता बनाए रक्खी है।

किसी भी वैज्ञानिक के लिए प्रतिष्ठा की बात होती है कि वह किसी विज्ञान अकादमी का सदस्य चुना जाय। देशभर की विज्ञान अकादमियों ने डॉ. भार्गव को अपना सदस्य चुना। इन्होंने अचानक इन सभी अकादमियों से त्यागपत्र दे दिया। कारण? डॉ. भार्गव का आरोप है कि ये अकादमियाँ तथा देश के प्रमुख वैज्ञानिक प्रायः सामाजिक सरोकारों तथा देश में वैज्ञानिक मनोवृत्ति के निर्माण जैसे विषयों के प्रति एकदम उदासीन हैं। सन् 2005 ई. में भारत सरकार ने इन्हें नेशनल नॉलेज कमीशन के उपाध्यक्ष पद पर मनोनीत किया। सरकार ने इन्हें नेशनल सिक्योरिटी एडवाइज़री बोर्ड का सदस्य भी नामित किया है। डॉ. भार्गव दोनों पदों पर गरिमापूर्ण ढंग से कार्य कर रहे हैं।

डॉ. भार्गव एक कलापारखी के रूप में भी विख्यात हैं। कला के विकास में भी उनका अच्छा योगदान रहा है। सी. सी. ॲम. बी. के जन्म से पूर्व हैदराबाद में कला व कलाकारों की स्थिति दयनीय थी। डॉ. भार्गव के लम्बे, प्रयासों से सी. सी. ॲम. बी. देश की पहली प्रयोगशाला बनी, जहाँ कला-वीथिका स्थापित की गई। लम्बे समय तक यह गैलरी हैदराबाद की एकमात्र कला-वीथिका थी। इस वीथिका ने बड़ी संख्या में कलाकृतियाँ इकट्ठा कीं और कलाकारों के कैम्प लगाए। धीरे-धीरे डॉ. भार्गव के इस कार्य को उद्योगों का भी समर्थन व सहयोग मिलने लगा। आज दुनिया भर में हैदराबाद के कलाकारों व कला को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है, उसका बहुत बड़ा श्रेय डॉ. भार्गव के प्रारम्भिक प्रयोगों को जाता है। इन्होंने सन् 1987 ई. में इस दिशा में जो प्रयास प्रारम्भ किया था, आज पल्लवित होकर वह कला व विज्ञान के मिलन के सेतु का कार्य करने लगा है।

साहस, सत्य, न्याय, ईमानदारी, मानवाधिकार, दीन-दुखियों का कष्ट निवारण एवं देश-भक्ति के प्रति डॉक्टर साहब की सच्ची लगन ने प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों रूपों में सदैव ही देश का ध्यान आकर्षित किया है। सरकार द्वारा चलाए जा रहे पोलियो टीकाकरण कार्यक्रम में कर्मियों से लेकर नौकरशाही एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की साँठ-गाँठ से लेकर बीज एवं कृषि रसायन उत्पादनों में हो रही धाँधलियों जैसे विषयों पर डॉक्टर साहब ने लगभग 40 संघर्षों का आगाज़ किया और इस ओर पूरे देश

का ध्यान आकर्षित किया। इसका परिणाम यह हुआ है कि वे देश के इकलौते ऐसे वैज्ञानिक हैं जिन्हें लेकर भारतीय संसद में प्रायः चर्चाएँ होती रही हैं।

सन् 1995 ई. में डॉ. भार्गव ने हैदराबाद में 'मार्च' (द मेडिकली अवेयर ॲण्ड रिस्पान्सिबिल सिटिजन्स ऑफ हैदराबाद) बनाई। इस स्वयंसेवी संस्था ने डॉक्टरों, अस्पताल प्रशासकों, वैज्ञानिकों, ओषधि निर्माताओं, विशेषज्ञों, स्वास्थ्य तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं को एक मंच पर ला दिया। 'मार्च' आज देश की एक प्रतिष्ठित संस्था है। इसने हैदराबाद में चिकित्सीय उत्सर्जन, विश्वसनीय चिकित्सकीय विश्लेषण, बाँझपन निवारण प्रयोगशालाओं के निर्माण तथा इन क्षेत्रों में व्याप्त कदाचार के विरुद्ध कानून बनवाने और इन सबके विनियमितीकरण की दिशा में अभूतपूर्व कार्य किया है, और आज भी कर रही है।

डॉ. भार्गव ने जिन कई महत्त्वपूर्ण संस्थानों की नींव रक्खी व उन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया, इनमें एक नाम जी. आर. सी. (गुहा रिसर्च कॉन्फ्रेंस) भी है। इन्होंने सन् 1958 में इसकी स्थापना की थी। इस संस्थान ने विभिन्न क्षेत्रों के जीववैज्ञानिकों को एक साथ लाने में महती भूमिका निभाई है और विज्ञान के क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल की हैं। विभिन्न जीववैज्ञानिकों की खोजों, उपलब्धियों व कमियों को एक मंच पर लाकर उनके आपसी सहयोग को बढ़ाने तथा उनकी क्षमताओं को बेहतर बनाने में इस संस्थान ने महत्वपूर्ण योग दिया है। आधुनिक जीवविज्ञान में रिसर्च के क्षेत्र में भारतीय जीववैज्ञानिकों द्वारा इस संस्थान की सदस्यता को हासिल करना एक प्रतिष्ठा की बात है।

भोपाल गैस त्रासदी कितनी भयानक थी, इससे शायद ही कोई अनजान हो। इस त्रासदी में जीवित बचे लोगों का जीवन कितना कष्टप्रद है, कोई भी अनुमान लगा सकता है। इन गैसपीड़ितों के कल्याण के लिए संभावना ट्रस्ट का निर्माण किया गया। डॉ. भार्गव इस ट्रस्ट के अध्यक्ष हैं। यह ट्रस्ट भोपाल में एक अस्पताल चलाता है और त्रासदी से जीवित बचे लोगों की मुफ्त चिकित्सा करता है।

डॉ. भार्गव अपनी धर्मपत्नी, डॉ. मनोरमा, जो एक पोषाहार विशेषज्ञ हैं, के साथ हैदराबाद में रहते हैं। उनके एक पुत्र, मोहित व एक पुत्री, विनीता हैं। डॉ. भार्गव 86 वर्ष की आयु में आज भी लेखन, भाषण, परामर्श व जरूरतमंदों की सहायता के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय रहते हैं।

मनोरमा घर, दूसरी मंजिल
2-16-137/1, सड़क सं. 3,
प्रशांति नगर, उप्पल,
हैदराबाद-500039

सच्चिदानन्द सिन्हा

❑ बक़लमे ख़ुद

मेरा जन्म 28 मार्च, 1929 के दिन बिहार के एक गाँव परसोली में, जो अब मुजफ्फरपुर जिले में है, हुआ था। 1932 की बात है, मैं उन दिनों अपने ननिहाल बीहट में अपनी माँ के साथ था। उसी समय मेरे नाना श्री रामचरित्र सिंह को गिरफ्तार करने पुलिस वाले आये। मैं और मेरे मामा चन्द्रप्रकाश एक घर की दीवार की ओट से झाँक रहे थे, जब पुलिसवाले एक टमटम के साथ मेरे नाना के बँगले पर आये और उन्हें गिरफ्तार कर ले गये। हम लोगों को अंग्रेज़ी सरकार के दमन और ताकत का थोड़ा एहसास हुआ लेकिन हम ज्यादा कुछ नहीं समझते थे। लेकिन उन दिनों गाँव में प्रायः लोग लाइन बना प्रभात फेरी करते थे और गाते थे। ''आओ वीरो मर्द बनो अब जेल तुम्हें जाना होगा।''

महात्मा गाँधी मुझे पारिवारिक विरासत के रूप में मिले, वैसे ही जैसे अपने दादाजी। मेरे पिताजी गाँधीजी के भक्त थे और 1920 में उनके आह्वान पर सरकारी स्कूल छोड़ सदाकत आश्रम में पढ़ाई करने चले गये थे। बाद में भी जब उन्होंने स्कूल में शिक्षक का काम शुरू किया तो गाँधी के प्रति निष्ठा गयी नहीं और उनके कई छात्र उनके प्रभाव से आजादी के आंदोलन में कूदे। बचपन में मैं प्रायः मुजफ्फरपुर में पिताजी के साथ रहता था, जिनसे मिलने और विचार लेने अनेक छात्र आते थे। राष्ट्रीय आंदोलन के संबंध में मेरी प्रारंभिक धारणाएँ पिताजी के विचारों से प्रभावित थीं। बाद में जब उन्होंने गाँव में चरखे का प्रचार करना शुरू किया तो एक चरखा मास्टर मेरे घर रहते थे और मैंने लगभग 10-11 साल की उम्र में चरखा चलाना शुरू किया और खादी पहनना भी। मैंने अपनी काती हुई सूत की एक गड्डी महात्मा गाँधी को भी भेंट की थी, जब वे रामगढ़, कांग्रेस के पहले कांग्रेस वर्किंग कमेटी की मीटिंग में भाग लेने पटना आये थे। मेरे पिताजी नियमित रूप से 'हरिजन' मँगाते थे और उसकी प्रतियों को जिल्द बँधवाकर रखते थे। मैं उन्हें पढ़ता नहीं था।

मेरे पिताजी ॲम.ॲससी में गणित के छात्र रहे थे और उन्हें भारतीय ज्योतिष शास्त्र का भी कुछ ज्ञान था, जिनके बीच वे कुछ संगति बैठा लेते थे। प्रायः गर्मियों में जब हम आँगन में बैठे होते तो वे सप्तर्षि और ध्रुवतारा और उसकी ओर इशारा करनेवाले दो तारों तथा मृगशिरा आदि तारा समूहों को दिखलाते और फिर नक्षत्रों और आकाशगंगा आदि के सम्बन्ध में कुछ बातें बतलाते। ध्रुव और ध्रुवतारे के सम्बन्ध को मैं कभी समझ नहीं पाया लेकिन आकाश और नक्षत्रों के सम्बन्ध में जानने की जो जिज्ञासा जगी वह बनी रही और न्यूटन, आइंस्टीन आदि के विचारों की तरफ ले गयी। इसी जिज्ञासा के कारण मुझे कान्ट का समग्रता का दर्शन सदा आकर्षित करता रहा, जिसमें ''The Starry heaven above and the moral sense within'' दोनों को समझने और जोड़ने का आग्रह था। संसार की सभी वस्तुओं के बीच सम्बन्ध तलाशने का रुझान इसी समय पैदा हुआ।

धार्मिक आस्थाओं को धक्का लगा मेरे नानाजी के विचारों से। उन्होंने रसायन शास्त्र से ॲम.ॲससी की थी और अनीश्वरवादी थे। उन्होंने भौतिक दृष्टि से संसार के विकास पर एक पुस्तक भी लिखी थी। 10-11 साल की उम्र में उसे पढ़ने का मौका मिला और इससे पुरानी आस्थाएँ अंधी लगने लगीं। समय के साथ इस दूसरे विचार को ही चारों तरफ से समर्थन मिलता रहा। बाद में मार्क्स के प्रति आकर्षण का यही आधार था।

मेरी नियमित रूप से पढ़ाई-लिखाई नहीं हुई थी। मैंने पहली दफे परीक्षा देकर सातवें वर्ग में उसी स्कूल में दाखिला लिया जिसमें पिताजी थे। हालाँकि, इसके साल भर के भीतर ही पिताजी ने पूरा समय स्वतंत्रता आंदोलन में देने के लिए नौकरी छोड़ दी। स्कूल में जाने के बाद से मेरी दिलचस्पी भगतसिंह और दूसरे क्रांतिकारी नेताओं में जगी और उनकी वीरता और आत्मबलिदान से अत्यधिक प्रभावित हुआ। इसी क्रम में मन्मथनाथ गुप्त की 'भारत में सशस्त्र क्रांति चेष्टा का रोमांचकारी इतिहास' पढ़ा और कुछ अन्य प्रकाशनों को भी देखने का मौका मिला जो प्रायः गुप्त रूप से छात्रों तक पहुँच ही जाते थे। इसके बाद हिंसक क्रांति के प्रति आकर्षण बढ़ा। ज्यादातर छात्रों का रुझान इसी तरफ था। मुझे गाँधीजी और इन क्रांतिकारियों के बीच कोई विरोधाभास नजर नहीं आता था। मुझे जहाँ तक याद है, एक पुस्तक ''दो पहलू'' उन्हीं स्कूली दिनों में पढ़ने का मौका मिला था जिसमें क्रांति के लिए समर्पित दोनों विचारों के लोगों की जीवन गाथा थी। लेखक का नाम याद नहीं। गाँधीजी के प्रति भक्ति और क्रांतिकारियों के प्रति रुझान—दोनों साथ-साथ थे। लेकिन उम्र और रुचि के कारण सशस्त्र क्रांति की तरफ रुझान ज्यादा गहरा था। उस समय हथियार पाना उतना आसान नहीं था जितना आज, लेकिन यह इच्छा जरूर थी कि हम लोग स्वयं बम आदि बना क्रांतिकारियों की मदद करते। खादी के प्रति प्रतिबद्धता

जरूर थी और एक समय जब खादी के कपड़े मिलना मुश्किल हो गया तो एक-दो फटे धोती-कमीजों के सहारे रहता था पर मिल के वस्त्र नहीं पहनता था। इससे सगे-संबंधियों के समारोहों में शामिल होना मुश्किल हो जाता था।

इन्हीं दिनों जे.पी. की जेल से भागने के बाद की चिट्ठियाँ पढ़ने का मौका मिला और उनके भूमिगत संगठनों के तानेबाने से जुड़ने का। हम लोगों के पास नियमित रूप से पर्चे-पोस्टर आदि आते और हम लोग रात में चुपचाप उन्हें मुजफ्फरपुर शहर के विभिन्न मुहल्लों में दीवारों पर चिपका देते या घरों के दरवाजों पर डाल देते।

मैट्रिक पास कर 1945 में मैं साइंस कॉलेज, पटना में पढ़ने गया। वहाँ छात्र आंदोलन (स्टूडेंट्स कांग्रेस) से पूरी तरह जुड़ गया। 1946 में कुछ समाजवादी कार्यकर्ता जेल से छूटने लगे और सोशलिस्ट संगठन को बढ़ाने के प्रयास में लग गये। वे उस समय ''सोशलिस्ट कांग्रेसमैन एसोसिएशन'' के नाम से काम करते थे। उसमें पूरी लगन से जुट गया। इसी समय सांप्रदायिक दंगों के खिलाफ जे.पी. की अपील पर लगभग एक महीने छात्रों की टीम के साथ पटना और जहानाबाद के इलाके में काम करता रहा।

पार्टी में सक्रियता से पढ़ाई-लिखाई का काम दोयम महत्त्व का बन गया। 1947 में आई.एस.सी. तो किसी तरह दूसरे दर्जे में पास कर गया लेकिन बी.एस.सी की पढ़ाई बहुत ही बाधित होने लगी। साइंस कॉलेज में पढ़ाई-लिखाई और प्रैक्टिकल के काम में काफी सख्ती बरती जाती थी। अब स्पष्ट हो गया कि मैं पास नहीं कर सकता। तब तक मेरी पढ़ाई भी कोर्स के बाहर की पुस्तकों पर केन्द्रित होती गयी। इम्तहान पास करने का महत्त्व भी कम दिखने लगा, क्योंकि इरादा नौकरी से ज्यादा क्रांति करने का बन गया था। इस तरह मैंने तय किया कि अब पढ़ाई छोड़ पूर्णकालिक पार्टी कार्यकर्ता बन जाऊँगा। उस समय बिहार में पार्टी के लेबर सचिव बसावन बाबू थे। मैंने उनसे इस सम्बन्ध में बात की और उन्होंने गाड़ी का किराया देकर एक पत्र के साथ अरगड़ा, हजारीबाग जिला भेज दिया, जहाँ पार्टी के अत्यंत ही सक्षम और प्रतिबद्ध नेता हरदेवजी (जिन्हें लोग गुरुजी कहते थे) संगठन चलाते थे। यूनियन के अध्यक्ष रामनन्दन मिश्रजी थे और सेक्रेटरी चुनचुन जो मज़दूरों में इतना लोकप्रिय थे कि मज़दूर (अधिकांश आदिवासी) सभी यूनियन कार्यकर्ताओं को चुनचुन ही कहते थे (छोटा चुनचुन, बड़ा, चुनचुन)। इस तरह मैं 1948 के प्रारंभ से लगभग नौ महीने तक वहीं साउथ कर्णपुरा कोल वर्कर्स यूनियन में काम करता रहा। इसी काल में पार्टी के आदेश पर कुछ समय के लिए मूरी में अल्युमिनियम कारख़ाने को सफल बनाने के लिए (जे.पी. उस समय रेलवे में यूनियन के अध्यक्ष थे) कुछ समय के लिए बरकाकाना रेलवे जंक्शन पर रेल मज़दूरों को संगठित करने के लिए गया।

इस बीच, हिन्द मज़दूर पंचायत के स्थापना सम्मेलन में कोयला मजदूरों के एक प्रतिनिधि के रूप में कलकत्ता गया।

बाद में पार्टी ने मुझे पटना बुला लिया। लेकिन वहाँ कुछ काल तक रहने के बाद ही मैं मुंबई चला गया। मैं पटना में था जब 1949 में पार्टी का राष्ट्रीय अधिवेशन वहाँ हुआ था।

मैं 1949 के मध्य में मुंबई गया । मुख्य आकर्षण तो वहाँ के मजदूर आंदोलन की ख्याति थी और उससे जुड़ने को मन था। लेकिन यह भी वहम था कि पत्रकारिता के माध्यम से समाजवादी विचार को तेजी से फैलाया जा सकता है। उन दिनों मुंबई से निकलनेवाली पत्रिका Blitz में अशोक मेहता नियमित रूप से लिखते थे और हम लोग उनसे काफी प्रभावित होते। इसलिए बाजाप्ता तो मैं वहाँ पत्रकारिता सीखने गया था, जिसकी सुविधा अन्यत्र नहीं थी और मुंबई में Hornyman College of Journalism के नाम से एक संस्था थी, जिसके निर्देशक P.G. Rao थे। वहाँ साल भर पढ़ने और डिप्लोमा लेने के बाद यह भ्रम तो खतम हो गया कि पत्रकारिता विचारों के विकास का माध्यम हो सकती है लेकिन सीधा-सादा कुछ कहने का रुझान बढ़ा। मुंबई में मैं प्रारंभ में माहिम में स्टेशन के बगल में ही रहता था और पार्टी की दादर इकाई से जुड़ गया।

मुंबई की पार्टी के एक गुट ने यह फैसला किया कि जब नवम्बर 1949 को गोलवलकर मुंबई आवें तो उनके खिलाफ विरोध-प्रदर्शन हो। महात्मा गाँधी की हत्या के बाद जेल से छूटकर वह पहली बार मुंबई आ रहे थे और आर.एस.एस. ने शिवाजी पार्क में एक भव्य स्वागत सभा का आयोजन किया था। शिवाजी पार्क, दादर इकाई के तहत ही आता था और इस इकाई ने भी विरोध-प्रदर्शन की पहल का स्वागत किया था। मैंने भी इसमें हिस्सा लेने का फैसला किया। योजना काले झंडों के प्रदर्शन की थी। लगभग ढाई-तीन सौ पार्टी कार्यकर्ता काले झंडे ले प्रदर्शन के लिए आयें, इन्हें दो हिस्सों में बँटकर शिवाजी पार्क की तरफ जानेवाली दो सड़कों से वहाँ पहुँचना था। उधर आर.एस.एस के हज़ारों स्वयंसेवक इसकी भनक मिल जाने के कारण चौकसी बरत रहे थे। उन्होंने एक सड़क से जानेवाले जत्थे को तो बीच में ही रोककर उनके झंडे छीन लिये और उन्हें तितर-बितर कर दिया। एक जत्था, जिसमें मैं शामिल था, शिवाजी पार्क की चहारदीवार तक पहुँच गया और चहारदीवारी के ऊपर से (जो अधिक ऊँची नहीं थी) छलाँग लगाकर मैदान में पहुँच गया। लेकिन काले झंडे दिखाते-दिखाते हम लोग आर.एस.एस. के स्वयंसेवकों द्वारा, जिनकी संख्या हजारों में थी, घेर लिये गये और सब पर लातों और लाठियों से हमला शुरू हुआ। एक-दो लोगों को छोड़ बाकी लोगों को हल्की ही चोटें आयीं। पुलिसवालों ने तत्परता दिखा हम लोगों को घेरे में ले लिया और गिरफ्तार कर पुलिस चौकी ले गये। प्रदर्शन तो

बड़ा नहीं था लेकिन इसे काफी पब्लिसिटी मिली और मुंबईवासियों का समर्थन भी।

लेकिन मेरे लिए यह घटना अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण साबित हुई। इससे मैं तुरंत मुंबई के तब उभर रहे उस कार्यकर्ता समूह से जुड़ गया जो पार्टी को अधिक क्रांतिकारी नीतियों की ओर ले जाना चाहता था। इसमें अन्य लोगों के अलावा वोल्शेविक लेनिनिस्ट पार्टी के भी कुछ लोग थे। इसी में प्रभाकर मोरे, लक्ष्मण जाधव, एस.आर. राव आदि थे। इन लोगों ने बाद में मुंबई में मज़दूर आंदोलन को संगठित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। बाद में इसी क्रम में मैं इन्द्रसेन, तुलसी बोड़ा, टी.आर. राव आदि के सम्पर्क में आया। टी.आर. राव को नवीनतम पुस्तकों के संकलन का जुनून था और उनके संकलन का समाजवादी आंदोलन सम्बन्धी मेरी जानकारी बढ़ाने में काफी हाथ रहा। इन्द्रसेन एक अत्यंत ही सुलझे हुए अर्थशास्त्री थे जो 'जनता' के संपादन से जुड़े थे और जिनके लेखों के हमारे समय के समाजवादी मुरीद थे। वे भी बोल्शेविक लेनिनिस्ट पार्टी से आये थे और इतने सज्जन थे कि कभी किसी प्लेटफार्म से अपने को आगे बढ़ाने की कोशिश नहीं करते थे। प्रभाकर मोरे और लक्ष्मण जाधव दोनों ही मज़दूर वर्ग से आते थे लेकिन औपचारिक शिक्षा नहीं होने के बावजूद दुनिया भर की राजनीतिक गतिविधियों की जानकारी रखते थे और अगर कोई महत्त्वपूर्ण पुस्तक अंग्रेजी में छपती तो अंग्रेजी जानने वालों से घंटों बैठ उसका अनुवाद कराकर उसकी जानकारी ग्रहण करते थे। एच.आर.एस. राव एक बहुत ही दक्ष स्टेनोग्राफर थे और उन्होंने अशोक मेहता के भाषणों को टाइप कर उनकी पुस्तक डेमोक्रेटिक सोशलिज्म का प्रकाशन संभव बनाया था। उनके साथ तनसुख शुक्ल भी थे जिनमें समाजवादी निष्ठा और सरलता का अद्भुत मेल था। इसी संपर्क से मैं गुलाब राव गणाचार्य और बापूराव जगताप जैसे प्रभावी मज़दूर नेताओं को जान पाया, जो पहले कम्युनिस्ट पार्टी में थे और 1942 में उसकी आंदोलन विरोधी नीति के कारण सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हुए थे। मुंबई पार्टी के संयुक्त मंत्री नारगोलकर जिन्हें इस प्रदर्शन का समर्थन करने के कारण अपने पद से हटना पड़ा था, को भी जानने का मौका मिला। लेकिन मेरे लिए सबसे बड़ी उपलब्धि एस. वेंकटराम को जानना हुई जिनकी बौद्धिक प्रतिभा विलक्षण थी। उनकी एक बात मुझे सदा याद रहती है। वे कहते थे कि ''किसी आदमी के लिए एक अच्छा समाजवादी बनने के लिए एक अच्छा आदमी बनना भी जरूरी है।''

इसी सिलसिले में मैं कपड़ा मजदूरों के समाजवादी नेतृत्व में चलनेवाली मिल मज़दूर सभा से जुड़ा और उसका पूर्णकालिक कार्यकर्ता बन गया। इसी काल में सवा दो लाख मज़दूरों की 62 दिनों की हड़ताल चली। इसके संचालित करने के क्रम में मुझे Preventive Detention Act में गिरफ्तार कर भोईखला जेल में डाल दिया गया, जहाँ लगभग दो महीने रहने के बाद, हड़ताल खतम होने पर मुझे छोड़

दिया गया। मित्रों की मदद से जेल में किताबें मिलती रहीं और इसी समय मैंने Tranz Mehring द्वारा लिखी मार्क्स की जीवनी पढ़ी और Whitehead की Adventures of Ideas। इस दूसरी पुस्तक का नाम मेरे ध्यान में था जब मैंने वर्षों बाद मानवाधिकार पर अपनी पुस्तक का नाम Adventures of Liberty रखा।

यह काल सोशलिस्ट पार्टी में गहरे वैचारिक विवाद का था और मुझे पार्टी का पूर्णकालिक काम छोड़ना पड़ा। एस.आर. राव के प्रयास से जो Central Railway में यूनियन के अधिकारी थे, मुझे खलासी का काम मिल गया और मैं वडाला वर्कशॉप में काम करने लगा। वहाँ मैंने डेढ़ साल तक मजदूरी की। काम डिब्बों की मरम्मत का था, मुख्य रूप से तेल के टैंकरों की देखभाल और मरम्मत का।

1952 के चुनाव में वर्ली-नायगाँव क्षेत्र से सोशलिस्ट पार्टी और शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन की ओर से अशोक मेहता और डॉ. आम्बेडकर लोकसभा के उम्मीदवार हुए। उन दिनों कुछ क्षेत्रों में एक आम और एक आरक्षित उम्मीदवार साथ-साथ खड़ा होता था और मतदाताओं को दो वोट डालना होता था। उस समय सोशलिस्ट पार्टी और डॉ. आम्बेडकर की पार्टी शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन के बीच चुनावी समझौता हुआ था और दोनों पार्टियाँ सम्मिलित रूप से लड़ती थीं। मेरा कार्यक्षेत्र वर्ली-लोअर परेल था, जो इस संसदीय क्षेत्र का हिस्सा था। यहाँ काफी बड़ी संख्या में महार मतदाता थे। मुझे उनके बीच काम करने का अच्छा मौका मिला और इससे उनके प्रति आदर भी बढ़ा। हमारे दोनों उम्मीदवार हार गये। बाद में किसान मज़दूर प्रजा पार्टी और सोशलिस्ट पार्टी का विलय हुआ जिसका हमने विरोध किया था। लेकिन विलय के बाद चूँकि सभी बड़े नेता इसके पक्ष में थे, ज्यादातर लोगों ने इसे कबूल किया। लेकिन इस निर्णय में बोल्शेविक पार्टी से आये कुछ लोगों को छोड़ बहुत थोड़े से लोगों ने हम लोगों का साथ दिया। कुछ लोग आर.एस.पी. में चले गये। कई मज़दूर नेता जो कम्युनिस्ट पार्टी से आये थे फिर कम्युनिस्ट पार्टी में चले गये।

जो थोड़े-से लोग बच गये थे उन लोगों ने पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा पार्टी को पुनर्गठित करने का अभियान जारी रखा। लेकिन ये मुट्ठी भर लोग थे। मद्रास से हेक्टर अभय बर्धन, जो बोल्शेविक पार्टी से आए थे, एक पाक्षिक पत्रिका ''सोशलिस्ट अपील'' निकालने लगे जिसके संपादन मंडल में मेरा भी नाम था। मुझे पटना से एक हिन्दी पाक्षिक ''समतावादी'' निकालने को कहा गया। इस तरह मैं रेलवे की नौकरी छोड़ पटना आ गया। पर यह पत्रिका कुछ महीने तक ही चल पायी और मैं फिर मुंबई चला गया। वहाँ कुछ दिन डॉक में काम किया और बाद में बम्बई पोर्ट ट्रस्ट जनरल वर्कर्स यूनियन में पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में काम करने लगा। इसके अध्यक्ष जी.एच. काले थे जो कभी डाँगे आदि के साथ भारत में कम्युनिस्ट

आंदोलन को शुरू करने वालों में थे और बाद में ॲम.ॲन. रॉय से जुड़ गये थे। इस यूनियन में काम करते हुए वह भ्रम दूर हो गया कि ट्रेड यूनियनों को आधार बनाकर क्रांतिकारी मजदूर आंदोलन चलाया जा सकता है जो अंततः समाजवादी क्रांति का जनक होगा। विशेषकर संगठित क्षेत्रों के औद्योगिक मज़दूरों की स्थिति और व्यवस्था से जुड़ी सुविधाएँ, ऐसी होती हैं कि सशस्त्र व्यापक क्रांति में वे भागीदार नहीं हो सकते। इस तरह मजदूर क्रांति की कल्पना जो हम मार्क्सवादी सिद्धांतों के कारण पाले हुए थे, खतम हो गयी। इसके थोड़े ही दिनों बाद 1955 में मैं पटना आ गया। हमारे बहुत से साथियों ने, बोल्शेविक-लेनिनिस्ट पार्टी से आये लोगों ने भी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को यह मानकर फिर कबूल कर लिया कि कोई विकल्प नहीं है। मैंने कभी इस पार्टी को विश्वसनीय नहीं पाया और न इसका सदस्य बना। इसी बीच आपसी विरोध के कारण डॉ. लोहिया ने प्रजा सोशलिस्ट पार्टी से बाहर सोशलिस्ट पार्टी का गठन करना शुरू कर दिया। इसी काल में 1956 में डॉ. लोहिया ने हैदराबाद से एक मासिक पत्रिका Mankind निकालना शुरू किया और मुझे इसके संपादकीय में काम करने के लिए बुला लिया। लेकिन कुछ ही महीने बाद अपेंडिसाइटिस से बीमार हो जाने के कारण मुझे हैदराबाद छोड़ मुजफ्फरपुर आ जाना पड़ा। इसके बाद के घटनाक्रम में सोशलिस्ट पार्टी और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के विलय से संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी का गठन हुआ और गैर कांग्रेसवाद के नारे के तहत एक वैकल्पिक सरकार बनाने का सपना साकार होता दिखाई दिया। लेकिन समाजवाद का लक्ष्य अभी ओझल ही था। यह एक नयी तलाश की शुरुआत थी। इसके बैनर तले 1966-1967 में बड़े आंदोलन हुए और पहली दफे कुछ राज्यों में गैर कांग्रेसी, गैर कम्युनिस्ट पार्टियाँ सत्ता में आईं। हालाँकि अब इस गठजोड़ से कम्युनिस्ट भी वर्जित नहीं थे। इसी प्रक्रिया में 1965 में बिहार में एक बड़ा जन-आंदोलन हुआ जिसमें नेतृत्व मूलतः संसोपा के साथ में था पर कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी शामिल थीं।

समाजवादी सत्ता के समीप तो आये लेकिन सत्ता पाने की जद्दोजहद में समाजवाद का लक्ष्य कहीं लुप्त होता गया। 1967 में ही गैर कांग्रेसवाद को सफलता मिली और इसी साल डॉ. लोहिया की मृत्यु हो गयी। अब सत्ता के लक्ष्य और सत्ता में रहने की कुछ शर्तें जो डॉ. लोहिया गैर-कांग्रेसवाद के साथ जोड़ते थे, किसी की चिंता के विषय नहीं रहे। पार्टी के भीतर ही राज नारायण और मधु लिमये, जो लोहिया की विरासत को लेकर चल सकते थे, आपसी द्वंद्व में उलझ गये। ऐसा लग रहा था कि समाजवाद की समझ धूमिल हो गयी थी और यह सब वैयक्तिक स्खलन उसी का परिणाम था। कम से कम मुझे ऐसा ही लग रहा था। मुझे ऐसा लग रहा था कि हमें फिर अपनी वैचारिक जड़ों को तलाशने की जरूरत है। 1968 से आज तक मैं मूलतः इसी उद्‌देश्य को लेकर चलने का प्रयास करता रहा हूँ। लेकिन यह

तलाश बिल्कुल वैयक्तिक नहीं हो सकती और इसमें नये और नयी पीढ़ी के सहयोगियों की तलाश जरूरी है। मेरी ऐसी ही कोशिश रही है। लिखने का मुख्य उद्‌देश्य रहा है—अपने अनुभवों को उन सबों से बाँटना, जो हमराही हो सकते हैं।

1965 का मध्य काल बिहार में घोर उथल-पुथल का काल था। यह समय बिहार में घोर दमन और शोषण का काल था। इसी समय पाकिस्तान के साथ एक अल्पकालिक युद्ध छिड़ा था। इधर, कांग्रेसी शासन के ख़िलाफ़ लोगों में गहरा रोष था। 'पैडी लेवी' जैसे किसान विरोधी नीतियों से, जिसके तहत किसानों पर मनमाना धान वसूली का लक्ष्य तया किया जाता और उसकी हैसियत का ख्याल किये बैगैर वसूला जाता, देने से इनकार करने पर गिरफ्तारी तथा अन्य तरह की ज्यादतियाँ की जातीं—किसानों में भीषण असंतोष था। महँगाई और व्यवस्था के ख़िलाफ़ अन्य नागरिकों एवं विद्यार्थियों में भी घोर असंतोष था। नतीजा था बिहार में प्रदर्शनों और बंदों का एक सिलसिला। बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियाँ और बीच में गोलीबारी आम बात हो गयी थी। इसी पृष्ठभूमि में सरकार के ख़िलाफ़ संघर्ष चलाने के लिए, संयुक्त सोसलिस्ट पार्टी की पहल पर एक संयुक्त संघर्ष समिति बनी थी, जिसमें कम्युनिस्ट पार्टी और हाल में उस से अलग होनेवाले लोगों की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) भी शामिल थी। मुझे इस संघर्ष समिति का संयोजक बनाया गया।

1965 में सारे लोग सक्रिय हो गये और हमें समर्थन मिला विश्वविद्यालय और स्कूलों के छात्रों और शिक्षकों से। व्यापक जन समर्थन के अनुपात में ही दमन शुरू हुआ। आन्दोलन समर्थकों के लिए एक पर्चा निकालना तक कठिन हो गया। प्रेसवाले इतने आतंकित थे कि प्रेस का नाम दे कोई पर्चा निकालने तक से इनकार कर देते। पर्चा बाँटनेवाले को गिरफ्तार कर लिया जाता। लेकिन इस दमन के बावजूद और शायद इस दमन के कारण ही लोगों का समर्थन बढ़ता गया। सैकड़ों वैसे सामाजिक कार्यकर्ताओं को जो कभी भी सोसलिस्ट या कम्युनिस्ट पार्टियों से सम्बद्ध रहे हों उनके घरों से पकड़कर जेलों में बन्द कर दिया गया।

मुझे चूँकि इसमें सक्रिय कार्यकर्ताओं से सम्पर्क बनाये रखना था, इसलिए मैंने गिरफ्तार होने से बचने की कोशिश की। पुलिसवालों को, जो मुज़फ़्फ़रपुर जिले के आंदोलनों की पृष्ठभूमि से अनभिज्ञ थे, यह भ्रम था कि गिरफ्तारी से बचकर मैं इस आंदोलन में विशेष भूमिका निभा रहा हूँ। उन्होंने मुझे गिरफ्तार करने के लिए जगह-जगह छापेमारी की और पहचान के लिए गाँव के चौकीदार को जीप पर जहाँ-तहाँ घुमाया। अंत में कर्पूरी ठाकुर की सलाह पर, जो पटना गाँधी मैदान की पुलिस द्वारा सामूहिक पिटाई के कारण पुलिस हिरासत में ही पटना अस्पताल में थे और मैं वहीं उनसे मिला था; मैं गिरफ्तार हो गया। काफी दिनों तक गिरफ्तार नहीं कर पाने की चिढ़ और आंदोलन में मेरी भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर देखने के कारण, गिरफ्तार करने

के बाद पुलिस प्रशासन मुझे अधिक से अधिक यातनापूर्ण स्थिति में रखना चाहता था और उसका उपाय नजरबन्दी के साथ Symbol 'C' लगाना था, जिससे नजरबन्दी में जो कुछ खाने-पीने, रहने और मुलाकात की सुविधाएँ मिलती हैं, उन्हें ख़तम किया जा सके। वैसे जेल के अधिकारियों को मैं कुछ खास खौफनाक नहीं लगता था और नियमों के बावजूद मुझे बाकी नजरबन्द कैदियों के साथ ही रखा जा रहा था और हम सब अपनी सम्मिलित गोष्ठियाँ चलाते रहते थे। लेकिन Symbol 'C' लगाने के प्रावधान के खिलाफ विरोध प्रकट करना जरूरी था। इसीलिए मैंने आमरण अनशन पर जाने की नोटिस दे दी। पता नहीं अधिकारियों के बीच क्या मंत्रणा हुई। जिस दिन से मेरा अनशन शुरू होना था, उससे एक दिन पहले शाम को मुझे कैद से रिहा कर दिया गया। एक कारण तो शायद यह था कि धीरे-धीरे सैकड़ों की संख्या में दूसरे नजरबन्द कैदियों को छोड़ने का सिलसिला शुरू हो गया था। कुल मिलाकर इस आंदोलन का यह असर जरूर हुआ कि 1967 के विधानसभा चुनावों में मुज़फ़्फ़रपुर जिले में संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के प्रत्याशी 9 स्थानों पर विजयी हुए, जितना पहले कभी नहीं हुए थे।

इसके बाद बिहार में संविद सरकार बनी। पर बिन्देश्वरी मंडल के दल-बदल के कारण यह सरकार गिर गयी और विधान सभा भंग हो गयी। इसके बाद 1969 में फिर चुनाव हुए और संसोपा और इसकी सहयोगी पार्टियाँ फिर सत्ता में आ गयीं। लेकिन धीरे-धीरे समाज परिवर्तन का लक्ष्य गौण हो गया। समाजवादी विचारों को फिर से परीक्षित करने का विचार मेरे ऊपर हावी होने लगा। इसी दबाव में सक्रिय राजनीति से अलग हो 1969 के अक्टूबर में मैं दिल्ली चला गया। तब से मैं ज्यादा समय पढ़ने-लिखने में ही लगा रहा हूँ। जे. पी. आंदोलन के काल में और फिर आपात्काल में समय-समय पर आंदोलनकारियों से सहयोग भी करता रहा, लेकिन यह न्यूनतम था। 1980 में समता संगठन खड़ा करने की पहल में जरूर सक्रिय था और इसका नीति-वक्तव्य तैयार करने की जवाबदेही मुझे दी गयी। इसके बाद से समाजवादी जन परिषद् बनने पर इस संगठन से जुड़ा रहा लेकिन मेरी सक्रियता मुख्य रूप से बौद्धिक क्षेत्र में ही रही।

प्रकाशित पुस्तकें

(1) समाजवाद के बढ़ते चरण, (2) द इन्टर्नल कॉलोनी, (3) सोशलिज्म ॲण्ड पॉवर (4) द बिटर हार्वेस्ट (5) एमरजेन्सी इन पर्सपैक्टिव, (6) द पर्मानेन्ट क्राइसिस ऑफ इंडिया, (7) के आस ॲण्ड क्रिएशन, (8) ॲडवेंचर्स ऑव लिबर्टी, (9) कास्ट सिस्टम : मिथ्स, रियलिटी ॲण्ड चैलेंज (हिन्दी अनुवाद 'जाति प्रथा' से), (10) जिन्दगी सभ्यता के हाशिये पर, (11) कोलिशन इन पॉलिटिक्स, (12) द अनआर्म्ड प्रोफेट, (13) भारतीय राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता, (14) मानव सभ्यता और राष्ट्र-राज्य, (15) संस्कृति विमर्श, (16) संस्कृति और समाजवाद, (17) भूमंडलीकरण की चुनौती, (18) पूँजीवाद का पतझर, (19) पूँजी का अन्तिम अध्याय, (20) वर्तमान विकास की सीमाएँ, (21) नक्सली आन्दोलन का वैचारिक संकट, (22) न्यायी हत्यारे, (23) ए मेनीफेस्टो फॉर सर्वाइवल, (24) समाजवाद की संभावना और (25) उपभोक्तावादी संस्कृति।

ग्राम-पोस्ट–मनिका,
जिला–मुज़फ़्फ़रपुर (बिहार)
पिन–843119, मोबाइल : 09934216663

किशन पटनायक

❑ सुनील और अरविंद मोहन

किशनजी से जब मैं पहली बार मिला, मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय का विद्यार्थी था। किशनजी और उनके जैसे कुछ व्यक्तियों से मिलने के बाद राजनीति के बारे में मेरे विचार बदल गए। इसके पहले आम लोगों की तरह मैं भी समझता था कि राजनीति गन्दी चीज़ है। दुष्ट और बेईमान लोगों का क्षेत्र है। मुझे इससे क्या लेना-देना? लेकिन किशन पटनायक, सच्चिदानंद सिन्हा, रामइकबाल वरसी, जसवीर सिंह, चेंगल रेड्डी जैसे लोगों के संपर्क में आने के बाद राजनीति के प्रति मेरा नज़रिया ही बदल गया। तब समझ में आया कि राजनीति एक मिशन भी हो सकती है। राजनीति एक सपना भी हो सकती है—देश व दुनिया को बदलने और बेहतर बनाने का। बल्कि समाज में सामूहिक रूप से किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप अनिवार्य रूप से राजनीतिक होगा। मुझे पता चला कि राजनीति के साथ एक पूरा विचार एवं विचारधारा के साथ जोड़ भी हो सकता है। राजनीति में वैचारिक लोग भी हैं। समाज के लिए कुछ करने वालों के लिए राजनीति एक अनिवार्य चुनौती है। धीरे-धीरे इसका नशा मुझे चढ़ता गया और पता नहीं कब मेरे जीवन का ध्येय और रास्ता ही बदल गया। मेरे इस रूपांतरण में किशन पटनायक का एक महत्त्वपूर्ण योगदान था।

किशन पटनायक ने पता नहीं ऐसे कितने नौजवानों को प्रभावित या प्रेरित किया होगा। एक ऐसे समय में, जब राजनीति में आदर्शों और मूल्यों का तेजी से लोप होता जा रहा था, किशन पटनायक जैसे नेता व विचारक बहुत बड़े संबल व प्रेरणास्रोत थे।

बहुत कम उम्र में संसद के नौजवान सदस्य बन जाने वाले किशन पटनायक के जीवन का उत्तरकाल इस देश में समाजवादी आंदोलन के पराभव का काल था। समाजवादी आंदोलन, समाजवादी पार्टी, समाजवादी नेताओं और कार्यकर्ताओं की गिरावट को किशन पटनायक ने बहुत नजदीक से देखा, समझा, महसूस किया और व्यथित हुए। इस गिरावट में शामिल होना उन्हें मंजूर नहीं था। इससे व्यथित होकर

चुप बैठ जाना व निष्क्रिय हो जाना भी उन्हें कबूल नहीं था। समाजवादी आंदोलन और समाजवादी विचार को बचाने तथा पुनः स्थापित करने के लिए किशनजी ने लगातार अथक संघर्ष किया। अकेले पड़ जाने की जोखिम उठाकर भी उन्होंने गिरावट की इन प्रवृत्तियों का विरोध किया और चेतावनी दी। उनकी चेतावनियाँ बाद में सच साबित हुईं। यदि उनके साथी उन चेतावनियों पर ध्यान देते, तो शायद इतिहास आज दूसरा होता। 1977 में जनता पार्टी से बाहर रहने वाले वे शायद अकेले समाजवादी नेता थे। लेकिन जनता पार्टी का जो हश्र हुआ उसने किशन पटनायक को सही साबित किया। इस मामले में किशन पटनायक दूरद्रष्टा और निर्मोही थे। वे पहले ही ताड़ लेते थे और मोह छोड़कर पतन की प्रवृत्तियों के खिलाफ संघर्ष में लग जाते थे। लोहिया विचार मंच, छात्र-युवा संघर्ष समिति, समता संगठन, जनांदोलन समन्वय समिति, समाजवादी जन परिषद्, जनांदोलनों का राष्ट्रीय समन्वय, लोक राजनीतिक मंच, चौरंगी वार्ता, सामयिक वार्ता—ये सब उनके लगातार, अथक, आजीवन संघर्ष के प्रमाण हैं। कैसे मृत्युपर्यन्त, शरीर जर्जर हो जाने के बाद भी, अपने मूल्यों और लक्ष्यों के लिए प्रयास किया जा सकता है, हम उनसे सीख सकते हैं। आम तौर पर उम्र बढ़ने के साथ आदमी की नयी पहल करने की क्षमता चुक जाती है। पुराने के साथ उसका मोह हो जाता है। बुढ़ापे में वह कुछ नया कदम उठाने में स्वयं को असमर्थ पाता है। किशन पटनायक इसके एक ज़बरदस्त अपवाद थे।

समाजवादियों की गिरावट पर किशन पटनायक निर्मम प्रहार करते थे। इस मामले में वर्ष 1980 या 1981 का एक प्रसंग मुझे याद है। इन्दौर में समता युवजन सभा का प्रादेशिक शिविर हुआ था, जिसमें मैं भी दिल्ली से आकर शरीक हुआ था। उन दिनों समाजवादियों को फिर से एक करने की बात बहुत चलती थी। कई भोले समाजवादी कार्यकर्ता सोचते थे कि ऐसा हो गया तो चमत्कार हो जाएगा और समाजवादी आंदोलन के सुनहरे दिन लौट आएँगे। शिविर में किसी ने इस विषय में प्रश्न किया। किशनजी ने जो जवाब दिया, वह मेरे दिमाग पर अंकित हो गया, जिसे मैं भी बाद में दोहराता रहा। किशनजी ने एक रूपक पेश करते हुए कहा कि जिस प्रकार से जाति का निर्धारण जन्म से हो जाता है, फिर उस व्यक्ति का कर्म, चरित्र, आचरण या विचार कुछ भी हो, उसकी जाति वही बनी रहती है, उसी प्रकार से समाजवादी होना भी एक जाति बन गया है। जो कभी सोशलिस्ट पार्टी में था, जिसका राजनीतिक जन्म कभी इस पार्टी में हुआ, वह आज चाहे किसी पार्टी में हो, उसका विचार, आचरण और कर्म आज चाहे समाजवादी हो या न हो, वो सारे लोग फिर भी 'समाजवादी' कहलाते हैं। ऐसे 'समाजवादी' न तो एक जगह आ सकते हैं और न उनको एक जगह लाने से कुछ हासिल होगा। किशनजी का यह निष्कर्ष भी सही साबित हुआ। समाजवादियों की गिरावट को बहुत पहले पहचान कर किशनजी अपने कुछ थोड़े से साथियों के साथ समाजवादी आंदोलन को नए सिरे से खड़ा करने

में जुट गए थे। समाजवादी विचार और समाजवादी धारा को इस कठिन समय में जिन्दा रखने का काम किशन पटनायक, सच्चिदानन्द सिन्हा, केशवराव जाधव जैसे लोगों ने किया।

अस्सी के दशक के शुरूआती वर्षों में किशन पटनायक ने 'सामयिक वार्ता' में लोहियावादियों पर एक लेख लिखा। अंग्रेजी में यह लेख 'जनता' में 'आउटगोइंग राममनोहर लोहिया' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। हिन्दी लेख का शीर्षक मुझे अभी याद नहीं है। इस लेख में उन्होंने लोहियावादियों को काफी लताड़ा था। उन्होंने कहा कि लोहिया के अनुयायी आज भी 20 वर्ष पुराने लोहिया के नारों व मुहावरों को दोहराते हैं। इसका मतलब है कि उन्होंने लोहिया के विचार को आत्मसात् नहीं किया है। यदि करते, तो अपनी भाषा और अपने मुहावरों में उनको अभिव्यक्त करते। किशनजी का यह लेख कई लोहियावादी समाजवादी नेताओं को पसंद नहीं आया। किशनजी के समवयस्क समता संगठन के कुछ नेताओं ने भी टिप्पणी की कि किशन स्वयं को लोहिया से बड़ा समझने लगा है। लेकिन किशन पटनायक की यह चेतावनी भी सोलह आने सच साबित हुई। लोहिया के ज्यादातर अनुयायी समाजवादी विचार और राजनीति को पूरी तरह छोड़ते चले गए। लोहियावादियों और समाजवादियों का यह पतन क्यों हुआ, यह एक अनुसंधान का विषय है। लेकिन किशन पटनायक जैसे चंद नेताओं ने इस गिरावट को रोकने का जो अथक संघर्ष किया, वह भी इतिहास में दर्ज हुआ।

लोहिया और किशन पटनायक में कई समानताएँ थीं। लोहिया की भाँति किशन पटनायक भी मूलतः एक विचारक थे और संगठन निर्माण तथा प्रचलित राजनीति में उन्हें बहुत सफलता नहीं मिली। लेकिन अपने विचारों को फैलाने और उनकी अलख जगाने में वे लगातार लगे रहते थे। इसलिए गोष्ठियों, सेमिनारों और शिविरों का आमंत्रण मिलने पर वे मना नहीं कर पाते थे। वे बहुत धीरे-धीरे बोलते थे, और आम सभाओं के लिए वे बहुत अच्छे वक्ता नहीं थे। यह वे खुद कहते थे। हालाँकि सम्मेलनों और आमसभाओं के उनके कुछ जोशीले भाषण सुनने वालों को आज भी याद है।

किशन पटनायक के विचार मूलतः गाँधी और लोहिया से प्रेरित थे, लेकिन नए संदर्भों में नए ढंग से नए रूपकों व उदाहरणों के साथ अपने विचारों को रखने का काम वे बखूबी करते थे। लोहिया उनके गुरु थे, लेकिन अपने लेखों व भाषणों में लोहिया का नाम वे कभी नहीं लेते थे और न लोहिया को उद्धृत करते थे। अलबत्ता गाँधी का जिक्र उनके लेखों में आता है और गाँधी पर उन्होंने बोला व लिखा भी है। 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' की प्रवृत्ति के वे सख्त खिलाफ थे। पर्यावरण और विकास के प्रश्न लोहिया के समय उतने उभरकर नहीं आए थे, लेकिन किशन पटनायक ने इन प्रश्नों पर बार-बार बोला व लिखा और इन्हें समाजवादी विचार का एक केन्द्रीय

हिस्सा बनाया। उनका सबसे अच्छा लेखन विकास व टेकनालॉजी के मुद्दों पर ही है। वैश्वीकरण के ख़िलाफ़ चेतावनी देने वाले सर्वप्रथम लोगों में वे भी एक थे। उनमें एक गजब की अंतर्दृष्टि थी और कई घटनाओं व प्रवृत्तियों को वे पहले ही देख लेते थे। वैश्वीकरण के सम्पूर्ण विरोध का बार-बार आह्वान उन्होंने किया तथा इस बात पर भी जोर दिया कि वैश्वीकरण के विकल्प की बात किए बगैर यह लड़ाई अधूरी और एकांगी रहेगी।

किशन पटनायक मार्क्स के पूरे विरोधी नहीं थे और मार्क्स के विचारों का कुछ असर उनके ऊपर दिखाई देता था। 1977 में 'सामयिक वार्ता' में जयप्रकाश नारायण का साक्षात्कार प्रकाशित किया गया था, जिसमें इस बात को प्रमुखता दी गई थी कि जेपी ने 'वर्ग-संघर्ष' की अनिवार्यता को स्वीकार किया। लेकिन मार्क्सवादियों से बहस चलाना और भारतीय कम्युनिस्टों पर वैचारिक प्रहार करना उनका प्रिय शगल था, हालाँकि कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन कौशल और टिकाऊपन के कुछ पहलुओं की वे तारीफ करते थे और उनसे सीखने का आग्रह करते थे। मार्क्सवादियों के विचारों का खंडन उनके भाषणों में अनायास आता था, जो हमें कभी-कभी अटपटा और अप्रासंगिक लगता था। वे उस युग के थे, जब पूरी दुनिया में विचारधाराओं का द्वन्द्व चल रहा था और अब हम विचारहीनता के युग में जी रहे हैं, जब वैचारिक बहस उत्तरोत्तर कम होती जा रही है। यह भी एक बड़ी चुनौती है, जिसका मुकाबला करने में किशन पटनायक हमारे मददगार हैं।

किशन पटनायक किसान आंदोलन के एक बड़े समर्थक थे। इसे कुलक्न आन्दोलन कहने वालों को उन्होंने काफी फटकारा। अस्सी और नब्बे के दशक के लगभग सभी बड़े किसान आंदोलनों के साथ उनका संपर्क हुआ तथा इन आंदोलनों को वैचारिक आधार देने की सफल-असफल कोशिश उन्होंने की। किसान आंदोलन में वे क्रांतिकारी संभावनाएँ देखते थे। आगे बढ़ने के लिए इसे अनिवार्य रूप से व्यवस्था-परिवर्तन के लक्ष्य के साथ जुड़ना होगा, यह बार-बार कहते थे। संगठित मजदूर, कर्मचारी आदि के आंदोलन संकीर्ण व स्वार्थी हो सकते हैं, लेकिन किसान तो इतना बड़ा तबका है कि उसी के शोषण पर पूरी व्यवस्था टिकी है और पूरी व्यवस्था के आमूल बदलाव के बगैर इसकी मुक्ति संभव नहीं। वैश्वीकरण विरोधी लड़ाई में भी किसान आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होगा, वे मानते थे। शरद जोशी से उनका वैचारिक टकराव बहुत पहले हो गया था और इसी टकराव ने तभी स्पष्ट कर दिया था कि शरद जोशी जैसे नेताओं का असली चरित्र, सोच व इरादे क्या हैं? 16-17 वर्ष पहले नागपुर में किसान संगठनों की अंतरराज्यीय समन्वय समिति की उस बैठक का मैं भी साक्षी हूँ, जिसमें काफी बहस हुई थी। इस बैठक में किशनजी ने किसान आंदोलन के एक वैचारिक आधार की जरूरत को प्रतिपादित किया था और कहा था कि किसान आंदोलन को अपनी उद्योग नीति, शिक्षा नीति, प्रशासन

नीति आदि भी बनाना पड़ेगा। शेतकरी संघटना द्वारा यूकेलिप्टस खेती के समर्थन, गेहूँ व कपास की खेती छोड़ने का आह्वान आदि पर भी बहस हुई थी। शरद जोशी के जीन्सधारी चेलों ने किशनजी की व हमारी बात नहीं चलने दी और कहा कि कृषि उपज का लाभकारी मूल्य ही मुख्य चीज है। वह मिलने लगेगा, तो सब कुछ ठीक हो जाएगा। इसके बाद ही दिल्ली में किसानों की वह ऐतिहासिक रैली हुई, जिसमें टिकैत और शरद जोशी का झगड़ा हो गया। शरद जोशी इसके बाद अलग-थलग पड़ते गए। वैश्वीकरण की जिन नीतियों का समर्थन शरद जोशी कर रहे थे, उनका नतीजा यह निकला कि देश के कई हिस्सों में किसान आत्महत्या के कगार पर पहुँच गए। इतिहास ने एक बार फिर किशन पटनायक को सही साबित किया।

वर्ष 1993 में दिल्ली में डंकल प्रस्ताव के खिलाफ किसानों की ऐतिहासिक रैली के आयोजन में किशन पटनायक की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत के नेतृत्व वाले आंदोलन के साथ भी उन्होंने एक संबंध व संवाद बनाने की कोशिश की, लेकिन ज्यादा सफलता नहीं मिली। 'टिकैत और प्रोफेसर' शीर्षक लेख उन्हीं दिनों लिखा गया। कर्नाटक के रैयत संघ और प्रो. नन्जुन्दास्वामी से तो उनका लगातार गहरा संबंध रहा। किशन पटनायक ने स्वयं किसी बड़े किसान आंदोलन का नेतृत्व नहीं किया, लेकिन बाद के वर्षों में स्वयं उनके क्षेत्र में लिंगराज, गौरचन्द्र खमारी, अशोक प्रधान जैसे युवा कार्यकर्ताओं की टीम सक्रिय होने के बाद पश्चिम उड़ीसा का एक जोरदार किसान आंदोलन अँगड़ाई ले रहा है। इसके प्रेरणास्रोत भी किशन पटनायक हैं।

आधुनिक पूँजीवादी विकास की विसंगतियों में उड़ीसा में और पूरे देश में पिछले तीन दशक में अनेक स्वतः स्फूर्त जन-आन्दोलन पैदा हुए, जिनमें किसान आंदोलन के अतिरिक्त आदिवासियों, दलितों, विस्थापितों, विद्यार्थियों, पिछड़े इलाकों आदि के अनेक आंदोलन उभरकर सामने आए। यह समय एक प्रकार से विचारधारा पर आधारित समाजवादी और कम्युनिस्ट धाराओं के पराभव का तथा इन छोटे-छोटे जनांदोलनों के उदय होने का समय था। नए आदर्शवादी नौजवान इन्हीं की ओर ज्यादा आकर्षित हुए। लेकिन वैचारिक-राजनीतिक दृष्टि की कमी और संपूर्णता तथा व्यापकता का अभाव इनका एक प्रमुख दोष रहा है, जिसके कारण वे ज्यादा स्थायी असर नहीं छोड़ पा रहे हैं। किशन पटनायक ने समय के इस प्रवाह को पहचानकर इन जनांदोलनों के साथ आत्मीय रिश्ता बनाया और इनको व्यवस्था-परिवर्तन की सोच, राजनीति व रणनीति से जोड़ने की काफी कोशिश की। इस कोशिश में कितनी सफलता मिली है, यह तो समय ही बताएगा, लेकिन इस दिशा में गंभीरता से प्रयास करने वाले प्रमुख नेता-विचारक वे ही रहे हैं।

अपने वैचारिक अभियान के तहत ही किशन पटनायक ने इस युग के एक और प्रमुख प्रश्न पर अपने विचार प्रखरता व मजबूती से रखे। साम्प्रदायिकता व

धार्मिक कट्टरता का विरोध करते हुए 'सेक्युलरवाद' पर भी उन्होंने प्रहार किए। साम्प्रदायिकता का जवाब आधुनिक पश्चिमी धर्म-विरोधी दृष्टि में खोजने के बजाय हमारी परंपरा, संस्कृति और राष्ट्रीयता में खोजने का आह्वान उन्होंने किया। आम वामपंथियों से उनके इस मामले में गहरे मतभेद थे। स्वयं नास्तिक होते हुए भी वे न तो धर्म का पूरी तरह विरोध करते थे, न राष्ट्रीयता की भावना को गलत मानते थे और न ही भारत राष्ट्र की संकल्पना को प्रगतिगामी मानते थे। बल्कि साम्प्रदायिकता, साम्राज्यवाद और वैश्वीकरण के खिलाफ लड़ाई में राष्ट्रीयता और देशप्रेम एक महत्त्वपूर्ण औजार होंगे, ऐसा वे मानते थे। साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ाई शून्य में अमूर्त ढंग से नहीं हो सकती। यह अनिवार्य रूप से राष्ट्र मुक्ति के संघर्ष का रूप लेती है, यह इतिहास का भी अनुभव है।

लेकिन राष्ट्रवादी होते हुए भी अंध राष्ट्रवाद या उग्र राष्ट्रवाद उन पर हावी नहीं हो पाया। असम आंदोलन, उत्तर-पूर्व, उत्तर-बंग, कश्मीर और पंजाब के मसले जब सामने आए, तो देश दो हिस्सों में बँट गया। एक बड़ा हिस्सा मानता था कि ये आंदोलन देश को तोड़ने वाले हैं, विदेशी साम्राज्यवादी साजिश का हिस्सा हैं और इनका सख्ती से दमन कर देना चाहिए। इन इलाकों में फौजी बलों द्वारा ज्यादतियों और मानव अधिकारों के हनन को भी ऐसे लोग बिल्कुल अनदेखा कर देते थे लेकिन किशन पटनायक, सच्चिदानन्द सिन्हा और जसबीर सिंह जैसे लोगों ने पूरे मामले को अलग दृष्टि से देखने में मदद की। उन्होंने बताया कि कैसे पूँजीवादी विकास के कारण उपजी क्षेत्रीय विषमता, पिछड़ापन, सत्ता का केन्द्रीयकरण, केन्द्रीय सत्ता का अहंकार और क्षुद्र राजनीति ने इन इलाकों की जनता में तीव्र असंतोष को जन्म दिया और बढ़ाया। बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता ने भी उसमें मदद की। इन क्षेत्रीय आंदोलनों तथा उग्रवाद को विदेशी मदद हो सकती है, लेकिन यह इसका मूल कारण नहीं है। फौजी दमन से ये समस्याएँ सुलझेंगी नहीं, बल्कि और गंभीर होती जाएँगी। समता संगठन के अंदर भी इस मुद्दे पर बहस हुई और एक दृष्टि बनी। इस दृष्टि के कारण ही उत्तर-बंग जैसे आंदोलन को देश के अंदर समर्थन मिल पाया और वे समता संगठन तथा समाजवादी जनपरिषद् के साथ जुड़े। असम आंदोलन के समर्थन में दिल्ली से गुवाहाटी तक की साइकिल यात्रा और पंजाब के प्रश्न पर दिल्ली से अमृतसर तक पैदल मार्च का आयोजन भी क्रमशः 1983 एवं 1984 में किया गया। बाद में कश्मीर की स्थिति गंभीर होने पर अशोक सेकसरिया ने 'सामयिक वार्ता' में एक लंबा शोधपरक लेख लिखा, जो कश्मीर की गुत्थी को समझने में काफी मदद करता है। जनांदोलन के राष्ट्रीय समन्वय की बैठक थी या समाजवादी जनपरिषद् की, मुझे याद नहीं, उसमें एक बार किशनजी ने भी कश्मीर समस्या का बहुत अच्छा विश्लेषण रखा। इन मसलों पर बाकी वामपंथियों से मतभेद भी सामने आए। मुझे याद है कि मधु लिमये और गणेश मंत्री जैसे समाजवादी विचारक मानते थे कि ये

सारे क्षेत्रीय आन्दोलन क्षेत्रीयतावादी, पृथकतावादी, विदेशी शक्तियों से प्रेरित तथा राष्ट्रीय एकता के लिए घातक हैं। बंगाल की सत्ता पर काबिज कम्युनिस्ट पार्टियाँ तो असम और उत्तर बंगाल के आंदोलन को विच्छिन्नतावादी और 'शाविनिस्ट' मानती ही थीं, ताकि वे स्वयं बंगालियों की संकीर्ण भावनाओं का लाभ वोटों में ले सकें।

अस्सी के दशक में शुरू में सच्चिदानंद सिन्हा ने 'आंतरिक उपनिवेश' की अवधारणा पर एक लंबा परचा लिखा। देश के विभिन्न आंदोलनों को समझने और एक सूत्र में जोड़ने की वैचारिक दृष्टि इससे मिलती है। किशन पटनायक की भी यही दृष्टि थी। किशनजी और सच्चिदानन्दजी में काफी वैचारिक साम्य रहा। विकेन्द्रीकरण, विकास, तकनालाजी, साम्प्रदायिकता, निःशस्त्रीकरण, वैश्वीकरण, आरक्षण, जातिवाद, देश की राजनीति आदि पर दोनों ने मामूली मतभेदों को छोड़कर, एक ढंग से चीजों को देखा। उनकी दृष्टि मूलतः गाँधी व लोहिया की दृष्टि है, लेकिन मार्क्स और आम्बेडकर का भी कुछ असर दिखाई देता है। समाजवादी विचार को आगे बढ़ाने में दोनों का योगदान महत्त्वपूर्ण माना जाएगा।

किशन पटनायक ने अपने लेखन व भाषणों में देश के बुद्धिजीवियों को बार-बार संबोधित किया। उन्हें लताड़ा भी, आह्वान भी किया। 'प्रोफेसर से तमाशगीर' उनका जबरदस्त लेख है। भारतीय बुद्धिजीवियों के 'गुलाम दिमाग में छेद' तो एक मुहावरा बन चला है। शास्त्रों और सामाजिक विज्ञान को नए ढंग से लिखने, गुलामी की विरासत से मुक्त कराने और हमारी मुक्ति के संघर्ष में सहायक बनाने का आह्वान उन्होंने किया। मीडिया को भी लताड़ते थे। उन्होंने मीडिया को खुश करने की कोशिश कभी नहीं की और न ही आधुनिक नेताओं व एक्टीविस्टों जैसा मीडिया प्रबंध किया। दलितों, आदिवासियों, महिलाओं, गरीबों तक राजनीति को ले जाने, उन्हें संगठित करने, उनका नेतृत्व उभारने की जरूरत उन्होंने प्रतिपादित की। उनके नेतृत्व में 1980 में समता संगठन के साथियों ने जमीनी राजनीति करने और सघन क्षेत्र बनाने का निश्चय किया, जो जनता पार्टी की शिखर व हवाई राजनीति के अनुभव का एक जवाब था। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में मध्यम वर्ग के कार्यकर्ताओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण होगी, यह भी वे मानते थे। इसलिए मध्यम वर्ग को संबोधित करने और उद्वेलित करने में भी वे लगे रहते थे।

विचारों में किशन पटनायक जितने कट्टर थे, राजनीतिक व्यवहार और संगठन के मामलों में काफी दक्ष और उदार थे। संगठन की कमेटियों की बैठकों और शिविरों में वे कम तथा सारगर्भित बोलते थे और उन्हें उत्तेजित या क्रोधित होते हुए बहुत कम देखा गया। अन्य समाजवादियों तथा बड़े राजनीतिक दलों के प्रति वे काफी आलोचक रहे। लेकिन जीवन के उत्तर काल में वे अन्य समाजवादी समूहों, जन-संगठनों और जन-आंदोलनों के साथ ज्यादा मेलजोल हो तथा देश में कोई बड़ा आंदोलन खड़ा हो, कोई बड़ा माहौल बने, बड़ी राजनीतिक धारा बने—इसके समर्थक थे। अन्य

समूहों व संगठनों की गलत बातों को वे नजरअंदाज कर रहे हैं, ऐसा मेरे जैसे कुछ साथियों को कभी-कभी लगता था और झुँझलाहट होती थी। जून 2004 में उनके भोपाल प्रवास के दौरान उनसे इस विषय पर चर्चा हुई। बाद में उन्होंने एक लंबा पत्र मुझे लिखा।

सांसारिक पैमानों पर नापें, तो किशन पटनायक एक असफल व्यक्ति थे। देश में कोई बड़ा जन-आंदोलन वे नहीं खड़ा कर पाए, देश को हिला नहीं पाए, बड़ी वैचारिक हलचल भी वे पैदा नहीं कर पाए। पिछले 9 वर्षों से जिस राजनीतिक दल 'समाजवादी जन परिषद्' की स्थापना उन्होंने अन्य साथियों के साथ मिलकर की, उसे भी अपेक्षित सफलता नहीं मिल पाई है। उनके कई अनुयायी और साथी उन्हें छोड़कर चले गये, कई तो मुख्य धारा की राजनीति में चले गए। शिवानन्द तिवारी, नीतिश कुमार, भक्त चरण जैसों की एक सूची है। लेकिन किशनजी की खूबी यह थी कि वे निराश नहीं हुए, अपने रास्ते से डिगे नहीं, 'एकला चलो' की हिम्मत उनमें थी और वे नए व युवा साथी खोजते हुए 'चरैवेति-चरैवेति' के सूत्र का पालन करते रहे।

फिर सफलता-असफलता का पैमाना क्या है, यह भी सोचना पड़ेगा। किशन पटनायक तो उन महान् व्यक्तियों में से हैं, जिनके कृतित्व, व्यक्तित्व और विचारों का असर उनकी मृत्यु के बाद भी रहता है। उनके योगदान का फैसला सिर्फ उनके जीवनकाल से नहीं हो सकता। वैसे देखें, तो मार्क्स, गाँधी, लोहिया और जयप्रकाश को भी असफल माना जा सकता है। इन सबने अपना कर्तव्य पूरा किया और इतिहास पर अपनी छाप छोड़ी है। किशन पटनायक भी मृत्युपर्यन्त अपने मिशन और लक्ष्य में लगे रहे। अपना काम उन्होंने बखूबी व मुस्तैदी से किया। यह अब उनके बाकी साथियों, बाकी समाज, देश और दुनिया के ऊपर है कि वे उनके जैसे महापुरुष का कितना उपयोग कर पाते हैं और उनके मार्गदर्शन व विचारों की विरासत का कितना लाभ उठा पाते हैं।

किशन पटनायक क्यों मुख्य धारा की राजनीति में नहीं चल पाए और मीडिया में लोकप्रिय क्यों नहीं हो पाए? किशन पटनायक तो मुख्य धारा से बगावत करने वाले और उसे मोड़ने का हौसला रखने वाले योद्धा थे। वे उस वैद्य की तरह थे जो बीमार समाज को स्वस्थ बनाने के लिए कड़वी दवा देना चाहते थे। यह दवा बहुतों को पसंद नहीं आती थी, लेकिन आज या कल इस कड़वी दवा को पीने से ही समाज स्वस्थ हो पायेगा।

प्रश्न को पलटकर राजनीति और मीडिया से भी पूछना पड़ेगा कि तुम किशन पटनायक जैसे मनीषी, कर्मयोगी, विचारक, योद्धा और महात्मा के लायक क्यों नहीं बन पाए और उनको अपने अंदर स्थान क्यों नहीं दे पाए? यह प्रश्न बार-बार पूछेंगे और इसका जवाब खोजेंगे, तो ही शायद दुनिया को बदलने का रास्ता खुलेगा और किशन पटनायक जैसे मनीषियों की मेहनत सफल हो सकेगी।

संक्षिप्त जीवन-वृत्त

साधारण में असाधारण और असाधारण में साधारण। किशनजी के जीवन को इस तरह सूत्र रूप में कहा जा सकता है। पूरी जिन्दगी राजनीति में गुजारी पर अपनी शर्तों से जरा भी न हटे। जिस राज्यपाल पद के लिए बुजुर्ग नेता तरसते हैं, उसके प्रस्ताव को एक व्यंग्यभरी मुस्कान से ठुकरा दिया। इतने बड़े आदमी होकर भी किसी चीज़ का नखरा नहीं; न खाने का, न पहनने का, न यात्रा के लिए विशेष क्लास का, न ठहरने की सुविधाओं का, न भाषण के लिए भीड़ का, न आन्दोलन के लिए पहले से हुए काम का। जहाँ मुद्दा सही लगा, वहाँ गये, हर हाल में गये, हर परेशानी उठाकर गये। मोपेड की पिछली सीट से लेकर बस तक हर सवारी की और अनेक बार जान की जोखिम उठायी।

किशन पटनायक 30 जून, 1930 को कालाहाँडी रजवाड़े के दीवान चिन्तामणि पटनायक के घर पैदा हुए थे। आठ भाई-बहन थे। एक भाई एम. जगन्नाथ बाद में कांग्रेस नेता और ओड़िसा राज्य के मंत्री भी हुए। प्रारंभिक शिक्षा काशीपुर के टाट-पट्टी स्कूल में। हाई स्कूल जन्मस्थान भवानी पटना से 1946 में। इंटर बलंगीर के राजेन्द्र कॉलेज से, यहीं 9 अगस्त, 1946 में राष्ट्रध्वज फहराने का आन्दोलन किया। बी. ए. और एम. ए. करने के लिए नागपुर आ गये। राजनीति शास्त्र में एम. ए. किया, नागपुर के संघी वातावरण से ऊबे, कविताएँ लिखीं, चित्रांकन किया। 1951 में भवानी पटना आकर, उसी स्कूल में मास्टर हो गये। देशी रियासतों के भारत गणराज्य में विलय के आन्दोलन से जुड़े। यह आंदोलन कांग्रेस नहीं, प्रजा समाजवादी चला रहे थे, इसी के दलित नेता प्रदेशी नायक उनके पहले राजनीतिक 'उस्ताद' हुए। पर परिवार की राजशाही के चरण-धोने की तैयारी की प्रतिक्रिया में घर से भागकर मद्रास पहुँच गये। वहाँ रेलवे में नौकरी की और समाजवादियों के सम्पर्क में आये, समाजवादी नेता सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी से भेंट हुई। वे उन्हें अपने साथ कटक ले गये और किशनजी पार्टी की उड़िया पत्रिका 'कृषक' निकालने लगे। पार्टी दफ्तर में रहते हुए पौष्टिक भोजन के अभाव और सिगरेट की लत ने स्वास्थ्य चौपट कर दिया, दमा साथ लग गया। बाद में सिगरेट छोड़ दी पर दमे से छुटकारा जीवन भर नहीं हुआ। 52 के चुनाव के बाद संबलपुर में पार्टी के पूर्वकालिक कार्यकर्ता के रूप में किसानों के संगठन का काम करने लगे। तभी पार्टी महासचिव डॉ. राममनोहर लोहिया ने केरल समाजवादी सरकार द्वारा प्रदर्शनकारियों पर गोरीबारी के बाद अपने ही मुख्यमंत्री थानुपिल्ले का इस्तीफा माँग लिया और पार्टी दो फाड़ हो गयी। ज्यादातर पुराने नेता प्रसोपा में बने रहे, लेकिन लोहिया और मधु लिमये ने नौजवानों के साथ नयी सोशलिस्ट पार्टी गठित कर ली। किशनजी लोहिया के साथ बने रहे। 'द मैन काइन्ड' में उनकी कुछ टिप्पणियाँ छपीं और लोहिया ने उसके सम्पादन के लिए उन्हें हैदराबाद बुला लिया।

वहीं से हिन्दी 'जन' निकाला। थोड़े दिन बाद संबलपुर आ गये और प्रदेश पार्टी में सक्रियता के साथ ओड़िया पत्रिका 'साथी' निकाली। सुनारों, कुम्हारों, लुहारों आदि कारीगरों पर नया टैक्स लगाया गया, सोपा ने जबरदस्त विरोधी आन्दोलन चलाया। किशनजी गिरफ्तार कर लिये गए, पर जन-समर्थन इतना मिला कि जेल में रहते हुए ही 1962 का लोकसभा चुनाव जीत गये। बाद में लोहिया और मधु लिमये भी उपचुनाव जीतकर संसद में आ गये। सोशलिस्टों की छोटी-सी टोली ने संसद में बहसों का स्वरूप ही बदल दिया। 1966 में समाजवादी युवाजन सभा के अध्यक्ष चुने गये। सांसद और युवजन सभा के अध्यक्ष के रूप में उनके कार्यकलापों की देश-दुनिया में धूम मची—'टाइम' ने भाषण छापा। 67 में कुछ सौ वोट से लोक सभा का चुनाव हार गये। 69 में वाणी मंजरीदास से बच्चे पैदा न करने की सहमति के साथ विवाह किया। लोहिया के निधन के बाद, संविद सरकारों में शामिल पार्टी के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पतन को वे ज्यादा दिन नहीं सह सके। उन्होंने पार्टी को अलविदा कहा और लोहिया के कुछ सिद्धान्तवादी साथियों—इन्दुमती केलकर रमा मिश्र, केशवदास जाधव, ओम प्रकाश दीपक आदि—के साथ लोहिया विचार मंच बनाया। 1974 के बिहार आन्दोलन में उसने सक्रिय योगदान दिया। इसी दौर में 'चौरंगी वार्ता' का प्रकाशन हुआ। इमरजेन्सी में भूमिगत होकर अलख जगाते रहे, पर 76 में गिरफ्तार हो गये। अन्य समाजवादियों की तरह जनता पार्टी में शामिल नहीं हुए, 'सामयिक वार्ता' निकाली। 1980 में 'समता संगठन' बनाया। धनबाद के कोयला मज़दूरों के साथ काम किया। उत्तर बंग तफसीली जाति संगठन, कर्नाटक रैयत संघ, छात्र संघर्ष वाहिनी, नर्मादा बचाओ आन्दोलन, महाराष्ट्र के समाजवादी समूहों और सिद्धराज ढड्ढा, दलाई आदि को लेकर 1991 में जनान्दोलन समन्वय समिति और 1997 'जनान्दोलनों का राष्ट्रीय समन्वय' बनाया। इस बीच प्रतिबद्ध क्रान्तिकारियों की एक राजनीतिक पार्टी 'समाजवादी जन परिषद्' भी 1995 में बनायी। निरन्तर 35 वर्षों तक कार्यकर्ता-निर्माण और प्रशिक्षण का काम किया। 27 सितम्बर, 2004 के दिन 74 वर्ष की आयु में भुवनेश्वर में निधन हुआ।

बासव प्रेमानन्द

प्रेमानन्द का जन्म फरवरी 17, 1930 ई. को केरल के कोज़ीकोड में हुआ था। उनके पिता थियोसोफिकल सोसाइटी के अनुयायी थे।

मात्र 10 वर्ष की आयु में सन् 1940 ई. में वे स्वतंत्रता आन्दोलन में शामिल हो गए और पारंपरिक स्कूली पढ़ाई छूट गई। अब वे श्री स्टेला गुरुकुल में रहने लगे, जो शांतिनिकेतन किस्म का नया आवासीय स्कूल था। यहाँ उन्होंने 7 साल बिताए। सन् 1975 ई. में 45 वर्ष की आयु में उन्होंने पहली बार भारत के एक धर्मगुरु सत्य साईं बाबा को सार्वजनिक तौर पर झूठा कहा और बाद का सारा जीवन उन धर्मगुरुओं को झूठा व दोषी साबित करने में लगा दिया, जो स्वयं को दैवीय शक्तियों से सम्पन्न बताते थे या ऐसी शक्तियों का प्रदर्शन किया करते थे। प्रेमानन्द ने स्वयं को एक शौकिया जादूगर के रूप में प्रतिष्ठित किया। वे अपने जादुई कार्यों से धर्मगुरुओं व दैवीय शक्तिधारियों के करतबों को मिथ्या साबित करते थे। अंग्रेज फ़िल्मकार राबर्ट ईगल ने उन पर 'गुरु बस्टर्स' नाम की डॉकूमेंट्री बनाई। इसमें गुरुओं व दैवत्वधारी व्यक्तियों के करतबों, यथा—हवा में उठने, सुइयाँ चुभोने, जीवित समाधि लेने के करतबों के वैज्ञानिक सिद्धांतों का प्रदर्शन किया गया था।

सन् 1976 ई. के बाद उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध निशाना 'सत्य साईं बाबा' थे। सन् 1986 ई. में 500 स्वयंसेवकों के साथ साईं बाबा के पुट्टापार्थी आश्रम की तरफ कूच किया। पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। बाद में उन्होंने साईं बाबा पर ढोंग करने व स्वर्ण नियंत्रण कानून के उल्लंघन का मुकदमा दायर किया। मजिस्ट्रेट ने मुकदमा खारिज कर दिया।

महाराष्ट्र में सन् 1982-87 ई. में विज्ञान यात्रा (वैज्ञानिक विचारधारा प्रचार कार्यक्रम) व जन विज्ञान जत्था कार्यक्रम प्रदेश स्तर पर आयोजित हुए। प्रेमानन्द ने इन कार्यक्रमों में सतत व सक्रिय भागीदारी की। बाद में उन्होंने फेडरेशन ऑफ इण्डियन रेशनलिस्ट एसोसिएशन्स की स्थापना की। इस संस्था का काम देश भर में गाँव-गाँव जाकर धर्मगुरुओं तथा सन्तों आदि के ढोंग व करामातों की सच्चाई

बताना तथा उनके 'दिव्यशक्ति' के प्रदर्शन को नंगा करना था। उन्होंने 'द इण्डियन स्केप्टिक' मासिक पत्रिका की भी स्थापना की। इसका काम उन भारतीय घटनाओं का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करना है, जो ऊपर से देखने पर दैवीय लगती हैं।

बी. बी. सी. ने प्रेमानन्द को गुरु-भंजक नाम दिया था। भारत सरकार ने उन्हें आम जनता में विज्ञान के प्रसार के लिए अपने सर्वोच्च पुरस्कार से नवाज़ा।

सन् 1963 ई. में अब्राहम कोवूर ने घोषणा की कि तथाकथित दैवीय शक्ति की प्रामाणिकता सिद्ध करने वाले को वे एक लाख रुपये का पुरस्कार देंगे। इनके जीवनकाल में कोई सिद्धकर्ता सामने नहीं आया। वे सन् 1978 ई. में दिवंगत हुए तो उनके संकल्प को प्रेमानन्द ने दोहराया। उन्हें भी कोई ग्राहक नहीं मिला। सन् 2009 ई. की 4 अक्तूबर को 79 वर्ष की आयु में उनका निधन हो गया।

पुस्तकें (अंग्रेज़ी)

1. साइंस वर्सेस मिरैकिल्स
2. ल्योर ऑफ मिरैकिल्स
3. डिवाइन ऑक्टोपस
4. द स्टार्म ऑफ गॉडमेन, गॉड ॲण्ड डायमंड स्मगलिंग
5. सत्य साईं ग्रीड
6. सत्य साईं बाबा ॲण्ड गोल्ड कन्ट्रोल एक्ट
7. सत्य साईं बाबा ॲण्ड केरलाज लैंड रिफार्म्स एक्ट
8. इनवेस्टीगेट बाल योगी
9. यूनाइटेड फ्रंट—एफ आई आर ए सेकण्ड नेशनल कॉन्फ्रेंस
10. मर्डर्स इन साईं बाबाज़ बेडरूम
11. ए. टी. कोवूर (ओक्टोजेनरी सुविनायर)

मलयालम

1. साईं बाबायुदे कलिकाल
2. साईंदासिकाल देवदासिकाल

गीतेश शर्मा

❑ बक़लमे ख़ुद

मैं एक अत्यंत रूढ़िवादी धार्मिक परिवार में पैदा हुआ। चूँकि मैं पैदा 1932 में जन्माष्टमी की रात ठीक बारह बजे हुआ था। इसलिए मेरा नाम दादी ने कन्हैया रखा। बाद में मैंने उसे बदलकर गीतेश रखा।

मेरी मान्यता है कि कृष्ण एक मिथकीय चरित्र हैं। पर मथुरा, वृंदावन से जुड़ी उनकी रोमांटिक मिथकीय छवि मुझे रोमांचित ही नहीं करती, उससे बहुत कुछ जीवन में मैंने ग्रहण भी किया। आज भी कृष्ण मेरे चहेते हैं।

दो-अढ़ाई साल की उम्र में मेरी माँ अपने भाई, मेरे मामा से मिलने गईं। उनके 16 वर्षीय एकमात्र पुत्र की मृत्यु हो गई थी। मामा ने माँ को कहा—इसे यहाँ रख जाओ, मेरा पोष्यपुत्र होगा। मामा अमीर थे, माँ बहुत गरीब। फिर मामा का जबर्दस्त रोब था पूरे परिवार पर। माँ 'ना' नहीं कर पाईं। अढ़ाई वर्ष की उम्र से मैं मामा के संरक्षण में आ गया। 2-3 साल मैं बहुत लाड़-प्यार में पला। इसी बीच मामा की इकलौती बेटी के बेटा हो गया तो मामा का सारा लाड़-प्यार अपने नाती पर केन्द्रित हो गया। मैं उपेक्षित हो गया।

मामा पेशागत पुरोहिताई करते थे तथा वैद्य थे। दोनों धंधे ठीक-ठाक चलते थे। उनकी इच्छा हुई कि मैं वंश परम्परा का निर्वाह करूँ। लिहाजा पढ़ाई छुड़वा कर पुरोहिताई पर लगा दिया।

पारिवारिक मंदिर में सुबह-शाम पूजा-आरती करना, दीपावली में जजमानों के नये खाते के अवसर पर गणेश-लक्ष्मी की पूजा करना, घरों में सत्यनारायण की कथा बाँचना, जजमान के परिवार में कोई मृत्यु हो जाने पर गरुड़-पुराण बाँचना आदि मेरे कार्य थे। हालाँकि यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता था, पर मामा के सामने कुछ बोलने की हिम्मत मुझमें नहीं थी। हाँ, मैं धर्मभीरु था। ईश्वर, देवी-देवताओं में मेरा अटल विश्वास था। नियमित रूप से दुर्गा सप्तशती, हनुमान चालीसा का पाठ करता था। पर सत्यनारायण की कथा बाँचते-बाँचते, गरुड़-पुराण पढ़ते-पढ़ते एक विरक्ति का भाव-सा जागृत होने लगा। मुझे लगा कि सत्यनारायण की कथा में तो वह मूल

कथा ही नहीं है जिसको पढ़ने, बाँचने या सुनने से पुण्य अर्जित होता है, मनोकामना पूर्ण होती है।

इसी प्रकार गरुड़ पुराण का लक्ष्य विशुद्ध रूप से जजमानों में भय पैदा कर ज्यादा से ज्यादा भौतिक लाभ अर्जित करना मात्र है। चाँदी-सोना, कपड़े-लत्ते से लेकर सुस्वादु भोजन व दक्षिणा दो तो मृतक सीधे स्वर्ग जायेगा, वरना उसकी आत्मा योनि-योनि भटकती रहेगी और अंततः नरक में जा गिरेगी।

हमारे गाँव में बिजली नहीं थी, नाम के लिए सड़क थी, पर एक पुस्तकालय था—अग्रवाल युवक पुस्तकालय। फुर्सत के वक्त वहाँ जाकर पुस्तकें पढ़ता, सदस्य की हैसियत से घर लाकर भी पढ़ता। पढ़ने का नशा-सा हो गया था। भगतसिंह का लंबा लेख 'मैं नास्तिक क्यों हूँ?' राहुल सांकृत्यायन की 'भागो नहीं दुनिया बदलो', 'तुम्हारे धर्म की क्षय'। यशपाल की पुस्तक 'गाँधीवाद की शव-परीक्षा',' चक्कर क्लब' आदि पढ़ ही नहीं गया, पी गया। इसके साथ कम्युनिस्टों की 'बुरी संगत' में आ गया।

यहाँ यह बता दूँ कि उस वक्त के कम्युनिस्ट और आज के कम्युनिस्ट में जमीन-आसमान का फर्क है। सच तो यह है कि आज के कम्युनिस्ट केवल लफ्फाजी में कम्युनिस्ट हैं, जीवन शैली में पक्के सामंती बुर्जुआ।

उस वक्त के कम्युनिस्टों में क्रांति का जज्बा था, उनकी जुझारू जीवन शैली की वजह से समाज में अलग पहचान थी। जनता के हित के लिए लड़ने-मरने को तैयार, दलितों-मुसलमानों के घर खान-पान में उन्हें रत्तीभर भी परहेज नहीं था। इसके लिए वे समाज-परिवार से बहिष्कृत से थे, पर आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

मार्क्सवादी साहित्य पढ़ना। नियमित रूप से पढ़ने-लिखने को लेकर, समाज, देश की परिस्थितियों को लेकर बहस-मुबाहसा होता। मैं भी उनमें शामिल हो गया।

अजीब द्वन्द्व की स्थिति थी।

पूजा-पाठ भी चलता रहा। मामा परेशान कि किस कपूत को पोष्य-पुत्र का दर्जा दे दिया। रोज डाँट-डपट, कभी-कभी थप्पड़ों से स्वागत। मेरी जन्मदात्री माँ और अपनी बहन का नाम लेकर कहते, उसके पैदा किए सपूत कहाँ से होंगे।

मेरी ममेरी बहन के एक के बाद एक कई सन्तानें हुईं। बेटे-बेटियाँ। मामा का सारा लाड़-दुलार उनके लिए, मेरे लिए अवहेलना, डाँट-फटकार। माँ बेचारी सीधी-सादी अँगूठा छाप। आये दिन गाली-गलौज, पिटाई के बावजूद पति में परमेश्वर का रूप देखतीं और नरक में जाने के भय से जी-जान से उनकी सेवा करतीं। पर मुझसे भी लाड़-प्यार करतीं। हाँ, सबसे ज्यादा मेरी बुआ मुझे चाहती थीं। रूठने पर माँ मनाते-मनाते थक जातीं तो हार मान लेतीं। पर बुआ, क्या मजाल जो मनाये बगैर और मुझे खिलाये बगैर मुँह में एक दाना भी डालें। मेरी जिद उसके सामने हार मान जाती।

इसी बीच एक ऐसी घटना घटी जिसने मेरी आँखें खोल दीं और अंततः भाग्य-भगवान से मुझे पूरी तरह मुक्त कर दिया।

मेरा एक अभिन्न मित्र था, जिसकी गंजी की दुकान थी। एक दिन हम बैठे

गप्पें लगा रहे थे कि एक ग्राहक आया और उसने बारह आने में गंजी खरीदी। वह चला गया तो मित्र ने देखा कि अठन्नी नहीं मिल रही। उसने मुझसे पूछा—तुमने ली है क्या? मैं अवाक् कि यह क्या कह रहा है। उसने बाकायदा मेरी तलाशी ली। मैं अपमान की अग्नि में झुलसता घर आया। उस रात खाना भी नहीं खाया गया।

मैंने तय किया कि रातभर हनुमान चालीसा का पाठ करूँगा तथा दूसरे दिन दुकान खुलते ही उसके पास जाऊँगा। हनुमानजी जरूर मेरा उद्धार करेंगे तथा उसकी अठन्नी दुकान में कहीं गिरी मिल जाएगी। रातभर हनुमान की शरण में रहा। पूरे मन से, पूरे (अंध) विश्वास के साथ।

दूसरे दिन दुकान खुलते ही पहुँचा। मित्र को पूरे विश्वास के साथ कहा, ठीक से देख लो अठन्नी यहीं कहीं है। मित्र ने वही किया। एक-एक कोना देखा। अठन्नी को न मिलना था, न मिली। मैं हतप्रभ। यह क्या? हनुमान अपने भक्त की लाज नहीं बचा सके।

वह पहला और आखिरी दिन था मैंने भाग्य, भगवान और परिवार को तिलांजलि दी और सम्पत्ति का मोह त्याग मात्र पाँच सौ रुपये लेकर 1950 में कलकत्ता चला आया। तब से यह मेरी कर्मस्थली रही है।

मैं बचपन से सपने देखता था। घर में, बाहर अवहेलना मिलती रही। मामा कहते—कुलंगार है, भीख माँगेगा। गाँव में ब्राह्मण की इज्जत तो होती पर उसे माँगने-खाने वाला कहा जाता था। मैं जब किसी से सपने की बात करता तो वह मजाक उड़ाता हुँह, लेखक बनेगा, देश-विदेश की सैर करेगा? शेखचिल्ली के सपने देखना बंद करो, वरना पछताओगे। पर मैं सपने देखता रहा। लेखक बना, देश-विदेश की भी सैर की और राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय गोष्ठियों में शिरकत भी की।

हाँ—एक सपना अधूरा रह गया। सड़ी-गली व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के लिए क्रांतिकारी बनना चाहता था, वह अपनी कमजोरियों से न कर पाया, न कर पाऊँगा, जबकि मेरी यह दृढ़ मान्यता है कि इस जनविरोधी सड़ी-गली व्यवस्था को एक सुविचारित आदर्श-सिद्धांत के तहत क्रांति के बिना बदलना कतई संभव नहीं।

अपनी न्यूनतम सुविधा को बनाए रखने के लिए मुझे यदा-कदा समझौते भी करने पड़े पर मैं न तो छद्म धर्मनिरपेक्षतावादी हूँ, न छद्म नास्तिक। मैंने इन मुद्दों पर अपने आपको जरा भी डिगने नहीं दिया। अस्तित्व बनाए रखने के लिए विश्वमित्र में चालीस रुपये माहवार पर काम करने से लेकर न जाने कितने पापड़ बेलने पड़े।

जहाँ तक लेखन का प्रश्न है, मैं लिखने के लिए नहीं लिखता। कभी नहीं लिखा। आज तक जो कुछ भी लिखा, हिन्दी की परम्परावादी लीक से हटकर। मुझे प्रेरणा मिली, भगतसिंह, राहुल, यशपाल, बाबा नागार्जुन से और अपने अनुभवों से। जीवन में अब तक हिंदी, अंग्रेजी में लिखी दर्जनों नहीं, सैकड़ों पुस्तकें पढ़ीं। इनमें वेद, पुराण, गीता, बाइबिल, कुरान भी शामिल हैं। बौद्ध व चार्वाक के भौतिकवादी, अनीश्वरवादी दर्शन पर जो कुछ सामग्री उपलब्ध हुई, पढ़ी।

18 वर्ष की उम्र से शुरू यायावरी का सिलसिला अभी तक जारी है। उत्तर से

दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम भारत की यात्रा के अलावा एशिया, यूरोप, अमेरिका महाद्वीप के लगभग 30 देशों की यात्रा की। ज्यादातर एक मुफलिस मवाली की तरह तथा कभी-कभी आमंत्रित वीआईपी की हैसियत से। यात्राएँ पर्यटन-स्थलों की सैर के लिए नहीं, बल्कि जनगण से रिश्ता बनाने की दृष्टि से, उनसे आंतरिक रिश्ता बनाने के लिए कीं। कितना कुछ सीखा, उसका लेखा-जोखा देना संभव नहीं, पर यह जरूर है कि मैंने चीजों को बहुत करीब से, गहरे पैठकर देखा। मैंने पाया कि सही संवाद हो, आंतरिकता हो तो काले-गोरे सभी भावनात्मक स्तर पर एक हैं। स्नेह, प्यार के भूखे हैं।

मेरे बृहत्तर परिवार के सदस्यों में विभिन्न राष्ट्रीयताओं, धर्मों, मानवतावादियों, जातियों के लोग शामिल हैं। हाँ, लेखन का जिक्र आया है तो कह दूँ कि मैंने बिना कोई समझौता किए पूरी निष्ठा व प्रतिबद्धता से लेखन किया। तभी तो 'धर्म के नाम पर' जैसी पुस्तक लिख पाया। मैं आभारी हूँ राजकमल प्रकाशन का जिसकी वजह से यह पुस्तक देश भर में हजारों पाठकों तक पहुँच पाई। अभी-अभी अगस्त 2013 में इसका पाँचवाँ संस्करण छपा है। पाठकों ने इसे हाथोंहाथ लिया जबकि हिंदी के स्वनामधन्य समीक्षकों ने इसकी उपेक्षा की। इनमें कमलेश्वर, भीष्म साहनी, शिवमंगल सिंह सुमन अपवाद हैं।

इसके अलावा जो पुस्तकें लिखीं, उनमें साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक दंगे, पंजाब सुलगता सवाल, विद्रोही कवि नजरुल इस्लाम, विकृत (अमेरिकी) समाज, धर्मनिरपेक्षता के मायने, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता व धर्म आदि उल्लेखनीय हैं।

धर्म को लेकर मेरी यह धारणा रही है कि मानव जाति के हित के लिए धर्म को हाशिये पर डालना होगा। ईश्वर-धर्म यथास्थिति के प्रबल पक्षधर हैं। जाहिर है, मनुष्य जिस विकास यात्रा से गुजरते हुए आज जहाँ पहुँचा है, वह सम्भव ही नहीं होता यदि उपर्युक्त धारणा को चुनौती देते हुए स्वतंत्र दृष्टि से नई धारणा, नए विचार, नया दर्शन, नए आदर्श व सिद्धान्त न गढ़े गए होते। बुद्ध से लेकर मार्क्स तक और उसके बाद भी चुनौतियों का सिलसिला जारी है तथा कई कमियों-खामियों के बावजूद प्रगति और विकास की जिस मंजिल तक मनुष्य पहुँचा है, उसका श्रेय उन चिन्तकों, वैज्ञानिकों, नवजागरण के पुरोधाओं को है, जो यथास्थितियों तथा ईश्वर व धर्म की अवधारणा को चुनौती देते रहे हैं। धर्म की कसौटी के अनुसार इन सारे लोगों ने 'ब्लासफेमी' (ईश-निन्दा) की है और ये दंड के अधिकारी हैं।

बुद्ध ने कहा—ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं है। साथ ही यह भी कहा कि किसी की कही या लिखी बात पर तब तक विश्वास न करो, जब तक उसे अपने विवेक की कसौटी पर खरा न पाओ। उन्होंने कहा—अप्प दीपो भव—यानी अपने मार्गदर्शक स्वयं बनो।

चार्वाक ने कहा—भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः—यानी भस्मीभूत इस देह का कोई पुनर्जन्म नहीं।

और तो और, वैदिक काल से ही भारत में अनीश्वरवादी नास्तिक धारा भी

प्रवाहित होती रही है, जिसके अंतर्गत धर्म व ईश्वर की अवधारणा को नकारते हुए उसकी कटुतर आलोचना भी की जाती रही है। साथ-ही-साथ अगले-पिछले जन्म व स्वर्ग-नरक की अवधारणा को नकारा जाता रहा है।

खगोलशास्त्री गैलिलियो का मानना था कि सूर्य स्थिर है, धरती उसकी परिक्रमा करती है जबकि उससे पूर्व धार्मिक मान्यता इसके विपरीत थी। एक धर्म की मान्यता के अनुसार तो शायर और शायरी तक को भी बुरा बताया गया है। इस तरह के अनेक प्रसंग हैं।

आज जो वैज्ञानिक उपलब्धियाँ मनुष्य को हासिल हुई हैं—शिक्षा, चिकित्सा, सुख-सुविधा आदि के क्षेत्र में, वे क्या हासिल हुई होतीं यदि मनुष्य केवल धर्म में लिप्त जीवन-यापन करता? साहित्य की विभिन्न विधाओं—कहानी, उपन्यास, कविता का विकास संभव हुआ होता? खोजी पत्रकारिता कहाँ होती?

सच तो यह है कि हर विकास और आविष्कार के पीछे मानव-मन की शंकाएँ और प्रश्न ही तो हैं तथा उनका जो कुछ भी उत्तर खोजा जा सका है, क्या वह धार्मिक अवधारणाओं पर आघात किए बिना संभव होता? समता व न्याय पर आधारित समाज की संरचना के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी तभी संभव हुआ, जब भाग्य व भगवान पर निर्भर अलौकिक, चमत्कारिक, पुरोहितवाद, राजतंत्र, सामन्तवाद आदि को नकारा गया।

ईश्वरवादी चाहे जितना भी दावा करें कि सृष्टि की हर समस्या का विज्ञान-सम्मत समाधान उनकी धार्मिक पुस्तकों—वेद, कुरान, बाइबिल इत्यादि में मौजूद हैं परन्तु सैकड़ों हजारों वर्षों के शोध से वैज्ञानिक व चिंतकों ने जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं, उनसे यह दावा कहीं मेल नहीं खाता। डार्विन की खोज यह कहती है कि मानव जाति को पूर्ण रूप से शारीरिक व मानसिक रूप से विकसित होने में लाखों वर्ष लगे और यह प्रक्रिया अभी भी जारी है जबकि धार्मिक पुस्तकों के अनुसार, ईश्वर ने बस चाहा और क्षणमात्र में सृष्टि का सृजन हो गया।

एक धार्मिक पुस्तक के अनुसार ईश्वर सातवें आसमान पर रहता है और वहीं से सृष्टि का संचालन करता है। वहीं एक अन्य धार्मिक पुस्तक कहती है कि ईश्वर कण-कण में व्याप्त है जबकि मजे की बात यह है कि सभी धर्मों के लोग अपने-अपने धार्मिक स्थलों को भगवान का घर बताते हैं और उसकी पवित्रता पर कोई प्रश्न उठाए या आँच लाए तो गला काटने को तत्पर हो उठते हैं।

अविवेकपूर्ण-अवैज्ञानिक चमत्कारों से सारे धार्मिक ग्रंथ अटे पड़े हैं। कहीं पर पैर रख दिया तो रेगिस्तान अथवा पत्थरों से जलधारा फूट पड़ी। एक लाठी की चोट से समुद्र दो फाड़ हो गया। बिना पुरुष-संसर्ग के कुँवारी माँ बन गई। किसी के पसीने को पीकर मछली ने मानव-संतान को जन्म दिया। अपने परम प्रिय पुत्र की कुर्बानी देने के लिए उसकी गरदन पर छुरी चलाई तो पुत्र के स्थान पर एक पशु कुर्बान हो गया। नाम लिखने मात्र से पानी पर पत्थर तैरने लगे। ईश्वर का एक दूत सातवें आसमान पर ईश्वर से मिलकर धरती पर लौट आया। ऐसी एक नहीं सैकड़ों-हजारों

चमत्कारिक घटनाएँ धार्मिक ग्रन्थों में भरी पड़ी हैं। और मजे की बात यह है कि इक्कीसवीं सदी में भी आधुनिक कहलाने वाले ईश्वरवादी न केवल इन घटनाओं पर विश्वास करते हैं बल्कि उन घटनाओं की याद में हर साल उत्सव मनाए जाते हैं जिन पर अरबों-करोड़ों रुपये फूँक दिए जाते हैं। यही रकम अगर जरूरतमंद पीड़ित लोगों पर खर्च हो तो समाज का भला हो।

धर्म मनुष्य के स्वतंत्र चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाता है, उस पर आघात करता है, उसके दिल-दिमाग के दरवाजे व खिड़कियों को बंद रखता है ताकि बाहर की ताजी हवा उसमें प्रवेश न कर सके। धर्म से धार्मिक कट्टरवाद उपजता है, जो अपने अनुयायी को बर्बरता की हद तक ले जाता है।

व्यक्ति क्या सोचे, क्या लिखे, क्या खाए, क्या पहने आदि व्यक्ति स्वयं तय करे या धर्म—यह मनुष्य जाति के बुनियादी अधिकारों से जुड़ा बुनियादी प्रश्न है। इस प्रश्न का जब तक मनुष्य के पक्ष में उत्तर नहीं आएगा, दुनिया में खूनी टकराव बना रहेगा।

कभी पश्चिम में धर्म की जड़ें बहुत गहरी थीं। पर नवजागरण (रनेंसाँ) से जुड़े बुद्धिजीवियों ने सबसे पहले उस पर आघात किया और विवेकपरक वैज्ञानिक सोच तथा समतामूलक समाज का विकल्प दिया। आज पश्चिम का धर्मनिरपेक्ष, सभ्य समाज उसी का प्रतिफल है। कल्याणकारी समाज व्यवस्था ने भाग्य-भगवान पर आश्रित मनुष्य को लगभग मुक्त कर स्वतंत्र चिन्तन दिया है।

विगत 500 वर्षों में पश्चिम में हुए वैज्ञानिक आविष्कारों का ही नतीजा है कि यक्ष्मा, चेचक, पोलियो, प्लेग आदि जैसे असाध्य रोगों से सफलतापूर्वक निपटने की चिकित्सा पद्धति उपलब्ध हुई है।

बिजली, टेलीफोन, रेल, हवाई जहाज आदि न जाने कितने आविष्कार पश्चिम के वैज्ञानिकों के अथक प्रयासों का परिणाम है।

दुनिया में पचास के करीब धार्मिक देश हैं। परन्तु क्या किसी ने भी कोई मानव कल्याणकारी वैज्ञानिक आविष्कार किया? भले ही वे दावा करते रहें कि वेद, कुरान, बाइबिल में विज्ञान भरा पड़ा है। यदि ऐसा है तो धार्मिक पुस्तक में भरे पड़े 'विज्ञान' से किसी ने किया कोई ऐसा वैज्ञानिक आविष्कार जिससे मानव जाति लाभान्वित होती?

फिर क्यों न धर्म व ईश्वर को हाशिये पर रखकर हम भी ऐसे समाज की स्थापना के प्रयास में जुट जाएँ जिसमें प्रत्येक मनुष्य को मर्यादित जीवन जीने का न्यूनतम हक हो।

इसके लिए आवश्यक है कि तर्क, विवेक, वैज्ञानिक चेतना तथा समतामूलक समाज की स्थापना को प्राथमिकता देना।

धर्म का आधार है आस्था या यूँ कहें अन्ध-आस्था। वहाँ तर्क, विवेक की कोई गुंजाइश नहीं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को ईश-निन्दा माना जाता है और ईश-निन्दा का दंड है—सज़ा-ए-मौत। जाहिर है, धर्म को हाशिये पर रखे बिना विवेकपरक चिन्तन की कोई गुंजाइश नहीं।

विश्व-मानवता के लिए एक और खतरा साम्राज्यवाद रहा है, परन्तु धर्म की सत्ता को बरकरार रखते हुए साम्राज्यवाद से निर्णायक युद्ध क्या संभव है? देखा तो यह जा रहा है कि साम्राज्यवादी ताकतें धर्म का एक हथियार के रूप में प्रयोग कर रही हैं, न केवल एक धर्मावलम्बी को दूसरे धर्मावलम्बी के विरुद्ध लड़ाकर बल्कि एक ही धर्म के विभिन्न समुदायों, उपसमुदायों का आपस में टकराव कराकर और इस प्रकार अपना हित साधन करती रही हैं।

जाहिर है, साम्राज्यवाद का मुकाबला धर्म नहीं, जनतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, समता-न्याय के पक्षधर ही कर सकते हैं।

अंत में, भगतसिंह के विचारों से पूर्ण सहमति व्यक्त करते हुए उनका उद्धरण दे रहा हूँ—"प्रत्येक मनुष्य को, जो विकास के लिए खड़ा है, रूढ़िगत विश्वासों के हर पहलू की आलोचना तथा उन पर अविश्वास करना होगा और उनको चुनौती देनी होगी। प्रत्येक प्रचलित मत की हर बात को हर कोने से तर्क की कसौटी पर कसना होगा। यदि काफी तर्क के बाद भी वह किसी सिद्धान्त अथवा दर्शन के प्रति प्रेरित होता है, तो उसके विश्वास का स्वागत है। उसका तर्क असत्य, भ्रमित या छलावा और कभी-कभी मिथ्या हो सकता है। लेकिन उसको सुधारा जा सकता है क्योंकि विवेक उसके जीवन का दिशासूचक है पर निरा विश्वास और अंधविश्वास खतरनाक हैं। ये मस्तिष्क को मूढ़ तथा मनुष्य को प्रतिक्रियावादी बना देते हैं।"

"धार्मिक अंधविश्वास और कट्टरपन हमारी प्रगति में बहुत बड़े बाधक हैं। वे हमारे रास्ते के रोड़े साबित हुए हैं और हमें उनसे हर हालत में छुटकारा पा लेना चाहिए। जो चीज आजाद विचारों को बर्दाश्त नहीं कर सकती, उसे समाप्त हो जाना चाहिए।"

मेरी यह दृढ़ मान्यता मेरे 65-70 वर्षों के विशाल अनुभवों पर आधारित है कि क्रांति की राह में, न्यायसंगत समतामूलक समाज के गठन में, धर्म-ईश्वर सबसे बड़े अवरोधक तत्त्व हैं। इनको तिलांजलि दिए बिना न क्रांति संभव है, न समतामूलक समाज का गठन। 82 वर्ष की उम्र में लगता है, मैं आधे रास्ते पर आकर ठहर गया हूँ। मुझमें अपराधबोध है कि मैं क्रांतिकारी क्यों नहीं बन पाया। आशावादी हूँ इसलिए मानता हूँ कि आने वाली पीढ़ी अधूरे काम को पूरा करेगी। क्रांति का कोई विकल्प नहीं, वह हिंसक भी हो सकती है, अहिंसक भी।

और अंत में।

मैंने जीवन में कभी किसी प्रकार के धार्मिक रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड का पालन नहीं किया। वसीयत कर दी है कि मरणोपरांत मेरा शव किसी अस्पताल में दे दिया जाए, जो अंग उपयोगी हों, जरूरतमंद के शरीर में लगा दें, बाकी का हिस्सा परीक्षण के लिए ताकि मानव जाति के कुछ काम आये।

geetesh32@gmail.com

मोबाइल : 91–9830682907

अमर्त्य सेन

❑ ओम प्रकाश कश्यप

नवम्बर की 3 तारीख को, वर्ष 1933 में अमर्त्य सेन का जन्म हुआ था। शांतिनिकेतन की पुण्य धरा पर। पिता आशुतोष सेन ढाका में रसायनशास्त्र के अध्यापक थे, देश के प्रमुख रक्षा वैज्ञानिक थे और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सहयोगी भी। घर ढाका में था, मगर शांतिनिकेतन से गहरा संबंध था। जब भी वहाँ जाते तो गुरुदेव से अंतरंग बातें होतीं। परिवार में शिक्षा और संस्कृति के संस्कार थे। माँ सुसंस्कृत और विदुषी महिला थीं। अमर्त्य सेन के नाना क्षितिजमोहन सेन की गिनती उस समय के प्रमुख सुसंस्कृत विद्वानों में थी। अपने नाना के प्रभाव से ही अमर्त्य ने संस्कृत सीखी और भाषायी विद्वत्ता हासिल की। संगीत के प्रति प्रेम गुरुदेव के सान्निध्य में रहकर प्राप्त हुआ। गुरुदेव ने ही नामकरण किया—अमर्त्य।

प्रारंभिक शिक्षा के लिए शांतिनिकेतन से उपयुक्त जगह और भला क्या हो सकती थी। प्रारम्भ में संस्कृत विद्वान और डॉक्टर बनने का सपना देखा था अमर्त्य ने। इसी धुन में स्कूली शिक्षा पूरी की। इंटरमीडिएट में पहुँचे तो उनकी गिनती कॉलेज के मेधावी छात्रों में होने लगी। संस्कृत के अलावा गणित और भौतिक विज्ञान लेकर उन्होंने परीक्षा दी। परिणाम घोषित हुआ। अमर्त्य सर्वाधिक अंक पाकर प्रथम स्थान पर थे। अचानक उनका अर्थशास्त्र के प्रति मोह जाग्रत हुआ। यह परिवर्तन अकारण नहीं था। वर्ष 1943, बंगाल के इतिहास में काले वर्ष के रूप में दर्ज है। अमर्त्य की अवस्था उस समय केवल 10 वर्ष की थी। उस वर्ष बंगाल में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। ढाका में अपने घर के सामने अमर्त्य ने लोगों को भूख से संघर्ष करते, भीषण गरीबी की वजह से टूटते, एक-एक दाने के लिए गिड़गिड़ाते, दम तोड़ते-तड़फते हुए देखा था। अपनों को आँखों के सामने मौत के मुँह में जाते देख लोगों का रोना-बिलखना सुना था। मनुष्य की वह दुर्दशा भीषण थी। उसको देख अमर्त्य का बाल मन रो उठा। बचपन की वह छाप जिंदगीभर पड़ी रही। आज भी अमर्त्य को वे दिन ज्यों के त्यों याद हैं। उस दुर्भिक्ष में डेढ़ लाख से ज्यादा जानें गई थीं। हज़ारों परिवार

उजड़े थे। मरने वालों में अधिकांश गरीब थे। मेहनत-मज़दूरी करने वाले। अमीरों के घर तब भी धन-धान्य से भरे हुए थे। अमर्त्य जानते थे कि अमीर अगर अपने आस-पास रह रहे गरीबों के प्रति थोड़ी-सी भी सहृदयता दर्शाते तो हज़ारों जानें बचाई जा सकती थीं।

यह दुःखद घटना अमर्त्य के लिए बहुत क्रांतिकारी सिद्ध हुई। उनके मन में गरीब लोगों के लिए काम करने की ललक बढ़ी। एक और घटना ने उनकी सोच पर गहरा असर डाला। उन दिनों अमर्त्य अपने पिता के पास ढाका में रहते थे, अंग्रेज भारत-विभाजन का निर्णय ले चुके थे। जगह-जगह साम्प्रदायिक तनाव व्याप्त था। लोग अपने बच्चों को अकेले बाहर भेजने से डरते थे। एक आदमी दूर गाँव से चलकर ढाका काम की तलाश में आया था, कि सांप्रदायिक दंगों की चपेट में आ गया। वह लोगों को अपनी स्थिति के बारे में कुछ बता पाए, उससे पहले ही कुछ जुनूनी लोगों ने उस पर हमला बोल दिया। चाकुओं की मार से वह पलभर में लहूलुहान होकर जमीन पर लुढ़कने लगा। धर्म के नाम पर हुई उस हिंसक वारदात ने अमर्त्य को भीतर तक हिला दिया। उसी के धर्म के खाते-पीते लोग उस समय भी बाज़ार में मौजूद थे। उन पर किसी को हाथ उठाने की हिम्मत न थी। उस दिन अमर्त्य इस नतीजे पर पहुँचे कि आग चाहे गरीबी की हो या सांप्रदायिकता की, उसमें झुलसना गरीब को ही पड़ता है।

इन घटनाओं ने उन्हें अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए प्रेरित किया। अमर्त्य ने कहा भी कि अर्थशास्त्र का संबंध समाज के गरीब और उपेक्षित लोगों के सुधार से है। विज्ञान विषयों का मोह त्यागकर अर्थशास्त्र से जुड़ने का निर्णय भी इसी भावना के साथ लिया गया था। कॉलेज की पढ़ाई के लिए अमर्त्य को कोलकाता जाना पड़ा। दाखिला मिला प्रेसीडेंसी कॉलेज में। प्रकृति अपना काम कर रही थी। उस वर्ष प्रेसीडेंसी कॉलेज में एक और विलक्षण छात्र ने दाखिला लिया था। उनका नाम था सुखमय चक्रवर्ती। अमर्त्य ने विज्ञान वर्ग के विद्यार्थियों में प्रथम स्थान पाया था तो सुखमय कलावर्ग के विद्यार्थियों में सर्वाधिक अंक लेकर प्रथम स्थान पर आए थे। दोनों एक समान मेधावी थे, इसलिए मित्र बनते देर न लगी। दोनों की इच्छा अर्थशास्त्र में बी. ए. ऑनर्स करने की थी। शीघ्र ही प्रेसीडेंसी कॉलेज उनकी प्रतिभा की खुशबू से महक उठा। गुरुजन इन दोनों छात्रों की प्रतिभा से बेहद प्रभावित थे। आगे की पढ़ाई के लिए अमर्त्य को कैम्ब्रिज जाना पड़ा। वहाँ भी अर्थशास्त्र के साथ उन्होंने विशेष प्रवीणता सहित ऑनर्स परीक्षा पास की। उन दिनों अमर्त्य का झुकाव साम्यवादी विचारधारा की ओर था। आगे चलकर साम्यवाद से उनका मोह भंग होता चला गया। उसका स्थान लोकतांत्रिक व्यवस्था ने ले लिया।

अर्थशास्त्र के विशद अध्ययन के दौरान अमर्त्य सेन ने अफ्रीकी और एशियाई देशों में पड़े अकालों का विवेचन किया। यही नहीं उन्होंने कोलकाता में पड़े भीषण

दुर्भिक्ष को भी अपने अध्ययन का विषय बनाया। लंबे अध्ययन और गहन विश्लेषण के पश्चात् वे इस परिणाम पर पहुँचे कि 1943 का अकाल निरी प्राकृतिक आपदा नहीं थी। वह कृत्रिम अकाल एक गैर-जिम्मेदार शासन-व्यवस्था की देन था। ऐसी शासन-व्यवस्था की, जो जनसमस्याओं से पूर्णतः अनभिज्ञ थी। जिसके लिए मात्र शोषण ही शासन का पर्याय था। स्वार्थ में डूबी उस व्यवस्था को जनाकांक्षाओं से कोई मतलब न था। एक ओर नियोजन के स्तर पर लापरवाही और अज्ञानता थी, दूसरी ओर सरकार ने अपने समस्त संसाधन, अनाज और भोजन-सामग्री एक ऐसे युद्ध की तैयारियों में झोंक दी थी, जिसका भारत अथवा यहाँ की जनता से कोई संबंध न था।

अध्ययन पूरा कर अमर्त्य भारत लौटे, मगर नौकरी के लिए भटकना न पड़ा। लौटते ही वे जाधवपुर विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर बन गए। उस समय उनकी आयु मात्र 23 वर्ष थी। यह पद विश्वविद्यालय ने अमर्त्य को न देकर उनकी विलक्षण प्रतिभा को दिया था। इसके पश्चात् अध्ययन-अध्यापन का दौर साथ-साथ चलता रहा। जाधवपुर विश्वविद्यालय से वे दिल्ली स्कूल ऑफ इकानॉमिक्स आए। नए अनुभव हुए। मगर राजधानी की अकादमिक क्षेत्र की राजनीति से मन खिन्न रहने लगा। कोलकाता की बार-बार याद आती, बार-बार याद आता शांतिनिकेतन का माहौल। गुरुदेव की कविताएँ और रवीन्द्र संगीत। दिल्ली में 8 वर्ष तक अध्यापन दायित्व सँभालने के बाद वे लंदन चले गए। वहाँ 'लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स' में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर लग गए। वहाँ से ऑक्सफोर्ड। फिर अमेरिका के हारवर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। यात्रा चलती रही। कुछ महीनों बाद ट्रिनिटी विश्वविद्यालय में अध्यापन का प्रस्ताव मिला। हारवर्ड की तुलना में यहाँ वेतन आधा था। सुविधाएँ भी कम थीं। मगर विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा और गरिमा को देखते हुए अमर्त्य ने वह प्रस्ताव स्वीकार लिया। ट्रिनिटी में वे अकेले गैर अंग्रेज थे, जिन्हें यह सम्मान प्राप्त हुआ था।

अमर्त्य सेन का निजी जीवन बहुत हलचल भरा और उतार-चढ़ाव वाला रहा। उन्हें जीभ का कैंसर था। बड़ी मुश्किल से लंबे उपचार के पश्चात् उन्हें इस जानलेवा बीमारी से मुक्ति मिल सकी। अर्थशास्त्र की बड़ी-बड़ी गुत्थियाँ सुलझाने वाले अमर्त्य, परिवार की पहेलियों में उलझते चले गए। एक के बाद एक उन्होंने तीन विवाह किए, पहला बांग्ला की सुप्रसिद्ध लेखिका-साहित्यकार नवनीता के साथ हुआ। दोनों का संबंध 15 वर्ष तक खिंचा भी। उसके बाद संबंध-विच्छेद हो गया। नवनीता से अमर्त्य की दो पुत्रियों ने जन्म लिया—उनके नाम हैं—अंतरा और नंदना। उन्होंने दूसरा विवाह इवा कार्लोनी के संग किया। इवा बहुत स्नेहिल महिला थीं। मगर विडंबना देखिए, वे कैंसर की मरीज थीं। इस कारण उनका दांपत्य जीवन बहुत लंबा न खिंच सका। इवा ने भी अमर्त्य की दो संतानों—इंद्राणी और कबीर को जन्म दिया। इवा

चल बसीं। अमर्त्य अकेले रह गए। उनका अकेलापन उन्हें एम्मा राइथ्स चाइल्ड के निकट ले गया। एम्मा कभी उनकी शिष्या हुआ करती थीं। बाद में दोनों दांपत्य-बंधन में बँध गए।

एक ओर विज्ञान से लगाव। डॉक्टर और संस्कृत विद्वान बनने का सपना। दूसरी ओर अर्थशास्त्र में पांडित्य प्राप्त कर दर्शनशास्त्र के अध्यापन की जिम्मेदारी सँभालना, दोनों अलग-अलग धाराएँ हैं। एक पूरब को जाती है तो दूसरी पश्चिम की ओर। मगर अमर्त्य सेन ने इनका सफलतापूर्वक निर्वाह किया। महत्त्वपूर्ण पदों पर रहते हुए दर्शनशास्त्र और अर्थशास्त्र के अध्यापन का भार तो उन्होंने सँभाला ही। कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी लिखीं। उनके सैकड़ों शोध-निबंध विश्वस्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होकर विश्वभर के विद्वानों की सराहना बटोर चुके हैं, उनकी पुस्तकों में 'पॉवर्टी ऍण्ड फेमिन्स : ऍन ऍस्से ऑन एन्टाइटलमेंट ऍण्ड डिप्राइवेशन' को विशेष ख्याति मिली। उन्होंने अकाल और उसके पीछे निहित कारणों का गहन अध्ययन किया है, जिसमें उन्होंने भारत, बांग्लादेश, सहराई देशों तथा चीन में आई प्राकृतिक आपदाओं का विश्लेषणात्मक व तुलनात्मक अध्ययन किया। इसमें जो निष्कर्ष निकले वे न केवल चौंकाने वाले हैं, बल्कि इस संबंध में बनी हमारी अब तक की मान्यताओं का निषेध करते हैं।

विलक्षण और ख्याति प्राप्त विद्वान होने के बावजूद अमर्त्य सेन आम आदमी से कितने गहरे तक जुड़े हैं; यह बात न केवल उनके कृतित्व में साफ़ झलकती है बल्कि उनका व्यक्तित्व भी इसे दर्शाता है। कल्याणकारी अर्थशास्त्र में महिलाओं और वंचित वर्ग की आकांक्षाओं को मूर्त-रूप देने का स्वप्न उन्होंने देखा है। उनका व्यवहार भी इसके बहुत निकट है। हर वर्ष वे कम से कम तीन बार हिन्दुस्तान आते हैं। यहाँ आकर शांतिनिकेतन न जाएँ यह संभव नहीं है। विद्यार्थी जीवन में पिता ने एक फिलिप्स साइकिल खरीद कर दी थी, अब वह अमर्त्य सेन जैसी ही बूढ़ी हो चुकी है। 60 वर्ष से लंबी उम्र है उसकी। जब युवा थे तो शांतिनिकेतन में उस साइकिल पर खूब दौड़ लगाया करते थे। शांतिनिकेतन प्रवास के दौरान वह साइकिल आज भी उनके लिए वाहन का काम करती है। उम्र, व्यस्तता और मित्रों की भीड़ के चलते उस साइकिल पर पहले जैसी सवारी भले न गाँठ पाएँ पर उसको देखकर देह में वैसा रक्त संचार होने लगता है, जो 60-65 वर्ष पहले होता था।

मौका मिलते ही साइकिल पर सवार हो वे घूमने के बहाने निकल जाते हैं। आम जन-जीवन की पड़ताल करने या कहो कि पीड़ित समाज की नब्ज टटोलने। उस समय अमर्त्य का विराट व्यक्तित्व कहीं गायब हो जाता है। तब वे बिलकुल आम आदमी होते हैं। साइकिल खींचते हुए जब थक जाते हैं तो सड़क किनारे बनी किसी भी मामूली चाय की दुकान पर जाकर खड़े हो जाते हैं। ज्यादातर दुकानदार उन्हें पहचानते हैं। इसलिए देखते ही चाय का पानी चढ़ा देते हैं। तब अमर्त्य दुकान

की साधारण-सी बेंच पर बैठकर या फिर खड़े-खड़े ही चाय सुड़कते हैं। खाने में आज भी उन्हें बंगाली व्यंजन प्रिय हैं। मिट्टी का स्वाद जीवन की साँस-साँस में घुला है। अमर्त्य सेन ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि चिंतन व्यवहार में ढल जाने के बाद ही सार्थक होता है। समाज से परे न कोई सच होता है, न विवेक। उनके कल्याणकारी अर्थशास्त्र की विवेचना भी विशुद्ध शास्त्रीय न होकर मानवीय आकांक्षाओं के अनुरूप है। उनका मानना है कि किसी भी समाज का विकास तभी संभव है जब उसके विकास के नाम पर बनाई जा रही योजनाएँ न केवल जनोन्मुखी हों, बल्कि वे जनसहयोग की अपेक्षा भी रखती हों। कल्याणकारी अर्थशास्त्र की विवेचना में जिन सामाजिक लक्ष्यों को मनुष्य मात्र के लिए हितकर और आवश्यक माना गया है, उन्हें प्राप्त करने के लिए सहकारिता केवल माध्यम भर नहीं है, बल्कि इसे जीवन-पद्धति बनाने पर उन्होंने जोर दिया है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक की दो घटनाएँ प्रतीकरूप में चिह्नित की जा सकती हैं। उनमें से एक घटना इस देश में घटी थी, दूसरी बाहर। यद्यपि दोनों ही घटनाओं का संबंध भारत से था। उनमें पहली घटना थी, अमर्त्य सेन को कल्याणकारी अर्थशास्त्र की विशद् विवेचना के लिए प्रतिष्ठित नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया जाना। दूसरी घटना पर्यावरण, कुष्ठ रोग निवारण और श्रमिक कल्याण के लिए कार्य करने वाले बाबा आम्टे को 'गाँधी शान्ति पुरस्कार' से नवाजा जाना। भारत के संबंध में ये दोनों ही उपलब्धियाँ यादगार थीं।

ज्ञातव्य है कि अमर्त्य सेन ने कल्याणकारी अर्थशास्त्र की विवेचना लगभग 50 वर्ष पहले आरम्भ की थी। इस विषय पर उनके सैकड़ों शोधप्रपत्र दुनियाभर की स्तरीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। सराहे गए। अनेक पुस्तकें उन्होंने लिखीं जिनमें अर्थशास्त्र से संबंधित कई मौलिक स्थापनाएँ की गई थीं। वे अब सिद्धान्तरूप में प्रतिष्ठा पाकर अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित हैं। आजकल उनके आधार पर कल्याण योजनाएँ बनाई जाती हैं। विद्वान उन पर बहस करते हैं। बाबा आम्टे ने अपने संस्थान श्रमिक विद्यापीठ के माध्यम से मजदूरों का संचालन किया, किंतु जनमानस के बीच उनकी छवि बनी, पर्यावरण सुरक्षा हेतु दामोदर घाटी बृहत् परियोजना का विरोध कर रहे एक जुझारू कार्यकर्ता की। अमर्त्य सेन और बाबा आम्टे दोनों की ही कोशिशें बेलगाम पूँजीवाद को अंकुश लगाने की थीं, ताकि शताब्दियों से नदी-जंगल और प्रकृति की गोद में जीवन बिताने वाले आदिवासियों का जीवन न उजड़े। समाज और सरकार आम आदमी को भूल न पाएँ और विकास का लाभ किनारे पर स्थित नागरिकों तक भी पहुँचे। यह धारणा आम है कि अर्थशास्त्र मनुष्य, पूँजी एवं विकास के अंतःसंबंधों की समीक्षा नितांत बौद्धिक तकनीक के आधार पर करता है। अर्थशास्त्र के अनुसार अर्थ-विनियोजन की कुशलता, कम पूँजीनिवेश द्वारा अधिकतम लाभ कमाने की अवधारणा में निहित रहती है। हर पूँजीपति सौ

रुपये लगाकर हजार रुपये कमाने का सपना देखता है। मगर यह शोषण के बिना संभव नहीं। अर्थशास्त्र की प्रायः सभी स्थापनाएँ, सिद्धान्त, नियम आदि आँकड़ों पर निर्भर करते हैं। आँकड़ों की विश्वसनीयता का स्तर ही अर्थशास्त्रीय नियमों की शुद्धता व प्रामाणिकता को निर्धारित करता है। अर्थशास्त्री अपनी बौद्धिक क्षमता, लगन व परिस्थितियों के अनुसार आँकड़ों का संचयन करता है। उन आँकड़ों का विश्लेषण जिन सामान्य निष्कर्षों की ओर ले जाता है, वही कालांतर में सिद्धान्तों का रूप ग्रहण कर लेते हैं। आँकड़ों के विश्लेषण में गणितीय औसत या माध्य की सहायता ली जाती है। गणितीय माध्य एक तरह से बीच का रास्ता है, जो अलग दिखने वाले आँकड़ों के बीच सामान्यता की स्थिति को दर्शाता है, परंतु सामान्य धारणा के विपरीत आँकड़ों का खेल कभी-कभी हमें यथार्थ स्थिति से दूर भी ले जाता है।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अमर्त्य सेन के योगदान को समझने के लिए आँकड़ों के इस मायाजाल को समझना भी बेहद जरूरी है। अपने समकालीन अर्थशास्त्रियों से एकदम विपरीत वे आँकड़ों से बचकर निकलने की कोशिश में रहते हैं। उनके अर्थदर्शन की मुख्य विशेषता भी यही है कि उन्होंने अर्थशास्त्र को निष्ठुर आँकड़ों के जाल से मुक्ति दिलाकर उसे अधिकाधिक मानवीय स्वरूप प्रदान करने की कोशिश की है। अर्थशास्त्र को गणित से अधिक दर्शनशास्त्र के नजरिये से देखा है उन्होंने। इसलिए वे अर्थव्यवस्था के उद्धार के लिए वैसा कोई रास्ता नहीं सुझाते, जो एडम स्मिथ और रिकार्डो जैसे अर्थशास्त्रियों की परिपाटी बन चुका है। वे मानते हैं कि आँकड़ों की बाजीगरी का लाभ पूँजीपति तो उठा सकता है। इसलिए एडम स्मिथ और रिकार्डो के सिद्धांत पर चलने से पूँजीवाद ही फला-फूला है। अमर्त्य सेन से पहले के अर्थशास्त्री पूँजी, श्रम, निवेश, शेयर बाज़ार, वित्तीय घाटा, मुद्रास्फीति, उद्योग और विकासदर संबंधी आँकड़ों की व्याख्या में ही उलझे थे। मार्क्स तो इस आधार पर वर्ग संघर्ष का ऐलान भी कर चुका था। वे मार्क्स को गलत नहीं मानते, लेकिन उनका मानना है कि साम्यवाद भी अंततः तानाशाही की व्यवस्था है। अंतर सिर्फ इतना है कि इसमें तानाशाही श्रमिक-संगठनों की ओर से की जाती है। गरीब आदमी के लिए न्याय तभी संभव है, जब उसके लिए सोचने वाली सरकार हो। इसमें भले ही सरकार का भी अपना स्वार्थ क्यों न हो। सत्ता में बने रहने के लिए लोकतांत्रिक सरकारें जनता की अधिक समय तक उपेक्षा नहीं कर सकतीं। आधुनिक अर्थशास्त्री इस बात के लिए अमर्त्य सेन के ऋणी हो सकते हैं कि उन्होंने उन्हें भूख, गरीबी, अकाल, स्वास्थ्य, शिक्षा और समानता जैसे उपेक्षित मानवीय विषयों पर विचार करने के लिए प्रेरित किया। आम नागरिक की सत्ता और विवेक में भरोसा जताया। अपनी पुस्तकों एवं आलेखों में उन्होंने इन विषयों पर मानव-कल्याण से जुड़ी ऐसी दुर्लभ शोध-सामग्री दी है जिसे उससे पहले अर्थशास्त्र से बाहर समझा जाता था। अमर्त्य सेन के अर्थदर्शन की यही विशेषता उन्हें मानववादी अर्थशास्त्री की पहचान देती है।

अर्थशास्त्रीय विश्लेषण में निरी-बौद्धिकता के स्थान पर संवेदनायुक्त बौद्धिकता क्यों आवश्यक है, यह जानने के लिए हम एक उदाहरण की सहायता लेंगे।

एक कारखाने की कल्पना करते हैं, जिसमें ऊपर से नीचे तक कुल सौ कर्मचारी हैं। सबसे ऊपर के स्तर पर मालिक, प्रबंधक, निदेशक आदि आते हैं। जिनकी संख्या दस है। मान लें कि कारखाना इनमें से प्रत्येक पर वेतनादि के रूप में पचास हजार रुपये खर्च करता है। कारखाने के मध्यस्तर के कर्मचारियों की संख्या बीस है। इस वर्ग में सुपरवाइजर, फोरमैन, मिस्त्री आदि शामिल हैं। मान लें कि कारखाना इनमें से हर एक पर पंद्रह हजार रुपये मासिक खर्च करता है। शेष सत्तर कर्मचारियों में छोटे तकनीशियन, मशीन ऑपरेटर, सहायक आदि शामिल हैं, जिन्हें हर महीने तीन हजार रुपये औसत वेतन प्राप्त होता है। उल्लेखनीय है कि उदाहरण के रूप में हमने यहाँ जो वेतन मान लिये हैं, वे वास्तविकता के काफी निकट हैं, पूँजीवादी संरचना के अंतर्गत कारख़ानों की वेतन व्यवस्था आमतौर पर ऐसी ही होती है। अब यदि हम कारखाने की कुल वेतन-राशि की गणना करें, तो वह दस लाख, दस हजार रुपये बैठती है। इस आधार पर कारखाने के एक कर्मचारी का औसत वेतन दस हजार सौ रुपये आता है। यह वेतनमान न तो उच्च वर्ग पर तैनात अधिकारियों के वेतन को दर्शाता है, न निम्न स्तर के कर्मचारियों के वेतन का प्रतिनिधित्व करता है। वस्तुतः औसत वेतनमान कार्मिक-वर्ग के वेतन से साढ़े तीन गुना अधिक व मालिक-वर्ग के वेतन का लगभग पाँचवाँ हिस्सा है। प्राप्त परिणाम मध्य-स्तर पर तैनात कर्मचारियों के वेतन को दर्शाते हैं जिनकी संख्या मात्र बीस प्रतिशत है।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि मात्र आय संबंधी आँकड़ों के सामान्यीकरण से किसी व्यक्ति अथवा समूह की आर्थिक स्थिति का सही-सही अंदाजा नहीं लगाया जा सकता। विशेषकर उन समाजों में, जहाँ अमीरी और गरीबी के बीच बहुत बड़ा अंतर हो। अमर्त्य सेन जिन दिनों अर्थशास्त्र की ओर आकर्षित हुए, तब अर्थशास्त्रीय निष्कर्ष विशुद्ध बौद्धिक व्याख्याओं पर आधारित थे, गरीबी थी और गरीबी की रेखा भी। जिसके अनुसार तय सीमा से कम आय वाले परिवारों को गरीबी की रेखा के नीचे मान लिया जाता था। आय का अभिप्राय किसी खास समयावधि की मौद्रिक उपलब्धियों से था। जीवन-स्तर को प्रभावित करने वाले अन्य कारकों के अभाव में यह व्यवस्था निर्धनता की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर पाने में असमर्थ थी।

अमर्त्य सेन ने निर्धनता को बहुत करीब से देखा था। 1943 में बंगाल में पड़े भयंकर दुर्भिक्ष की स्मृति उनके मानस में सुरक्षित थी। ढाका तो वैसे ही गरीबी का मारा हुआ शहर था। किसी जमाने में दुनिया-भर को रेशमी वस्त्रों की आपूर्ति करने वाले कारीगर मशीनों के आगमन के बाद से बेरोजगारी का दंश झेल रहे थे। जिस काम को पीढ़ियों से सँभालते आए थे, जिससे उनकी पहचान थी, उनके बच्चे उसी काम से दम तोड़ रहे थे। गरीबी की मार से वहाँ उन्होंने लोगों को एक-एक

रोटी की खातिर तड़फते देखा था। अर्थशास्त्र को अध्ययन का विषय चुनने के पीछे उनका उद्देश्य गरीबी से जूझना ही था। इसलिए अर्थशास्त्रीय विवेचना के दौरान उन्होंने समाज के निम्नतर व्यक्ति की आर्थिक व सामाजिक जरूरतों को समझने व गरीबी के कारणों की समीक्षा करने पर पूरा ध्यान दिया। उन्होंने समाज में आय-वितरण की स्थिति को दर्शाने के लिए निर्धनता सूचकांक विकसित किया। इसके लिए आय-वितरण, आय में असमानता और विभिन्न आय-वितरणों में समाज की क्रय क्षमता के संबंधों की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए, अमर्त्य सेन ने निर्धनता सूचकांक व अन्य कल्याण संकेतकों को परिभाषित किया। यह बड़ा काम था। कल्याण सूचकांकों की आवश्यकता विभिन्न देशों में चल रही कल्याण वितरण की प्रक्रिया का तुलनात्मक अध्ययन अथवा अपने ही देश में कल्याण वितरण की व्यवस्था की समीक्षा एवं उसके प्रभावों का अध्ययन करने के लिए पड़ती है। इससे निर्धनता के लक्षणों को समझना और उसकी वास्तविकता की तह में जाना आसान हो गया।

इन समस्याओं का निराकरण करने के लिए अमर्त्य सेन ने शिक्षा, समानता, पोषण और कल्याण कार्यक्रमों में दुर्बल वर्ग की हिस्सेदारी की महत्ता दर्शाते हुए निर्धनता सूचकांकों को युक्ति-संगत बनाने की कोशिश की थी। जिसे आगे चलकर व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई। अमर्त्य सेन द्वारा विकसित निर्धनता सूचकांकों का उपयोग आजकल मानव-विकास सूचकांकों के अध्ययन में भी किया जाता है। अमर्त्य सेन की इस देन की महत्ता को स्वीकारते हुए प्रो. दीपक नायर लिखते हैं—"निर्धनता की रेखा की चर्चा अर्थशास्त्री अर्से से करते आ रहे हैं। हर कोई जानता है कि निर्धनता की रेखा भी कुछ होती है। परंतु कोई व्यक्ति इस रेखा से कितना नीचे है, इसे मापने की विधि सेन ने ही बतलाई। इस तरह अमर्त्य सेन द्वारा की गई स्थापनाएँ गरीबी की वास्तविक पड़ताल करने के साथ-साथ उन स्थितियों की ओर भी स्पष्ट संकेत करती हैं जो गरीबी को बनाए रखने में सहायक सिद्ध होती हैं।"

उनकी दृढ़ मान्यता है कि कल्याण की स्थिति तक पहुँचने के लिए समता महत्त्वपूर्ण नहीं होती। महत्त्व हमेशा उन गतिविधियों का होता है जिनके लिए समता की आवश्यकता पड़ती है। लोकतन्त्र अपने नागरिकों के विकास के लिए सबको समान अवसर उपलब्ध कराने का पक्षधर होता है, लेकिन अवसर ही न हों तो?

पुनश्च—समान आय का महत्त्व उसके द्वारा सृजित अवसरों के कारण होता है। अमर्त्य सेन ने इन अवसरों को 'क्षमताएँ' भी कहा है। इन अवसरों (या क्षमताओं) की आवश्यकता व्यक्ति के स्वास्थ्य, शिक्षा, सामाजिक समानता तथा संसाधनों के वितरण की स्थिति पर भी निर्भर करती है।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अमर्त्य सेन का इतना ही मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण योगदान अकाल संबंधी अध्ययन के लिए भी है। इस बारे में अमर्त्य सेन से पहले सामान्य धारणा यह थी कि अकाल खाद्यान्नों की अनुपलब्धता के कारण होते हैं, परन्तु दुनिया

में पड़े अकालों के विस्तृत एवं तार्किक विश्लेषण के आधार पर अमर्त्य सेन ने बताया कि अकाल का मुख्य कारण मूलतः वे सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक परिस्थितियाँ हैं जो व्यक्ति की क्रय शक्ति का ह्रास करती हैं। अपने अकाट्य तर्कों से उन्होंने स्पष्ट किया कि 1943 का बंगाल का अकाल एक मानव-निर्मित आपदा थी। तत्कालीन सरकार ने जनावश्यकताओं की उपेक्षा करते हुए अपने समस्त संसाधनों को विश्वयुद्ध में विभिन्न मोर्चों पर लड़ रही विदेशी सेना के ऊपर झोंक दिया था। दूसरे बंगाल उन दिनों स्वतंत्रता सेनानियों का गढ़ था। उन पर अपना गुस्सा उतारते हुए अंग्रेज सरकार ने स्थानीय जनता के हितों की भी अनदेखी की। उन दिनों देश के बाकी हिस्सों में अनाज उत्पादन सामान्य था। बंगाल में ही ज़मींदारों और साहूकारों के गोदाम भरे पड़े थे। सरकार यदि प्रयत्न करती तो जरूरतमंदों के लिए खाद्यान्न की आसानी से आपूर्ति कर सकती थी। इससे आपदाग्रस्त क्षेत्रों में हजारों लोगों को बचाया जा सकता था। मगर सरकार अपने स्वार्थ से एक भी कदम पीछे न हटी। परिणाम यह हुआ कि लाखों लोग अकाल के कारण मौत के आगोश में चले गए। अगर उस समय देश में लोकतंत्र होता तो, जनता और उनके नुमाइंदे संसद में अकाल-पीड़ितों के पक्ष में आवाज उठाकर सरकार की नाक में दम कर सकते थे। लेकिन साम्राज्यवादी सरकार के आगे आम भारतीय तो दूर, उसके नेताओं की कोई सुनवाई न थी।

भारत के अतिरिक्त अमर्त्य सेन ने बांग्लादेश, इथियोपिया, कोरिया और सहारा क्षेत्रों में पड़े अकालों तथा अन्य प्राकृतिक आपदाओं का विशद् एवं तुलनात्मक अध्ययन भी किया। उन्होंने यह सिद्ध किया। उन्होंने यह सिद्ध किया कि बांग्लादेश में पड़े अकाल का कारण भी खाद्यान्नों की कमी नहीं थी। उन दिनों बांग्लादेश को भयंकर बाढ़ का सामना करना पड़ा था, जिससे किसानों की फसल तबाह हो गई। बाढ़ में घिरा होने के कारण अगले मौसम की फसलों की बुवाई भी रुक गई, जिससे खेतिहर मजदूरों के रोज़गार अवसरों में अप्रत्याशित और भारी गिरावट आई। रोज़गार की वैकल्पिक व्यवस्था न होने के कारण लोगों की आमदनी तेजी से गिरी। जिससे उनकी क्रयशक्ति समाप्त हो गई। लोग भूख से मरने लगे। परिणामस्वरूप वहाँ भी अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। अफ्रीका में पड़े अकालों के कारण भी वहाँ की आर्थिक व राजनीतिक अस्थिरता एवं युद्ध की आशंकाओं में निहित हैं, जिनसे पूँजी को अनुत्पादक मदों में सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

अकाल-संबंधी अध्ययन के दौरान अमर्त्य सेन इस चौंकाने वाले परिणाम पर पहुँचे कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में अकाल जैसी स्थितियाँ उत्पन्न नहीं हो पातीं क्योंकि जनता के प्रति जवाबदेह सरकारों के लिए जनसमस्याओं की अनदेखी कर पाना संभव नहीं होता। भारत का उदाहरण देते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि यहाँ आज़ादी के बाद कई ऐसे अवसर आए जब खाद्यान्न-उत्पादन आवश्यकता से कम रहा। कई

स्थानों पर बाढ़ एवं अन्य प्राकृतिक आपदाओं के कारण फसलों को काफी नुकसान पहुँचा। परंतु सरकार ने वितरण व्यवस्था को चुस्त बनाकर अकाल जैसी स्थिति उत्पन्न न होने दी।

अमर्त्य सेन अर्थशास्त्र के फलक को व्यापक बनाना चाहते हैं। उनके सामाजिक सरोकार स्पष्टतः मानवीय हैं। वे प्रश्न करते हैं कि ऐसा क्या संभव है कि समाज अपनी प्राथमिकताएँ अपने सदस्यों की पसंद और अपेक्षाओं के अनुसार तय करे? आम सहमति के अनुसार ही श्रेष्ठ विकल्प चुना जा सकता है। उस पर किसी प्रकार के विवाद की संभावना नहीं रहती। परंतु एक सार्थक आम सहमति के लिए समाज के विवेकीकरण की आवश्यकता पड़ती है। यह तभी संभव है, जब समाज का बौद्धिक स्तर ऊँचा हो। उसमें कम से कम आंतरिक तनाव हों। किन्हीं कारणों से आम सहमति अगर न बन पाए तो क्या करें? वह कौन-सा रास्ता है जब परस्पर विरोधी दिखने वाले विचारों का समन्वय कर ऐसे निर्णय लिये जा सकें, जो सारे समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध हों? अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ये प्रश्न साठ के दशक में ही चर्चा में आ चुके थे। कुछ अर्थशास्त्री इन पर गंभीरतापूर्व कार्य भी कर रहे थे। 1972 में प्रतिष्ठित नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री कैनेथ केरो ने विभिन्न विचारों के समन्वय और विशिष्ट पसंदों यथा—मानवीय मूल्यों एवं कल्याण संसाधनों के वितरण के लिए बहुमत के विकल्प को अपनाने का सुझाव दिया। सहकारिता यह काम उन्नीसवीं शताब्दी के मध्याह्न में ही प्रारंभ कर चुकी थी। उसने स्वयं को पूँजीवाद के सशक्त विकल्प के रूप में खड़ा किया था। लेकिन बाद में सहकारी संस्थाओं पर भी राजनीति और बाजारवाद का रंग चढ़ने लगा। वे कर्तव्य के बजाय अधिकारों की बातें करने लगीं। नतीजा यह हुआ कि वे अपने लक्ष्य से भटकती चली गईं। और आजकल तो बड़े सहकारी संस्थान अपने उद्योगों के प्रबंधन के लिए वही मापदंड अपनाते हैं, जो दूसरे पूँजीवादी कारखानों में चलते हैं। अमर्त्य सेन ने केरो की विचारधारा को विकसित करते हुए कहा था कि सामूहिक निर्णयों को सदैव गैर-अधिनायकवादी होना चाहिए।

अमर्त्य सेन छठे दशक से अर्थशास्त्र के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। जिस कल्याणकारी अर्थशास्त्र के लिए उन्हें नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया है, उसका खुलासा उन्होंने अपनी पुस्तक 'सामूहिक विकल्प और सामाजिक कल्याण' में 1970 में ही कर दिया था। मगर तब भूमंडलीकरण का नया जोश था। पूँजीवाद के इशारे पर नाचते देश किसी की सुनने को तैयार न थे। अमर्त्य सेन की स्थापनाएँ अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रमों में तो स्थान पा सकीं, मगर उन्हें सही सम्मान, जिसके वे बहुत पहले से हक़दार थे, मिलने में तीन दशक लग गए। अनियोजित पूँजीकरण के कारण पैदा हुए असंतुलन के कारण विद्वानों को अमर्त्य सेन को सम्मानित करने के लिए बाध्य होना पड़ा। भूमंडलीकरण अभियान का अगुआ देश अमेरिका भी इस

असंतुलन से अछूता नहीं रहा। अंतरराष्ट्रीय शोध संगठन 'यूनाइटेड फोरम फॉर फेयर इकॉनामी' की 'शती की समाप्ति पर आर्थिक असमानता' शीर्षक से रिपोर्ट में दुनिया-भर की अर्थव्यवस्था को राह दिखाने का दम भरने वाले दंभी अमेरिका के खोखलेपन को उजागर किया गया है। रिपोर्ट में उल्लिखित है कि पिछले दशक में अमेरिकी अर्थव्यवस्था ने जहाँ चंद लोगों को अरबपतियों की कतार में पहुँचाया, वहीं तीस लाख से अधिक आबादी को गरीबी के गर्त में ढकेल दिया। एक सर्वे ने बताया था कि भारत के बीस करोड़ से अधिक लोग प्रतिदिन बीस रुपये से कम की आय पर जीवन-निर्वाह करते हैं। वेतन विसंगतियों का हाल यह है कि प्रमुख बड़ी कंपनियों के कार्यकारी अधिकारी, आम फैक्ट्री मज़दूर की तुलना में 1000 गुना अधिक वेतन लेते हैं। भूमंडलीकरण के नाम पर कारखानेदार अमीर पर अमीर होते जा रहे हैं, जबकि आम आदमी की गरीबी और दुर्दशा बढ़ती ही जा रही है। पूँजीवाद के फलस्वरूप विकासशील देशों में भी अमीरों की संख्या तेजी से बढ़ी है।। मगर वहाँ विकास के नाम पर सिर्फ इतना हुआ है कि आम आदमी की गाढ़ी कमाई उद्योगपतियों का खजाना बढ़ाने में लगी है।

यह देखते हुए, भारत जैसे देश में, जहाँ तीन-चौथाई आबादी सरकार की ओर उम्मीद-भरी नज़रों से देख रही हो, मुक्त-अर्थव्यवस्था के नाम पर छद्म पूँजीवाद थोपने या दूसरे देशों का अंधानुकरण करने की अपेक्षा अमर्त्य सेन के विचारों से प्रेरणा लेना बहुत आवश्यक है। अमर्त्य सेन के विचारों का लाभ उठाकर हम भूमंडलीकरण, जो आज बदले समय की आवश्यकता बन गया-सा लगता है, की खामियों पर नज़र रख सकते हैं तथा उसके लाभों में उस वंचित वर्ग की सहभागिता सुनिश्चित कर सकते हैं, जो अभी तक चले विकास-आंदोलनों के लाभ से अछूता रहा है। वे अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रीकरण के प्रबल पक्षधर हैं, जिसकी हिमायत गाँधी, लोहिया और विनोबा जैसे नेता भी कर चुके हैं। इसलिए अमर्त्य सेन के विचार न केवल अपने से लगते हैं बल्कि वे भारतीय परिस्थितियों के सर्वाधिक अनुकूल भी हैं। अमर्त्य सेन के अर्थदर्शन की इससे बड़ी विश्वसनीयता क्या होगी कि राबर्ट सोलो, जो स्वयं पूर्व नोबल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री हैं, उन्हें अर्थशास्त्र की आत्मा स्वीकारते हैं। जबकि केनेथ केरो निःसंकोच भाव से कहते हैं कि 'मैंने उन (अमर्त्य सेन) से बहुत कुछ सीखा है।' केनेथ केरो ही क्यों दुनिया के बहुत से अर्थशास्त्री-विद्वान-विद्यार्थी-समाजशास्त्री, जो समाज में लगातार बढ़ती विषमता से चिंतित हैं, अमर्त्य सेन के अर्थचिंतन से प्रेरणा लेते हैं।

अमर्त्य सेन का अर्थचिंतन और सहकारिता

अमर्त्य सेन के विचार समाजवाद और उसके समानधर्मा विचार सहकारिता की भावना से काफी मेल खाते हैं। अमर्त्य सेन कल्याण सरकार के रूप में जिस व्यवस्था की

बात करते हैं, वही समाजवाद और सहकारिता का सपना है। अमर्त्य सेन ने आपसी सहयोग, संसाधनों के जनतांत्रिक उपयोग एवं उत्तरदायी जनतांत्रिक सत्ता के लक्षणों एवं जनकल्याण हेतु इनकी उपयोगिता का अर्थशास्त्रीय भाषा में विश्लेषण किया है। उनके कल्याणकारी अर्थशास्त्र के निहितार्थ महात्मा गाँधी के ग्राम स्वराज व आचार्य विनोबा भावे के सर्वोदय से अलग नहीं हैं। इन दोनों महापुरुषों ने जिस विकेंद्रीकृत व्यवस्था की परिकल्पना की थी, और जिस आत्मनिर्भर समाज का सपना हमें दिखाया था, अमर्त्य सेन का सिद्धांत उसी की अर्थशास्त्रीय व्याख्या है। लोकतंत्र में निर्णय की प्रक्रिया लोकप्रतिनिधियों द्वारा संपन्न होती है। इसलिए वे लोकतंत्र पर जोर देते हैं। उल्लेखनीय है कि समाजवाद और सहकारिता दोनों ही विचार लोकतंत्र पर आश्रित हैं। बल्कि सहकारी समिति तो अपने आप में ही लोकतांत्रिक संगठन होता है। अमर्त्य सेन का सामूहिक विकल्पों का सिद्धांत सहकारिता के सामूहिक विकास की अभिकल्पना का ही विस्तार है। वे सभी लक्ष्य जो समाजवाद और सहकारिता के माध्यम से पूरे किये जा सकते हैं, उन्हें कल्याण सरकार का दायित्व बताकर वे जनप्रतिनिधियों से अधिक जागरूक, समर्पित और सक्रिय बने रहने की अपेक्षा रखते हैं। वे लोक को भी जाग्रत बनाना चाहते हैं। ताकि वह जनप्रतिनिधियों के चयन के समय बिना किसी भेदभाव और जातीय पूर्वाग्रह के निर्वाचन प्रक्रिया में हिस्सेदारी कर सके। अमर्त्य सेन के अर्थचिंतन की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने जिन विचारों को अपने चिंतन का आधार बनाया है, इससे पहले उन्हें अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु मानने की परंपरा नहीं थी।

सामूहिक विकल्प या विकल्पों के सर्वसम्मति (अथवा कम से कम सामान्य सहमति) से चुनने की अवधारणा, सहकारिता की भावना के काफी निकट है। सहकारिता सर्वसम्मति से लिये गए निर्णयों को, सीमित संसाधनों द्वारा फलीभूत करने के लिए किए गए प्रयासों का नाम है, जिनमें समूह के प्रत्येक सदस्य की यथा सामर्थ्य साझेदारी होती है। समाज में लोगों की महत्त्वाकांक्षाएँ जितनी तेजी से बढ़ती हैं। संसाधनों का सृजन उतनी तीव्रता के साथ नहीं हो पाता। अतः सहकारिता की उपयोगिता हमेशा बनी रहती है। सहकारिता का मतलब है समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक-दूसरे के साथ संगठित प्रयास करने का संकल्प। अमर्त्य सेन जब कल्याणकारी अर्थशास्त्र की विवेचना करते हैं, तब उनका इशारा निस्संदेह विकासशील समाजों की ओर होता है, जहाँ गरीबी है, अशिक्षा और स्वास्थ्य संबंधी समस्याएँ हैं। इस प्रकार कल्याणकारी अर्थशास्त्र और सहकारिता की आवश्यकता लगभग एक जैसे, विकासमान या विकास ही परंपरा से कटे हुए समाजों में पड़ती हैं।

अमर्त्य सेन, कल्याणकारी अर्थशास्त्र की विवेचना में राज्य नामक सत्ता का न केवल उल्लेख करते हैं, बल्कि उसके कर्तव्यों का निर्धारण करते हुए भी नज़र आते हैं। यद्यपि राजनीतिक विश्लेषण करना उनको अभीष्ट नहीं, तथापि कल्याणकारी

गतिविधियों की व्याख्या के दौरान राज्य की उपस्थिति पर्यवेक्षक सत्ता के रूप में बनी रहती है जबकि सहकारी समूह स्वयं अनुशासित व समर्पित मानव इकाई (या इकाइयों) द्वारा संचालित, उत्प्रेरित होता है। समूह के सदस्य कर्ता होने के साथ-साथ अपने आचरण के स्वयं-पर्यवेक्षक भी होते हैं। उनका यही गुण उन्हें शेष सदस्यों से तालमेल बनाए रखने, निर्णय की प्रक्रिया के दौरान खुलकर विमर्श करने को प्रेरित करता है। उल्लेखनीय है कि नेतृत्व की आवश्यकता सहकारी समूहों के लिए भी होती है। मगर इसके लिए जिम्मेदार समूह की शीर्षस्थ शक्तियों का नैतिक आचरण, लक्ष्यों के प्रति उनका समर्पण भाव तथा लक्ष्यों एवं स्थितियों को समझने की उनकी बौद्धिक कुशलता ही समूह के बीच उन्हें विशिष्ट दर्जा प्रदान करती है। इस तरह बिना कोई संवैधानिक दर्जा पाए अपनी योग्यता एवं समूह के आन्तरिक अनुशासन के बल पर ही वे शेष इकाइयों के प्रेरणास्रोत एवं मार्गदर्शक बने रहते हैं।

कल्याणकारी व्यवस्था में राज्य की जिम्मेदारी होती है कि वह जनहित में लोककल्याण के कार्यक्रमों को अपनाए। सामूहिक लक्ष्यों के प्रति राज्य की रजामंदी एवं सहभागिता उसे संवैधानिक वैधता एवं आर्थिक सुदृढ़ता प्रदान करती है। इससे लक्ष्यों को अपेक्षाकृत आसानी से और कम समय में प्राप्त किया जा सकता है। अमर्त्य सेन तानाशाही राज्यव्यवस्था की खामियों का उल्लेख करते हुए कल्याणकारी व्यवस्था के वाहक के रूप में जनतांत्रिक राज्य की अनुशंसा करते हैं। तानाशाह निष्ठुर होता है वह अपने निर्णयों को बलात् पूरे समाज पर थोप देना चाहता है। मगर तानाशाही का एकमात्र यही दुर्गुण नहीं होता। इस व्यवस्था की सबसे भयावह और दुःखद स्थिति यह है कि निहित स्वार्थों व दुराग्रहों को समर्पित तानाशाह दूसरों के मस्तिष्क पर भी अपना अधिकार जमाए रखना चाहता है। वह समाज से, राज्य द्वारा किए जा रहे कार्यों की समीक्षा का अधिकार छीन लेना चाहता है। इससे वैचारिक जड़ता पनपती है और समाज मानसिक रूप से पंगु होता चला जाता है। अतः तानाशाही व्यवस्था में समाज का सर्वांगीण विकास संभव नहीं है।

सहकारिता एक प्राकृतिक सिद्धांत है। व्यवहार में सहकारी संस्था/समिति का अभिप्राय संस्था पंजीकरण अधिनियम-1860 या समिति पंजीकरण अधिनियम 1912 के अंतर्गत गठित व पंजीकृत, क्रमशः संस्था या समिति से लिया जाता है। तथापि सहकार के लिए इस प्रकार की औपचारिकताएँ पूरी करना आवश्यक नहीं है। कोई भी दो या अधिक व्यक्ति बगैर किसी विधिक अनुबंध के, अनौपचारिक स्तर पर भी सहकार कर सकते हैं।

अमर्त्य सेन के अर्थदर्शन की लोकपक्षधरता

अमर्त्य सेन के अनुसार, कल्याणकारी राज्य का कोई भी नागरिक स्वयं को उपेक्षित महसूस नहीं करता। यह तभी संभव है, जब राज्य द्वारा संचालित कल्याणकारी कार्यक्रमों का सकारात्मक प्रभाव उस वर्ग पर भी पड़े जो अब तक व्यवस्था में अपेक्षित लाभों

से वंचित रहा है। सहकारिता की भावना के प्रति समर्पित समूह का लक्ष्य भी समाज के वंचित और उपेक्षित व्यक्तियों को विकास की सामान्य परिधि में ले आता है। बल्कि सहकारिता ऐसे नागरिकों को जो विकास की धारा से कटे हैं, आपसी सहयोग और संसाधनों के सामंजस्य के आधार पर विकास का अवसर प्रदान करती है। जिससे वे सरकार की मदद के बिना भी स्वयं को मुख्यधारा से जोड़े रह सकते हैं।

कहा जा सकता है कि कल्याणकारी राज्य के कार्यक्रम पूरे राष्ट्र की जनता के हित के लिए बनाए जाते हैं, जबकि सहकारी समूह के प्रयास अपनी सदस्य इकाइयों के उत्थान तक ही सीमित रहते हैं। व्यवहार में यह सच है। इसलिए भी कि सहकारी समूह के सदस्य अपने-अपने संसाधनों का समन्वित उपयोग, पूरे समूह के विकास के लिए करते हैं। सहकारिता की प्रारंभिक स्थिति जिसे हम समूह के सदस्यों का प्रशिक्षणकाल भी कह सकते हैं, में ऐसा होना संभव है, परंतु जैसे-जैसे सदस्य इकाइयाँ सहकारिता की भावना को आत्मसात् करती जाती हैं, उनके निजत्व का घेरा भी टूटता चला जाता है। जिस तरह आदर्श राष्ट्र संपूर्ण विश्व को अपना समझता है, उसी प्रकार सहकारी समूह भी अपने समाज से इतर संपूर्ण राष्ट्र को और तदनंतर पूरे विश्व को अपना लेता है। तब व्यक्ति किसी एक समूह या राष्ट्र का नागरिक न रहकर संपूर्ण विश्व का नागरिक बन जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या 'विश्वग्राम' की संकल्पना के पीछे भारतीय मनीषियों की यही अवधारणा रही है। सहकारी समूह के सदस्य, एक-दूसरे से संवेदनाओं के स्तर पर जुड़ते हैं। अमर्त्य सेन के अर्थदर्शन की विशेषता भी यही है कि उन्होंने अर्थशास्त्र को कोरी बौद्धिकता के दायरे से उसे मानवीय संवेदनाओं से जोड़ने की कोशिश की है। आधुनिक समाज की प्रमुख समस्याओं में से एक यह भी है कि वह बाजारवाद से प्रेरणाएँ लेता है, जो ज्ञान को सूचना में, संवेदना को ठोस उत्पादों में ढाल देना चाहता है, ताकि उन्हें बेचकर कमाई की जा सके। साहित्य और कला के विभिन्न रूप जिनमें अमूर्त संवेदनाएँ निखरकर सामने आती हैं, बाजार के लिए उस समय तक काम के नहीं होते, जब तक कि उन्हें उपभोक्ता वस्तु के रूप में ढालना संभव न हो। उल्लेखनीय है कि जब भी कोई वस्तु उपभोक्ता वस्तु का रूप धारण करती है, तब उसका आंतरिक गुण महत्त्वहीन हो जाता है। उस समय उसका उत्पादन पूँजीवादी नीतियों के अनुसार होने लगता है, जहाँ किसी वस्तु का मौद्रिक मूल्य ही सर्वोपरि होता है। इससे संबंधों में कृत्रिमता और औपचारिकता की वृद्धि होती है, जिससे व्यक्ति अपनी समस्याओं पर खुलकर विचार करने से बचने लगता है। ऐसी स्थिति में वह अपने विकास के लिए सरकार और अन्य संस्थाओं पर आश्रित होकर रह जाता है। यही नहीं वह इस लायक भी नहीं रहता कि सरकार को उसके कर्तव्य की याद दिलाकर अपने अधिकारों के लिए न्यायपूर्ण ढंग से संघर्ष कर सके।

अतः ऐसे कठिन समय में जब समाज में बाजारवाद सिर चढ़कर बोल रहा हो, सरकार पर यह आरोप लगाए जा रहे हों कि वह विश्वबैंक और मुट्ठीभर पूँजीपतियों के हाथ का खिलौना बन चुकी है, जबकि पूँजीपति और नौकरशाह सरकार को अपने स्वार्थानुकूल बनाए रखने के लिए बाध्य करते रहते हों, जब सेंसेक्स की रफ्तार को देश की प्रगति का प्रतीक मान लिया जाता हो, मीडिया जगत् जब आम आदमी की समस्याओं के बजाय पूँजीपतियों के हित पर विमर्श रचता-गढ़ता हो, मानवीय संवेदनाओं का अकाल पड़ने जैसे हालात हों और जब अपसंस्कृतिकरण को लेकर समाजविज्ञानी, साहित्यकार आदि चिंतित, आकुल-व्याकुल हों—ऐसे चुनौतीपूर्ण समय में अमर्त्य सेन का कल्याणकारी अर्थदर्शन सहकारिता के लिए भी उतना ही उपयोगी है जितना कि अर्थशास्त्र के लिए, क्योंकि दोनों के लक्ष्य व निहितार्थ एक ही हैं। दोनों ही हमें आश्वस्त करते हैं कि विकल्प अभी मिटे नहीं हैं। कुछ रोशनी अब भी बाकी है।

अमर्त्य सेन की अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकें

1. अफ्रीका ॲण्ड इंडिया
2. कमोडिटरीज़ ॲण्ड कॅपॅबिलिटीज
3. डिलिवरिंग द मॅनिटॅरिकन्सेन्सस
4. डेवलपमॅण्ट ॲज फ्रीडम
5. एम्प्लायमॅण्ट, टॅक्नालॉजी ॲण्ड डेवलपमॅण्ट
6. फ्रीडम ऑफ चॉइस
7. एम्प्लायमॅन्ट पॉलिसी ॲण्ड टॅक्नोलॉजिकल चाइस
8. ग्रोथ इकोनोमिक्स
9. फूड, इकोनोमिक्स ॲण्ड एनटाइटलमॅन्ट्स
10. हंगर ॲण्ड पब्लिक ॲक्शन
11. जैण्डर ॲण्ड कोआपरेटिव कन्फ्लिक्ट्स
12. इंडिया
13. हंगर इन कन्टम्प्रेरी वर्ल्ड
14. इंडुइज्वल ॲण्ड द वर्ल्ड
15. आईडेन्टिटी ॲण्ड वायलेन्स
16. इन्इक्वलिटि रीएक्जामिंड
17. लिबर्टी इक्वलिटि ॲण्ड द लॉ
18. लिविंग ॲज इक्वल्स
19. पॅनल्टीज़ ऑफ़ अन्एम्प्लॉयमॅण्ट
20. द आरगुमॅन्टिव इंडियन
21. द आइडिया ऑफ जस्टिस

डॉ. क. वीरामणि

कृष्णा स्वामी वीरामणि, कुलपति पेरियार मनिअम्माइ यूनिवर्सिटी, चेन्नई का जन्म 2 दिसंबर, 1933 के दिन तमिलनाडु के कुड्डालोर जिले के मुख्यालय कुड्डालोर में हुआ था। वे जाति-पाँति विरोधी तथा वंचित-दलित लोगों की खुशहाली के लिए संघर्ष करने वाले तमिलनाडु के सामाजिक संगठन द्रविडार कड़गम के बरसों से अध्यक्ष हैं। नास्तिक आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्ता वीरामणि की प्रारंभिक शिक्षा कुडालोर में हुई। तत्पश्चात् अन्नामलाइ विश्वविद्यालय से उन्होंने 1956 में अर्थशास्त्र में एम. ए. किया और सर्वाधिक अंक पाकर स्वर्ण पदक प्राप्त किया। अपनी कानून की डिग्री उन्होंने 1960 में मद्रास यूनिवर्सिटी से प्राप्त की। 1958 में उनका मोहनाजी से अंतरजातीय विवाह हुआ। उनके दो बेटे और दो बेटियाँ हैं।

1944 में जब वे 10 ही वर्ष के थे, जस्टिस पार्टी के सलेम अधिवेशन में उन्होंने भाषण दिया और खूब सराहे गये। 1 वर्ष वकालत करने के अलावा उन्होंने अपना पूरा जीवन सामाजिक कार्यों में ही लगाया है। पेरियार रामास्वामी नाइकर के साथ वे 1956 में ही आ गये थे और उनके दैनिक 'विद्युतलाइ' के संपादन में सहायता करने लगे थे। 1976 में वे इंदिरा गाँधी द्वारा लगाये गये आपात्काल का विरोध करने के कारण जेल भेज दिये गये थे।

उपाधियाँ और सम्मान

1. अलगप्पा विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट् की मानद उपाधि प्रदान की गयी, 4 अप्रैल, 2003।
2. तमिलनाडु सरकार द्वारा सामाजिक न्याय के लिए निरन्तर संघर्ष करने के लिए पहला पेरियार पुरस्कार प्रदान किया गया।
3. सी. आई. डी. ए. का पर्यावरण, स्वास्थ्य, गरीबी निवारण और स्त्रियों के सशक्तीकरण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए 'उत्कृष्टता पुरस्कार'।
4. नई दिल्ली के राष्ट्रीय प्रगति मोर्चे का 'भारत ज्योति पुरस्कार।'

5. सामाजिक न्याय के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का सम्मान करते हुए, पेरियार इन्टरनेशनल इन्क, संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा 'सामाजिक न्याय के लिए वीरामणि पुरस्कार' की स्थापना। पहला पुरस्कार मंडल आयोग की रिपोर्ट लागू करने पर भारत के पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रसाद सिंह को दिया गया।
6. पुडुक्कोद्धार्क में प्रदेश स्तरीय सम्मेलन में समाज के लिए किये गये कार्यों के लिए श्री वीरामणि को उनके वजन के बराबर की चाँदी की छड़ों से तोला गया।
7. तन्जाउर में सम्पन्न हुए अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में जनता द्वारा उनके शरीर के बराबर सोने की छड़ें, उन्हें उसके सामाजिक कार्यों के लिए भेंट की गयीं। दो करोड़ पचास लाख रुपये के इस सोने से उन्होंने द्रविड़ार कड़गम ट्रस्ट का निर्माण किया।
8. मलेशिया के द्रविड़ार कड़गम द्वारा 'विचारों की चिनगारी' उपाधि प्रदत्त।
9. मयमार की आत्मसम्मान सभा द्वारा 2003 में 'बुद्धिमान मनुष्य' की उपाधि दी गयी।
10. चेन्नई के मुरासोली ट्रस्ट द्वारा मार्च 2009 में कलैग्नार पुरस्कार।
11. कांचीपुरम में अन्नादुराई की जन्मशती समारोह के अवसर पर द्रविड़ मुनेत्रकड़गम द्वारा 26-9-2009 के दिन 'पेरियार पुरस्कार' से सम्मानित।
12. न्यायमूर्ति बी. एस. ए. स्वामी ट्रस्ट, हैदराबाद द्वारा 'न्यायमूर्ति स्वामी पुरस्कार' से 24-7-2011 को सम्मानित।
13. चेन्नई में 6-3-12 को लॉयोला कॉलेज द्वारा लाइफ टाइम एचीवमेंट ॲवार्ड।
14. तमिलनाडु के प्रभावशाली जागृति आन्दोलन 'द्रविड़ार कड़गम' के अध्यक्ष।
15. जनहित में स्थापित पेरियार मनिअम्माइ इंस्टीट्यूट ऑफ साइन्स ॲण्ड टॅक्नोलॉजी के अध्यक्ष।
16. चेन्नई के पेरियार आत्मसम्मान प्रचार संस्थान के सचिव।
17. संरक्षक, तमिलनाडु बुद्धिवादी संघ।
18. संस्थापक, कुलपति, पेरियार मनिएम्माई विश्वविद्यालय।
19. कार्यकारी निदेशक 'पेरियार दर्शन और विचारधारा का अन्तरराष्ट्रीय संस्थान'।

संस्थापक

1. पेरियार मनिएम्माई चिकित्सा केन्द्र, चेन्नई वैलम, एलेम, त्रिची और सोलिंगनेल्लूर।
2. पेरियार इण्टर नेशनल, शिकागो (संयुक्त राज्य अमेरिका), लंदन और सिंगापुर।
3. सामाजिक न्याय के लिए वकीलों का संगठन, नयी दिल्ली।
4. पेरियार जन्मशती पोलीटेक्नीक कॉलेज, वैल्लम और तन्जावुर।
5. पेरियार कॉलेज ऑफ फार्मेसी फॉर गर्ल्स, त्रिची।
6. पेरियार आई. ए. एस. तथा आई. पी. एस कोचिंग सेन्टर, चेन्नई।

7. पेरियार महिला प्रबंधन एवं प्रौद्योगिकी महाविद्यालय, वैल्लम। संसार में सिर्फ महिलाओं का पहला इन्जीनियरिंग कॉलेज।
8. पेरियार सामुदायिक शिक्षा, महाविद्यालय, वैल्लम।
9. पेरियार सेन्टर फॉर यूथ कौंसिलिंग, चेन्नई।
10. पेरियार कम्प्यूटर रिसर्च एकेडमी, चेन्नई।
11. वरिष्ठ नागरिकों का स्वामी कैवल्लयम् आवास, त्रिची।
12. पेरियार कॉलेज ऑफ एडवान्स कम्प्यूटर एजुकेशन, त्रिची।
13. पेरियार सेन्टर, नई दिल्ली।
14. पेरियार ऑरगेनाइजेशन फॉर बायोटेक्नीक ॲण्ड इको सिस्टम, वैल्लम।
15. पेरियार रिन्यूएबल एनर्जी ट्रेनिंग इन्स्टीट्यूट, वैल्लम।
16. पेरियार सेन्टर फॉर एनर्जी ॲण्ड एन्वायरमेंट मैनेजमेंट, वैल्लम
17. पेरियार सेन्टर फॉर कैन्सर डिटेन्शन ॲण्ड प्रीवेन्शन।
18. पेरियार क्लब ऑफ ओरगन डोनर्स।

इतनी संस्थाओं के संस्थापक होने के साथ ही साथ डॉ. वीरामणि अन्तरराष्ट्रीय मानववादी नैतिक संघ के और ब्रिटिश मानववादी समाज के सदस्य भी हैं।

वे तमिल दैनिक 'विद्युत लाई', तमिल पाक्षिक 'उन्माई', अंग्रेजी मासिक 'द मॉडर्न रेशनेलिस्टस' और तमिल मासिक 'पेरियार पिन्जू' के सम्पादक हैं।

उन्होंने तमिल और अंग्रेजी में एक सौ के करीब पुस्तकों की रचना भी की है।

मणिशंकर अय्यर

राजनयिक, राजनीतिज्ञ, पत्रकार, लेखक व सामाजिक कार्यकर्ता मणिशंकर अय्यर का जन्म 10 अप्रैल, 1941 ई. में चार्टर्ड एकाउंटेंट पिता, वी. शंकर अय्यर तथा माँ भाग्यलक्ष्मी से हुआ था। जब ये मात्र 12 वर्ष के थे, तभी उनके पिता का निधन हो गया।

बालक मणिशंकर की प्रारम्भिक शिक्षा वेल्हेम ब्वायज़ स्कूल तथा दून स्कूल में हुई। दिल्ली विश्वविद्यालय के सेंट स्टिफेन कॉलेज से उन्होंने बी. ए. अर्थशास्त्र की डिग्री ली। बाद में उन्होंने कैम्ब्रिज से डिग्री ली जो नाम से बी. ए. पर मान्यता से एम. ए. के बराबर थी। कैम्ब्रिज में वे मार्क्सिस्ट सोसाइटी के सदस्य थे। यहाँ पर वे छात्र राजनीति में सक्रिय रहे तथा छात्रसंघ के अध्यक्ष पद को पाने का असफल प्रयास किया। राजीव गाँधी अय्यर के साथ दून कॉलेज व कैम्ब्रिज में दोनों जगह उनसे जूनियर थे और उनकी राजनीति में उनकी मदद करते थे।

आई. एफ. एस. में चुने जाने पर मणिशंकर पूरे 26 वर्षों तक विदेश सेवा में रहे, जिसके अंतिम 5 वर्ष उन्होंने प्रधानमंत्री राजीव गाँधी के कार्यालय में प्रतिनियुक्ति पर बिताये। सन् 1989 में उन्होंने सरकारी सेवा छोड़ दी और राजनीति में आ गये। सन् 1991 में वे कांग्रेस से एम. पी. चुने गये और लगातार तीन बार चुने जाने के बाद तीन बार चुनाव हारे। मनमोहन सिंह की पहली सरकार (2004-2009) में वे पंचायत राजमंत्री बनाये गये। उन्होंने पेट्रोलियम मंत्रालय तथा युवा मामलों का मंत्रालय और खेल मंत्रालय भी सँभाला। उत्तर-पूर्व विकास मंत्रालय बनने पर वे उसके भी पहले मंत्री रहे। सन् 2009 में चुनाव हारने के बाद उन्हें सरकार में नहीं लिया गया।

अय्यर एक समय कांग्रेस के ताकतवर नेता माने जाते थे और पार्टी की महत्त्वपूर्ण कमेटियों में उनका नाम होता था। वे अक्सर अखबारों में लिखते रहते हैं तथा उन्होंने कई पुस्तकें भी लिखी हैं। भारत में तृणमूल लोकतंत्र, भारत के पड़ोसी देश तथा परमाणु निरस्त्रीकरण उनके प्रिय विषय हैं।

मणिशंकर अय्यर अक्सर ऐसी बातें कह देते हैं, जिन्हें लेकर विवाद व विरोध

पैदा हो जाते हैं। सन् 2004 में वे अण्डमान की सेलुलर जेल गये तो कह दिया कि वीर सावरकर और मुहम्मद अली जिन्ना में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों की सोच संकीर्ण और अन्ध-उग्र राष्ट्रवादी है। उनके वक्तव्य से संसद में तूफान खड़ा हो गया। एक बार अय्यर और उस समय के सपा नेता अमरसिंह में हाथापाई तक की नौबत आ गयी थी। अय्यर घोषित अनीश्वरवादी हैं। अय्यर विवाहित हैं। इनके तीन पुत्रियाँ हैं, जिनमें सबसे बड़ी वकील, मँझली विकास सलाहकार तथा तीसरी अमेरिका में इतिहास की प्रोफेसर है।

प्रकाशन

रिमेम्बरिंग राजीव (1992), वन ईयर इन पारलियामेंट (1993), पाकिस्तान पेपर्स (1994), निकरवालाज, सिलिबिलीज ॲण्ड अदर क्यूरियस क्रीचर्स (1995), राजीव गाँधीज़ इण्डिया (1997), कॉन्फ्रेंस ऑफ ए सेकुलर फण्डामेंटलिस्ट (2004) तथा ए टाइम ऑफ ट्रान्जीशन : राजीव गाँधी टु द टवॅन्टीफर्स्ट सेन्चुरी (2009) अय्यर साहब की अब तक प्रकाशित सात पुस्तकें हैं।

स्वामिनाथन अय्यर

स्वामिनाथन शंकर अंकलेसरिया अय्यर एक प्रसिद्ध पत्रकार, अर्थशास्त्री, स्तम्भलेखक, अनीश्वरवादी, द इकानामिक टाइम्स के संपादक तथा विश्व बैंक के सलाहकार हैं।

उनका जन्म अक्टूबर 12, 1942 ई. को चा. एकाउंटेंट पिता वी. शंकर अय्यर व माँ, भाग्यलक्ष्मी अय्यर से हुआ था। भारत सरकार में पंचायत राजमंत्री रहे। पूर्व राजनयिक, मणिशंकर अय्यर उनके सगे बड़े भाई हैं।

टाइम्स ऑफ इंडिया में, हर सप्ताह एक आर्थिक स्तम्भ छपता है, 'स्वामिनोमिक्स'। इस स्तम्भ में भारत व विश्व की अर्थव्यवस्था का विवेचन होता है। इसके लेखक स्वामिनाथन अय्यर हैं। अय्यर को विश्व बैंक के कई आर्थिक दस्तावेज तैयार करने का श्रेय प्राप्त है। 'द इकानामिस्ट' अखबार के लिए वर्ष 1976-85 और 1990-98 में वे भारतीय संवाददाता थे। भारत के प्रसिद्ध दैनिक आर्थिक समाचार-पत्र, ''द इकनामिक टाइम्स'' के वे सलाहकार सम्पादक भी हैं। उन्हें दो पुस्तकें लिखने का भी श्रेय है, टुवर्ड्स ग्लोबलाइजेशन और स्वामिनोमिक्स : इस्केप फ्राम द बेनेवोलेन्ट ज़ूकीपर्स (2008) स्वामिनाथन की पत्नी एक पारसी शहनाज़ अंकलेसरिया हैं। पत्नी के प्रति बराबरी दिखाने के लिए स्वामिनाथन ने अपना नाम स्वामिनाथन अंकलेसरिया अय्यर उसी प्रकार कर लिया, जिस प्रकार शहनाज़ ने अपना नाम स्वामिनाथन अय्यर कर लिया। अय्यर परिवार में तीन बच्चे—पल्लवी, शेखर व रुस्तम हैं। पूरा परिवार अनीश्वरवादी है।

यहाँ हम स्वामिनाथन का इधर का एक लेख पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं।

जब दोषियों को सज़ा हो तभी फायदा है भंडाफोड़ का

क्या राबर्ट वढेरा के बारे में भंडाफोड़ भ्रष्टाचार को खत्म कर देगा? या यह एक सनसनी है, जो मध्यम वर्ग को कुछ सप्ताह तक झनझनाती रहेगी और फिर उसे भुला दिया जाएगा। क्या राजनीति भारत का अब तक का सबसे बड़ा धंधा है?

मैं बहुत आशावादी नहीं हूँ। हर पार्टी के राजनीतिक अपने प्रतिद्वंद्वियों पर कीचड़ उछालना पसंद करते हैं। एक अच्छे व्यापारी के तौर पर उनको उम्मीद होती है कि उससे उनका मार्केट शेयर बढ़ जाएगा। लेकिन क्या वे इस व्यापार को पूरी तरह बंद करेंगे और कम लाभदायक धंधे में चले जाएँगे? मुझे संदेह है।

पिछले वर्ष के अन्ना हजारे आंदोलन को याद कीजिए। वे नागरिकों को लुभाने में कामयाब रहे थे। उससे पैदा हुए दबाव ने राजनीतिक दलों को लोकपाल बिल का समर्थन करने को मजबूर किया था, जिसका मकसद था एक ऐसी नई व्यवस्था तैयार करना, जो भ्रष्ट राजनीतिज्ञों के खिलाफ तेजी से मुकदमा चलाए। सभी दलों ने अन्ना हजारे को आश्वस्त किया था कि संसद के शीतकालीन सत्र में बिल पास हो जाएगा। लेकिन उसके बाद उन्होंने इसे रोकने के लिए नाटकीय तरीके अपनाए। उन्होंने वादा किया था कि संसद का अगला सत्र शुरू होने पर वे कार्रवाई करेंगे।

लेकिन तब तक अस्थिर मनोवृत्ति वाले मध्यम वर्ग की दिलचस्पी खत्म हो चुकी थी और हजारे बड़ी तादाद में भीड़ को आकर्षित नहीं कर सके। बिल को संसदीय समिति को भेज दिया गया। जहाँ उस पर लंबे समय तक विचार होता रहेगा और बाद में लेप्स हो जाएगा। राजनीतिक दलों के बीच एक अलिखित समझदारी यह है कि कोई भी भ्रष्टाचार विरोधी कानून असरदार नहीं हो। कई राज्यों में लागू लोकायुक्त कानूनों का यही हश्र हुआ है। कोई लोकायुक्त राज्य स्तर पर भ्रष्टाचार में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं ला सका।

राबर्ट वढेरा का भंडाफोड़ करने के लिए अरविंद केजरीवाल की तारीफ की जानी चाहिए। एक समय का कबाड़ का व्यापारी और प्रियंका गाँधी का पति अमीर बन गया। पब्लिक बैंकों से आसान कर्जों, हरियाणा सरकार की मदद, और डी एल एफ से मिले एडवांस से उसकी अज्ञात कंपनी के कुछ लाख शेयर सैकड़ों करोड़ के हो गए। इसका औचित्य साबित करते हुए कांग्रेस के प्रवक्ता हास्यास्पद लग रहे थे। सभी जानते हैं कि यह आइसबर्ग की नोंक जितना ही है। जो सौदे हुए हैं, नंबर वन के पैसे में हुए हैं जबकि राजनीतिक व्यापार नंबर-दो में होता है।

यदि केजरीवाल अब कुछ विपक्षी नेताओं के संदिग्ध सौदों का भंडाफोड़ करते हैं तो क्या होगा? क्या सारी राजनीति बदल जाएगी? नहीं, सभी राजनीतिक दलों के राजनीतिज्ञ उनके खिलाफ इकट्ठा होकर उनकी विश्वसनीयता को कम करने की कोशिश करेंगे। घोटालों का भंडाफोड़ करने के लिए उनका अभिनन्दन करने के बजाय ऐसी स्थिति पैदा कर देंगे, जिसमें उनके काल्पनिक मामलों की जाँच की जाएगी और वह अपने को तकनीकी गलतियों के मामलों में फँसा पाएँगे। यह पिछले साल टीम अन्ना के सदस्यों के साथ हुआ था और फिर होगा।

इससे भी बुरा यह होगा कि वह बड़े पैमाने पर सभी दलों के नेताओं का भंडाफोड़ करेगा तो मध्यम वर्ग की दिलचस्पी कम हो जाएगी। जनता निराशावादी और चंचल

मन ही होती है और उसका मन एक ही मुद्दे पर कम समय तक टिकता है। वह बड़ी हस्तियों के बारे में भंडाफोड़ों को पसंद करती है। खासकर ऐसे भंडाफोड़ों को पसंद करती है जिन्हें कई किश्तों में उजागर किया जाता है। हर दिन होनेवाला नया भंडाफोड़ लोगों का मनोरंजन करता है। जो बोफोर्स, 2जी और कोल आवंटन के बारे में सही है, वही वढेरागेट के बारे में भी सही है।

लेकिन यदि एक दर्जन राजनेताओं पर अलग-अलग तरह के आरोप लगाए जाते हैं तो एंकरों और मध्य वर्ग पर आँकड़ों का बोझ बढ़ जाएगा और उनकी आँखें चुँधिया जाएँगी। ऐसा पहले भी हुआ है जब टीम अन्ना ने प्रधानमंत्री सहित 15 मंत्रियों के खिलाफ आरोप लगाकर उनकी तुरंत जाँच करने और कुछ सांसदों के खिलाफ 150 आपराधिक मामलों में चल रहे मुकदमों की रफ्तार तेज करने की माँग की थी। जनता इन सूचनाओं को हजम नहीं कर पाई और उसमें उसकी कोई दिलचस्पी पैदा नहीं हो पाई। केजरीवाल ने इससे कुछ सीखा और अब दूसरों के खिलाफ आरोप कुछ अंतराल से लगाए जाएँगे। लेकिन यदि वह हर पार्टी के भ्रष्टों का भंडाफोड़ करें तो क्या भ्रष्टाचार खत्म हो जाएगा? नहीं, क्योंकि वह केवल पुलिस, न्यायपालिका और अभियोजनकर्ताओं में प्रमुख सुधार करके ही संभव है। अभी मामलों का फैसला होने में इतना समय लगता है कि तमाम अपीलों के बाद सजा मिलने से पहले आरोपी बूढ़े होकर भगवान को प्यारे हो जाते हैं। ललित नारायण की हत्या का मामला 37 वर्षों से चल रहा है, 30 जज बदल गए। ज्यादातर गवाह मर गए। इसके बावजूद हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि इस देरी के लिए व्यवस्था को जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

लालू यादव के खिलाफ चारा घोटाले में और मायावती के खिलाफ ताज कोरिडोर वाले मामले में न्यायिक प्रक्रिया लंबे समय से चल ही रही है। 2006 में ओमप्रकाश चौटाला के खिलाफ 1400 करोड़ के घोटालों के मामले उजागर हुए थे। उनकी रकम वढेरा से कहीं ज्यादा है। इसके बावजूद चौटाला के मामले धीमी गति से चल रहे हैं। लोगों की दिलचस्पी खत्म हो गई है। इसलिए चौटाला अगले मुख्यमंत्री होंगे न कि जेल के कैदी।

यह चौंकानेवाली बात है न? लेकिन जब न्यायिक व्यवस्था भ्रष्ट लोगों को सज़ा नहीं दे सकती, तब राजनीतिक और अन्य क्षेत्रों में भ्रष्ट लोग फलेंगे-फूलेंगे ही। व्यवस्थागत परिवर्तन केवल तभी संभव है जब तेजी से जाँच और दंड देने के लिए पुलिस और न्यायपालिका में क्रांतिकारी सुधार किए जाएँ। लेकिन इससे टीवी चैनलों की लोकप्रियता नहीं बढ़ती इसलिए न ही केजरीवाल और न ही टीवी एंकर इस पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे। इसके बजाय वे नवीनतम सनसनी पर ध्यान लगाएँगे।

–स्वामिनाथन एस. अंकलेसरिया अय्यर

शंकर गुहा नियोगी

छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के संस्थापक शंकर गुहा नियोगी मूलतः एक श्रमिक नेता थे और श्रमिकों के हितों के लिए ही लड़ते हुए वे शहीद हुए।

गुहा का जन्म फरवरी 14, 1943 ई. को जलपाईगुड़ी, बंगाल में हुआ था। बचपन का नाम था धीरेश गुहा नियोगी। उनकी स्कूली शिक्षा कोलकाता व जलपाईगुड़ी में हुई और इसी दौरान वे वहाँ के वामपंथी आंदोलन के प्रभाव में आए। वे कुछ समय के लिए अखिल भारतीय स्टूडेन्ट्स फेडरेशन के महासचिव भी रहे।

सदी के सातवें दशक में वे भिलाई स्टील प्लांट में एक कुशल श्रमिक के रूप में आए। श्रमिक रहते हुए उन्होंने बी. एस-सी. की डिग्री प्राप्त की। वे शीघ्र ही यहाँ के संस्थापित श्रमिक नेता बन गए। इन दिनों भिलाई औद्योगिक गतिविधियों के एक बड़े केन्द्र के रूप में तेजी से विकसित हो रहा था, जहाँ श्रमिकों की बड़ी संख्या नियोगी के पीछे खड़ी थी। वे पारंपरिक कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य तो थे ही, जब कोआर्डीनेशन कमेटी ऑफ कम्युनिस्ट रिवोल्यूशनरीज़ का गठन हुआ तो नियोगी कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ रिवोल्यूशनरी कमेटी में शामिल हो गए। यही कमेटी बाद में सी. पी. आई. (एम. एल.) बनी। सन् 1967 ई. में भिलाई स्टील प्लांट में मज़दूरों की ऐतिहासिक हड़ताल हुई। इस हड़ताल के शीर्ष नेताओं में नियोगी थे। हड़ताल समाप्त होने के बाद वे नौकरी से निकाल दिए गए। बर्खास्तगी का यह कठिन समय उन्होंने छत्तीसगढ़ के जंगलों में जाकर बिताया। बस्तर, बिलासपुर, दुर्ग, रायगढ़, राजनंद गाँव और सरगुजा जिलों में वे भूमिगत रहने लगे। अब उन्होंने सी. पी. आई. (एम. एल.) भी छोड़ दी और ग्रामीण आदिवासी क्षेत्रों में मेहनत-मज़दूरी कर जीवन चलाने वाले लोगों के नाना प्रकार के संघर्षों में शामिल होकर उनको दिशा देने लगे।

सन् 1975 ई. में भारत में आपात्काल की घोषणा हुई तो इस शंकर को भी मीसा में जेल में डाल दिया गया। फिर वह सन् 1977 ई. में ही जेल से छोड़ा गया। यही था धीरेश गुहा नियोगी उर्फ शंकर गुहा नियोगी।

सन् 1977 ई. में शंकर गुहा नियोगी ने कुछ अन्य श्रमिक नेताओं के साथ

मिलकर छत्तीसगढ़ माइन्स श्रमिक संघ (सी. एम. एस. एस.) बनाया। मात्र दो माह के समय में यह संघ छत्तीसगढ़ का सर्वाधिक शक्तिशाली संघ बन गया, यद्यपि इसे सरकारी मान्यता नहीं थी। सी. एम. एस. एस. के झंडे तले जब श्रमिक अपनी विभिन्न माँगों को लेकर लड़ रहे थे, जून 3, 1977 की रात पुलिस ने नियोगी को गिरफ्तार कर लिया। मज़दूरों ने थाने पर घेरा डाल दिया। पुलिस ने गोली चलाई तो 12 मजदूर, जिनमें लोक गायिका अनुसूया बाई भी शामिल थीं, मारे गए। मात्र 4 माह पूर्व सत्ता में आई जनता पार्टी सरकार का यह पहला श्रमिक विरोधी कारनामा था। मज़दूर संघर्ष पर डटे रहे, यद्यपि नियोगी जेल में थे। केवल 15 दिनों में कारखाना प्रबंधकों ने यूनियन से समझौता कर उसकी माँगें मान लीं। नियोगी रिहा कर दिए गए और यूनियन को मान्यता दे दी गई। यूनियन बेहद तेजी से क्षेत्र के श्रमिकों पर प्रभावी हो गई और उसकी शक्ति ऐसी हो गई कि वह अपनी हर माँग मनवाने में सफल होने लगी।

मई 80 में श्रमिकों ने मशीनीकरण और मज़दूरों की छँटनी के विरुद्ध संघर्ष छेड़ा। सरकार ने हर कारखाने पर सेन्ट्रल इन्डस्ट्रियल सिक्योरिटी फोर्स लगा दी। इस बार सी. आई. एस. एफ. ने गोली चलाई। एक मज़दूर मारा गया और 38 घायल हुए। नियोगी व अन्य शीर्ष नेता फिर गिरफ्तार कर लिये गए। गोली कांड पर दो कमीशन (जाँच) बैठे पर सरकार ने किसी कमीशन की रपट पर कार्यवाही नहीं की।

सी.एम. एस. एस. ने शराब विरोधी आन्दोलन भी प्रारम्भ किया। इसको लेकर शराब माफिया व उनके राजनीतिक आका यूनियन के बेहद खिलाफ हो गए। यह आन्दोलन निरंतर सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा तो इसने अपने साधनों से एक गराज में एक अस्पताल प्रारम्भ किया। आज यह अस्पताल 100 बिस्तरों वाले श्रमिक-संचालित अस्पताल में विकसित हो चुका है।

सन् 1990 आते-आते सी. एम. एस. एस. एक ऐसा श्रमिक संगठन बन गया था जो अपने ठेके के श्रमिकों को देश के सर्वश्रेष्ठ वेतन व कार्य परिस्थिति दिला रहा था।

छत्तीसगढ़ मुक्तिमोर्चा का निर्माण क्षेत्र के श्रमिकों व आदिवासियों की समस्याओं पर ध्यान देने के लिए हुआ था। उसने अनुसंगी संगठन भी बनाए जो बँधुआ मज़दूरी व महिला श्रमिकों की समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित करते थे। श्रमिक आन्दोलन तेजी से सघन व विस्तृत होता जा रहा था और उद्योग मालिकों, उद्योग प्रबंधकों तथा उनके पालतू गुंडों और श्रमिकों में तनाव भी बढ़ रहा था। श्रमिक नेताओं पर व्यक्तिगत हमले बढ़ रहे थे। महिला श्रमिकों के साथ बलात्कार की घटनाएँ भी खूब हो रही थीं। इसी बीच नियोगी को जानकारी मिली कि उनकी हत्या की भी योजना है। उन्होंने पुलिस में इस हेतु रपटें भी दर्ज कराईं, पर सब बेकार।

सितंबर 28, 1991 ई. की रात। स्थान भिलाई औद्योगिक क्षेत्र में नियोगी का

एक मंजिल का आवास कक्ष। वे सोए हुए थे। सुबह का समय होने को था। कमरे की खिड़की से उन पर छह गोलियाँ चलाई गईं। वे सभी उस महान् श्रमिक नेता व क्रांतिकारी चिंतक के शरीर में धँस गईं। मज़दूरों का सर्वप्रिय नेता इस क्रूर पूँजीवादी औद्योगिक दुनिया के किराये के गुंडों के हाथों मारा जा चुका था। वह श्रमिकों, समाज व क्रांति की वेदी पर शहीद हो चुका था।

सितंबर 29 को शहीद का पार्थिव शरीर लाल-हरे झंडे (मोर्चे का निशान) में लपेटकर दल्ली-राजरा ले जाया गया। यहीं 14 वर्ष पहले सी. एम. एस. एस. की स्थापना हुई थी। उस दिन 2 लाख श्रमिक हड़ताल पर रहे। 150 औद्योगिक प्रतिष्ठान बंद रहे। डेढ़ लाख से ज्यादा बच्चों, महिलाओं, युवकों व वृद्धों ने जनाज़े में शिरकत की।

नियोगी की पत्नी, आशा ने अपनी रपट में 10 लोगों को कत्ल की साजिश में शामिल होने की तहरीर पुलिस को दी। पुलिस ने जाँच के बाद मुकदमा चलाया तो जिला न्यायालय ने 5 को साजिश रचने (1-मूलचंद शाह, 2-चंद्रकांत शाह व 3 अन्य) व पल्टन मल्लाह को किराए की हत्या करने के दोषी के रूप में क्रमशः आजीवन कारावास व मृत्युदंड की सजाएँ दी। बाद में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने उद्योगपतियों के विरुद्ध साक्ष्य अपर्याप्त बताकर उनका दंड माफ कर दिया और हत्यारे मल्लाह की सजा आजीवन कारावास में बदल दी।

नियोगी को अपने विरुद्ध उद्योगपतियों की साजिशों का पूर्वाभास था। उन्होंने अपनी शहादत से मात्र कुछ दिन पूर्व अपने इस पूर्वाभास को रिकॉर्ड कराया था—''यह दुनिया बहुत सुंदर है और मैं निश्चय ही इस दुनिया को प्यार करता हूँ, लेकिन मुझे मेरे कार्य व मेरे कर्तव्य कहीं ज्यादा प्यारे हैं। मुझे वह जिम्मेदारी पूरी करनी है, जिसे मैंने स्वयं के लिए निर्धारित किया है। ये लोग मुझे मार डालेंगे पर मुझे मारकर भी मेरे आन्दोलन को कभी नहीं मार पाएँगे।''

हमीद दलवाई

❑ अनवर राजन

3 मई, 1977 के रोज हमीद दलवाई का मुंबई में देहांत हुआ। उन्होंने जो मृत्युपत्र लिखा था वह अपनी जिंदगी की तरह ही एक बहस का मुद्दा बन गया। उन्होंने अपने मृत्युपत्र में अपने नास्तिक होने की बात स्पष्ट की थी। किसी भी धार्मिक विधि के बिना उनका अंतिम संस्कार विद्युतदाहिनी में करने का उनका निर्देश था। एक इस्लामिक रिसर्च सेंटर का निर्माण करने की उन्होंने इच्छा प्रकट की थी। उनकी इच्छा के अनुसार मुंबई के चंदनवाड़ी श्मशान में विद्युतदाहिनी में उनकी देह का दहन किया गया। दफन की बजाय दहन और वह भी किसी भी धार्मिक विधि के बिना करने का शायद यह पहला प्रसंग हो। उनके बाद न्यायमूर्ति अहमद करीम छागला, न्यायमूर्ति एम. आर. ए. बेग, इस्मत चुगतई और भारत के भूतपूर्व उपराष्ट्रपति न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला के नाम जोड़े जा सकते हैं, जिनकी मृत्यु के पश्चात् उनकी इच्छा के अनुसार दफन की बजाय दहन किया गया।

हमीद दलवाई का जन्म कोंकण में चिपलूण नामक गाँव में हुआ। यह इसका समुद्र तटीय इलाका है। यहाँ पर अरब व्यापारी आने की परंपरा बहुत पुरानी है। कोंकण और केशला में इस्लाम धर्म का आगमन सातवीं सदी में ही हुआ था, जो कि कासिम के आक्रमण के 400 साल पहले था। केरल के मुसलमान मलयालम भाषा का प्रयोग करते हैं और कोंकण के मुसलमान कोंकणी भाषा का। यहाँ मुसलमान और ईसाई धर्मांतरित हैं और उनकी भाषा, पहनावा और संस्कृति स्थानिक संस्कृति के अनुरूप है। जब देश आजाद हुआ तब विभाजन भी हुआ। यह भारत की राजनीति में एक बहुत बड़ा और बुरा हादसा था। भारत में कई सालों तक शांतिमय सहजीवन जीने वाले हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के खिलाफ खड़े हो गये। छोटे-मोटे विवादों का रूपांतर दंगों में होने लगा। हमीद दलवाई ने इन सारी घटनाओं को अपने उपन्यास 'ईंधन' (FUEL) में बहुत ही प्रभावशाली शब्दों में रखा है। यह उपन्यास काफी लोकप्रिय हुआ, चर्चित भी रहा और विवादग्रस्त भी। इस उपन्यास का विरोध और

निंदा करने के लिए चिपलूण के हिंदू-मुसलमान नागरिकों ने इकट्ठे होकर आम सभा का आयोजन किया और हमीद दलवाई को धिक्कारा, उनके घर पर पथराव किया गया। हिंदू-मुस्लिम दंगों का राजनीतिक अर्थ स्पष्ट करने वाला इससे अच्छा कोई उपन्यास मेरे पढ़ने में आज तक नहीं आया।

हमीद दलवाई शुरू से ही समाजवादी पक्ष (पुराना समाजवादी पक्ष जिसमें डॉ. लोहिया, जय प्रकाशजी थे) और राष्ट्रसेवा दल से जुड़े हुए थे। धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक धारा में विश्वास रखने वाले इस संघटन में उनकी विचारधारा की बुनियाद तैयार हुई। कोंकण छोड़कर हमीद दलवाई मुंबई में आये। वहाँ पर उन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र में काम किया। दैनिक मराठा में वे पत्रकार के रूप में काम करने लगे। उनका उपन्यास ईंधन तो 1962 में ही प्रकाशित हो चुका था। अलावा इसके वे छोटी-मोटी कहानियाँ भी लिखते थे।

हमीद दलवाई लेखक के रूप में एक कामयाबी हासिल कर चुके थे। लेकिन उनके जीवन का उद्देश्य समाज में परिवर्तन लाना था। मुस्लिम समाज का पिछड़ापन दूर करना उनका मकसद था। मुस्लिम समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण स्वीकार हो और धर्मनिरपेक्षता का महत्त्व मुसलमान समझें, ऐसा वे चाहते थे। उन्होंने मरहूम प्रा. ए. बी. शाह और कुछ मित्रों को साथ लेकर 1969 में इंडियन सेक्युलर सोसायटी की स्थापना की। धर्म की मर्यादा स्पष्ट करना, धर्म की चिकित्सा (समीक्षा) करना और धर्म को विज्ञान की नज़रों से परखना यह कठिन कार्य इस सोसायटी में करने का निश्चय किया था। 1970 में इसी बात को मुसलमान समुदाय तक पहुँचाने के हेतु उन्होंने मुस्लिम सत्यशोधक मंडल की स्थापना की। भारत के एक महान सुधारक ज्योतिबा फुले ने अपनी संस्था का नाम 'सत्यशोधक समाज' रखा था। हिन्दू धर्म की विषमता और अन्ध श्रद्धा पर हमला बोलने का काम महात्मा जोतिबा फुले ने किया था। यही प्रेरणा मुस्लिम सत्यशोधक मंडल की थी। हालाँकि इस मंडल की स्थापना के 4 साल पहले, 1966 में मुंबई से हमीद दलवाई ने मुस्लिम महिलाओं का एक जुलूस निकाला था जिसमें जुबानी तलाक पर रोक, चार शादियों पर रोक, तलाकशुदा औरतों को मेन्टेनन्स की माँग और युनीफार्म सिविल कोड की माँग थी। इसमें केवल सात महिलाएँ थीं लेकिन इस घटना को पूरे देश में पहुँचाने का काम अखबारों ने किया। 1972 में इंडियन सेक्युलर सोसायटी और मुस्लिम सत्यशोधक मंडल ने दिल्ली में फॉरवर्ड लुकिंग मुस्लिम कॉन्फ्रेंस का आयोजन किया। जिसमें मुस्लिम समाज की शिक्षा तथा राजनीतिक समस्याओं पर चर्चा की गई। मुस्लिम महिलाओं के अधिकार की बात भी की गई और युनीफॉर्म सिविल कोड की माँग का भी प्रस्ताव इस कॉन्फ्रेंस में पारित हुआ।

मुस्लिम समाज में धार्मिक नेता और धर्म के नाम पर राजनीति करने वाले राजनीतिक नेताओं ने हमीद दलवाई का डटकर विरोध किया। उन्हें काफिर भी घोषित

किया गया। पूना के मोकिनपुरा में एक जुलूस के दौरान उन पर हमला भी किया गया। बावजूद इसके हमीद दलवाई के साथ कई मुसलमान युवक और महिलाएँ जुड़ गईं। इस आंदोलन ने मुसलमान समाज को तो झिंझोड़ ही दिया, पूरे भारतीय समाज में भी प्रशंसा की गई।

हमीद दलवाई का जब काम शुरू हुआ था तब और एक विवाद राष्ट्रीय स्तर पर चल रहा था, कि भारतीय मुसलमान और पाकिस्तान का क्या रिश्ता है। धर्म के आधार पर निर्मित पाकिस्तान और सेक्युलरिज्म की बुनियाद पर खड़ा हुआ भारत; यह दो भिन्न और एक-दूसरी के बिल्कुल खिलाफ विचारधाराएँ हैं। भारत में रहने वाले मुसलमान इस सेक्युलर विचारधारा को स्वीकार करें और भारत के धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद को स्वीकार करें, यह आग्रह हमीद दलवाई का था। उस दौर में जबकि बांग्लादेश का निर्माण हुआ नहीं था; उसके पूर्व कुछ मुसलमानों को पाकिस्तान का आकर्षण था। हमीद दलवाई का प्रयास इस राजनीतिक माहौल में मुसलमानों को सावधान करने का था। बांग्लादेश का निर्माण होने की वजह से यह काम सरल हो गया। धर्म के नाम पर निर्माण हुआ पाकिस्तान दो टुकड़ों में बँट गया यह धर्माधिष्ठित राष्ट्र की मर्यादा स्पष्ट करता है। बांग्लादेश के निर्माण के बाद भारत के मुसलमानों का पाकिस्तान की ओर देखने का नजरिया बदल चुका है। हमीद दलवाई की बात में जो सच्चाई थी, वह स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आई।

मुस्लिम सत्य शोधक मंडल ने हमीद दलवाई के नेतृत्व में मुस्लिम महिलाओं के अधिकार का आंदोलन चलाया। जुबानी तलाक, बहुपत्नीत्व, शिक्षा का अभाव, बुरके की जबरदस्ती इन सारे सवालों पर हमीद और मंडल ने समाज में जागृति लाने का प्रयास किया। मुस्लिम पर्सनल लॉ में संशोधन करने की माँग हमीद दलवाई करते थे जबकि मुसलमानों के कट्टर समूह ने मुस्लिम पर्सनल लॉ प्रोटेक्शन कमेटी का गठन किया जो बाद में मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड में तब्दील हुआ। पूना में तलाकशुदा औरतों की कॉन्फ्रेंस 1972 में हुई जिसमें बहुत बड़ी संख्या में मुस्लिम औरतों की सहभागिता रही। इन औरतों ने अपने पर बीती मुसीबतों और अन्याय को स्टेज पर आकर बयान किया। शायद भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था जब मुस्लिम पीड़ित महिलाएँ स्टेज पर आकर अपने पर हुए अन्याय को लोगों के सामने रख रही थीं।

इस आंदोलन को उस वक्त की केन्द्र सरकार और प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने सकारात्मक प्रतिसाद दिया। उन्होंने क्रिमिनल प्रोसीजर कोड की धारा 125 में संशोधन किया, जिसकी वजह से तलाकशुदा औरतों को (सभी धर्मों की) मेन्टेनेन्स का अधिकार मिला। इस संशोधन का कुछ मुस्लिम सांसदों ने विरोध किया लेकिन यह कानून बन गया। जिसका लाभ तलाकशुदा औरतों को 1986 तक मिलता रहा। शाहबानों की घटना के बाद जो नया कानून बनाया गया, उसमें यह अधिकार समाप्त हो गया।

हमीद दलवाई ने अपने इस आंदोलन में एक और बात जोड़ी थी। उनका यह

आग्रह था कि मुसलमान अपनी प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग करें। महाराष्ट्र के मुसलमान मराठी में पढ़ें, लिखें और मराठी बोलें, कर्नाटक के कन्नड़, आंध्र के तेलुगु। मुसलमानों की भाषा उर्दू है, यह कहना एक राजनीति है। पाकिस्तान का निर्माण हुआ तब सब मुसलमान एक हैं, एक जैसे हैं यह साबित करने के लिए मुसलमानों की भाषा उर्दू है, ऐसा कहा गया, जो कि गलत था—1973 में कोल्हापुर में मुस्लिम शिक्षा परिषद् का आयोजन किया गया, जिसमें इन सभी बातों को प्रस्ताव के रूप में पारित किया गया। इस परिषद् में 700 से भी ज्यादा मुसलमान सहभागी थे।

आज के दौर में हमारे समक्ष जो भी समस्याएँ हैं; उन सारी समस्याओं का उत्तर किसी एक धर्म की किताब में है; ऐसा मानना मूर्खतापूर्ण और अवैज्ञानिक है, ऐसा हमीद दलवाई मानते थे और खुले आम कहते थे। बाइबिल, कुरान, वेद, पुराण ये सारे ग्रंथ पुराने हो चुके हैं। इन ग्रंथों में काफी बातें हैं, जो आज संदर्भहीन हैं या गलत भी साबित हो चुकी हैं। यह कठोर सत्य हमीद कहता रहा लेकिन इसको स्वीकार करना इतना आसान नहीं था। उनके अनुयायी कहलाने वाले भी यह बात स्वीकार करने से हिचकिचाते हैं। हमीद धर्मों के कठमुल्ला के खिलाफ थे; वह धर्म के नाम पर राजनीति करने वाले मुहम्मद अली जिन्ना और सावरकर के कड़े आलोचक थे और महात्मा गाँधी और मौलाना आज़ाद के प्रशंसक थे। गाँधीजी और मौलाना आज़ाद धार्मिक थे लेकिन उन्होंने सेक्युलर राजनीति और सेक्युलर राष्ट्र का निर्माण किया। यह बात वो हमेशा कहते थे। RSS और गोलवलकर की उन्होंने तीखी आलोचना की है। जब वे मुसलमान समाज की कुरीतियों पर प्रहार करते तो हिंदुत्ववादी खुश हो जाते थे लेकिन जब वे हिंदू धर्म के नाम पर काम करने वाले राजनीतिक नेताओं की आलोचना करते थे तो उनको कहा जाता था कि तुम अपने समाज के सुधार की सोचो, हमारे धर्म में दखलअंदाजी मत करो। 1978 के दौरान पंढरपुर में एक यज्ञ होने जा रहा था, जिसमें बड़े पैमाने पर अनाज और घी को जलाया जाना था। उस यज्ञ का विरोध करने के लिए कुछ समाजवादी नेताओं ने आंदोलन किया। डॉ. बाबा आढाव, डॉ. अरुण लिमये को हिरासत में लेकर जेल में बंद किया गया। उन्हीं के साथ हमीद दलवाई को भी हिरासत में लेकर जेल में डाल दिया गया।

हमीद दलवाई नास्तिक तो थे लेकिन वह मुसलमान थे। अपने मुसलमान होने को उन्होंने कभी भी नकारा नहीं। वो भारतीय धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद में विश्वास रखने वालों में से थे। महात्मा गाँधी और जवाहरलाल नेहरू के विचारों का उन पर काफी प्रभाव था। किडनी फेल होने की वजह से उनकी जिन्दगी कम उम्र में समाप्त हुई। जब उनका देहान्त हुआ तब उनकी उम्र केवल 46 साल की थी। इतने कम समय में उन्होंने भारतीय समाज में एक अनोखा और प्रेरणादायी आंदोलन खड़ा किया। उनको हमारा सलाम।

जावेद अख़्तर

जावेद अख़्तर बालीवुड फ़िल्म क्षेत्र के एक जाने-माने गीतकार, पटकथा लेखक व कवि हैं। उनका जन्म जनवरी 17, 1945 ई. को ग्वालियर, मध्य प्रदेश में हुआ था। पिता, जाँ निसार अख़्तर जाने-माने उर्दू शायर थे और माँ साफिया अख़्तर एक शिक्षिका व लेखिका थीं। उनका बचपन का नाम जादू था। यह नाम पिता की कविता 'लम्बा-लम्बा किसी जादू का फसाना होगा' से लिया गया था। बाद में यही जादू शब्द जावेद में बदल दिया गया।

जावेद अख़्तर का परिवार पिछली एक शताब्दी से ख्यातिलब्ध था। नाना, मुज़्तर खैराबादी और मामा, मजाज़ उर्दू शायर थे। परबाबा, मौ. फज़्ल-ए-हक खैराबादी ख्यातनामा दार्शनिक, कवि, धार्मिक विद्वान और सन् 1857 ई. के अवध के सिपाही विद्रोह के नागरिक हीरो थे, जिन्हें कालापानी के आजीवन कारावास की सजा दी गई थी। जावेद के छोटे भाई, सलमान अख़्तर, यू. एस. ए. में मनोविश्लेषक का काम करते हैं।

बचपन में ही माँ का देहावसान हो जाने से बालक जादू का बचपन लखनऊ, अलीगढ़ व मुम्बई में रिश्तेदारों के पास बीता। वे काल्विन कॉलेज, लखनऊ के छात्र रहे। हाई स्कूल परीक्षा उन्होंने भोपाल में सोफिया कॉलेज से पास की। वहाँ रोटरी क्लब उन्हें अक्सर श्रेष्ठ वक्ता का पुरस्कार दिया करता था।

अख़्तर जब मुम्बई आए तो महज़ 20 वर्ष के थे। उन्होंने प्रयास किए और एक सामान्य फ़िल्म में संवाद लेखक का काम मिल गया, जिसके लिए उन्हें सौ रुपये (1964) भी मिले। कुछ फ़िल्मों में उन्हें सहायक का काम भी मिलने लगा। 'यकीन' में उन्हें पटकथा लेखक का काम मिला पर फ्लाप रही। अपने मित्र सलीम खाँ के साथ उन्होंने 'अधिकार' की कहानी विकसित की। इसी बीच जी.पी. सिप्पी ने उन्हें (सलीम-जावेद) पटकथा का काम दे दिया। उनकी फ़िल्में 'अन्दाज़', 'सीता और गीता', 'शोले' और 'डॉन' बेहद सफल रहीं।

सन् 1980 के बाद जावेद की रुचि पटकथा से हटकर फिल्मी गीतों में बढ़

गई। सलीम-जावेद जोड़ी एक प्रकार से टूट गई। गीतों में जावेद को निरंतर सफलता मिलती गई।

जावेद ने फ़िल्मी गीतों के अतिरिक्त गंभीर उर्दू शाइरी भी की है। उनकी प्रमुख शाइरी 'तरकश' में संगृहीत की गई है। इनमें से कइयों को गायकों जगजीत सिंह व नुसरत फतेह अली खाँ ने स्वर दिया है। इंडियन आइडियल-4 की नवोदित गायकों की तलाश में जावेद को अनु मलिक, कैलाश खेर और सोनाली बेन्द्रे के साथ जज भी बनाया गया। 'एशियन अकादमी ऑफ फ़िल्म ॲण्ड टेलीविज़न' के सलाहकार बोर्ड में भी अख्तर को नामित किया गया है।

व्यक्तिगत जीवन में वे अनीश्वरवादी हैं। उनके प्रकाशित भाषण, 'स्पिरिचुअलिटी : हॅलो ऑर हॉक्स' में उनके अनीश्वरवादी विचारों का स्पष्ट कथन उपलब्ध है। जावेद का पहला विवाह हिन्दी फ़िल्मों की लेखिका, हनी ईरानी से हुआ था, जिनसे एक पुत्र फरहान अख़्तर और एक पुत्री जोया हुए। दोनों ही फ़िल्मों में हैं। फरहान ने एक हिन्दू लड़की, अधुना से विवाह किया है। हनी से तलाक के बाद जावेद ने प्रसिद्ध फिल्म अभिनेत्री व एक प्रसिद्ध उर्दू शायर कैफ़ी आज़मी की बेटी, शबाना आज़मी के साथ दूसरी शादी की।

पटकथा लेखन (सलीम-जावेद)

हाथी मेरे साथी, 1971; सीता और गीता, 1972; यादों की बारात, 1973; जंजीर, 1973; मजबूर, 1974; दीवार, 1975; शोले, 1975; ईमान-धरम, 1977; चाचा-भतीजा, 1977; मानुशूलू सेसीना डोगालू (तेलुगु), 1977; त्रिशूल, 1978; डान, 1978; युगान्धर (डान का तेलुगु रूपांतरण), 1979; काला पत्थर, 1979; दोस्ताना, 1980; शान, 1980; क्रांति, 1981; शक्ति, 1982; मि. इंडिया, 1987।

एकल पटकथा लेखन

दुनिया, 1984; मशाल, 1984; मैं आज़ाद हूँ, 1989; रूप की रानी, चोरों का राजा, 1993।

गीतकार

आठ बार सर्वश्रेष्ठ गीतकार पुरस्कार (फ़िल्मफेयर)। उन्होंने अग्रलिखित फ़िल्मों के लिए गीत लिखे—दुनिया; सागर; ए लव स्टोरी; दिल चाहता है; साथ-साथ; नरसिम्हा, मशाल; सैलाब; मि. इंडिया; तेज़ाब; हफ्ता बंद; जोशीले; अर्जुन; रूप की रानी : चोरों का राजा, युगान्धर; जमाई राजा; खेल; गर्दिश; सिलसिला; पापा कहते हैं; वार्डन; सपने; विरासत; मृत्युदंड; दस्तक; सरदारी बेगम; साज़; मिल गई मंज़िल मुझे; दिलजले; यस बॉस; दर्मियाँ; और प्यार हो गया; वजूद; कभी न कभी; द्रोही; जीन्स; बड़ा दिन; डुप्लीकेट; लावारिस; गॉडमदर; बादशाह; अर्जुन पंडित; अर्थ; दिल्लगी; फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी; रिफ्यूजी; कारोबार; हमारा दिल आपके पास है; राजा को रानी से प्यार हो गया; चैम्पियन; गैंग; प्यार की धुन; जुबेदा; लगान, 2001; अभय; मोक्ष; अग्निवर्षा; मेरे यार की शादी है; बधाई हो बधाई; ये क्या हो रहा है; सट्टा; लव ॲट टाइम्स स्क्वैर; हीरो; अरमान; चलते-चलते; कुछ न कहो; कल हो न हो; एल. ओ. सी.; कारगिल; तहज़ीब; मैं हूँ न; 2004; वीर-ज़ारा; लक्ष; चरस; क्यों हो गया न; दोबारा; स्वदेश; किसना; दि बैरियर...; बोस; द फारगॉटेन हीरो; मंगल पांडे; द राइजिंग; दिल जो भी कहे; कभी अलविदा न कहना; डॉन : द चेस बिगिन्स अगेन; नमस्ते लंदन; ता रा रम पम; दन दना दन गोल; वेलकम; ओम शांति ओम; जोधा अकबर; रॉक ऑन!! लक बाई चांस, 2009; व्हाट इज़ योर राशि, 2009; वेक अप सिड, 2009; कार्तिक कालिंग कार्तिक, 2010; खेलें हम जी-जान से, 2010; आइशा, 2010; रेड अलर्ट—दि वार विदिन, 2010; प्रेम का गेम, 2010; डॉन 2; द किंग इज बैक, 2011; बंदा यह बिन्दास है, 2011; ट्रैफिक सिग्नल, 2009; एक दीवाना था, 2011।

विश्वविद्यालयों में दिए गए भाषण

- हारवर्ड विश्वविद्यालय—'उर्दू कविता में धर्मनिरपेक्ष तत्त्व' के मूल सिद्धांत वक्ता।
- कोलम्बिया विश्वविद्यालय—'सामाजिक न्याय और धार्मिक सद्भाव' के मूल सिद्धांत वक्ता।
- मैरीलैंड विश्वविद्यालय—रूढ़िवाद के आधार, मूल सिद्धांत वक्ता।
- बर्कले, कैलीफोर्निया—भारतीय राजनीति और विघटनकारी तत्त्व।
- लंदन विश्वविद्यालय—आधुनिक उर्दू काव्य।
- कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय—भारतीय समाज, भारतीय सिनेमा।
- आक्सफर्ड विश्वविद्यालय—भारतीय सिनेमा और नए आदर्श पुरुष।
- लंदन स्कूल ऑफ इकोनोमिक्स—सिनेमा में नए आदर्श पुरुष और नवीन सामाजिक अर्थव्यवस्था।
- नेशनल यूनिवर्सिटी मेनूथ, आयरलैंड।
- जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
- अलीगढ़ मु. विश्वविद्यालय
- विश्वभारती विश्वविद्यालय
- इलाहाबाद यूनिवर्सिटी
- लखनऊ विश्वविद्यालय
- एम्नेस्टी इन्टरनेशनल—इस्लामी भय की चुनौतियाँ (2006)।

प्रकाशन

उनके उर्दू कविता के पहले संकलन 'तरकश' के उर्दू में सात और हिन्दी में ग्यारह संस्करण निकल चुके हैं। एक प्रकाशन संगठन के सर्वेक्षण के अनुसार पिछले 60 साल में काव्य विधा की यह सबसे ज्यादा बिकी पुस्तक है। जावेद अख्तर ने सम्प्रदायवाद, सामाजिक अन्याय के खिलाफ और राष्ट्रीय एकीकरण तथा स्त्री अधिकारों के पक्ष में बड़ी संख्या में कविताएँ लिखी हैं। राष्ट्रपति अब्दुल कलाम के अनुरोध पर उन्होंने भारत के राष्ट्रध्वज पर पाँच गीत लिखे। जिन्हें क्रमशः पंडित जसराज, पं. शिवकुमार शर्मा, उस्ताद जाकिर हुसैन, एल सुब्रमन्यम तथा ई. श्री निवास जैसी हस्तियों ने संगीत-बद्ध किया है। उनकी समालोचनात्मक पुस्तक 'टाकिंग फिल्म्स ॲण्ड टाकिंग सांग्स' जो आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित है; विद्वानों द्वारा भारतीय सिनेमा पर लिखी गयी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक मानी गयी है।

समाज-सेवा

संस्थापक सदस्य, मुस्लिम बुद्धिजीवी संगठन।
अध्यक्ष, धर्मनिरपेक्ष लोकहित के लिए इस्लामी संगठन।
सक्रिय सदस्य, सिटीज़न फार जस्टिस ॲण्ड पीस।

फ़िल्म पुरस्कार

सर्वश्रेष्ठ गीतकार के लिए 5 राष्ट्रीय पुरस्कार—साज़, 1996; बॉर्डर, 1997; गाडमदर, 1999; रिफ्यूजी, 2000; लगान, 2001।

- 7 फ़िल्मफेयर पुरस्कार—वास्ते सर्वश्रेष्ठ पटकथा लेखन।
- 1 फ़िल्मफेयर पुरस्कार—वास्ते जीवनकाल उपलब्धियाँ।
- 5 ज़ी पुरस्कार—सर्वश्रेष्ठ गीतकार।
- 3 आइफा पुरस्कार—सर्वश्रेष्ठ गीतकार।

सार्वजनिक जीवन में सक्रियता हेतु पुरस्कार

- पद्मभूषण पुरस्कार, 2007
- इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार, 2006
- भोपाल नगर महापालिका द्वारा नागरिक सम्मान, 2009
- मेवाड़ फाउण्डेशन का राष्ट्रीय एकता पुरस्कार, 2001
- अखिल भारतीय आतंकवाद विरोधी संगठन का राष्ट्रीय एकता पुरस्कार, 2001
- अवध रत्न पुरस्कार, 2000
- पद्मश्री, 1999

शहीद डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर

❑ गुरमीत अम्बाला तथा ज्ञानेन्द्र कुमार

20 अगस्त, 2013 मंगलवार की सुबह देश के तर्कशीलों (रैशनलिस्टों) के लिए दुखभरी खबर लेकर आई, पुणे में प्रातःकालीन भ्रमण पर निकले डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर की मोटरसाइकिल सवार दो अज्ञात युवकों ने पीछे से गोली मारकर कायराना तरीके से हत्या कर दी। 67 वर्षीय डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर लगभग 30 वर्षों से महाराष्ट्र में पाखंडियों और पोंगापंथियों के प्रति अपने लोगों को जागृत करने में लगे थे। उनकी मृत्यु का समाचार आग की तरह फैल गया और देश भर के तर्कशील आक्रोश व दुःख से भर गए।

1 नवम्बर, 1945 को महाराष्ट्र के सतारा जिले में डॉ. दाभोलकर का जन्म हुआ। प्राथमिक शिक्षा वहीं से पूरी करने के बाद उन्होंने विलिंग्डन कॉलेज, सांगली से उच्च शिक्षा प्राप्त की और 1970 में मिरज मेडिकल कॉलेज, सांगली से डॉक्टर ऑफ मेडिसिन की उपाधि हासिल की। फिर 12 वर्षों तक प्रैक्टिस की, इसके उपरान्त अपने चिकित्सीय पेशे के दौरान ही सामाजिक बुराइयों की तरफ उनका ध्यान गया, और सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिए वे उस कठिन रास्ते पर निकल पड़े, जिसमें काँटे ही काँटे थे और जिसका अन्जाम उन्हें जान देकर चुकाना पड़ा।

अन्धविश्वास, अज्ञानता के विरुद्ध डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर ने एक बार कदम बढ़ाया तो हर उस क्षेत्र में जहाँ सामाजिक बुराइयों से मानव-जीवन प्रताड़ित होता है, वे डटकर खड़े रहे।

दलितों को सवर्णों द्वारा अपने कुएँ से पानी न दिए जाने की सामाजिक बुराई महाराष्ट्र में लम्बे समय से रही है। महाराष्ट्र के समाज-सुधारक बाबा आढ़व ने इसके खिलाफ ''एक गाँव एक कुआँ'' जैसा आन्दोलन किया, जिससे डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर ने अपने आप को जोड़ लिया। इसके बाद महाराष्ट्र में सामाजिक बुराई को लेकर जब भी कोई आह्वान हुआ, डॉ. दाभोलकर अवश्य ही उससे जुड़ते रहे। मराठवाड़ा विश्वविद्यालय को डॉ. भीमराव अंबेडकर का नाम दिया जाए, इस विषय को लेकर उन्होंने नेतृत्व किया और इसमें सफलता भी प्राप्त की।

आखिर वह समय आया, जब अंधश्रद्धा, तंत्र-मंत्र, जादू-टोना आदि अतार्किक विषयों को सामने रखकर महाराष्ट्र अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति की स्थापना 1983 में हुई, और वे समाज को अंधविश्वास, भाग्यवाद में फँसा कर लूटने वालों के निशाने पर आ गए। पर अपने समाज के प्रति उत्तरदायित्व ने डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर को और मजबूत बना दिया। अपने लिए सुरक्षा इंतजाम कर लेने की तमाम हिदायतों को दर किनार करते हुए उन्होंने कहा—''अगर मैंने सुरक्षा ले ली, तो वे लोग मेरे साथियों पर हमला करेंगे, अगर मरना ही है तो फिर मैं ही सामने क्यूँ न रहूँ'' इसी विचार को लेकर वे सक्रिय बने रहे और शहादत पा गए। इससे पूर्व भी वे बहादुराना अन्दाज में सभी धमकियों को दरकिनार करते रहे थे। एक समय निर्मला देवी के भक्तों ने उन पर मिट्टी का तेल छिड़क दिया था और उन्हें जिन्दा जलाने का प्रयास किया था, परन्तु अपने मिशन के प्रति उनकी अडिगता बेमिसाल थी।

सीधी लड़ाई के साथ ही वे यह समझते थे कि अन्धश्रद्धा फैलाने वाले लोगों के खिलाफ सरकार भी अपने उस संवैधानिक दायित्व का निर्वाह करे, जिसमें वैज्ञानिक चेतना को बढ़ावा देने की बात कही गई है, इसलिए अन्धविश्वास विरोधी कानून बनाने के लिए वे सक्रिय हो गए। 3 अप्रैल, 2005 को अन्धश्रद्धा निर्मूलन कानून का मसौदा तैयार हुआ, राजनीतिक स्तर पर इसका विरोध होना शुरू हो गया, आखिर 2011 में राज्य मंत्रिमंडल ने इस कानून को मंजूरी दे दी, परन्तु इसका नाम बदलकर जादू-टोना एवं धार्मिक कर्मकांडों के आधार पर अमानवीय हरकतों को रोकना कर दिया गया। इसे पारित कराने को लेकर अनेक आन्दोलन हुए परन्तु भाजपा और शिवसेना जैसे धार्मिक प्रभाव वाले राजनीतिक दलों ने इसका विरोध जारी रखा। उनकी हत्या के बाद भारी दबाव को देखते हुए राज्यपाल ने इस संबंध में अध्यादेश को मंजूरी दे दी है और शीतकालीन सत्र में इसे पास करने के प्रयास किए जायेंगे ताकि विधिवत् कानून की शक्ल दी जा सके। इस कानून के बनने से जादू, बलि, अघोरी प्रथा जैसे कृत्यों के लिए दंड के प्रावधान हो जाएँगे, जिनके तहत 7 वर्ष तक की सजा हो सकती है। यह कानून पूरे देश के लिए एक मॉडल के रूप में आ जाएगा। यह आवश्यक है कि अन्य राज्यों में सक्रिय तर्कशील संगठन इसे कानून के रूप में लागू करवाने की पहल करें। देश में अकेला कानून तब तक सार्थक नहीं होगा, जब तक अंधविश्वासों के प्रति जागरूकता का अभाव रहेगा। जादू-टोना, तंत्र-मंत्र की आड़ में सबसे ज्यादा महिलाएँ शिकार बनती हैं, उन्हें इस दिशा में जागरूक करने की आवश्यकता होगी। इसमें तर्कशील संगठनों की अहम भूमिका होगी।

डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर द्वारा चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रम बेहद प्रेरक हैं। 'साधना' नामक पत्रिका को वे 16 वर्षों से संपादन कर रहे थे, इसके अतिरिक्त समिति 'अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति विगत 23 वर्षों से मराठी में 'अंधश्रद्धा निर्मूलन

वार्तापत्र' का प्रकाशन कर रही है, वेब पत्रिका Thought and Action अंग्रेजी में उनके निर्देशन में लगातार प्रकाशित हो रही थी। उनके मार्गदर्शन में महाराष्ट्र अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति की लगभग 200 इकाइयाँ राज्य भर में कार्यरत थीं, इस समिति के पास विद्यादान बोध वाहिनी नामक एक चलती-फिरती प्रयोगशाला है जो पूरे महाराष्ट्र में काला जादू, तंत्र-मंत्र, भाग्यवाद व ज्योतिष का पर्दाफाश करती हुई घूमती रहती है। इस मोबाइल वैन में वैज्ञानिक प्रयोगशाला बनी है, इसमें आधुनिक वैज्ञानिक यंत्र लगे हैं, जिनके माध्यम से जादू-टोने, ज्योतिष की असलियत बतलाई जाती है। कई बार इस प्रदर्शनी वैन को भी हमले का शिकार बनाया गया है। 1990 में डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर ने 'सामाजिक कृत उद्यत निधि' की स्थापना की, जिसके तत्त्वावधान में जन साधारण से चंदा लेकर अंधश्रद्धा निर्मूलन के कार्यक्रमों की रूपरेखा बनाई गई है।

इस धन संग्रह में अन्धश्रद्धा निर्मूलन समिति को प्रसिद्ध एक्टर श्रीराम लागू, सदाशिव अमरापुरकर और नीलू फुले का लगातार सहयोग मिलता रहा है, इतना पैसा इकट्ठा कर लिया गया कि विद्यादान बोध वाहिनी के साथ सक्रिय रूप से जुड़े 50 कार्यकर्ताओं को प्रदर्शनी लगाने वाले दिन के लिए 1000 रुपये पारिश्रमिक तक दिया जा रहा है। समिति डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर के नेतृत्व में दस हजार लोगों को अन्धश्रद्धा से निपटने के लिए प्रशिक्षित कर चुकी है। ताकि वे चमत्कारों का पर्दाफाश कर वैज्ञानिक चेतना का प्रचार-प्रसार जन साधारण में कर सकें।

डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर जहाँ संगठन की सक्रियता को लेकर कार्यरत थे, वहीं साहित्य-सृजन के माध्यम से भी समाज को अन्धश्रद्धा के प्रति जागृत करने में लगे थे। 'साधना' अन्धश्रद्धा निर्मूलन वार्तापत्र के सम्पादन कार्यों के साथ ही उन्होंने अन्धश्रद्धा सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर देने के लिए 'अन्धश्रद्धा प्रश्नचिह्न आणि पूर्णविराम' किताब लिखी, अन्धश्रद्धा का समूल नाश करने के लिए 'अंधश्रद्धा विनाशाय' किताब को प्रकाशित करवाया। ढोंगी साधुओं का पर्दाफाश करने के लिए 'ऐसे कैसे हो गए भोंदू' लिखी, हरेक को जागृत करने के लिए उन्होंने 'ठरलं...डोलस व्हायचंय' लिख डाला। अज्ञान रूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए ज्ञान रूपी रोशनी 'किमिरातूनि तेजाढदे' को लिखा।

मन में उभरे 'अन्धश्रद्धा के प्रश्न को ध्यान में रखते हुए 'प्रश्न मनाके' की रचना की एवं भ्रम निवारण हेतु 'भ्रम और मिरास' और वैचारिक दृष्टिकोण को शक्ति देने हेतु 'विचार तर कराल' की रचना की। विवेक का झंडा कन्धों पर उठाने के लिए 'विवेकाचि घेऊ खांद्धवारी' किताब लिखी। श्रद्धा और अंधश्रद्धा के बीच अंतर को समझाने के लिए 'श्रद्धा-अन्धश्रद्धा' की रचना की।

उन्होंने मानव कल्याण के लिए अनेक प्रकार से लोगों में जागृति लाने की कोशिश की है। वे अन्धश्रद्धा विरोधी मुहिम के प्रत्येक मोर्चे पर सक्रिय रहे थे। डॉ. नरेन्द्र

दाभोलकर का अकस्मात चले जाना देश में तर्कशील आन्दोलन को बड़ा धक्का है, परन्तु उनका प्रशस्त किया मार्ग आने वाली पीढ़ियों का सदा मार्गदर्शन करता रहेगा।

–गुरमीत अम्बाला

मोबाइल : 09416036203

डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर एक ऐसे वीर योद्धा थे जिन्होंने देशभर से अंधविश्वास, रूढ़ि, परंपरा व काला जादू जैसे कलंक को समाप्त करने का स्वप्न देखा व उसे पूरा करने के लिए जीवनभर संघर्ष किया। उनकी गोली मारकर की गई नृशंस हत्या ने महाराष्ट्र के प्रगतिशीलता व आधुनिकता के मुखौटे का पर्दाफाश कर दिया है। उनकी हत्या के कारण हुए तीव्र विरोध ने अंधविश्वासी व रूढ़िवादी व्यवस्था को जड़ से हिला दिया। जादू-टोने की ताकत बताकर भोलीभाली जनता को लूटने वाले धूर्त बाबाओं व संस्थाओं को आखिर दाभोलकर की हत्या के लिए भाड़े के हत्यारों का इस्तेमाल करना पड़ा।

खुद को प्रगतिशील व महात्मा फुले, डॉ. आम्बेडकर व शाहू महाराज की वारिस कहने वाली महाराष्ट्र सरकार भी इनके जीवित रहने तक जादू-टोना विरोधी कानून लागू नहीं कर सकी। लेकिन उनकी हत्या के बाद उनके सकारात्मक संघर्ष के समर्थन में खड़ी जनशक्ति को देखकर देर से ही सही, आखिर महाराष्ट्र सरकार को जादू-टोना व अनिष्ट रूढ़ि विरोधी कानून का अध्यादेश जारी करना पड़ा। जबकि 2005 से भाजपा, शिवसेना व 2011 की कांग्रेस सरकार के समय विधान सभा में कई बार पारित होने के बाद भी कुछ व्यक्तियों व समूहों के विरोध के कारण राज्य सरकारों ने इसे कानून के रूप में लागू नहीं किया था।

जब-जब कानून के मसविदे पर सहमति बनने लगती थी, संघ परिवार व कट्टरपंथी संस्थाएँ दुष्प्रचार करके तत्कालीन सरकारों को भयभीत कर देती थीं। उनको लगता था कि वोट का गणित बिगड़ जायेगा। इसलिए पिछले डेढ़ दशक में इस कानून को विधान सभा में पारित करके, दलों के साथ व्यक्तिगत बैठकों में आम सहमति बनाने के बाद भी, कानून का रूप देते समय विभिन्न पक्ष अपने वादे से मुकर जाते थे।

अंततः महाराष्ट्र विधान सभा में अप्रैल 2013 के सत्र के दौरान विधान सभा में कानून बनाने का सरकार ने आश्वासन दिया परंतु उसका पालन नहीं किया। डॉ. दाभोलकर सामंजस्यवादी थे। उन्होंने कई धाराओं के विरोध को मान्य करते हुए मसविदे पर सहमति बनाते हुए अंत में बारह धाराओं के कानून के प्रारूप को सहमति दी। फिर भी विधान सभा में सरकार के कर्तव्यपालन नहीं करने पर उन्होंने विधानसभा सदस्यों व दलों के साथ बैठकें कीं। इस प्रकार जादू-टोना विरोधी कानून पर बढ़ती सहमति से कट्टरवादी ताकतें घबरा गईं व उनको हत्या की धमकी दी जाने लगी। उन्होंने व्यक्तिगत सुरक्षा के सरकारी प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। अंत में इस कानून के विरोधियों ने उनकी पीठ पर गोली मारकर 20 अगस्त, 2013 को उनकी हत्या कर दी। खुलेआम विवेक-विज्ञानवादी डॉ. नरेंद्र दाभोलकर की हत्या का राष्ट्रीय स्तर पर तीव्र विरोध हुआ। उन्होंने विज्ञान और तर्क के ढाँचे में न बैठने वाली विभिन्न बातों का जबरदस्त विरोध किया। गुजरात विद्यापीठ में ज्योतिषशास्त्र को पाठ्य विषय बनाने का सन् 2000 में तगड़ा विरोध किया। विभिन्न साधु-सन्तों द्वारा किए जाने वाले तथाकथित चमत्कारों को भी उन्होंने खुली चुनौती दी। वे एक बहुआयामी व्यक्तित्व थे। वे शांतिप्रिय, लोकतांत्रिक, अहिंसावादी, विज्ञानविवेकनिष्ठ कार्यकर्ता थे। उन्होंने अंध विश्वास की मुहिम के साथ ही साथ पर्यावरण की रक्षा के लिए भी काम किया। गणपति विसर्जन के समय प्लास्टर ऑफ पेरिस की जगह मिट्टी की मूर्ति के लिए तथा विसर्जन के लिए कृत्रिम तालाब बनाने के लिए मुहिम चलायी। जाति व्यवस्था निर्मूलन के लिए व स्त्री-पुरुष समानता के लिए भी सतत संघर्ष किया।

डॉ. नरेंद्र दाभोलकर का जन्म 01 नवम्बर, 1945 को हुआ। उन्होंने पुणे विद्यापीठ से ॲम. बी. बी. ॲस. की डिग्री प्राप्त की। 1982 में उन्होंने डॉक्टरी की प्रैक्टिस छोड़कर पूर्णकालिक सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में काम किया व 1989 में अंधश्रद्धा निर्मूलन समिति की स्थापना की। उन्होंने 'साधना' मराठी का संपादन किया और एक दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखीं। वे एक अनुशासित व्यक्ति थे। युवक क्रांतिदल के साथ भी रहे। जयप्रकाश आंदोलन से भी प्रभावित थे। उनके विरोधी उग्रभाषी व अभद्र थे। परंतु दाभोलकर संवाद में विश्वास रखने वाले सौम्य व विनम्र व्यक्ति थे। वे निरीश्वरवादी थे परंतु धर्म के बारे में लोकतांत्रिक सहनशीलता और संविधान द्वारा दिए गए व्यक्ति को पूजा व अपनी पसंद के धर्मपालन के अधिकार के समर्थक थे; बशर्ते कि वह कानून-व्यवस्था, सार्वजनिक नीतिमत्ता, सार्वजनिक स्वास्थ्य व राष्ट्रीय एकता तथा संविधान प्रदत्त मूलभूत लोकतांत्रिक अधिकारों को बाधा न पहुँचाए। वे मानते थे कि धर्म मानने वाले करोड़ों लोगों के प्रति सहानुभूति रखते हुए धार्मिक धंधेबाज़ी और धर्म के कारण होने वाले अन्याय व शोषण को दूर करने का प्रयत्न करना होगा।

गाँधी की हत्या व डॉ. नरेन्द्र दाभोलकर की हत्या करने वालों की सोच एक ही है। वे मानते हैं कि फॉसिस्ट तरीके से अहिंसक व विनम्र विरोधी को मारकर उसके विचारों को समाप्त कर देंगे। परंतु व्यक्ति को मारकर विचारों को समाप्त कर पाना संभव नहीं है। आज उनकी हत्या के बाद उठी तीव्र विरोध की लहर से प्रकट हुआ है कि उनके विचारों के लाखों वाहक, समर्थक देशभर में आगे बढ़े हैं। उन्हें संगठित व सक्रिय करने की जरूरत है; ताकि समाज को हिंसा, घृणा व अन्यायमुक्त करते हुए उसका विवेकपूर्ण और विज्ञान-सम्मत पुनर्गठन किया जा सके।

–ज्ञानेन्द्र कुमार

एडवोकेट पाण्डे ले. आउट,

पुसद (यवतमाल)-445204

मोबाइल : 09422866223

माणिक सरकार

❑ मोहम्मद हुसैन कुरैशी

भारतीय राजनीति ने पिछले कुछ वर्षों से अवाम के सामने अपना भ्रष्टतम कुरूप चेहरा प्रस्तुत किया है। देश के दोनों बड़े राजनीतिक दलों के शीर्षस्थ नेता भ्रष्टाचार में लिप्त पाए गए हैं। भारतीय जनता पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्षों पर भ्रष्टाचार के गहरे आरोप लगे हैं, वहीं कांग्रेस नीत गठबंधन (संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन) के कई मंत्री भ्रष्टाचार के आरोपों के चलते जेल की सलाखों के पीछे हैं। कई विधायक एवं सांसद करोड़ों की सम्पत्ति के मालिक हैं। जनसेवा के नाम पर राजनीति में प्रवेश करने वाले फकीर भी चंद वर्षों में राजा बन बैठे हैं। ऐसे में भारत का मतदाता (विशेषकर युवा मतदाता, जिसकी संख्या करोड़ों में है) एक ईमानदार राजनीतिक नेतृत्व की तलाश कर रहा है। उसकी यह तलाश पूरी हो सकती है, यदि उसे त्रिपुरा के मुख्यमंत्री एवं वामपंथी नेता माणिक सरकार के जीवन के बारे में बतलाया जाए।

22 जनवरी, 1949 को जन्मे माणिक सरकार स्वच्छतम छवि वाले और सबसे गरीब मुख्यमंत्री हैं। उनके पास चल एवं अचल सम्पत्ति को मिलाकर केवल 2.5 लाख रुपये की सम्पत्ति है। त्रिपुरा के धनपुर विधान सभा क्षेत्र से निर्वाचित माणिक सरकार ने त्रिपुरा विधान सभा चुनाव 2013 के लिए भरे गए शपथ-पत्र में बतलाया कि उनके पास मात्र 1,080 रुपये नकद तथा 9,720 रुपये बैंक बैलेंस है। वह मात्र 432 वर्गफीट के मकान में रहते हैं। जिसका बाजार मूल्य 2,20,000 रुपये मात्र है जो उन्हें उनकी माता श्रीमती अंजली सरकार से विरासत में मिला है। यद्यपि उनकी पत्नी श्रीमती पांचाली भट्टाचार्य जो कि एक सेवानिवृत्त सरकारी ऑफिसर हैं के नाम 23,58,380 रुपये स्थायी जमा तथा 72,000/—रुपये मूल्य का 20 ग्राम सोना है, किन्तु यह पूँजी उन्हें सेवानिवृत्ति पर मिलने वाली पेंशन परिलाभों से प्राप्त हुई है। इस प्रकार अपनी पत्नी की परिसम्पत्तियों को मिलाकर करीब 26,00,000 रुपये की

चल एवं अचल सम्पत्ति है, जबकि त्रिपुरा प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष समीर रंजन बर्मन की सम्पत्ति 16.41 मिलियन है।

माणिक सरकार को मुख्यमंत्री के तौर पर 9,200 रुपये मासिक वेतन मिलता है जो वे अपने दल, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) के फंड में जमा करवाते हैं और पार्टी उन्हें 5,000 रुपये मासिक देती है। सी. पी. एम. त्रिपुरा इकाई के मुख्य सचिव बिजनधर कहते हैं कि ''माणिक सरकार को कभी भी अपनी सम्पत्ति बढ़ाने की भूख नहीं रही। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन पार्टी और समाज को समर्पित कर दिया।'' यह माणिक सरकार का ही व्यक्तित्व है कि उनके प्रतिपक्षी दलों के नेता भी उनकी ईमानदार एवं बेदाग छवि को सलाम करते हैं। त्रिपुरा कांग्रेस के प्रवक्ता तपस दास ने स्वयं अपने बयानों में कहा है कि ''हमें उनकी ईमानदार छवि पर कोई संशय नहीं है।''

आज के दौर में यह विश्वास करना ही दुस्साहस-सा लगता है कि एक प्रांत का मुख्यमंत्री होते हुए भी माणिक सरकार के पास स्वयं का कोई वाहन नहीं है। साधारण जीवन व्यतीत करते हुए माणिक सरकार एवं उनकी पत्नी रिक्शा या ऑटो का प्रयोग करते हैं। स्वयं माणिक सरकार अवश्य ही सरकारी कार्यों से आने-जाने हेतु सरकारी वाहन का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनकी पत्नी इसका प्रयोग नहीं करतीं। यदि वे तथा उनकी पत्नी एक ही कार्यक्रम में जा रहे हों, तब भी माणिक सरकार स्वयं सरकारी वाहन में जाते हैं एवं उनकी पत्नी रिक्शा में जाती हैं।

त्रिपुरा के पूर्व मुख्यमंत्री एवं प्रदेश में कम्युनिस्ट आंदोलन की जमीन तैयार करने वाले श्री नृपेन चक्रवर्ती के नक्शे-कदम पर चलते हुए माणिक सरकार ने लगातार तीन विधान सभा चुनावों में सी. पी. एम. का नेतृत्व करते हुए उस प्रदेश में भारी बहुमत से जीत दिलवाई। हाल ही में सम्पन्न त्रिपुरा विधानसभा चुनावों में 96 प्रतिशत मतदान हुआ, जो एक रिकॉर्ड है। अक्सर राजनीतिक विश्लेषक इतने भारी मतदान को सदैव सत्ता-विरोधी रुख के रूप में देखते हैं, किन्तु त्रिपुरा में माणिक सरकार को और सी. पी. एम. को रिकॉर्ड मत प्राप्त हुए और वे लगातार तीसरी बार मुख्यमंत्री बने। वस्तुतः त्रिपुरा में लोक उत्थान की उनकी नीतियों के साथ-साथ पर्यटन को गति देने एवं शरणार्थियों की समस्या के प्रति मानवीय रुख अपनाने के कारण उन्हें यह विजय मिली है।

अफसोस करने वाले मौजूदा हालातों में हमें इस बात पर अफसोस नहीं होना चाहिए कि आज माणिक सरकार जैसे नेताओं का कोई प्रचार-प्रसार नहीं है। वस्तुतः पूँजीपतियों के हाथों में खेलने वाले मीडिया को कट्टर साम्प्रदायिक एवं पूँजीपतियों के परम हितैषी, अमेरिका जाने को लालायित नरेन्द्र मोदी में गाँधी नजर आता है, मोदी अपने झूठ को सच बनाकर वोटों के बाजार में बेचने के लिए अमेरिकी प्रचार

कम्पनी को करोड़ों रुपये में अनुबन्धित करते हैं, उस झूठ से हमारा युवा मतदाता दिग्भ्रमित है। ऐसे दौर में गाँधी जैसा जीवन जीने की कोशिश करने वाले माणिक सरकार जैसे नेता किसी को दिखलाई नहीं देते, किन्तु हाँ, वे गाँधीजी के साथ-साथ केरल के पूर्व मुख्यमंत्री और आजाद भारत में पहली बार कांग्रेस को धूल चटाने वाले कम्युनिस्ट नेता ई. एम. एस. नंबूदरिपाद की याद दिलाते हैं, जिन्होंने मुख्यमंत्री आवास में केवल एक कमरे को अपना घर बनाया और बाकी पूरे मुख्यमंत्री आवास को पुस्तकालय में तब्दील कर दिया था।

एडवोकेट, मजिस्ट्रेट कालोनी, कोटा रोड
भीलवाड़ा (राजस्थान)-311001
मोबाइल : 09414262276

विनायक सेन

विनायक सेन भारत के छत्तीसगढ़ राज्य के राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ता हैं जिनको वहाँ के एक न्यायालय ने देशद्रोह का अपराधी पाया है और उन्हें आजीवन कारावास की सजा सुनाई है। उनका जन्म 4 जनवरी, 1950 के दिन पश्चिम बंगाल के कल्याणी कस्बे में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा कोलकाता बोयज स्कूल में हुई। बाद में उन्होंने क्रिश्चियन मेडिकल कॉलेज, वेल्लोर से एम. बी. बी. एस. की डिग्री प्राप्त की।

खादी का बिना प्रेस किया हुआ कुर्ता-पाजामा और पैरों में साधारण स्पोर्ट्स शू पहने डॉ. विनायक सेन को देखकर अक्सर उनके समूचे व्यक्तित्व का पता नहीं चल पाता। जेल में दो बरस रहने से पहले तक उनकी लंबी दाढ़ी हुआ करती थी और लोग उन्हें साधारण सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में जानते थे। लेकिन अब पुलिस उन्हें नक्सलियों का सहयोगी बताती है और छत्तीसगढ़ की एक अदालत ने भी उन्हें देशद्रोह का दोषी ठहराया है। उन्हें अदालत ने नक्सलियों के साथ साँठगाँठ और उनका सहयोग करने का दोषी पाया है। विनायक सेन हमेशा इन आरोपों का खंडन करते रहे हैं। वे कहते रहे हैं कि ये नक्सलियों का समर्थन नहीं करते लेकिन उनके प्रति राज्य की गलत नीतियों का भी जमकर विरोध करते हैं।

पेशे से चिकित्सक डॉ. विनायक सेन छात्र जीवन से ही राजनीति में रुचि लेते रहे हैं। उन्होंने छत्तीसगढ़ में समाजसेवा की शुरुआत सुपरिचित श्रमिक नेता शंकर गुहा नियोगी के साथ की और श्रमिकों के लिए बनाए गए शहीद अस्पताल में अपनी सेवाएँ देने लगे। इसके बाद वे छत्तीसगढ़ के विभिन्न ज़िलों में लोगों के लिए सस्ती चिकित्सा सुविधाएँ उपलब्ध करवाने के उपाय तलाश करने के लिए काम करते रहे। डॉ. विनायक सेन सामाजिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता तैयार करने के लिए बनी छत्तीसगढ़ सरकार की एक सलाहकार समिति के सदस्य रहे और उनसे जुड़े लोगों का कहना है कि डॉ. सेन के सुझावों के आधार पर सरकार ने मितानी नाम से एक कार्यक्रम शुरू किया। इस कार्यक्रम के तहत छत्तीसगढ़ में महिला स्वास्थ्य कार्यकर्ता तैयार की जा रही हैं।

स्वास्थ्य के क्षेत्र में उनके योगदान को उनके कॉलेज क्रिश्चियन मेडिकल कॉलेज, वेल्लोर ने भी सराहा और पॉल हैरिसन ॲवार्ड दिया। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्वास्थ्य और मानवाधिकार के क्षेत्र में उनके योगदान के लिए जोनाथन मैन सम्मान दिया गया। डॉ. विनायक सेन मानवाधिकार संगठन पीयूसीएल की छत्तीसगढ़ शाखा के उपाध्यक्ष भी रहे हैं। इस संस्था के साथ काम करते हुए उन्होंने छत्तीसगढ़ में भूख से मौत और कुपोषण जैसे मुद्दों को उठाया और गैर सरकारी जाँच दलों के सदस्य रहे। उन्होंने अक्सर सरकार के लिए असुविधाजनक सवाल खड़े किए और नक्सली आंदोलन के ख़िलाफ़ चल रहे सलमा जुडुम की विसंगतियों पर भी गंभीर सवाल उठाए। सलमा जुडुम के चलते आदिवासियों को हो रही कथित परेशानियों को स्थानीय और राष्ट्रीय मीडिया तक पहुँचाने में भी उनकी अहम भूमिका रही।

छत्तीसगढ़ के नक्सल प्रभावित इलाके बस्तर में नक्सलवाद के ख़िलाफ़ चल रहे सलमा जुडुम को सरकार स्वस्फूर्त जनांदोलन कहती रही है। जबकि इसके विरोधी इसे सरकारी सहायता से चल रहा कार्यक्रम कहते हैं। सलमा जुडुम के ख़िलाफ़ मानवाधिकार कार्यकर्ताओं ने आवाज़ें उठाई और सुप्रीम कोर्ट ने भी इस पर सवाल खड़े किए। आखिर 2010 में राज्य सरकार ने इसे बंद कर दिया। छत्तीसगढ़ की भारतीय जनता पार्टी ने 2005 में जब छत्तीसगढ़ विशेष जनसुरक्षा अधिनियम लागू करने का फैसला किया तो उसका मुखर विरोध करने वालों में डॉ. विनायक सेन भी थे।

उन्होंने आशंका जताई थी कि इस कानून की आड़ में सामाजिक कार्यकर्ताओं और पत्रकारों को परेशानी का सामना करना पड़ सकता है। उनकी आशंका सही साबित हुई और इसी कानून के तहत उन्हें 14 मई, 2007 को गिरफ्तार कर लिया गया। छत्तीसगढ़ पुलिस के मुताबिक विनायक सेन पर नक्सलियों के साथ साँठ-गाँठ करने और उनके सहायक के रूप में काम करने का आरोप है। उन पर आरोप है कि उन्होंने नक्सलियों के केन्द्रीय संगठन के नेता नारायण सान्याल से एक महीने में 35 बार जेल में मुलाकात की और नक्सलियों के संदेशों के आदान-प्रदान का काम किया। हालाँकि वे खुद इसे निराधार बताते हैं और पीयूसीएल इसे सरकार की दुर्भावना के रूप में देखती है। डॉ. विनायक सेन को मई, 2009 में सुप्रीम कोर्ट के आदेश से ज़मानत मिली। 2 वर्ष जब वे जेल में रहे तो उनकी रिहाई के लिए देश के बुद्धिजीवी और सामाजिक कार्यकर्ता अपील करते रहे।

दुनिया भर के 22 नोबेल पुरस्कार विजेताओं ने भी डॉ. विनायक सेन की रिहाई की अपील की थी। नोबेल पुरस्कार विजेता चाहते थे कि उन्हें जोनाथन मैन सम्मान लेने के लिए अमेरिका जाने की अनुमति दी जाए लेकिन ऐसा नहीं हो सका। डॉ. विनायक सेन की पत्नी डॉ. इलीना सेन भी जानी-मानी सामाजिक कार्यकर्ता हैं और वे डॉ. सेन को न्याय दिलाने के लिए संघर्ष करती रही हैं।

भारत में पिछले दिनों अस्तित्व में आयी नयी भ्रष्टाचार विरोधी आम आदमी पार्टी ने उन्हें अपनी पुलिस सुधार समिति में एक विशेषज्ञ के रूप में नामांकित किया है।

कमल हासन

राजकमल इन्टरनेशनल स्टूडियो के मालिक, भारत द्वारा विदेशी भाषाओं की सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म के लिए अकादमी पुरस्कार-हेतु भेजी गयी सर्वाधिक फ़िल्मों के अभिनेता, पटकथा लेखक, निर्देशक, फ़िल्मनिर्माता, भारत के सबसे बड़े विधा नायक, 4 राष्ट्रीय और असंख्य फ़िल्मफेयर पुरस्कारों के विजेता, गीतकार, नृत्य संचालक और पद्मश्री उपाधि से सम्मानित, डॉ. कमल हासन अब तक भारतीय फ़िल्म क्षेत्र में 53 वर्ष पूरे कर चुके हैं। भारतीय सिने जगत् को अभी उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

कमल हासन का जन्म नवम्बर 7, 1954 ई. को परमकुदी कस्बा, जिला—रामनाथपुरम, तमिलनाडु के एक आयंगर ब्राह्मण परिवार में चौथी संतान के रूप में हुआ था। अनुशासनप्रिय पिता वकील, डी. श्रीनिवासन व माँ, राजलक्ष्मी अपनी चारों संतानों की कठोर शिक्षा के पक्ष में थे, पर कमल ने स्कूली शिक्षा में रुचि नहीं दिखायी। यह कमल की सफलताओं का ही प्रभाव था कि उनकी पीढ़ी का अधिकांश आयंगर परिवार सिने संसार में आ गया।

कमल व उनके दो भाई, चारू व चन्द्र आयंगर न रहकर 'हासन' कैसे बने, इसकी भी एक कहानी है। उनके वकील पिता के मुस्लिम दोस्त थे याकूब हसन। स्वतंत्रता आन्दोलन के समय दोनों एक साथ जेल में थे। जहाँ अक्सर कैदी ब्राह्मणों से नफरत करते थे। याकूब डी. श्रीनिवासन आयंगर की इन नफरती बंदियों से रक्षा किया करते थे। बाद में श्रीनिवासन ने कृतज्ञतास्वरूप अपने तीनों पुत्रों के नाम में 'हसन' जोड़ दिया जो 'हासन' बन गया। धार्मिक तौर पर कमल हासन स्वयं को अनीश्वरवादी घोषित कर चुके हैं। उनकी दो फिल्मों, 'अम्बे शिवम्' और 'दशावतारम्' जिनके वे सह-लेखक भी हैं, में अनीश्वरवादी विचारों को विशेष तौर पर गहराई से प्रदर्शित किया गया है।

फ़िल्म तारिकाओं से बिना विवाह के सम्बन्ध बनाकर पति-पत्नी की तरह रहना, विवाह करना और फिर पत्नी को तलाक दे देना तथा पुनर्विवाह करना भारतीय फिल्म जगत् में आम प्रचलन में है। कमल हासन इस प्रचलन का अपवाद नहीं हैं। बीसवीं

सदी के आठवें दशक में मीडिया ने कमल हासन को अदाकारा श्रीविद्या के साथ विवाहेतर सम्बन्धों में जोड़ा। सन् 1978 ई. में 24 वर्ष की उम्र में उन्होंने वाणी गणपति से शादी कर ली। 10 वर्षों के वैवाहिक सम्बन्धों के बाद उनसे तलाक ले लिया। सन् 1988 ई. में वे सारिका के साथ रहने लगे। दो संतानों को जन्म देने के बाद दोनों ने विवाह कर लिया। सन् 2004 ई. में इन दोनों ने भी तलाक ले लिया। इसके बाद सिमरन बग्गा हासन के जीवन में आईं, पर यह सम्बन्ध भी स्थायी न हो सका। सन् 2005 ई. से हासन अपनी एक तारिका गौतमी के साथ रह रहे हैं। यह संबंध कितना लम्बा चलेगा, कोई नहीं कह सकता।

कमल हासन का फ़िल्मी जीवन मात्र 4 वर्ष की आयु में प्रारम्भ हुआ था। प्रचलित कथानक के अनुसार वे बचपन में बेहद वाचाल थे। उनके इसी गुण को देखकर निर्माता ए. वी. एम. साराबनन उन्हें ए. बी. मेयप्पा चेट्टियार के पास ले गए। वे अपनी फ़िल्म 'कलाथुर कलम्मा' के लिए एक बालक की तलाश में थे। चेट्टियार ने इस फ़िल्म में उन्हें जेमिनी गनेशन के साथ चित्रित किया। इस फ़िल्म को राष्ट्रपति का स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। इसके बाद एक-एक कर 5 फिल्मों में उन्हें शिवाजी गनेशन व एम. जी. रामचन्द्रन के साथ बाल कलाकार के रूप में काम करने का अवसर मिला। फिर वे टी. के. एस. नाटक मंडली से जुड़ गए। यहाँ कमल को टी. के. सम्मुघम जैसा गुरु मिल गया। इस दौरान वे स्कूल भी जाते थे और अभिनय भी सीखते थे।

सन् 1970 ई. में, जब वे 17 वर्ष के हो रहे थे उन्हें पहला वयस्क किरदार मिला; फ़िल्म थी 'मानवम्'। पहला प्रमुख किरदार उन्हें सन् 1976 ई. में 'कन्याकुमारी' में मिला। फिर भी, उनका प्रथम सर्वाधिक सराहनीय किरदार 'अपूर्व रागोगल' में था, जिसे तमिल का फ़िल्मफेयर पुरस्कार मिला। बाद में इसे सर्वश्रेष्ठ तमिल फीचर फ़िल्म का पुरस्कार भी मिला। इस फ़िल्म में हासन ने अपनी उम्र से दो गुनी उम्र वाली स्त्री से प्यार करने का किरदार निभाया था। इस फ़िल्म के लिए उन्होंने मृदंगम सीखा और इसी से उनका और रजनीकांत का अत्यन्त लाभकारी साथ प्रारम्भ हुआ।

दक्षिण में सफलता : 1976-80

सन् 70 के दशक के उत्तरार्ध में के. बालाचंदर ने हासन को अपनी अधिकांश सामाजिक फिल्मों में प्रमुख किरदार दिया। 'मन्मथ लीलाई' में वह एक बहुस्त्रीप्रेमी के रूप में प्रदर्शित किए गए। इसके बाद oru Oodhappu kan simittugiradhu आई। इसने हासन को दूसरा सर्वश्रेष्ठ तमिल फिल्म एक्टर पुरस्कार दिलाया। फिर उन्होंने रजनीकांत और श्रीदेवी के साथ 'मून्द्रू मुदिचू' (Moondru Mudichu) में काम किया। सन् 1977 ई. में 'अवार्गल' (Avargal) आई। यह फ़िल्म नारी स्वतंत्रता के विषय पर आधारित थी। इसे तेलुगु में फिर से बनाया गया और हासन ने ही अपने किरदार

को दोहराया। '16 वयाथिनिले'—ने उन्हें तीसरा सर्वश्रेष्ठ अभिनेता पुरस्कार दिलाया। इसमें उन्होंने एक गँवार छोकरे का अभिनय किया था और रजनीकांत तथा श्रीदेवी साथ थे। सन् 1977 ई. में उन्होंने पहली कन्नड़ फ़िल्म 'कोकिला' की। इसी साल बंगाली फ़िल्म 'कविता' की। सन् 78 ई. में तेलुगु फ़िल्म 'मारो चरित्र' में काम किया। फ़िल्म बॉक्स ऑफिस पर बेहद सफल रही। इसके बाद 'सिंगप्पु राजक्कल' आई। यह एक विकृत सेक्स-हत्या फ़िल्म थी। इसने उन्हें पुनः सर्वश्रेष्ठ तमिल अभिनेता का पुरस्कार दिलाया। इस प्रकार मात्र 5 वर्षों में कमल हासन को 6 सर्वश्रेष्ठ अभिनेता पुरस्कार मिल चुके थे और वे अभिनय की बुलंदियों पर बेहद ऊँचे जा चुके थे।

बालीवुड में : नौवाँ दशक

कमल हासन ने बालीवुड में प्रवेश 'एक दूजे के लिए' से किया। यह फिल्म तेलुगु की मारो चरित्र का रिमेक थी। उनका 100वाँ फ़िल्मी अभिनय 1981 में Raja Paarvai में हुआ। यद्यपि फिल्म ज्यादा सफल नहीं रही, पर इससे उन्होंने फिल्म निर्माण में प्रवेश किया और फ़िल्मफेयर पुरस्कार भी जीता। फिर 1 साल तक वे मात्र व्यावसायिक फ़िल्मों में काम करते रहे। बाद में बालू महीन्द्रा की फ़िल्म 'मुन्द्रम पिराई' में स्कूल अध्यापक के अभिनय के लिए सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किया। हिन्दी में यह फ़िल्म 'सदमा' नाम से रिमेक हुई। अब उनका ज़्यादा ध्यान अपनी ही फ़िल्मों के हिन्दी रिमेक पर था। सन् 1983 ई. में उन्होंने 'यह तो कमाल हो गया' और 'ज़रा-सी ज़िन्दगी' में हिन्दी में काम किया। 'सागर संगमम' में पियक्कड़ नर्तक के अभिनय के लिए उन्हें प्रथम नन्दी पुरस्कार व द्वितीय सर्वश्रेष्ठ तेलुगु अभिनेता का फ़िल्मफेयर पुरस्कार मिला। राजतिलक (1984) और सागर (1985) उनकी अन्य यादगार फ़िल्में थीं। इनमें उन्होंने क्रमशः ऋषि कपूर व अमिताभ बच्चन के साथ काम किया था। बीसवीं सदी का 9वाँ दशक समाप्त होते-होते वे तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ व हिन्दी फ़िल्म जगत् के अतिप्रशंसित, अपने ही प्रकार के विशिष्ट कलाकार, फ़िल्मफेयर व राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता व अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी मान्य अभिनेता बन चुके थे।

प्रहसन क्षेत्र में : 1990-2000

सन् 1990 ई. में 'माइकेल मदन कामराजन' फ़िल्म बनी। इसमें कमल हासन ने 4 जुड़वाँ भाइयों का रोल किया था। लेखक थे क्रेज़ी मोहन। फ़िल्म बेहद सफल रही। इस लेखक-कलाकर जोड़ी ने फिर कई कॉमेडी फ़िल्में दीं। Guna नाम की कॉमेडी प्रशंसित तो हुई पर बॉक्स ऑफिस पर कमजोर रही। Thevan Magan में भारी सफलता प्राप्त की और हिन्दी में 'विरासत' नाम से फिर से बनायी। उसे भारत की ओर से अकादमी पुरस्कार के लिए भेजा गया। इसके बाद सिंगारवेलन, महारासन

और क्लाइग्नम आई। अंग्रेजी फ़िल्म शी-डेविल पर आधारित 'साथी लीलावती' बनी तो उसमें कमल हासन ने कॉमेडियन कोवई सरला के साथ काम किया। सन् 1995 ई. में उन्होंने 'कुरुलिपुनाल' में काम किया। इसके बाद 'इण्डियन' आई। इसमें उन्होंने पिता व पुत्र के दो किरदार एक साथ निभाए थे। हालीवुड फिल्म, मिसेज़ डाउटफायर से प्रेरित 'अवई शनमुघी' में कमल हासन ने एक स्त्री का किरदार किया। हिन्दी में इसका रिमेक चाची- 420 के नाम से आया। इसका निर्देशन भी स्वयं उन्होंने ही किया था।

'हे राम' और आगे : 2000 से आज तक

सन् 2000 ई. के साथ ही कमल हासन ने भारत-पाक बँटवारे पर 'हे राम' का निर्माण प्रारम्भ किया। फ़िल्म के लेखक, गीतकार व नृत्य निर्देशक वे स्वयं थे। निर्माण भी उनके अपने स्टूडियो में हुआ। फ़िल्म सफल रही। इसे बाद में अकादमी पुरस्कार के लिए भेजा गया। अगली फ़िल्म थी 'आलाबंधन'। इसमें उन्होंने दो किरदार निभाए थे। हिन्दी में यह फ़िल्म 'अभय' नाम से आई। इसके बाद कमल हासन कई फ़िल्मों में मात्र मेहमान कलाकार के रूप में भी आए। 'अम्बे शिवम' में उनका कम्युनिस्ट किरदार बेहद सराहा गया।

सन् 2008 ई. में उनकी 'दशावतारम्' आई। वह तेलुगु, तमिल व हिन्दी में एक साथ सम्पूर्ण भारत तथा विदेशों में रिलीज हुई। यह भारत की सबसे महँगी फ़िल्मों में से एक थी। इसमें उन्होंने दस किरदार एक साथ निभाए थे। फ़िल्म तमिलनाडु में बेहद सफल रही। यह पहली फ़िल्म थी जिसे वाल्ट डिस्ने पिक्चर्स ने कनाडा में वितरित किया था। अंततः फ़िल्म ने 250 करोड़ रुपयों की कमाई की।

पर्दे के पीछे भी

कमल हासन को उनकी पर्दे से अलग की कुशलताओं के लिए भी जाना जाता है। कहानी लेखन, संवाद लेखन, गीत लेखन, निर्देशन, कैमरा तकनीक तथा मेक-अप सभी में उनकी सक्रिय अभिरुचि रही है। एक बार अमेरिका जाकर उन्होंने मेक-अप की बाकायदा ट्रेनिंग भी ली थी। उन्होंने तमिल, तेलुगु, मलयालम व अंग्रेजी में करीब 70 गीत भी गाए हैं।

सामाजिक कार्य

कमल अपने फैन्स क्लबों तथा कमल नरपनी इयक्कम (कमल वेलफेयर एसोसिएशन) के माध्यम से रक्तदान, नेत्रदान व शिक्षण सामग्री दान के सामाजिक कार्य भी करते रहते हैं। सन् 2004 ई. में उन्हें अपने सामाजिक कार्यो तथा धर्म-निरपेक्ष जीवनयापन के लिए 'अब्राहम कोवूर राष्ट्रीय पुरस्कार' भी मिला था। उन्होंने एच. आई. वी. व

एड्स पीड़ितों के लिए आश्रम स्थापित कराने में भी मदद की है। उन्होंने कैन्सर रिलीफ फंड की भी स्थापना की है।

पत्रकारिता व लेखन

कमल हासन की प्रेरणा से उनके वेलफेयर एसोसिएशन ने 'मायम्' पत्रिका प्रारम्भ की। सिनेमा, बाल कल्याण, नशाखोरी व कश्मीर विवाद जैसे विषयों पर कमल हासन के विचार इस पत्रिका में छपते रहे हैं। बाद में इन विचारों को थेड़ी थीरपम वा' नाम की पुस्तक के रूप में भी छापा गया है। तमिल साहित्य में हासन की रुचि सर्वज्ञात है।

पुरस्कार व सम्मान

कमल हासन भारतीय सिनेजगत् में पद्मश्री के अतिरिक्त सर्वाधिक पुरस्कारों व सम्मानों से नवाजे गए अभिनेता हैं। उन्हें सर्वाधिक सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार मिले हैं, 3 सर्वश्रेष्ठ अभिनेता पुरस्कार तथा एक सर्वश्रेष्ठ क्षेत्रीय फ़िल्म निर्माण पुरस्कार। सन् 1992 ई. में तमिल फिल्म 'थेवर मगन' को सर्वश्रेष्ठ फीचर फ़िल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। 'कालालुर कलम्मा' को राष्ट्रपति पुरस्कार मिला। उन्होंने सन् 2000 में फ़िल्मफेयर आयोजकों से तो निवेदन कर डाला था कि वे भविष्य में उन्हें पुरस्कार न देने की कृपा करें। सन् 2004 में 'विरुमान्दी' को सर्वश्रेष्ठ एशियन फ़िल्म का पुरस्कार मिला।

सन् 2005 ई. में सत्यभामा विश्वविद्यालय ने उन्हें मानद डॉक्टरेट की उपाधि दी। सन् 2006 ई. में उन्हें शिवाजी गनेशन पुरस्कार मिला। सन् 2007 में उन्हें लिविंग लीजेण्ड पुरस्कार फिक्की ने दिया। सन् 2010 ई. में भारत सरकार के आई. बी. मंत्रालय ने उनकी फ़िल्मों का पुनरावलोकन आयोजित किया। इसी साल केरल सरकार ने ओणम के अवसर पर उनके सिनेजगत् के 50 साल पूरे होने का जश्न आयोजित किया, शीर्षक था सुवम् कमलम। फिक्की ने उन्हें अपने मीडिया प्रभाग का अध्यक्ष भी सन् 2009 में नामित किया था। इस समय वे इन्टरनेशनल स्कूल ऑफ फ़िल्म ऍण्ड मीडिया की सलाहकार परिषद् के सदस्य हैं।

कमल हासन इस समय अपनी प्रसिद्धि व प्रशंसा की बुलंदियों पर हैं। सिनेजगत् के नए कलाकारों के लिए वे प्रेरणास्रोत तथा जाने कितनों के लिए वे लिविंग लीजेण्ड हैं।

सुनील

❑ **योगेन्द्र यादव**

अगर सुनीलजी से न मिला होता तो मैं राजनीति में न आता। अगर सुनीलजी का संग न मिला होता तो देश को अंतिम व्यक्ति की आँख से न देख पाता। अगर सुनीलजी को न देखा होता तो शायद गाँधीजी को समझ न पाता। अगर...

यह फेहरिस्त लंबी हो सकती है। सिर्फ मेरे लिए नहीं, मेरे और मेरे बाद की पीढ़ी के जिस-जिस जीवन को सुनीलजी ने एक भी बार छुआ था, वहाँ-वहाँ ऐसी कोई फेहरिस्त होगी। अपने से बड़ों से और देशकाल में दूरस्थ लोगों से प्रेरणा ग्रहण करना आसान होता है। इस दूरी का फायदा उठाकर हम उन जैसा बनने की जिम्मेवारी से मुक्त हो जाते हैं। उनकी महानता का बोझ हमें नहीं उठाना पड़ता। लेकिन अपने साथ के किसी व्यक्ति की महानता को स्वीकार करना जितना कठिन होता है उतना ही कठिन होता है फिर उसके उत्तरदायित्व के बोझ से मुक्त होना। 'इसकी जगह तो मैं हो सकता था' यह विचार इन्सान में सच्चा दुःख, गहरा डर और अद्भुत सम्मोहन भर देता है। अगर ये शख्स ऐसा कुछ कर सकता है, तो मैं कुछ तो कर पाऊँगा। यह भाव मेरे जैसे न जाने कितने साथियों के मन में रह-रहकर उभरता रहा है।

यह यकीन अपने से दो सूत बेहतर बनने का आमंत्रण देता रहा है। सुनीलजी का यह आमंत्रण पिछले 30 बरस से चाहे-अनचाहे हमेशा मेरा पीछा करता रहा। जब-जब जीवन में आलस ने घेरा, जब-जब निज की सुविधा के मोह ने जकड़ा, जब-जब सामाजिक सरोकार नजर से ओझल होने लगे, तब-तब सुनीलजी सामने आकर खड़े हो गए। विश्वविद्यालय के दिनों में एक आंदोलन से मुँह चुराकर लाइब्रेरी से लौटा तो कमरे के दरवाजे पर कुंडी में फँसा एक संदेश इंतजार कर रहा था—जो तटस्थ हैं समय लिखेगा उनका भी अपराध। सालों बाद जब एक फेलोशिप के सिलसिले में विदेश जाने की योजना बनी तो सुनीलजी का पोस्टकार्ड हाजिर था, 'अगर मध्यमवर्गीय जीवन ही जीना है तो वह भी सादगी से जिया जा सकता है....बुद्धिजीवियों को विदेश भ्रमण की आदत से बचना चाहिए।' लेकिन अक्सर सुनीलजी की उपस्थिति

अदृश्य होती थी। कोई भी निर्णय लेने से पहले हमेशा सोचता रहा कि पिताजी को कैसा लगेगा, किशनजी क्या सोचेंगे, सुनीलजी क्या कहेंगे। कई बार मैं इस अदृश्य परछाईं से तंग आ जाता था लेकिन इससे मुक्त होने का विचार अपराध-बोध पैदा करता था। कुछ अच्छा करता था तो सोचता था कि सुनीलजी को उसके बारे में पता लगे।

उनसे पहली मुलाकात जरूर 1981 के जुलाई-अगस्त में हुई होगी। मैंने एम. ए. के लिए जनेवि (जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय) में दाखिला लिया था। और उस कैंपस की राजनीतिक फ़िज़ा का रसास्वादन शुरू किया था—कुछ चकित, कुछ सम्मोहित, कुछ आतंकित और कुछ बेपरवाह। एक तरफ क्रांतिकारिता और आदर्शवाद की राजनीति का आकर्षण था, तो दूसरी तरफ उसके अंग्रेजीदाँ संस्कारों से चिढ़ थी। जहाँ वामपंथी विचारों का प्रभुत्व एक तरह का सकून देता था, वहाँ यह भी दिखता था कि प्रभुत्व तो प्रभुत्व ही होता है, चाहे किसी नाम से हो। छोटे शहर के संस्कार और हिन्दी मीडियम की पढ़ाई में रचा-बसा मेरा मन शायद कहीं कुछ घुटन भी महसूस करता था। चाय, कॉफी, सिगरेट, शराब, गर्लफ्रेंड, जींस, झोला, फिदेल कास्त्रो और हो ची मिन्ह, वी शैल विन के बीच घिरा कहीं कसमसाहट भी महसूस कर रहा था। जनेवि के उन्हीं आरंभिक दिनों में कभी सुनीलजी से मुलाकात हुई थी। जींस का कुर्ता और कोल्हापुरी की जनेवि यूनिफार्म से अलग खादी का कुर्ता, चौड़ी मोहरीवाला सादा पाजामा और टायर की चप्पल। सर्दी में शॉल की जगह बेड कवरवाली शोलापुरी चद्दर। झब्बेदार घुंघराले बाल (असमय ही उग आई गंज के चलते स्मृति का यह अंश धुँधला पड़ गया) और मोटा चश्मा। तभी से उनके इर्द-गिर्द एक आभामंडल था और प्रशंसकों का एक दायरा। जल्द ही मैं भी उनमें शामिल हो गया। समता युवजन सभा की इस मंडली में सुनीलजी सबसे वरिष्ठ नहीं थे। दिग्विजय सिंह (दादा), चेंगल रेड्डी और जसवीर सिंह वरिष्ठ थे। लेकिन नैतिक और राजनीतिक नेतृत्व सुनीलजी के हाथ में था। जनेवि की वामपंथी संस्कृति में यह प्रतिसंस्कृति का एक टापू था—यहाँ चाय और नशे-पत्ती का परहेज था (हालाँकि जसवीर भाई चाय के शौकीन थे और कुछ साथी पान के)—मार्क्स के बदले गाँधी-लोहिया-जयप्रकाश का चलन था, अंग्रेजी की हाय हैलो की जगह भाई या जी का संबोधन था। जनेवि की छात्र राजनीति में यह समूह माकपा के छात्र संगठन एसएफआई के खिलाफ खड़ा था। राष्ट्रीय स्तर पर यह समूह समता संगठन से जुड़ा था। किशन पटनायक, सच्चिदानंद सिन्हा और राकेश सिन्हा हमें वैचारिक दिशा दिखाते थे।

जनेवि के भीतर समता युवजन सभा का मुकाबला एसएफआई और एआईएसएफ के वामपंथी धड़े से था। उन दिनों इस गठबंधन का वर्चस्व कुछ वैसा ही था जैसा पश्चिम बंगाल में वाममोर्चे का था। विद्यार्थियों की यूनियन हो, अध्यापकों की या

कर्मचारियों की, सब पर वाममोर्चा का कब्जा था। भाषा व्यवस्था के क्रांतिकारी विरोध की थी लेकिन वामपक्ष जनेवि के सत्ता प्रतिष्ठान का अभिन्न अंग था। उनके विपक्ष को संगठित करने के लिए सयुस ने डीएसएफ नामक वाममोर्चे से टूटे धड़े और फ्री-थिंकर नामक एक उदारवादी अंग्रेजीदाँ समूह से गठबंधन कर लिया था। सुनीलजी उन दिनों कैंपस की इस राजनीति में बहुत शिद्दत से लगे थे। मैं इसमें उतनी रुचि नहीं ले पाता था। सुनीलजी इस सबके साथ-साथ कैंपस में बसी एक मज़दूर बस्ती में बच्चों को पढ़ाते थे। साथ ही जसवीर, चेंगल और सुनीलजी मिलकर समता इरा नामक अंग्रेजी की मासिक पत्रिका भी निकालते थे। ये मेरे मन का काम था। जनेवि के हॉस्टल में समता-इरा के प्रूफ पढ़ना, उसके बंडल बनाना, डाक से भेजने के लिए पते लिखना, यह सब काम सुनीलजी के साथ मिलकर करता था। सुनीलजी के लिए कोई काम छोटा नहीं था। जनेवि के दिनों से लेकर बाद तक जो काम हाथ से संभव था, सुनीलजी स्वयं करते थे—चिट्ठी लिखना, मिनट्स बनाना, दरी बिछाना, कपड़े धोना आदि। यूँ भी किशन पटनायक के आभामंडल में सामान्य नेता जैसे लटके-झटके की कोई गुंजाइश नहीं थी। उन्हीं दिनों 1982 के छात्रसंघ चुनाव में सयुस-गठबंधन ने वाममोर्चे को शिकस्त दी। हमारे उम्मीदवार नलिनी रंजन मोहन्ती (बाद में देश के वरिष्ठ पत्रकार बने) छात्रसंघ के अध्यक्ष चुने गए। सुनीलजी ने महासचिव के लिए चुनाव लड़ा पर वे चुने नहीं गए। उस अनुभव की समीक्षा करते हुए मैंने पहली बार सुनीलजी को व्यथित देखा। संगठन के भीतर तिकड़म से वे आहत थे, और मैं भी। लेकिन, इससे संगठन के प्रति उनकी निष्ठा में रत्तीभर कमी नहीं आई। तब से लेकर हाल तक सुनीलजी के साथ अलग-अलग संगठनों में काम करने का मौका मिला। उन्होंने कभी अपने आप को संगठन से बड़ा नहीं माना—उन संगठनों में भी नहीं जिनकी स्थापना उन्होंने स्वयं की थी। एक-दो बार मैंने संगठन के निर्णय से असहमत होने पर उन्हें अनुपस्थित रहते तो देखा, लेकिन संगठन का विरोध करते नहीं। संगठन की बैठकों में सुनीलजी अपनी बात बहुत साफगोई से कहते; कभी-कभी तीखेपन के साथ भी, लेकिन संगठन के बाहर उन्होंने मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया।

1983 में असम आन्दोलन का समर्थन करने के लिए दिल्ली से गोहाटी तक की साइकिल यात्रा का विचार सुनीलजी का ही था। इस यात्रा के अलग-अलग पड़ाव से सुनीलजी के पोस्टकार्ड आते। उनमें से एक पोस्टकार्ड अब भी याद है। पूर्णियाँ जिले से भेजे पोस्टकार्ड में सुनीलजी ने रेणु का मैला आँचल का हवाला देकर वहाँ की प्रकृति का वर्णन किया था। वैसे वे साहित्य के बहुत रसिक नहीं थे और मुझे साहित्य और संस्कृति को उसकी राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से देखने वालों के अंदाज से शिकायत रहती थी। पत्राचार में वे हमेशा बहुत नियमित रहे। ई-मेल और एसएमएस का जमाना आने से पहले सुनीलजी के पोस्टकार्ड नियमित रूप से आते रहते थे। कई अन्य बातों की तरह मैंने इसमें भी सुनीलजी का अनुकरण करने की कोशिश की।

उन बातों में सबसे बड़ी बात थी पूर्णकालिक राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में जीवन जीने का उनका फैसला। इस फैसले से किसी को हैरानी नहीं हुई। सुनील लीक से हटकर कुछ काम करेंगे, इसकी सबको आदत पड़ गई थी। फिर भी होशंगाबाद के आदिवासी अंचल में जाकर बसने का उनका संकल्प कई लोगों को अव्यावहारिक लगा था। उन्हें कम जाननेवाले कुछ दोस्तों ने तो कहा था कि यह प्रयोग साल-छः महीने से ज्यादा नहीं चलेगा। शुरू में तो सहेली गाँव में बहुत रमणीक जगह जाकर बसने का मौका मिला। लेकिन बाद में वे पड़ोस के गाँव केसला में आ गए। उन दिनों होशंगाबाद जाने से स्वप्नों की प्रयोगशाला-सा आभास होता था। आर्थिक अभाव से जूझते सुनील और स्मिता (तब तक शिउली—उनकी बिटिया भी आ चुकी थी) संघर्ष के उनके साथी राजनारायण, प्यारे और झक्की आलोकजी और सपरिवार आ बसे सुरेंद्रजी झा के घर के पास की छोटी-सी नदी में नहाने का सुख ही कुछ और था। कुछ ही दूर सेना का प्रूफ-रेंज था, जहाँ लड़कों के साथ प्रूफ रेंज में घुसकर उन्हें गोला-बारूद के बीच फटे हुए (या जिन्दा) गोलों के शेल बीनते हुए देखने का खौफ और रोमांच, आज भी मुझे याद है। सुनीलजी की जगह और कोई होता तो बोरिया-बिस्तर समेटकर वापस एक मध्यमवर्गीय जीवन में लौट आता। लेकिन सुनीलजी ने मुश्किलों से हार नहीं मानी। सुनीलजी, स्मिताजी, शिउली और बालू पड़ोस के गाँव केसला में रहने लगे। आदिवासी समाज के बीच उन्हीं की तरह रहते हुए उन्होंने 30 साल गुजार दिए। दूर से स्नेह-प्रशंसा या रोमांस करने की बजाय, साथ रहकर एक साथ काम, संगठन और झिक-झिक का कठिन रास्ता सुनीलजी को पसंद था।

तवा मत्स्य संघ का दौर सुनीलजी के जीवन का सबसे सुन्दर अध्याय था। उन दिनों उनके चेहरे पर एक खास चमक और संतुष्टि दिखाई देती थी। शायद वह प्रयोग 'संघर्ष और निर्माण' की उनकी परिकल्पना का प्रतिरूप था। उसमें विकल्प-विचार का एक अनूठा प्रयोग था। इस प्रयोग में अंतिम व्यक्ति को केन्द्र में रखकर राजनीतिक संगठन बनाने की आकांक्षा को शुरुआती सफलता मिली। इस प्रक्रिया में कई नए साथी जुड़े और इसने हम सबका आत्मविश्वास बढ़ाया। उन दिनों कई बार मुझे केसला जाने का मौका मिला। जब दिग्विजय सिंह की सरकार उस प्रयोग को बंद करने पर तुली थी, तब एक स्वतंत्र जाँच दल की ओर से जन सुनवाई करने भी मैं वहाँ गया था। उस जाँच दल में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रोफ़ेसर रथ, ज्या द्रेंज, मिहिर शाह और राजेन्द्र सिंह शामिल थे। इनके साथ घूमते हुए मैं समझ पाया कि सुनीलजी ने किस बारीकी और गहराई से इस प्रयोग को खड़ा किया था। प्रोफेसर रथ ने समझाया कि कैसे यह प्रयोग देशभर में सहकारिता के लिए एक नमूना बन सकता है। इसी दौर में मैंने सुनीलजी की अनासक्ति और साहस का नमूना देखा। अगर वे चाहते तो अन्य कई एनजीओ या जनसंगठनों की तरह

दिग्विजय सिंह से समझौता कर अपने प्रिय प्रयोग को बचा सकते थे। लेकिन यह राजनीतिक समझौता उन्हें मंजूर न था। कांग्रेस के खिलाफ समाजवादी जन परिषद् ने चुनाव लड़े और शायद उसके दंडस्वरूप दिग्विजय सिंह ने तवा मत्स्य संघ का लाइसेंस रद्द कर दिया। अपने बच्चे से भी ज्यादा प्रिय इस प्रयोग के खत्म होने का दंश सुनीलजी को था।

सफलता-असफलता से सुनीलजी के निर्विकार रिश्ते के बारे में अक्सर सोचता रहा। जाहिर है उन्होंने सफलता को कभी नहीं पूजा, असफलता के डर से कभी कोई समझौता नहीं किया। लेकिन तवा मत्स्य संघ के प्रयोग में मिली सफलता के परिणाम को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। मुझे महसूस हुआ था कि उस सफलता से उनका व्यक्तित्व बड़ा हुआ था, दृष्टि में उदारता आई थी और राजनीति धारदार बनी थी। चाहे उन्होंने कभी कहा नहीं लेकिन बाद की असफलताओं ने उन पर कहीं-न-कहीं असर डाला। चाहे तवा मत्स्य संघ का बंद होना हो या फिर चुनावी राजनीति में समाजवादी जन परिषद् और स्वयं उनकी विफलता या फिर देश की राजनीति में जन-आंदोलनों की सीमित या सिकुड़ती भूमिका। इन सबका सुनीलजी पर असर दिखता था। आखिरी दौर में उनके आशावादी व्यक्तव्यों के पीछे एक थकान की परछाईं दिखाई देती थी। समय की धार के खिलाफ खड़े रहने के उनके साहस में कहीं इतिहास से शिकायत का भाव सुनाई देता था। अपनी पीढ़ी के साथियों-सहयोगियों के प्रति शालीनता और उदारता के बावजूद उनमें मन की सिकुड़न का आभास होता था। सफलता के लिए तनिक भी समझौता न करने के उनके साहस के प्रति श्रद्धाभाव के साथ-साथ कहीं यह विचार भी कौंधता था कि कहीं वे असफलता को धर्म तो नहीं बना रहे। अगले ही क्षण लगता था कि मैं अपनी कमजोरियों को ढाँपने की कोशिश कर रहा हूँ।

सुनीलजी के प्रति आकर्षिति होने का पहला कारण उनकी वैचारिक प्रतिभा थी। पिछले तीन दशक में हमारे अनेक मतभेद हुए। लेकिन उनकी वैचारिक ओजस्विता के प्रति श्रद्धा में कभी कमी नहीं आई। चाहे जो मुद्दा हो, उस पर सुनीलजी का विचार जानने की उत्सुकता बनी रहती थी। उनकी विशेषता थी बहुत जटिल से जटिल मुद्दों की सारी बारीकियों को समझकर उसे सरल तरीके से और राजनीतिक दृष्टि से समझाना। डंकल प्रस्ताव (जो बाद में विश्व व्यापार संगठन का आधार बना) पर उनकी पुस्तिका इसका उत्कृष्ट नमूना थी। उस पुस्तिका ने देशभर में हज़ारों कार्यकर्ताओं को वैश्वीकरण के बारे में एक स्पष्ट सोच दी। हर बजट पर सुनीलजी की टिप्पणी वो बहुत कुछ सिखाती थी जो कि अर्थशास्त्रियों और आर्थिक पत्रकारों की नुक्ताचीनी में गुम हो जाता था।

सुनीलजी का लेखन तार्किक और सुव्यवस्थित प्रस्तुति का उत्कृष्ट नमूना था। सामायिक वार्ता का संपादन करते समय मैंने उनके सहयोगियों के लेखन पर लाल पेन से काटापीटी करने की धृष्टता की थी। लेकिन सुनीलजी का लेख इतना नपा-तुला होता था कि उसमें एक पंक्ति हिलाने की भी गुंजाइश नहीं होती थी। मुझे अक्सर लगता था कि विश्वविद्यालयों में पढ़ने-पढ़ाने वाले लोग तार्किक सोच और प्रस्तुति में सुनीलजी से सीख सकते हैं। भाषा में रस और अलंकार की कमी कभी-कभार खटकती थी लेकिन इसके पीछे कमजोरी नहीं अनुशासन था। भाषा के प्रवाह और शब्दों के लालच में विचार न बह जाएँ, इसका आग्रह था। यही अनुशासन उनके बोलने में भी था, न लफ्फाजी, न चालाकी, न किसी तरह की अतिशयोक्ति। सुनीलजी को सुनने-पढ़ने से यह भरोसा जगता था कि विचार भाषा को साध सकता है।

विचार की इस सहज साधना के चलते सुनीलजी राजनीतिक कार्यकर्ताओं की दो बीमारियों से एकदम मुक्त थे। पहली बीमारी है विचारहीनता की। अक्सर जमीनी राजनीति करने वाले कार्यकर्ता पढ़-लिख न पाने की अपनी अक्षमता या मजबूरी को एक उपलब्धि की तरह पेश करते हैं। अच्छे-खासे डिग्रीधारी कार्यकर्ता भी अक्सर राजनीति करते वक्त सोच-विचार के झंझट से बचते हैं। व्यावहारिक राजनीति की दुहाई देकर या फिर जमीनी अनुभव का हवाला देकर गहरे सोच-विचार से कन्नी काट लेते हैं। सुनीलजी को विचार साधना का न तो अवकाश था, न ही उसके साधन उपलब्ध थे। लाइब्रेरी, किताबें, पत्रिकाएँ और कई बार अखबार भी उन्हें नियमित रूप से नहीं मिल पाते थे। फिर भी जहाँ तक संभव होता था, वे लिखने से पहले तथ्यों की जाँच करते थे, हिन्दी-अंग्रेज़ी में उपलब्ध प्रासंगिक सामग्री को पढ़ते थे और देश-दुनिया के बड़े बदलाव और हर घटनाक्रम को जोड़कर देखते थे। बाद में कभी सुनीलजी के सैकड़ों लेखों को पढ़नेवाले को शायद यकीन न हो कि यह लेख एक राजनीतिक कार्यकर्ता ने लिखे थे। और वह भी केसला जैसी जगह में रहते हुए।

दूसरी बीमारी से बचना इससे भी बड़ी उपलिब्ध थी। वैचारिक राजनीति करने वाले कार्यकर्ता अक्सर वैचारिक कठमुल्लावाद का शिकार होते हैं। कदम-कदम पर कोई मार्क्स का हवाला देता है, कोई गाँधी का, तो कोई आम्बेडकर या लोहिया का। वैचारिक कार्य का एक ही उद्देश्य माना जाता है अपने विचार का प्रचार-प्रसार। वैचारिक बहसों को वैचारिक इष्ट देवता के उद्धरण से निपटा दिया जाता है। मार्क्सवादी दायरों में तो वैचारिकता अक्सर अकादमिक किस्म के बुद्धि विलास का रूप ले लेती है। यूरोपीय इतिहास के नजीर देकर और नाना किस्म की शाब्दिक बहसों के जरिए राजनीतिक बहस होती है। सुनीलजी इस कठमुल्लावाद और बुद्धि विलास से दूर रहकर विचार साधना की एक मिसाल थे। गाँधी, लोहिया व जयप्रकाश की परंपरा के वारिस होने के बावजूद सुनीलजी कभी-कभार ही इनका हवाला देते थे। किशनजी के शिष्य थे, लेकिन उनसे असहमति व्यक्त करने में कोई हिचक नहीं थी। कहीं कोई आग्रह नहीं था कि हर नए सवाल का जवाब पुराने ग्रंथों में ढूँढ़ा जाए।

सुनीलजी हमारी पीढ़ी के विकल्प-विचार के अग्रिम चिंतक थे। विकास की वैकल्पिक अवधारणा और उसे हासिल करने के लिए वैकल्पिक राजनीति सुनीलजी के लेखन-चिंतन का प्रमुख विषय था। बड़ी पूँजी पर आधारित औद्योगीकरण, बड़ी मशीन, बड़े बाँध, केंद्रीकृत राजसत्ता और बड़े मीडिया तंत्र—इन सबका विकल्प ढूँढ़ना उनका प्रमुख विषय था। लेकिन समता का आग्रह उन्हें अन्य विकल्पवादियों की तरह रूमानी होने से रोकता था। 21वीं सदी के समाजवाद के बारे में उनका लेखन सोवियत संघ के विघटन के बाद समतामूलक विचार को नए संदर्भ में पुनःपरिभाषित करने की एक मानीखेज कोशिश थी। इसी तरह वैकल्पिक राजनीति के बारे में उनकी 'पंचमुखी राजनीति' की अवधारणा लोहिया के जेल-वोट-फावड़ा के फार्मूले से आगे बढ़कर सोचने की कोशिश थी। वैकल्पिक राजनीति कुछ बुनियादी मायने में वैकल्पिक बनी रहे, इस पर सुनीलजी कोई समझौता करने को तैयार नहीं थे। राजनीति में व्यावहारिकता के नाम पर कोई समझौता करने के लिए वे तैयार नहीं थे, चाहे इसकी कीमत हाशिए पर रहकर चुकानी पड़े।

जीवन के तीन दशक वैचारिक जगत् में गुजारने के दौरान मैं चंद ही ऐसे लोगों से मिला हूँ जो विचार के बारे में इतनी सम्यक् दृष्टि रखता हो जितनी सुनीलजी रखते थे। ना विराग, ना अनुराग, ना तिरस्कार, ना मोह। सोचना-बोलना और लिखना सुनीलजी के लिए जीवन जीने का एक सहज हिस्सा था। कर्म और बुद्धि का ऐसा संतुलन बिरले ही को मिलता है। इतना सब होने के बावजूद सुनीलजी को आत्मश्लाघा छू तक नहीं गई थी। जनेवि में उनकी प्रतिभा और उनके ग्रेड के कई किस्से प्रचलित थे। लेकिन मैंने सुनीलजी को ऐसा किस्सा सुनाते या उसका रसास्वादन करते कभी नहीं देखा। उन्होंने हर भौतिक-सुख सुविधा को छोड़ा लेकिन मजाल कि कोई उनकी उपस्थिति में उनके त्याग का जिक्र भी कर दे। एक बार मैंने ये धृष्टता की थी। 2009 के लोकसभा चुनाव में उनके समर्थन में एक जनसभा को संबोधित करते हुए मुझे लालच हुआ कि मैं श्रोता और वोटरों को बता दूँ कि सुनीलजी क्या कुछ बन सकते थे और क्या कुछ झेलकर इस इलाके में संघर्ष करते रहे हैं। मैंने अपने पुराने सम्बन्ध का हवाला देकर उनके त्याग और बलिदान की गवाही दी। त्याग और बलिदान का ढिंढोरा पीटने के इस युग में कोई भी नेता इस गवाही का सम्मान करता या फिर झूठी विनम्रता दिखाते हुए अपनी महानता को रेखांकित करता। सुनीलजी ने सभा में तो कुछ नहीं कहा लेकिन सभा के बाद अलग ले जाकर कहा कि आइंदा मैं ऐसी बातें न बोलूँ तो अच्छा रहेगा। खुदी को इस हद तक मिटानेवाले विरले ही मिलते हैं और राजनीति में तो शायद बिलकुल नहीं मिलते।

पिछले 10-12 बरस में सुनीलजी से एक दूरी भी बनी जिसका जिक्र किए बिना यह संस्मरण अधूरा रह जाएगा। समाजवादी जन परिषद् बनने के पहले कुछ सालों में सुनीलजी के साथ काम करने और उनसे सीखने के कई मौके मिले। मेरा

मन जन परिषद् की राजनीति और सीएसडीएस के अकादमिक जीवन के बीच बँटा रहता था। सुनीलजी अपने तरीके से मुझे राजनीति में पूरी तरह आने को प्रेरित करते रहते। उनका न्यौता स्वीकार न कर पाने का अपराध-बोध मुझे सताता था। सुनीलजी को मेरा टीवी पर चुनाव विश्लेषण करना कतई पसन्द नहीं था। क्योंकि उनकी निगाह में यह एक गम्भीर काम से भटकाव था। मुझे यह बुरा नहीं लगा चूँकि मन की बात साफ-साफ कहना उनका स्वभाव था। कुछ समय बाद एक प्रसंग में मुझे लगा कि वे निर्मोही ही नहीं निर्मम भी हो सकते हैं। मैंने कभी सोचा न था कि अपनी पूरी नैतिक ताकत के साथ आरोप लगाती सुनीलजी की उँगली एक दिन मेरी तरफ उठेगी। मैं अंदर तक हिल गया। शायद सुनीलजी को स्वयं अहसास नहीं था कि उनकी अस्वीकृति का बोझ मेरे लिए कितना भारी हो सकता था। उस वक्त किशनजी ने बीच बचाव कर दिया था और बात टल गई थी। लेकिन उसके बाद से हम पूरी तरह सहज नहीं हो सके।

किशनजी के जाने के बाद यह दूरी धीरे-धीरे बढ़ती गई। समाजवादी जन परिषद् ढीली पड़ती जा रही थी, साथी बिखरते जा रहे थे। किशनजी के राजनीतिक उत्तराधिकारी होने के नाते संगठन को दिशा और नेतृत्व देने की जिम्मेदारी सुनीलजी के कंधों पर आन पड़ी। उन्होंने अपनी तरफ से पूरी कोशिश भी की लेकिन परिस्थितियाँ अनुकूल न थीं। मुझे यह भी लगता था कि जन-आंदोलनों की ऊर्जा को राजनीतिक दल में बदलने के लिए जिस समझ और योजना की जरूरत थी, वह जन परिषद् में नहीं थी। जन परिषद् चुनावी राजनीति का हिस्सा तो बनी रही लेकिन उसकी बुनियादी जरूरत वो नजरअंदाज कर रही थी। चुनावी राजनीति में प्रभावी दखल के लिए जरूरी था कि चुनाव, बड़े पैमाने पर लड़ा जाए, सभी तत्त्वों को जोड़ा जाए, अधिकांश लोगों की चिंताओं और मुद्दों का समावेश हो और सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा हो। सजप इन जरूरतों की ओर पीठ मोड़कर खड़ी थी। लेकिन संगठन में इस बात को मैं प्रभावी रूप से नहीं रख पाया। किशनजी के बाद वार्ता के संपादन का काम मुझे सौंपा गया था। लेकिन मैं इस जिम्मेदारी के साथ न्याय नहीं कर पा रहा था। सुनीलजी इससे काफी परेशान होते थे। ऐसे में उन्हें संगठन के बारे में सीख देने का मेरा अधिकार नहीं बनता था। चुनावी राजनीति में प्रभावी दखल की अपनी समझ पर जोर देने का मतलब होता सुनीलजी के खिलाफ खड़ा होना। मेरे लिए यह संभव नहीं था। नतीजतन मैं जन परिषद् में लगभग निष्क्रिय-सा हो गया। 2009 में लोक राजनीतिक मंच के प्रयोग के समय फिर कुछ सक्रिय हुआ लेकिन ऐसा लगा कि बड़ी राजनीति के लिए जो बड़ी समझ और बड़ा मन चाहिए वह हममें से किसी के पास नहीं था।

सुनीलजी से अंतिम और लंबा संवाद आम आदमी पार्टी की स्थापना के समय हुआ। सुनीलजी पहले दिन से अन्ना आंदोलन के आलोचक थे। जन लोकपाल आंदोलन

के कुछ सकारात्मक पक्षों को स्वीकार करते हुए उन्होंने इस आंदोलन की कमजोरियों और खतरों को रेखांकित किया। मेरे सहित कुछ अन्य साथियों का मूल्यांकन बिलकुल विपरीत था। हमने इसकी कमजोरियों और खतरों को स्वीकार करते हुए इस आंदोलन का खुलकर स्वागत और समर्थन किया। यह असहमति 1 साल तक चली लेकिन जब अगस्त 2012 में नई पार्टी बनने का फैसला हुआ तो एक निर्णय करना अनिवार्य हो गया। अजित झा, सोमनाथ त्रिपाठी, शिवूपजन सिंह और मुझ जैसे कई साथी चाहते थे कि इस नए प्रयोग से जुड़ा जाए। हम साथियों का मानना था कि वैकल्पिक राजनीति के जितने भी प्रयोग हुए हैं, उनमें से इस प्रयोग के असरदार होने की सबसे ज्यादा संभावना है। इस प्रयोग में जोखिम है लेकिन इस जोखिम को उठाए बिना कोई रास्ता नहीं। इसका सबसे मुखर विरोध सुनीलजी ने किया। उनका मानना था कि इस नई पार्टी की वैचारिक दिशा स्पष्ट नहीं है। कुछ महत्त्वूपर्ण मुद्दों पर इसकी दिशा का कोई ठिकाना नहीं है और इसकी निर्णय लेने की प्रक्रिया का भरोसा नहीं है।

यह बहस उत्तर बंगाल में जुगलदा द्वारा स्थापित समता केंद्र में सितम्बर 2012 में आधी रात के बाद तक चली। इस बहस में दोनों पक्ष दूसरे को समझाने में असमर्थ रहे। दोनों तरफ के तर्क मजबूत और तीखे थे लेकिन अशालीन नहीं थे। ऐसा कुछ नहीं हुआ कि संवाद का सूत्र टूट जाए। अंततः बहुमत से फैसला करने की बजाय हम कुछ साथियों ने समाजवादी जन परिषद् छोड़ने का फैसला किया।

पार्टी छोड़ने के बाद भी सुनीलजी से संवाद बना रहा। आम आदमी पार्टी के बारे में सुनीलजी की आलोचना में भी मर्यादा बनी रही। अहम या ईर्ष्यावश अनर्गल आरोप लगाने से उन्होंने हमेशा परहेज किया। दिल्ली विधान सभा चुनाव के समय सुनीलजी आम आदमी पार्टी की चुनावी सभाएँ देखने आए। पार्टी के हनुमान रोडवाले दफ्तर में आकर उन्होंने जायजा लिया और पार्टी के दस्तावेज भी ले गए। उस आखिरी राजनीतिक संवाद में उन्होंने माना कि यह पार्टी दिल्ली के गरीब तबके में अपनी पैठ बना पाई है। लेकिन इतना भर उनके लिए पर्याप्त नहीं था। पार्टी की वैचारिक दिशा को लेकर उनके संदेह बरकरार थे। 'हो सकता है तुम लोग सफल हो जाओ लेकिन इस सफलता से हासिल क्या होगा' उन्होंने पूछा। इस सवाल का जवाब आज भी मेरे पास नहीं है? इस संवाद में कौन सही था और कौन गलत, इसका फैसला आज से 20-30 बरस बाद ही हो सकेगा।

किसी बड़े शख्स के बारे में उसे पढ़ते-सुनते और उसे नजदीक से अपनी आँखों से देखने में एक बुनियादी फर्क है। पढ़-सुनकर ग्रहण की गई महानता भारी लेकिन सुपाच्य होती है। देश और काल का फासला उस शख्स को एक इन्सान से मूर्ति में बदल देता है—कमजोरियाँ ओझल हो जाती हैं। और गुण तमाम अलंकार धारण कर किंवदंती और मिथक में बदल जाते हैं। लेकिन सुनी-पढ़ी महानता हमें डराती

नहीं, हमारी अपूर्णता का अहसास नहीं कराती, पलटकर हम पर उँगली नहीं उठती। आँखों देखी महानता ज्यादा दिक्कत पेश करती है लेकिन ज्यादा गहरा छूती भी है।

अपनी समझ पर यह एहसास हावी हो जाता है कि वह शख्स मेरे बारे में क्या सोचता है। लेकिन यही नजदीकी हमारे व्यक्तित्व पर ज्यादा गहरी छाप छोड़ती है। ऊँचे कद का हमउम्र हमें एकाएक छोटे से बड़ा कर सकता है।

सुनीलजी का हमसफर होना कुछ ऐसा ही अनुभव था। उन्हें देखना अपने आप ऊँचाइयों की तरफ ले जाता था। पलटकर अपनी ओर देखना कई बार कमतरी के एहसास को जगाता था। लेकिन अपनी आँख के सामने अपने समवयस्क इस अद्‌भुत व्यक्तित्व को चलते-फिरते देखना अपनी कमियों से बाहर आने का रास्ता भी दिखता था। सुनीलजी वो थे जो वो होना चाहते थे, जो मेरे जैसे कई लोग होना चाहते थे, लेकिन हो नहीं पाए। जो उनसे एक बार भी मिल लेता था, उस पर कहीं न कहीं सुनीलजी की छाप अंकित हो जाती थी। यह छाप रोमांचित भी करती थी, तंग भी करती थी। शायद आँखों देखी महानता की यही दुविधा होती है, जो उनके नजदीक जाने को लालायित करती थी, मगर बीच-बीच में दूरी की जरूरत भी पैदा करती थी। यह दूरी उनकी छाप को हल्का नहीं, और गहरा करती थी। हर दूरी एक बार फिर नजदीकी की चाह पैदा करती थी।

XB-4, सहविकास सोसायटी
इन्द्रप्रस्थ एक्सटेंशन, पटपड़गंज, दिल्ली-92

अरुन्धती रॉय

बेहद विवादास्पद उपन्यासकार, पटकथालेखिका, निबंधकार, सामाजिक कार्यकर्त्री व पर्यावरण तथा राजनीति पर टिप्पणीकार अरुन्धती रॉय का जन्म नवम्बर 24, 1961 ई. को शिलांग, मेघालय में बंगाली चायबागान मालिक रंजीत रॉय, पिता व मलयाली ईसाई माँ मेरी रॉय से हुआ था। एन. डी. टी. वी. प्रमुख, प्रणव रॉय उनके चचेरे भाई हैं।

अरुन्धती की प्रारम्भिक शिक्षा केरल में कोट्टायम के कोर्पास क्रिस्टी में हुई। फिर वे तमिलनाडु में नीलगिरि के लारेंस स्कूल, लवडेल गईं। इसके बाद उन्होंने स्कूल ऑफ प्लानिंग ॲण्ड आर्कीटेक्चर, नई दिल्ली से स्थापत्य की शिक्षा ली। यहीं से उन्होंने स्थापत्यशास्त्री गेरार्ड दा गुन्हा से पहला विवाह किया। सन् 1984 ई. में उन्होंने प्रदीप कृष्ण की फ़िल्म 'मैसी साहब' में एक ग्राम्य बाला का किरदार निभाया और बाद में उन्हीं से दूसरा विवाह कर लिया। अरुन्धती ने कुछ समय तक पंचतारा होटलों में कलाबाजी की कक्षाएँ चलाकर भी धन अर्जन किया। उपन्यास, 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' की भारी बिक्री और उसे बुकर पुरस्कार मिलने से वे इतनी सम्पन्न हो गईं कि स्थायी तौर पर दिल्ली में रहने लगीं।

अपनी जीविका का प्रारम्भ उन्होंने टी. वी. व फ़िल्मों के पटकथा लेखन व अभिनय से किया। शेखर कपूर ने सन् 1994 ई. में 'बैन्टिड क्वीन' बनाई। यह फ़िल्म फूलन देवी डकैत के जीवन पर आधारित थी। रॉय ने इसका रिव्यू लिखा तो एक जीवित महिला के साथ उसकी अनुमति के बिना ही बलात्कार के फ़िल्मांकन की नैतिकता व वैधता दोनों पर प्रश्नचिह्न लगाए। उन्होंने इसमें फूलन की जीवनी को विद्रूप किए जाने का भी आरोप लगाया। इससे उनकी बौद्धिकता की ओर सबका ध्यान गया। वे अपने उपन्यास, 'गॉड ऑफ स्माल लिंग्स' का लेखन सन् 1992 ई. में ही प्रारम्भ कर चुकी थीं। इसके प्रकाशन ने उन्हें तेजी से प्रसिद्धि दी। सन् 1997 ई. का बुकर पुरस्कार इस उपन्यास को मिला। यू. एस. ए. तथा ब्रिटेन में यह उपन्यास गरम जलेबी की तरह बिक रहा था, तभी रॉय के गृह राज्य केरल के तत्कालीन मुख्यमंत्री ई. के. नयनार ने उसमें स्वच्छंद यौन चित्रण की कड़ी आलोचना की। इससे रॉय को भारी प्रचार व प्रसिद्धि दोनों मिले। इतनी बड़ी प्रसिद्धि के बाद रॉय पुनः फ़िल्मी पटकथा लेखन आदि में जुट

गईं। उन्होंने जनजातियों पर आधारित पुस्तक, 'वी आर वन : ए सेलेब्रेशन ऑफ ट्राइबल पीपल्स' का लेखन कार्य किया (2009) इस पुस्तक की बिक्री का पूर्ण लाभ 'सर्वाइकल इन्टरनेशनल' को दे दिया जाता है। यह संस्था विश्व स्तर पर जन-जातियों के कल्याण के लिए कार्य करती है।

'द गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' के बाद से रॉय का अधिकांश समय राजनीति, व्यावहारिक लेखन व सामाजिक कार्यों में व्यतीत होता है। वे वैश्वीकरण, नव-साम्राज्यवाद तथा संयुक्त राज्य की भूमंडलीकरण की विदेश नीति के विरुद्ध सर्वाधिक सक्रिय रहती हैं। वे भारत सरकार की परमाणु युद्धास्त्र नीति की भी कड़ी आलोचक हैं। वे भारत सरकार की औद्योगिक नीति के पर्यावरण-विनाशक पक्ष के प्रति निरंतर सक्रिय रहती हैं। नर्मदा बचाओ आन्दोलन की वे एक शीर्षस्थ नेत्री हैं। अगस्त, सन् 2008 ई. में अरुन्धती रॉय ने टाइम्स ऑफ इंडिया में एक साक्षात्कार दिया। इसमें उन्होंने कश्मीरी जनता की आज़ादी की माँग का समर्थन किया। नेशनल कॉन्फ्रेंस, इंका. व भाजपा ने उनके इस विचार की कड़ी निन्दा की।

सन् 2002 ई. में रॉय ने स्वयं भारतीय सर्वोच्च न्यायालय में उसी पर सख्त टिप्पणी कर डाली। सर्वोच्च न्यायालय ने रॉय को अपनी अवमानना का नोटिस दिया। रॉय ने वहाँ अपने शपथ-पत्र में कहा कि जिस न्यायालय को देश के रक्षा सौदों में भ्रष्टाचार पर जाँच का मुकदमा सुनने का समय नहीं है, उसे अवमानना का मुकदमा सुनने की फुरसत कैसे मिल रही है? उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय की गतिविधियों पर प्रश्नचिह्न लगाए। रॉय ने माफी माँगने से इनकार किया तो सर्वोच्च न्यायालय ने उन पर रुपये 2500 का जुर्माना किया और एक दिन की सजा दी। रॉय ने सजा काटी और जुर्माना अदा कर दिया। यह उनके साहसपूर्ण जीवट का प्रमाण है।

इतिहासकार, राम चन्द्र गुहा श्रीमती रॉय के कटु आलोचक हैं। वे रॉय को 'पर्यावरण के विषय में उन्मादी' तक के विशेषण से नवाजने से गुरेज नहीं करते। वे नर्मदा बचाओ आन्दोलन को गैर जिम्मेदाराना भी बताते हैं। रॉय अपनी आलोचना को स्वीकारते हुए कहती हैं कि उनका प्रथम कार्य लोगों को जगाना है। गहरी नींद में सोने वालों को शीघ्रता से जगाने के लिए उद्घोषक का उन्मादी होना अनिवार्य है।

संयुक्तराज्य अमेरिका की विदेशनीति

सन् 2001 ई. में रॉय ने इंग्लैण्ड के अखबार, 'द गार्जियन' के लोकमत कॉलम में अफगानिस्तान पर अमेरिकी आक्रमण पर अपनी राय भेजी। उस समय के अमेरिकी राष्ट्रपति, बुश व ब्रिटिश प्रधान मंत्री ब्लेयर ने इसे सितंबर 11 का बदला, शांति के लिए आवश्यक कहते हुए अपने देश को शांतिप्रिय बताया था। रॉय ने लिखा कि, ''चलो पता चल गया कि सुअर तुरंग होते हैं, लड़कियाँ लड़के होती हैं और युद्ध शांति होता है।''

रॉय संयुक्त राज्य अमेरिका के दावे कि वह एक शांतिपूर्ण देश है, को खुलकर नकारती हैं। वे गिनाती हैं कि वह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से 20 देशों पर बम-वर्षा

कर चुका है। उनका आरोप है कि तालिबान को समर्थन व मदद देकर खड़ा करने वाला देश अमेरिका ही है। वही तालिबान जवान होकर आज औरतों पर पत्थर मारता है, उनसे बलात्कार करता है और उन पर अत्याचार करता है।

रॉय अमेरिकी पूँजीवाद के नव-साम्राज्यवादी चरित्र को अपराधी मानती हैं। वे विश्व व्यापार केन्द्र पर व अफगानिस्तान पर किये गये हमलों को एक जैसे ही दो आपराधिक कार्य मानती हैं। मई, सन् 2003 ई. में रॉय ने न्यूयार्क में एक भाषण दिया। इस भाषण में उन्होंने अमेरिका को एक विश्व साम्राज्य बताया और आरोप लगाया कि वह जब चाहे, दुनिया में कहीं भी बम वर्षाने लगता है। वे इराक-युद्ध का संदर्भ दे रही थीं। उन्होंने इराक पर गठित विश्व-न्यायाधिकरण में भी भाग लिया। मार्च, 2006 ई. में जार्ज डब्ल्यू बुश भारत आए तो अरुन्धती रॉय ने उन पर 'युद्ध अपराधी' होने का आरोप लगाया।

राय भारत के परमाणु परीक्षणों और बड़े-बड़े जलविद्युत बाँध कार्यक्रमों की कड़ी आलोचक रही हैं। केरल और कर्नाटक सीमा पर केरल का मुथंगा वन्यजीवन विहार है। यहाँ विहार के एक भूखंड पर पहले यूकेलिप्टस लगाये गये जो बाद में काट डाले गये। सन् 2003 ई. में आदिवासी गोत्र महासभा ने वन भूमि पर आदिवासी अधिकारों को लेकर एक आन्दोलन छेड़ा। आन्दोलन में पुलिस आदिवासी संघर्ष में एक आदिवासी व एक पुलिसकर्मी मारे गए। रॉय ने आदिवासी नेताओं से वार्ता की। उन्होंने अखबारों में उस समय के मुख्यमंत्री (ए. के. एन्टनी, इंका) को खुला खत लिखा, जिसमें उन पर आरोप लगाया कि उनके हाथ आदिवासियों के 'खून से सने' हैं।

किसी भी ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक या सैद्धान्तिक विषय पर अरुन्धती रॉय के विचार व तर्क दूसरों से कुछ अलग हटकर ही होते हैं और उन्हें प्रकट करने के लिए प्रयुक्त भाषा भी उनकी अपनी ही होती है। वे भारत-पाक बँटवारे को भारत को 'अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की विदाई दुलत्ती' बताती हैं। रॉय बड़ी-बड़ी घटनाओं को अलग-अलग से विश्लेषित करने के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि भारत का बँटवारा, सन् 2002 के गुजरात दंगे, सन् 2008 के मुम्बई हमले, कश्मीर समस्या आदि सभी कुछ क्षेत्रीय इतिहास व समस्याओं की समग्रता की देन हैं। वे आतंकवाद को भी राष्ट्रीय न मानकर क्षेत्रीय मानती हैं। उनका कहना है कि यदि कभी भारत-पाक युद्ध होता है तो इससे सम्पूर्ण क्षेत्र में अफरातफरी मचेगी। सलमान रुशदी रॉय के इन विचारों के कटु आलोचक हैं।

अप्रैल, 2009 ई. में लंदन के दैनिक, द गार्जियन, में अरुन्धती ने श्रीलंका पर तमिलों की नियोजित नस्लकुशी का आरोप लगाया। वहाँ सरकार द्वारा तमिलों के लिए बनाए गए सुरक्षा कैंपों को यातना कैंप नाम दिया। उनका मानना है कि एल. टी. टी. ई. का आन्दोलन व संघर्ष उन पर श्रीलंका सरकार व सिंहल समुदाय के सदियों चले अत्याचार की उपज है।

श्रीमती रॉय भारत के नक्सलवादियों के विरुद्ध भारत सरकार द्वारा की जा

रही कार्यवाहियों को भारतीय गरीबों के विरुद्ध सरकार का युद्ध मानती हैं। भारत सरकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को मुनाफा कमवाने के लिए अपने ही गरीबों पर गोलियाँ चलवाती है। रॉय ने नक्सलियों को 'एक अलग किस्म के गाँधीवादी' कहा तो इसके विरुद्ध गंभीर प्रतिक्रिया हुई। रॉय का कहना है कि नक्सली भारतीय संविधान को सच्चे अर्थों में लागू करने का प्रयास कर रहे हैं। उनका कहना है कि सरकार नक्सलियों के साथ बर्बरता से पेश आ रही है।

पुरस्कार

- नेशनल फ़िल्म अॅवार्ड (सर्वश्रेष्ठ पटकथा), 1989,
- बुकर पुरस्कार, 1997, (यू. एस. डॉलर 30,000).
- लेनान फाउन्डेशन कल्चरल फ्रीडम अॅवार्ड, 2002
- वूमन आफ पीस एवार्ड (सेनफ्रान्सिस्को), 2003.
- सिडनी पीस प्राइज़, 2004.
- साहित्य अकादमी अॅवार्ड, 2006 (यह पुरस्कार लेने से उन्होंने इनकार किया। भारत सरकार पर आरोप लगाया कि वह यू. एस. की पिछलग्गू है, औद्योगिक श्रमिकों पर क्रूरता करती है, सैन्यीकरण करती है व नव उदारवाद के मार्ग पर चलती है)।
- नारयन मेलर पुरस्कार (श्रेष्ठ लेखन), 2011.

पुस्तकें

1. द गॉड ऑफ स्माल थिंग्स, 1997
2. एन्ड ऑफ इमैजिनेशन, 1998
3. कॉस्ट ऑफ लिविंग, 1999
4. द ग्रेटर कॉमन गुड, 1999
5. द अल्जबरा ऑफ इनफाइनाइट जस्टिस, 2002
6. पावर पालिटिक्स, 2002
7. वार टाक, 2003
8. फॉरवर्ड टुर्नाआमचॉम्स्की, 2003
9. एन ऑर्डिनरी पर्सन्स गाइड टु एम्पायर, 2004
10. पब्लिक पॉवर इन द एज ऑफ एम्पायर, 2004
11. द चेकबुक अॅण्ड द क्रूज़ मिसाइल, 2004
12. इन्ट्रोडक्शन टु 13 दिसंबर, ए डीडर : द स्ट्रैन्ज केस ऑफ द अटैक ऑन द इण्डियन पार्लियामेंट, 2006
13. द शेप ऑफ द बीस्ट : कन्वरसेशन्स विद अरुन्धती रॉय, 2008
14. लिसनिंग टु ग्रासहापर्स : फील्ड नोट्स ऑन डेमोक्रेसी।

राम गोपाल वर्मा

राम गोपाल वर्मा भारत के प्रख्यात फिल्म निर्देशक, पटकथा लेखक व प्रोड्यूसर हैं। उन्होंने विभिन्न आयामों, यथा—मनोवैज्ञानिक, रोमांचक, माफिया प्रतिद्वन्द्वितावाली, राजनीतिज्ञ-अपराधी गठबंधन वाली व संगीत प्रधान फिल्में एक साथ कई भाषाओं में बनाई हैं।

बालीवुड में आर. जी. वी. की शोहरत हिन्दी फ़िल्म शिवा (1990) से प्रारम्भ हुई। फिर रंगीला (1995) आई। उनके निर्देशन में बनी सत्या (1998) को 6 फ़िल्मफेयर पुरस्कार मिले। उसे समालोचकों का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार भी मिला।

राम गोपाल का जन्म अप्रैल 7, 1962 ई. को आन्ध्र प्रदेश के हैदराबाद शहर में (पिता कृष्ण राजू पेन्मेत्सा व माँ सूर्यवती) हुआ। फ़िल्मों में ध्वनि-रिकॉर्डिंग क्षेत्र में काम करने वाले उनके पिता बचपन में उन्हें एक नकारा बालक मान चुके थे। स्कूल में वे दबंग लड़कों से प्रेरित रहते थे और उन्हीं की नकल करने का प्रयास करते थे। दूसरों के आचरण का अध्ययन उनका शौक रहता था। यही बात उन्हें फ़िल्मकार बनाने की ओर ले गई।

शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने विजयवाड़ा के वी. आर. सिद्धार्थ इंजीनियरिंग कॉलेज से बी. ई. की डिग्री ली और कुछ दिनों एक होटल के निर्माण के लिए भी काम किया। फिर उन्होंने हैदराबाद में एक वीडियो लाइब्रेरी खोली और यहीं से उनका फ़िल्म से रिश्ता बनने लगा। बी. गोपाल की फ़िल्म, कलेक्टरगीरी अब्बाई में वे चतुर्थ सहायक निर्देशक थे। शिवा उनकी पहली स्वतंत्र निर्देशन वाली फ़िल्म थी। इसका विषय था छात्र राजनीति का अपराधीकरण। इस तेलुगु फ़िल्म की सफलता ने इसका हिन्दी रिमेक अनिवार्य बना दिया। वह भी खूब सफल रहा। अब आर. जी. वी. एक मान्य निर्देशक बन गए।

आर. जी. वी. की अगली फिल्म थी 'क्षण-क्षणम'। इसने बालीवुड के समालोचकों का ध्यान खींचा। हिन्दी में इसकी डबिंग 'हैरान' नाम से की गई। फिर उन्होंने 'रात्रि' और 'अन्तम्' बनाई। 'गायम्', गोविंदा गोविंदा', 'मनी' और 'मनी मनी', एक के

बाद एक ऐसी फ़िल्में थीं जो बॉक्स ऑफिस पर प्रशंसा पाती गईं। इसी बीच उन्होंने मणि रत्नम की तमिल फ़िल्म Thiruda Thiruda की पटकथा भी लिखी। 'शिवा' के बाद आर. जी. वी. की दूसरी हिन्दी फ़िल्म थी 'द्रोही'। लेकिन बड़ी शोहरत का कारण बनी 'रंगीला'। इसे भी कई फ़िल्मफेयर पुरस्कार मिले। सन् 1998 ई. में आर. जी. वी. मणिरत्नम की फ़िल्म, 'दिल से', के कार्यकारी निर्माता बने। इस फ़िल्म को दो राष्ट्रीय व 6 फिल्मफेयर पुरस्कार मिले।

सन् 1998 ई. में उनकी उस समय तक की सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म, 'सत्या' आई। इसमें आर. जी. वी. का निर्देशन मील का पत्थर माना गया। फ़िल्म का विषय था—मुम्बई का माफिया जगत्। इसे छह फ़िल्मफेयर पुरस्कार मिले।

सन् 2002 ई. में उनकी सबसे बड़ी व्यावसायिक सफलता वाली फ़िल्म 'कम्पनी' आई। इसका विषय भी सत्या जैसा (डी-कम्पनी) ही था। इसमें पारंपरिक नाच-गाना-दृश्यों को नकारकर सच्चाई के प्रदर्शन पर जोर दिया गया था। इसे सात फ़िल्मफेयर व एक सर्वश्रेष्ठ निर्देशक के पुरस्कार मिले। सन् 2005 में उन्होंने 'डी' बनाई। इसके निर्देशक विश्राम सावंत थे। 'सत्या', 'कम्पनी', और 'डी' की त्रयी भारत में माफिया गुटों की गतिविधियों पर बनी फ़िल्मों के रूप में प्रायः उद्धृत की जाती है। ब्रिटिश निर्देशक डैनी ब्यायल अपनी फ़िल्म 'स्लमडाग मिलियॉनर' पर इन फ़िल्मों के प्रभाव को स्वयं स्वीकार चुके हैं।

सन् 1999 ई. में आर. जी. वी. ने 'कौन' नाम की रहस्य रोमांचभरी फ़िल्म का निर्देशन किया। यह एक नया प्रयोग था। इसे केवल एक मकान तक सीमित रखा गया और इसमें मात्र तीन चरित्र थे। फिर 'मस्त' बनाई, जो हिन्दी सिनेमा के प्रचलित मसाला स्वरूप से एकदम उलट थी। सन् 2000 की 'जंगल' फ़िल्म, जिसे पूरी तरह जंगल में फ़िल्माया गया था, के लिए उन्हें स्टार स्क्रीन ॲवार्ड फॉर बेस्ट डायरेक्टर के लिए नामित किया गया। लगभग यही स्थिति सन् 2003 ई. में बनाई फ़िल्म 'भूत' की रही। भूत की सफलता से प्रेरित होकर उन्होंने मनोवैज्ञानिक रोमांच फ़िल्म 'एक हसीना थी' का निर्देशन किया। फिर पुलिस मुठभेड़ों की हकीकत पर आधारित फ़िल्म, 'अब तक छप्पन', बनाई (2004)। सन् 2005 ई. में आर. जी. वी. को जी सिने ॲवार्ड के साल के सर्वश्रेष्ठ निर्माता पुरस्कार के लिए नामित किया गया। निर्देशक के रूप में वर्मा की अगली फ़िल्म सरकार (2005) भी बॉक्स ऑफिस पर सफल रही।

इसके बाद सन् 2007 ई. में उनकी 'निशब्द', 'शोले' (रिमेक), 'राम गोपाल वर्मा की आग' और 'डॉर्लिंग' आईं। बाद की तीनों बॉक्स ऑफिस पर असफल रहीं, यद्यपि समालोचकों ने उनकी सामान्य प्रशंसा की।

सन् 2010 ई. में रामगोपाल ने अपनी आत्मकथा प्रकाशित की। शीर्षक है 'न

इस्तम'। इस आत्मकथा में ज्यादा जोर अपनी राय, अपने विचारों व अपने दर्शन की अभिव्यक्ति पर दिया गया है।

फ़िल्मफेयर ॲवार्ड्स

- सर्वश्रेष्ठ चलचित्र का समालोचक पु.—सत्या. (1998)
- सर्वश्रेष्ठ कहानी पु.—रंगीला (1995)

फ़िल्मफेयर ॲवार्ड दक्षिण

- सर्वश्रेष्ठ निर्देशक ॲवार्ड (तेलुगु - शिवा 1989)
- सर्वश्रेष्ठ निर्देशक ॲवार्ड (तेलुगु) - क्षणक्षणम —(1991)

नन्दी ॲवार्ड्स

- सर्वश्रेष्ठ निर्देशक—शिवा (1989)
- सर्वश्रेष्ठ निर्देशक—क्षणक्षणम (1991)
- सर्वश्रेष्ठ निर्देशक—प्रेमकथा (1999)

बालीवुड ॲवार्ड्स

- सर्वश्रेष्ठ निर्देशक—सत्या (1998)
- सर्वश्रेष्ठ निर्देशक—जंगल (2000)
- सर्वश्रेष्ठ निर्देशक—कम्पनी (2002)
- सर्वश्रेष्ठ निर्देशक—भूत (2003)

रामगोपाल वर्मा ने अब तक विभिन्न भाषाओं में अग्रलिखित फिल्में निर्देशित की हैं—शिवा (तेलुगु, 1989, हिन्दी 1990); क्षणक्षणम् (तेलुगु 1991); अन्तम (तेलुगु, 1992); रात/रात्रि (हिन्दी, तेलुगु, 1992); गायम् (तेलुगु 93); गोविन्दा गोविन्दा (तेलुगु 93); रंगीला (हिन्दी, 95); देय्याम् (तेलुगु 96); अनंगनंगा ओकारोजू (तेलुगु 97); दौड़ (हिन्दी, 97); सत्या (हिन्दी, 98); प्रेमकथा (तेलुगु 99); कौन (हिन्दी 99); मस्त (हिन्दी, 99); जंगले (हिन्दी 2000); कम्पनी (हिन्दी 2002); भूत (हिन्दी 03); नाच (हिन्दी 04); सरकार (हिन्दी 06); निश्शब्द (हिन्दी 07); रामगोपाल वर्मा की आग (हिन्दी 07); डॉर्लिंग (हिन्दी 07); सरकार राज (हिन्दी 08); कान्ट्रेक्ट (हिन्दी 08); फूँक (हिन्दी 08); अज्ञात (हिन्दी 2009); रान (हिन्दी 10); रक्तचक्र भाग-1 (तेलुगु, हिन्दी 2010); रक्तचक्र, भाग-2 (तेलुगु, हिन्दी, तमिल 2010); कथा स्क्रीन प्ले (तेलुगु, 11); दोंगला मुत्ता (तेलुगु, 2011); डिपार्टमेंट (हिन्दी, 2012) और अम्मा-उडी (तेलुगु/तमिल/हिन्दी/अंग्रेज़ी)।

तसलीमा नसरीन

❑ मोहनकृष्ण बोहरा

तसलीमा नसरीन का जीवन-परिचय पाने का प्रमुख साधन उसकी आत्मकथा ही है। इसे उसने विस्तार से लिखा है। जितना जीवन उसने जिया है, उसका आलेखन उसने कठोर ईमानदारी से और यथाशक्य विस्तार से किया है।

आत्मकथा लिखना उसने निर्वासन में प्रारंभ किया। उस समय तक वह लगभग पैंतीस वसन्त देख चुकी थी। जब वह स्वीडन में थी, तब उसकी माँ उससे मिलने वहीं गई थी। माँ से बातें करते हुए उसने अपने शैशव से कैशोर्य काल तक के जीवन के बारे में काफी कुछ जाना। उसके आधार पर ही उसने अपने जीवन के प्रारंभिक-काल का आलेखन प्रारंभ कर दिया। यही आलेखन बाद में 'मेरे बचपन के दिन' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

आत्मकथा का यह पहला खंड था। जब यह बांग्ला में लिखा जा चुका था और अभी प्रकाशित नहीं हुआ था, तसलीमा की फ्रेंच प्रकाशक क्रिश्चियन बेस ने इसका फ्रेंच अनुवाद करवाया। पुस्तक उसे इतनी पसंद आई कि यह बांग्ला में प्रकाशित होती, उससे पहले ही उसने इसे फ्रेंच में प्रकाशित कर दिया। यह उसकी पहली पुस्तक है जो फ्रेंच में पहले प्रकाशित हुई, बांग्ला में बाद में।

इस पुस्तक पर मिले पुरस्कार और प्रशंसाओं ने उसका हौसला बढ़ाया। आत्मकथा लेखन के प्रति गहरा आश्वस्ति भाव उसमें जाग गया। इसे लिखने का जो सिलसिला माँ के जीवन के अंतिम वर्ष में प्रारंभ हुआ, वह फिर थमा नहीं। तब से वह निरन्तर लिखती आ रही है। कविता, निबंध, कहानी, उपन्यास, पत्रकारी-लेखन आदि के साथ-साथ उसका आत्मकथा—लेखन भी सतत चलता रहा है।

अपनी आत्मकथा में तसलीमा ने अपने बारे में तो लिखा ही है, जो उसके संपर्क में आये, उनके बारे में भी लिखा है और अपने परिवेश के बारे में भी लिखा है। अपने माता-पिता, भाई-बहन के बारे में भी उसने लिखा है। इन सभी के बारे में उसने लगभग उतनी ही बेबाकी से लिखा है, जितना उसने अपने बारे में लिखा

है। अपने प्रेम-जीवन और गोपन-पक्ष पर भी उसने अकुंठित भाव से लिखा है। नाते-रिश्तेदारों में से उसके अपने ननिहाल-पक्ष पर, अपने नाना-नानी और मामा-मौसियों पर भी लिखा है। चाचा अमान पर उसने लिखा ही है। उसने बिना किसी कुंठा के स्वीकार किया है कि उसके चार-छः पीढ़ी पहले के पूर्वज निम्न-वर्ण के हिन्दू थे। धर्म-परिवर्तन करके वे मुसलमान बन गये। कदाचित् किसी हिन्दू ज़मींदार या हिन्दू राजा के अत्याचारों से पीड़ित होकर उन्होंने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। उसके परदादा जफर अली ने उसके पिता रजब अली को पढ़ने के लिए प्रेरित किया था और वे पढ़कर डॉक्टर बन गये अन्यथा यह परिवार तो खेतिहर किसान परिवार था।

रजब अली ने मैट्रिक परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की थी इसलिए शिक्षक ने उसके पिता को समझाया कि ये उसे आगे पढ़ाई के लिए शहर भेज दें। रजब अली एक गठरी लेकर मेमनसिंह चला गया। वहाँ उसे लिटन मेडिकल स्कूल में प्रवेश मिल गया। मुंशी मनीरुद्दीन ने उसे सहारा दिया। कालान्तर में यह देखकर कि लड़का होनहार है और डॉक्टरी पढ़ रहा है, मुंशीजी ने अपनी बेटी ईदुलआरा उसे ब्याह दी। तसलीमा की माँ ने उसे बताया कि खुद रजब अली ने ही मुंशीजी से प्रस्ताव किया था कि ईदुलआरा से उसका निकाह कर दिया जाय!

तसलीमा अपनी माँ ईदुलआरा और पिता रजब अली की तीसरी संतान थी। पहले दो बच्चे नोमान और कमाल पुत्र थे इसलिए पिता की इच्छा थी कि अगली संतान लड़की हो। ऐसे में जब तसलीमा का जन्म हुआ तो माता-पिता प्रसन्न थे। लेकिन माँ के लिए यह प्रसव बहुत कष्टकारी था। यह प्रसव घर पर ही हुआ था और क्योंकि माँ के पेट में बच्ची उलट गई थी इसलिए प्रसव के समय एक बार तो जच्चा-बच्चा दोनों का जीवन संकट में पड़ गया था। लेकिन डॉ. रजब अली ने कुशलतापूर्वक प्रसव कराकर दोनों की जान बचा ली।

इस तरह, मैमनसिंह में बारह रबि-उल-अव्वल तदनुसार 25 अगस्त, 1962 को तसलीमा का जन्म हुआ। उसके बड़े भाई नोमान का आग्रह मानकर माता-पिता ने लड़की का नाम तसलीमा जहाँ नसरीन रखा।

बालिका तसलीमा की पढ़ाई चित्रों के माध्यम से शुरू हुई थी, जैसी कि प्रायः बच्चों की होती है, लेकिन अन्य बच्चों से भिन्न तसलीमा ने अक्षर आँकने से पहले चित्र आँकना सीखा था। अ, आ लिखने से पहले उसने फूल, पेड़, नदी, नाव के चित्र बनाना शुरू किया था। आगे चलकर छोटी उम्र में ही उसने टैगोर और नजरुल के चित्र बनाये थे। उसके बड़े भाई ने उन चित्रों को मढ़वाकर अपने कमरे में टाँग दिया था। अपने अज्ञातवास में भी उसने कई चित्र बनाये थे। निर्वासन काल में विभिन्न देशों के जन-जीवन के साथ-साथ वहाँ के संग्रहालयों में वहाँ की कलाओं को देखते हुए हम उसे वहाँ की चित्रकला, मूर्तिकला आदि में विशेष रुचि लेते और

उन पर टिप्पणियाँ करते देखते हैं। बचपन में उसके मामा और बाद में चाचा ने उसके साथ यौन-जबरदस्ती की और दोनों ने ही उसे हिदायत दी कि वह इस घटना का जिक्र किसी से न करे।

तसलीमा पहली दुर्घटना से ही सहमी हुई थी, दूसरी से वह और भी घबरा गई। वह एकदम कुंठित हो गई। घर में उसे कोई भी इतना अपना नहीं जान पड़ा कि उसके आगे वह अपना रहस्य खोलकर रख दे। माँ भी नहीं। मुँह खोलने पर पता नहीं किस तरह के संकट से वह और घिर जाये। यह चेतना उसमें 7 साल की उम्र में ही आ गई थी कि यह कर्म बड़े शर्म की चीज है; इन बातों का जिक्र किसी से करना ठीक नहीं। परन्तु उसके मन-मस्तिष्क पर बड़ा गहरा आघात लगा। शर्म और संकोच का भाव उसके व्यक्तित्व से ऐसे चिपक गया कि बड़ी होकर भी वह इनसे अपने को कठिनाई से ही मुक्त कर सकी। उसे जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था, उनसे डर उसके मन में गहरा समा गया; अँधेरे से डर, अकेलेपन से डर और साँप से डर उसके भीतर से गया ही नहीं। आगे चलकर, विवाह शब्द से ही उसकी चिढ़, नारी-स्वातन्त्र्य का उसका आग्रह, वासना की प्रबलता आदि-आदि के मूल संधान भी हम उसके जीवन की इन दुर्घटनाओं में कर सकते हैं।

पिता डॉ. रजब अली शादी के बाद से ही ससुराल के मकान में रहते आ रहे थे। एक प्रकार से वे घर-जवांई ही थे। इसी वजह से पत्नी को ताने सुनने पड़ते थे। अतः उन्होंने ससुराल का ही एक हिस्सा अपने अलग रहने के लिए खरीद लिया था। अब उनका चूल्हा अलग हो गया था परंतु यह मकान छोटा ही था। थोड़े ही समय बाद उन्होंने आमलपाड़ा इलाके में एक बड़ा मकान खरीद लिया। इस मकान में बड़े-बड़े कमरे थे और बिजली व पंखों की सुविधा थी। आँगन में तीस प्रकार के फल-फूल के पेड़-पौधे थे। प्रकृति-प्रेम तो तसलीमा में अपनी प्रकृति से ही था लेकिन फल-फूल की पहचान उसने यहीं से पाई थी। पिता ने जब घर का नामकरण करने के लिए बच्चों से सलाह माँगी, तब तसलीमा ने 'रजनीगंधा' नाम सुझाया था और छोटे भाई ने 'ब्लू हैवन'। यह अलग बात है कि पिता ने बड़े लड़के द्वारा सुझाया गया नाम 'अवकाश' स्वीकार किया।

तसलीमा के पिता के रजिया बेगम नाम की एक औरत से अवैध संबंध थे। तसलीमा की माँ को इसकी जानकारी थी। इन्हीं की वजह से घर में कलह-क्लेश होता रहता था और माँ अवसादग्रस्त रहती थी। इदुल आरा को अवसाद से उबारने के लिए उनकी बहन फजली ने उनको पीरबाड़ी की राह दिखाई। पीरबादी धार्मिक क्रियाकलापों का केन्द्र थी। तसलीमा की अम्मी वहाँ जाने लगी। जब-तब वह तसलीमा को भी साथ ले जाती थी। तसलीमा अभी बालिका ही थी। लेकिन पीर मंडली के भक्तिप्रवण लोगों के बीभत्स क्रियाकलाप देखकर उसे वितृष्णा होती थी। इस वितृष्णा ने ही कालक्रम में उसे पीरबाड़ी से ही नहीं, धर्म से भी विरत कर दिया।

एक बार तसलीमा के बड़े मामा सिद्दीक ईद के अवसर पर घर आये हुए थे। तसलीमा को ज्ञात हुआ कि वे अल्लाह-खुदा को नहीं मानते। यह जानना उसके लिए एक नई दुनिया थी कि अल्लाह को नकारा भी जा सकता है। यानी ऐसे भी लोग हैं जो अल्लाह-खुदा को नहीं मानते। बड़े भैया ने पाता (पल्लव) नाम से एक पत्रिका निकाली। इस पत्रिका में विशेष बात यह थी कि 'रामधनु' (इंद्रधनुष) शीर्षक से एक कविता उन्होंने तसलीमा जहाँ नसरीन के नाम से छापी थी। तसलीमा के सुप्त कवि को इस घटना ने जगा दिया। भैया ने जब कहा कि आगामी अंक में तेरे नाम से एक और कविता छापूँगा, तब वह स्वतः स्फुरण से बोल पड़ी कि तब तो अपनी कविता मैं खुद ही लिखूँगी।

इसी काल में उसका परिचय रूनी से हुआ। यह अत्यन्त सुन्दर रूपवती लड़की थी। उसे उसके शरीर से फूलों की सुगंध आती थी। उससे मिलकर उसे लगता था, उसके अंदर के किसी सरोवर में सैकड़ों कमल खिल उठे हैं। एक दिन उसने उसे हाथों में चूड़ियाँ और गले में हार पहना दिया। लेकिन तसलीमा इन्हें पहने नहीं रख सकती थी। पिता की किसी भी अलंकरण के लिए सख्त मनाही थी।

तसलीमा के अंग्रेज़ी में कम अंक आने पर पिताजी ने उसे अंग्रेज़ी पढ़ाना प्रारंभ कर दिया। पढ़ते हुए गल्तियाँ करने पर वे उसे चाबुक से पीटकर उसकी पीठ छील देते थे। लेकिन ज्यादा पिटाई से वह पढ़ी हुई और याद की हुई बातें भी भूल जाती थी। दुर्भाग्य से सारी पढ़ाई के बावजूद वह अंग्रेज़ी में फेल हो गई। इस पर पिताजी का रक्तचाप इतना बढ़ गया कि उन्हें अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा!

अस्पताल से लौटकर पिताजी ने उसे नए स्कूल 'रेजिडेंसियल मॉडल स्कूल' में भर्ती कराना चाहा। लेकिन वह विद्यामयी में ही पढ़ना चाहती थी। पिता के दबाव पर उसे नई स्कूल की प्रवेश-परीक्षा में बैठना पड़ा। परीक्षा में उसे 'ऍम इन लाइफ' (जीवन का उद्देश्य) विषय पर निबंध लिखना था। तसलीमा ने निबंध में दो टूक शब्दों में लिखा कि मैं इस स्कूल में पढ़ना नहीं चाहती लेकिन पिताजी की इच्छा के आगे लाचार हूँ। उनकी इच्छा मुझे ब्रह्मपुत्र में बहाने की हो तो वे मुझे बहा देंगे। मेरा जीवन मेरा है या उनका? अगर मेरा है, जो कि मेरा ही है, तो मैं आप सबसे हाथ जोड़कर निवेदन करती हूँ कि आप मुझे इस स्कूल में भर्ती मत कीजिए। मुझे यकीन है कि मेरे जीवन की इतनी बड़ी क्षति आप लोग नहीं करेंगे।

अपनी अनिच्छा जाहिर करके और प्रश्न-पत्र के अन्य प्रश्न हल नहीं करके उसने अपनी ओर से अनुत्तीर्ण होने की पूरी भूमिका बना ली थी लेकिन अंग्रेजी में सुलिखित और सुविचारित निबंध पढ़कर स्कूल में उसे प्रवेश योग्य मान लिया गया। बहरहाल, यह निबंध बालिका तसलीमा का पिताजी की इच्छा के विरुद्ध पहला खुला विद्रोह था।

स्कूल की ओर से पिकनिक का आयोजन किया गया था। लेकिन पिताजी ने

पिकनिक के लिए इनकार कर दिया। इस पर उसकी एक सहेली ने उसे कर्ज दिया और वह पिकनिक चली गई। यह उसका एक और स्वतन्त्र फैसला था। इसके लिए भी पिताजी ने उसकी पिटाई की लेकिन उस पिटाई की उसने परवाह नहीं की।

इसके बाद उसने स्कूल के सांस्कृतिक कार्यक्रम में भाग लेकर गिटार बजाया। गर्ल्स गाइड के शारीरिक व्यायाम में शामिल होकर उसने ड्रम बजाना सीखा और डाँडिया नृत्य में भी भाग लिया। यद्यपि इन गतिविधियों में शामिल वह नजरें नीची करके और बेहद शर्माते हुए ही हुई थी।

अभी जबकि वह स्कूल में ही पढ़ रही थी कि घर में एक बड़ी घटना घटित हुई। छोटे भाई कमाल ने घर से भागकर एक हिन्दू लड़की गीता से शादी कर ली। पिता को इससे दोहरा धक्का लगा। उनका सपना बेटे को डॉक्टर बनाने का था, वह चूर-चूर हो गया। दूसरे, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को भी इससे गहरा आघात पहुँचा था। उनका रक्तचाप बढ़ गया। माँ के लिए यह और भी गहरा सदमा था। कारण यह था कि गीता के पिता लकड़ी बेचने का धंधा करते थे। वह बिसूरने लगी। 'वह लकड़ीवाला ही एम. बी. बी. एस. डॉक्टर का समधी बनेगा। समाज में अब मुँह कैसे दिखाऊँगी।' घर में चार दिनों तक चूल्हा नहीं जला। मामा और पिता जाकर छोटे भैया को पकड़ लाये। उनके हाथ-पैर जंजीरों से बाँधकर उन्हें कमरे में बंद करके ताला लगा दिया गया। फिर पिता उसे गीता से संबंध तोड़ने के लिए समझाने लगे। लेकिन वह जिद पर अड़ा रहा। बेटे के अडिग रहने पर पिता ने पीट-पीटकर उसकी चमड़ी उधेड़ दी। उसकी पीठ का मांस निकल आया। आखिरकार, माँ ने उसे छुड़ाया। माँ ने ही पिता से छिपाकर चार दिनों से भूखे बेटे को भोजन दिया और उसके बाद कौर मुँह में डाला। अंततः हारकर पिता को उसे छोड़ देना पड़ा।

तसलीमा अभी 13 वर्ष की थी लेकिन इस घटना का उसके हृदय पर गहरा असर पड़ा। बेटे की तरह ही बेटियाँ भी कुपथ पर न भटक जायें, इस दृष्टि से विचार कर पिता ने दोनों बेटियों को छात्रावास में भर्ती करा दिया। तसलीमा को मॉडल स्कूल के छात्रावास में और यास्मिन को मिर्जापुर के भारतेश्वरी होम्स में।

छोटे भैया (कमाल) के प्रेम-विवाह के बाद रूनू खाला का प्रेम प्रकट हुआ। एक दिन रूनू घर से भाग गई। बाद में पता चला कि उसने रासू से प्रेम-विवाह कर लिया है।

तसलीमा के बड़े भाई ने भी प्रेम किया था। मुहल्ले में रहने वाली अनीता नाम की लड़की से उन्हें प्रेम हो गया था लेकिन वह एकतरफा व्यापार ही रहा। इस परिवार के कलकत्ता चले जाने से भैया की उम्मीद पर पानी फिर गया। वे आँसू बहाते हुए कविताएँ लिखने लगे।

इन्हीं दिनों बंगाल में अकाल पड़ा था। कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता घर-घर जाकर लाल कपड़ा फैलाकर भूखे लोगों के लिए चावल एकत्र कर रहे थे। उन्होंने

तसलीमा के घर जाकर भी चावल माँगा। उन दिनों बाज़ार में चावल की कमी हो गई थी इसलिए पिताजी घर में चावल के ड्रम को ताला लगाकर जाते थे। तसलीमा ने माँ पर दबाव डाला कि वह ताला तोड़कर चावल दे दे। माँ की सहमति से तसलीमा ने वह ताला तोड़ डाला। युवकों के दल को गमछा-भर चावल दे दिया गया। वह दल गाना गाते हुए चला गया। यह तसलीमा के जीवन का एक अविस्मरणीय प्रसंग बन गया। उसने लिखा है—अपने भीतर एक जिद्दी और दृढ़ व्यक्तित्व से मेरा साक्षात्कार हुआ जिसमें काफी हिम्मत थी। मैंने खुद ही अपने को देखा और अपने इस रूप पर चकित हुई। यह क्या वाकई मैं थी!

कम्युनिस्टों के प्रति सहानुभूति और बाद में इस विचारधारा के प्रति उसके रुझान का बीज इस घटना ने ही बोया था। अपनी जिद के लिए दृढ़ता दिखाने का हौसला अर्जित करना उसने इसी घटना से सीखा था।

बेटी तसलीमा के 11 साल की होते ही माँ ने उसका हाफपैंट छुड़वाकर उसे पाजामा पहना दिया था। ओढ़नी थमा दी और उसके बड़े होने से उत्साहित होकर उसे बाजार से काला बुर्का भी ला दिया था। बुर्का देखकर वह स्वयं को अपमानित अनुभव करते हुए उग्र हो गई और उसने दृढ़ता से कह दिया कि मैं बुर्का नहीं पहनूँगी। इसी बीच तसलीमा का बड़ा भाई विश्वविद्यालय की पढ़ाई छोड़कर घर लौट आया था। उसने एक दवा कंपनी में नौकरी कर ली थी। उसकी रुचि साहित्य में थी, उसके सान्निध्य में तसलीमा की भी साहित्य के प्रति रुचि गहरी होने लगी। यह उसी का प्रभाव था कि उस उम्र में ही उसने बंकिम, शरत्, विभूतिभूषण, रवीन्द्रनाथ आदि का साहित्य पढ़ा। उसी से प्रेरणा पाकर वह कविताएँ भी लिखने लगी। उसके साथ कविता ही नहीं, कहानी और संगीत-गोष्ठी भी होती थी। चित्रकला में उसकी अपनी रुचि प्रारम्भ से ही थी। उसी से उसने शतरंज खेलना भी सीखा था।

उसने पिता से अपना जन्मदिन मनाने की जिद की। पिता ने उसे स्वीकार कर लिया। इस दिन उसने केक काटा और फूँक मारकर मोमबत्ती भी बुझाई। उसकी अभिन्न मित्र चंदना इस अवसर की मेहमान थी। इस घर में पहली बार किसी का जन्मदिन मना था तो वह तसलीमा का ही। इस विधि से वह घर में अपना अस्तित्व स्वीकार करा रही थी।

दिलरुबा के शादी होकर चले जाने के बाद चंदना ही उसकी अभिन्न सहेली बनी। कक्षा में भी उसका स्थान तसलीमा के पास ही नियत हुआ था। धर्म से वह बौद्ध थी लेकिन रुचि-साम्य की वजह से तसलीमा का उससे मन-मेल बैठ गया था। स्कूल में लड़कियों के प्रेम-प्रसंग और चर्चाएँ फैलती रहती थीं। चंदना को तो हर दिन चार-पाँच प्रेम-पत्र मिल जाते थे। एक मनचले और सुंदर युवक लुत्फर का चिरकुट तसलीमा को भी मिला। उसे देखकर उसे लगा जैसे उस (लुत्फर) से बढ़कर सुदर्शन और कोई नहीं! आगे की जीवन-यात्रा में भी तसलीमा जब भी किसी सुंदर युवक

को देखती, विचलित हो जाती। उसे लगता इससे बढ़कर सुदर्शन अन्य कोई है ही नहीं!

लेकिन शीघ्र ही किशोरी तसलीमा का ध्यान किताबों की तरफ मुड़ गया। ये किताबें लड़कियों की कूट भाषा में 'आउट' किताबें थीं, पाठ्यक्रम से इतर और घर में लगभग निषिद्ध पुस्तकें जिन्हें वह तकिये के नीचे छिपाकर रखती थी और छत पर जाकर या एकांत में पढ़ती। किताबों के साथ उसे फ़िल्मों का भी शौक लगा लेकिन फ़िल्में देखना तो भाई के मिजाज पर निर्भर करता था परन्तु भाई जो फ़िल्मी पत्रिका 'चित्राली' लाते थे, उसे वह पूरा पढ़ डालती थी। इसी पत्रिका ने उसे सम्पादक के नाम पत्र लिखने के लिए प्रेरित किया और उस पत्र पर छपी प्रतिक्रिया ने उसके उत्साह को अद्भुत ऊँचाई दी। विभिन्न शहरों से उसे कई लोगों के खत आये। इन पत्रों से उसके मन में यह धारणा बनी कि लड़के-लड़कियाँ भी एक-दूसरे के बेहतरीन दोस्त हो सकते हैं। इसके लिए उनमें विवाह के पथ पर ले जाने वाला प्रेम होना आवश्यक नहीं है।

मैट्रिक परीक्षा उसने प्रथम श्रेणी में पास की थी परंतु उसके अंक पिता की तसल्ली लायक नहीं थे इसलिए इस परीक्षाफल पर उन्होंने उसे बुरी तरह डाँटा। उसका प्रथम श्रेणी में पास होने का सारा उत्साह ठंडा हो गया। वह इतनी निराश हो गई कि आधी रात गये चूहे मारने का जहर खाकर उसने आत्महत्या कर लेनी चाही लेकिन वह उसे मिला नहीं।

कॉलेज की पढ़ाई वह आनन्दमोहन कॉलेज में करना चाहती थी लेकिन वहाँ सहशिक्षा थी, पिता उसके पक्षधर नहीं थे इसलिए उन्होंने उसे विशुद्ध लड़कियों के कॉलेज में भर्ती करवाया। वह मन मसोसकर रह गई। लेकिन क्योंकि चंदना भी इसी कॉलेज में भर्ती हुई थी इसलिए उसे थोड़ी-बहुत तसल्ली हो गई। परंतु जिस आज़ादी के लिए वह छटपटा रही थी, जिसे कॉलेज में पाने की वह उत्सुक थी, लड़कियों के इस कॉलेज में वह सुलभ नहीं हुई।

असल में, एक बार वह बड़े भाई के साथ पिकनिक पर ढाका जाकर आई थी। वहाँ ढाका विश्वविद्यालय में बंगला पढ़ रही झूनू खाला के साथ विश्वविद्यालय का वातावरण और वहाँ की सहशिक्षा में लड़कियों का लड़कों के साथ अंकुठित मेल-मिलाप देख आई थी। तब से वह अपने लिए भी वैसी ही स्वतंत्रता की कल्पना करने लगी थी।

ये दिन वयःसन्धि के दिन थे। एक ओर चंदना को नित्यप्रति प्रेम-पत्र मिलते थे, उससे तसलीमा के मन में भी प्रेम करने और प्रेम-पत्र पाने की आकांक्षा जागती थी; दूसरी ओर, जब कोई प्रेम करने के लिए हाथ बढ़ाता था, तब झिझक भी होती थी। कुछ पत्र-मित्र उससे मिलने मैमनसिंह भी आ पहुँचे थे लेकिन वह उनसे बात करने का हौसला नहीं जुटा पाई। एक बार उसके द्वारा एक पत्र-मित्र को लिखा

एक अधूरा पत्र अब्बू की खाट पर छूट गया। उसे देखकर अब्बू ने उसकी बुरी तरह पिटाई की। इसके बाद पत्र-मित्र बनाने का उसका जुनून कम पड़ा, लेकिन पत्र लिखना बंद नहीं हुआ, गंतव्य बदल गया। एक तो चंदना के पिता उसे कुमिल्ला ले गये थे इसलिए उसे लंबे-लंबे खत लिखने लगी। दूसरे उसे अचानक एक पत्रिका निकालने का विचार आया। पत्राचार की दिशा भी अब कवियों से कविताएँ मँगाने की हो गई।

अपनी पत्रिका के लिए नाम उसने स्वयं ही तय किया—'संझा बाती' (सांध्य प्रदीप)। भाईजान ने पहले अंक का खर्चा उठाने का उत्साह तो दिखाया लेकिन ज्यादा सहायता छोटे भाई ने की। आखिर पत्रिका छप गई। पिताजी ने जब पत्रिका देखी तो बेहद नाराज हुए। उनका दृढ़ मत था कि कविता लिखकर व्यक्ति जिंदगी में कुछ भी सार्थक नहीं कर पाता है।

बाप-बेटी में कविता की व्यर्थता को लेकर जो विवाद छिड़ा, उसका सबसे रोचक पक्ष यह रहा कि पिता अपनी तीखी प्रतिक्रिया पद्य में लिखकर अपने कमरे के दरवाजे पर चिपका जाते थे और जब लौटते तो पुत्री का पद्यमय उत्तर उन्हें खिड़की पर चिपका मिल जाता था। जादू वही जो सिर चढ़कर बोले। कविता ने अरसिकेषु से भी कविता करवा दी।

'संझा बाती' के लिए कविताएँ उसने बांग्लादेश ही नहीं, पश्चिम बंगाल के बंगला कवियों से भी मँगवाई। उसने अपने अग्रजों एवं समकालीनों से भी पत्र-व्यवहार किया। इसी क्रम में उसका पत्र-व्यवहार रुद्र (मुहम्मद शहीदुल्लाह) से हुआ। वह रुद्र की कविताओं से पहले ही प्रभावित थी। लेकिन तब उसे ज्ञात नहीं था कि यह रुद्र उसके जीवन को भी प्रभावित करेगा।

'संझा बाती' के दूसरे अंक की तैयारी चल रही थी कि उसका नाम मेडिकल की प्रवेश-सूची में भी आ गया था। डॉक्टर पिता उसे भी डॉक्टर ही बनाना चाहते थे। उनका सपना साकार हुआ और तसलीमा को मेडिकल में प्रवेश मिल गया।

वह कॉलेज की गतिविधियों में भाग लेने लगी थी साहित्यिक-संस्था बनाना, उसके कार्यक्रमों का आयोजन करना, काव्य-पाठ का अभ्यास करना-कराना, पत्रिका सम्पादन करना उसके शौक थे। दीवार-पत्रिका, पोस्टर-पत्रिका जैसे उसके आयोजनों को काफी प्रशंसा भी मिली। छोटी-मोटी संस्था बनाकर उसने नाटक का मंचन भी किया। इन कार्यक्रमों के साथ-साथ 'संझा बाती' के नये अंक की तैयारी भी जारी रही। रुद्र उसे कविताएँ भेजता था, साथ में पत्र भी लिखता था। पत्र लिखने में वह भी पीछे नहीं थी। अभी जबकि रुद्र से उसकी भेंट हुई भी नहीं थी कि पत्रों ही पत्रों में मामला अर्पण-समर्पण तक पहुँच गया था! नाना, पिता, खाला और भाइयों के संस्कार उसमें भी उतर आये थे।

अपने जीवन-साथी के बारे में तसलीमा की कल्पना थी कि वह अपूर्व सुदर्शन,

सुपुरुष हो। वह उदार और मानवीय हो और झूठ नहीं बोलता हो। लेकिन पहली बार जब रुद्र उससे मिलने ढाका से मैमनसिंह आया तो उसे देखकर तसलीमा को धक्का लगा। वह कद में एकदम ठिगना था, तसलीमा से डेढ़ फीट छोटा, घनी दाढ़ी-मूँछें, खास पढ़ा-लिखा भी नहीं, नौकरी भी नहीं। उसे देखकर तसलीमा के तन-बदन में हिकारत हुई। लेकिन उसकी आकृति पर उसकी कविता का प्रभाव भारी पड़ा। उसने मन-ही-मन में उसके अभावों से समझौता कर लिया। लेकिन यहाँ भी शर्म उस पर इतनी हावी रही कि वह उसके साथ बात नहीं कर सकी। दो-तीन मुलाकातों तक यही स्थिति रही। बातें नहीं हुईं लेकिन प्रेम-भावना पल्लवित हो गई। इसी का लाभ उठाकर एक दिन उसने तसलीमा के आगे एक काग़ज़ रखकर उस पर उससे दस्तखत करने के लिए कहा। तसलीमा ने जब पूछा कि यह क्या है, दस्तखत क्यों कर दूँ, उसे बताना पड़ा कि यह 'विवाह का काग़ज़' यानी विवाहनामा है। तसलीमा चौंक गई। मैंने तो नहीं कहा कि 'मैं ब्याह करूँगी।' रुद्र तमककर उठ खड़ा हुआ और तमतमाया हुआ बाहर निकल गया। तसलीमा को लगा कि प्यार से लबालब मेरा दिल वह अपने पाँवों से रौंदकर जा रहा है। वह उसके भावुक ब्लैकमेलिंग का शिकार हो गई। तीखे दर्द से तड़पकर वह उसके पीछे गई और कागज बिना पढ़े, बिना देखे, उसने उस पर अपने 'दस्तखत घसीट' दिये। तब तक उनमें चुंबन का आदान-प्रदान भी नहीं हुआ था। अभी उसने उम्र के 19 साल ही पूरे किये थे। यह जनवरी की छब्बीस तारीख थी (26 जनवरी, 1981)।

दो माह बाद उसे रुद्र का पत्र मिला, उसने उसे 'बहू' संबोधन किया था। उससे वह चौंकी। 'तो उस दस्तखत ने सच ही मेरा ब्याह करा दिया था!' दुर्भाग्य से यह खत अब्बू के हाथ पड़ गया। उससे घर में हड़कम्प मच गया। उन्होंने तसलीमा पर तरह-तरह की पाबंदियाँ लगा दीं। बाहर जाना बंद, कॉलेज बंद, खाना-पीना बंद। खतों पर कड़ी निगरानी शुरू। लेकिन दुबारा वैसा खत नहीं आने पर धीरे-धीरे यह मान लिया गया कि किसी सिरफिरे पागल कवि ने आवेग में बहकर 'बहू' लिख दिया है।

लेकिन औपचारिक विवाह तो हो गया था। अतः रुद्र ने तसलीमा पर दबाव डालना शुरू किया कि वह विवाह की बात पिता को बता दे और बाकायदा गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करे। लेकिन तसलीमा मेडिकल पढ़ाई छोड़ना नहीं चाहती थी, न ही घर में किसी को इस विवाह की जानकारी देना चाहती थी। रुद्र इमोशनल ब्लैकमेलिंग पर उतरा हुआ था। वह अपने अँधेरे अतीत और असहाय वर्तमान की दुहाई देकर उसे अपने जीवन में तत्काल पाना चाहता था। तसलीमा ने मध्यम मार्ग यह निकाला कि रुद्र का पत्र मिलने पर वह पढ़ाई ताक पर रखकर उससे मिलने ढाका चली जाती थी। लेकिन सहवास से बचती थी। जब उसने उसे बीवी की जिम्मेदारी का स्मरण कराया, तब उसने स्पष्ट लिख दिया कि तुम्हें ऐसी लड़की चाहिए तो तुम

दूसरी लड़की चुन सकते हो। इससे एक बार तो रुद्र संयत हुआ लेकिन उसका घर-गृहस्थी का राग थमा नहीं। वह उसके साथ रात गुजारने के लिए भी अत्यन्त अधीर था। अन्ततः एक अवसर उसने जुटा ही लिया। जब वह ढाका गई, तब उसने नूरुल हुदा के यहाँ एक कमरे का प्रबंध कर लिया।

इसके बाद जब कॉलेज के चौथे वर्ष के छात्रों का एक भ्रमण-दल कॉक्स बाजार से लौटते हुए चटगाँव रुका, तब रुद्र तसलीमा से मिलने पहुँच गया। रुद्र उसे वहाँ से अपने गाँव मोंगला ले गया। तसलीमा ने ससुराल में पति के निर्देशों की पूरी पालना की। पिता घर में दुपट्टे का विरोध करने वाली और कभी भी अम्मी-अब्बू का चरण स्पर्श नहीं करने वाली तसलीमा ने बाकायदा सिर आँचल से ढका और सास-ससुर की कदम-बोसी की। घर से बाहर घूमने के लिए हर घड़ी उमंगित रहने वाली को पति का यह कहना भी मानना पड़ा कि 'इस गाँव में' घर की बहुओं का इस तरह बाहर निकलना अच्छा नहीं मानते, मोंगला घूमने का चाव उसे मन ही मन दफन करना पड़ा।

मोंगला में ही उसकी पहली सुहागरात मनी। उस रात वह कई-कई बार तीखे सुख से विभोर होती रही। दूसरी ओर, इसी रात ने उसके सुख-स्वर्ग को नरक में बदल दिया। इसी रात उसने जाना कि रुद्र सिफलिस का रोगी है, वह वेश्यागामी है, उसका अपनी मामी की बहन से छोटी उम्र से ही यौन सम्पर्क रहा है; वह उससे प्रेम भी करता है आदि-आदि। तसलीमा को लगा 'जैसे मेरी नाव बीच दरिया में ही डूब गई है।' वह एक द्वंद्वग्रस्त मानसिकता लिये ये मोंगला से ढाका लौटी। उसे लगता रहा कि रुद्र से उसका रिश्ता 'बेशक खत्म हो चुका है।' लेकिन रिश्ता खत्म हुआ नहीं। रुद्र ने उसे फिर फुसला लिया। वह सेक्स सुख में डूब गई। साथ ही, वह अपने को कोसती भी रही। ''यह सेक्स सुख क्या ऐसा सुख है कि मैं उस सुख से जुड़े संक्रामक रोग को बिल्कुल ही भुला बैठी हूँ?'' मैमनसिंह पहुँचकर भी अपने को धिक्कारती ही रही। रुद्र की लानत-मलामत भी वह करती रही। कह तो दिया उसने कि मैं तुम्हें त्याग रही हूँ, इसलिए नहीं कि तुम सिफलिस के रोगी हो बल्कि इसलिए कि तुमने झूठ बोला है, मुझसे असलियत छिपाई है, मेरे साथ विश्वासघात किया है। परंतु उसे त्यागा नहीं। उसके रोग की जाँच करवाई। और उसके उपचार का प्रबंध भी किया।

शीघ्र ही, रुद्र के पत्रों और कविताओं ने उसे पुनः फुसला लिया। दुर्भाग्य से वह खुद भी सिफलिस की चपेट में आ गई। अपने ही शहर में अपने इस रोग का उपचार कराना उसके लिए धर्म संकट का विषय था। अतः वह रुद्र के पास ढाका चली गई। रुद्र का पराई औरत से संबंध उसमें तीखा सौतिया डाह जगा रहा था लेकिन अपनी आन्तरिक विवशता के वशीभूत हो उसने उसके साथ रहने का निर्णय कर लिया। एक दिन वह उसे अपने पिता के घर 'अवकाश' भी ले गई। वे रुद्र

को देखते ही आगबबूला हो उठे। उन्होंने 'गेट आउट' कहकर उसे घर से निकाल दिया। रुद्र के बाहर जाने के साथ ही तसलीमा उसके पीछे दौड़ी। एक ओर पति और प्रेमी था, दूसरी ओर परिवार। उसे किसी एक को चुनना था। उसने पति को चुन लिया। वह उसके साथ ढाका चली गई। रुद्र के साथ जीवन बिताने के अपने फैसले पर वह द्वंद्वग्रस्त तो थी क्योंकि वह प्यार उसे एकतरफा लगता था; जो निष्ठा उसके अपने प्रेम में थी, रुद्र में उसका एकांत अभाव था। लेकिन फिलहाल स्थिति विकल्परहित-सी थी।

एक दिन रुद्र के बुलावे पर वह पढ़ाई छोड़कर ढाका गई। वह कुछ विलम्ब से पहुँची थी। इस पर वह खफा होकर बाहर निकल गया था। पूरे डेढ़ दिन बाहर रहकर जब वह लौटा तो नशे से टुन्न था और विलम्ब से आने के लिए तसलीमा की जान लेने पर उतर आया। जैसे-तैसे वह जान बचाकर भागी। लेकिन रुद्र की शर्मिन्दगी और माफी पर वह फिर द्रवित हो गई। उसका ढाका आना-जाना वापस शुरू हो गया। इस बार जब रुद्र पैसों के प्रबंध के लिए ढाका से अपने घर मोंगला गया, तब तसलीमा भी उसके साथ चली गई। इस यात्रा में वह मोंगला गई और वहाँ से रुद्र के ननिहाल मीठाखाली भी। इस यात्रा में रुद्र की वर्जनाएँ, बंदिशें उसने और भी अच्छी तरह जानी और उसका देह-लोभी रूप भी देखा। यह भी देखा कि यह प्रगतिवादी बनने वाला कवि मूलतः सामंती मनोवृत्ति का है। वह नितांत चरित्रहीन है। जब भी तसलीमा उसे दूर होती, वह फिर वेश्यागामी हो जाता था। उसका मामी की बहन से प्रेम-प्रसंग अभी भी खत्म नहीं हुआ था।

लेकिन सब कुछ निकटता से देखकर भी तसलीमा न केवल उससे जुड़ी रही बल्कि उसने उसके साथ घर-गृहस्थी बसाने का उपक्रम भी किया। रुद्र ने जब नया घर लेने का फैसला किया, तब उसने उत्साह से अपनी संचित पूँजी से फर्नीचर बनवाया और यह घर भी सजाया। रुद्र ने जब शादी का औपचारिक उत्सव मनाना चाहा, तब भी उसने तत्परता ही दिखाई। लेकिन जहाँ एक ओर तसलीमा के साथ रुद्र का औपचारिक विवाह प्रचारित हो रहा था, ये लोग इधर-उधर दावत के लिए आमंत्रित हो रहे थे, वहीं दूसरी ओर उसे यह काँटा गड़ रहा था कि वह अपने ही संसार में एक गैर जरूरी प्राणी बनकर रह गई है। गृहस्थी में उसके किसी फैसले की अहमियत नहीं। अन्ततः उसने अपने भीतर ताकत अनुभव की और उसे तलाक देने का मन बना लिया। रुद्र ने फिर माफी माँगी लेकिन इस बार वह अपने फैसले पर अडिग रही। उसने उससे जानना चाहा कि पराई औरतों के साथ खिलवाड़ करने की जो छूट वह कवि होने के नाते चाहता है, पराये मर्द के साथ खिलवाड़ करने की वैसी ही छूट क्या वह उसे भी देने को तैयार है? परंतु वह इसके लिए तैयार नहीं था। अंततः वह रुद्र को लेकर वकील के पास गई और उसने तलाक के काग़ज़ तैयार करवा लिये। वकील ने उसे दो महीने के बाद फिर बुलाया। वह मैमनसिंह चली गई।

और तलाक के निर्णय पर अविचलित रही। रुद्र के प्रति प्रेम अभी भी उसमें था। उसके बिना जीवन गुजारना भी उसे असंभव लगता था लेकिन उसके साथ भी जीवन संभव नहीं था। उसने जैसे खट् से विवाह के कागज पर दस्तखत कर दिये थे, तलाक के कागज पर भी उसी अफरातफरी में दस्तखत कर दिये। मैमनसिंह लौटकर उसने यह बात किसी को नहीं बताई कि उसका तलाक हो गया है, लेकिन उसका सामान देखकर ही उन लोगों ने स्थिति भाँप ली।

साहित्यिक-क्षेत्र में जब रुद्र से तसलीमा के तलाक की खबर फैली, तब कई-एक हाथ उसे थामने के लिए आगे बढ़ आये। औलाद हुसैन, तारीक सुजात, शहरयार, हारून रशीद, हिलाल हाफिज जैसे लोगों ने इसी नीयत से उससे निकटता बढ़ाई थी। लेकिन लोगों की नीयत भाँपकर उसने एक-एक कर सभी को झटक दिया। अवश्य ही, मिलन जैसे सुदर्शन पुरुष की तरफ वह स्वयं आकर्षित हुई थी। उसे साथ लेकर वह काश्मीर-भ्रमण पर भी गई। अपने गले की सोने की चैन मिलन को पहनाकर उसने उसके साथ संबंध जोड़ने की अपनी मंशा भी जाहिर कर दी थी। लेकिन मिलन विवाहित पुरुष था, उसने उससे अपना संबंध देह तक ही रखा।

मिलन के बाद उसका संबंध नईम से जुड़ा। नईम पत्रकार था, वह उसे घुमाने के लिए कलकत्ता ले गया और शान्ति-निकेतन भी। उसने इस यात्रा में (एकाध अपवाद छोड़कर) अपना व्यवहार पूर्णतः संयत रखा। उसने तसलीमा का परिचय बंगला के बड़े लेखकों के साथ करवाकर तथा अपनी पत्रिका के लिए कलाम लिखने के लिए उसे आमंत्रित करके भी उसे प्रभावित किया। तसलीमा के कलामों ने पाठक-वर्ग से जो प्रशंसा पाई, उससे उसका लेखकीय हौसला बढ़ा था और कद भी। उससे पत्रिका की बिक्री भी बढ़ी। इससे नईम की उससे निकटता भी बढ़ने लगी।

इधर, तलाक के बाद पिता-घर में उस पर विवाह के लिए दबाव बढ़ने लगा था। पिता जिस तरह ताने देने लगे थे, उससे तिलमिलाकर तसलीमा ने नईम से विवाह करने का विचार बना लिया। एक दिन वह नईम के पास चली गई। रुद्र की तरह ही नईम की रुचि भी काग़ज़ी-खानापूर्ति में विशेष थी। तत्काल विवाहनामा भी हो गया। नईम ने अपने प्रभाव का उपयोग कर तसलीमा का स्थानान्तरण चौदह ग्राम के ग्रामीण इलाके से सीधे ढाका करवा दिया। किन्तु विवाह के बाद नईम का व्यवहार निरंकुश होने लगा था। वह उसे अपने प्रभुत्व के पिंजरे में कैद करने के लिए बेताब था और वह इस कैद से बाहर आने के लिए छटपटाने लगी थी। इस बीच दुर्घटना यह हुई कि तसलीमा गर्भवती हो गई। नईम को जब इस बात का पता चला तो उसे शक हो गया कि उसे यह गर्भ किसी और से है। अतः वह उसका गर्भपात कराने पर आमादा हो गया। तसलीमा ने उसे आश्वस्त भी किया कि उसे गर्भ नईम से ही है लेकिन वह उसका गर्भपात करवाकर ही माना। अपने गर्भ ठहरने और गर्भपात करवाने का अनुभव उसने 'शोध' उपन्यास में विन्यस्त किया है। इससे

तसलीमा को उससे वितृष्णा हो गई। शादी के दो माह के भीतर ही तसलीमा ने नईम का घर छोड़ दिया।

नईम ने अपने को अपमानित अनुभव किया। उसने बदला लेने की ठान ली। 'सुगंधा' नाम की एक पत्रिका में उसने तसलीमा के यौन-संपर्कों के झूठे-सच्चे किस्से गढ़कर उसका चरित्र-हनन करने वाला एक लेख प्रकाशित करवा दिया। इस पत्रिका की एक प्रति उसने तसलीमा के पिता को भी भेज दी। लेख पढ़कर पिता अत्यन्त क्रोधित हुए। एक रात वे बड़े बेटे के साथ तसलीमा के घर पहुँचे और वहाँ उसे बुरी तरह लहूलुहान करके एक गाड़ी में डालकर मैमनसिंह ले गये। ढाका के अरमानी टोला के मकान में बसी हुई उसकी गृहस्थी भी उन्होंने उजाड़ दी। वे उसका सारा सामान भी मैमनसिंह ले गये। वहाँ तसलीमा को एक कमरे में बंद करके उन्होंने ताला लगा दिया। सबको तसलीमा से बात करने की भी मनाही थी। वह गूँगी की तरह कमरे में छटपटाती रही। जो व्यवहार उन्होंने प्रेम-विवाह करने के कारण कमाल के साथ किया था, वही तसलीमा के साथ किया।

अवसर पाकर एक रात वह 'अवकाश' से भाग निकली। ढाका पहुँचकर उसने मीनार की शरण ली। मीनार रुद्र का दोस्त था, इस नाते वह उससे परिचित थी। लेकिन वहाँ भी शरण की शर्त थी, विवाह। यह उसका तीसरा औपचारिक विवाह था। यह विवाह भी अल्पजीवी ही रहा। औरत और दारू, ये दो मीनार के भी व्यसन थे। मीनार की लत दारू तो थी ही, दारू पीकर वह तसलीमा को पीटने भी लगा था। थोड़ा-बहुत सहन करने के बाद उसके तीसरे विवाह का भी अंत हो गया। उसने शांतिबाग में एक मकान किराये पर लिया और अकेली उसमें रहने लगी।

इस तमाम उतार-चढ़ाव के बीच में भी उसका कलाम-लेखन निरन्तर जारी था और उससे उसकी लोकप्रियता भी बढ़ रही थी। यही देखकर उसकी कविताओं के प्रकाशक 'विद्याप्रकाश' के मालिक खोका ने मंशा जाहिर की कि वह उसके कलामों का संग्रह प्रकाशित कराना चाहता है। लेकिन तसलीमा का विचार था कि सामयिक घटनाओं पर लिखी गई इन टिप्पणियों का ज्यादा महत्त्व नहीं है। लेकिन अन्ततः खोका के दबाव पर वह सहमत हो गई। शहरयार ने नाम सुझाया—'निर्वाचित कलाम' किताब छपी और छपी ही नहीं, आँधी के आम की तरह बिकी।

'निर्वाचित कलाम' के प्रकाशन के बाद उसकी अन्य पुस्तकें भी धड़ल्ले से बिकने लगीं। यह देखकर उसके दरवाजे पर प्रकाशकों की भीड़ रहने लगी। वे उसे एडवांस रॉयल्टी देने के लिए भी उतावले हो रहे थे। उसके घर में एक ओर उसकी माँ और बहन-बहनोई आकर रहने लगे थे, तो दूसरी ओर लेखकों की बैठकें भी जमने लगी थीं। अपना शांतिबाग का घर उसे 'स्वीट होम' लगने लगा था।

बचपन से ही तसलीमा रवीन्द्र-संगीत की भी प्रेमिका थी। संयोगवश, उसके

शुभाकांक्षियों में राका और अल्ताफ दंपती रवीन्द्र संगीत के शौकीन थे। संगीत की बेसुधी में खोए हुए। उसने इन दोनों के सामने शान्ति-निकेतन का वसंत उत्सव देखने का प्रस्ताव रखा। दोनों तत्काल तैयार हो गये। वसंतोत्सव का आनन्द लेकर लौटते हुए वह कलकत्ता रुकी। वहाँ के परिचित कवियों से मिलने के साथ-साथ उसने 'आनंद बाजार पत्रिका' कार्यालय जाकर निखिल सरकार से भी भेंट की। उन्हें वह बेलाल चौधुरी द्वारा भिजवाई गई 'लाल काली' किताब सौंपने गई थी। उन्होंने उसकी 'निर्वाचित कलाम' भी रख ली। वह इस बात से उत्साहित थी कि पत्रिका में वे उसकी किताब की खबर छापेंगे।

उसके विस्मय और खुशी का पारावार नहीं रहा, जब कुछ ही दिनों में उसे पत्र मिला कि 'आनन्द बाजार' का सन् 1992 का 'आनन्द पुरस्कार' उसे उसकी 'निर्वाचित कलाम' पुस्तक पर दिया जायेगा। उसे एक तसल्ली यह भी हुई कि उसे सेक्स लेखिका मानकर उसका उपहास और अवमानना करने वालों को यह पुरस्कार एक करारा जवाब होगा। वह शान से सिर उठाकर चल सकेगी। और सच में ही 'आनन्द पुरस्कार' ने उसका कद बढ़ा दिया।

प्रेम-संबंधों के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद वह साहित्य की दुनिया में आ गई थी। उसे विश्वास था कि 'फिलहाल इस जिंदगी में तो मैं किसी मर्द से प्यार नहीं करूँगी।' लेकिन इसके बावजूद जब उसने कैसर नाम के सुदर्शन पुरुष को देखा तो उसका मन विचलित हो गया। नईम की तरह ही उसने भी आगे बढ़-बढ़कर उसके छोटे-बड़े काम करके उसके हृदय में अपने लिए जगह बना ली। वह उससे अपनी तृप्ति पाने लगी। उसमें उसकी आसक्ति इतनी बढ़ गयी कि घर-परिवार की मर्यादा और सामाजिक नैतिकता भी उसने ताक पर रख दी थी।

6 दिसंबर, 1992 को अचानक ही ढाका में दंगे भड़क गये। यह तो बाद में ज्ञात हुआ कि दंगे भारत में बाबरी मस्जिद ध्वस्त होने की प्रतिक्रिया में भड़के हैं। हिन्दुओं को मारा-काटा गया। अस्पताल में मरीजों की संख्या एकदम बढ़ गई। तसलीमा की ड्यूटी इमरजेंसी में नहीं थी लेकिन घायलों को बचाने की कोशिश में वह अतिरिक्त समय देकर काम करने लगी।

विध्वंस के व्यापक रूप ने उसके हृदय को उद्वेलित कर दिया। इसी उद्वेलन ने 'लज्जा' में अपनी अभिव्यक्ति पाई। अस्पताल की ड्यूटी में से समय निकालकर उसने रचना पूरी की थी। फरवरी में पुस्तक मेला था। प्रकाशक 'लज्जा' प्रकाशित करने में जुट गया।

इधर, तसलीमा के लिए कलकत्ता कवि-सम्मेलन का निमंत्रण था। बांग्लादेश के कवियों को साथ ले जाने की जिम्मेदारी उसी को सौंपी गई थी। सभी लोगों को तैयार करने के साथ-साथ उसने अपनी तैयारी भी की। लेकिन नियत दिन व समय पर जब वह हवाई अड्डे पर पहुँची तो ज्ञात हुआ कि उसके बाहर जाने पर प्रतिबंध

है। उसका पासपोर्ट भी जब्त कर लिया गया।

इधर, तसलीमा के पुस्तक मेले में जाने पर भी पाबंदी थी। लेकिन मेले का आकर्षण उसमें इतना अधिक था कि उस पाबंदी को एक ओर धकेलकर वह मेले में चली गई। उसके स्टॉल पर बैठने से 'लज्जा' की बिक्री में ज्वार आ गया। लेकिन थोड़ा ही समय वहाँ बीता होगा कि विरोध का ज्वार भी उमड़ पड़ा। अतः तसलीमा को अपनी जान बचाकर वहाँ से भागना पड़ा। उसने बंगला अकादमी में शरण ली। अकादमी ने पुस्तक मेले में उसका प्रवेश जीवन-भर के लिए निषिद्ध कर दिया।

उधर, तसलीमा का पासपोर्ट भी अब तक लौटाया नहीं गया था। इसके लिए उसे सरकारी विभागों के चक्कर लगाने पड़ रहे थे। पूछताछ करने पर ज्ञात हुआ कि धर्म-विरोधी लेखन के कारण पासपोर्ट रोक दिया गया है और उसके लेखन की जाँच की जा रही है। अखबारों में वह जो कॉलम लिख रही थी, उस विषय में उससे पूछा गया कि क्या उसने इसके लिए सरकार से अनुमति ली है? यानी सरकारी नौकरी करते हुए बिना सरकार की अनुमति के लेखन नहीं किया जा सकता है (और जैसा लेखन वह कर रही थी, सरकार-विरोधी और धर्म-विरोधी वैसा तो कतई नहीं)। अतः उसके सामने अब दो ही रास्ते थे और उसे उनमें से एक रास्ता चुनना था; सरकारी नौकरी या स्वतंत्र लेखन। उसने स्वतंत्र लेखन चुन लिया। बिना किसी से सलाह-मश्विरा किये उसने सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। एक जगह उसने लिखा है कि 'एक ही फैसले पर दुबारा मैं विचार नहीं करती।' त्यागपत्र के फैसले पर भी उसने कोई पुनर्विचार नहीं किया।

अब उसका पासपोर्ट रोके रखने का कोई औचित्य नहीं था। उसने पासपोर्ट पाने के लिए गृहमंत्री को सिफारिश करवाई तो जवाब मिला कि यह लड़की धर्म के खिलाफ लिखती है इसलिए वे इसका पासपोर्ट तो हरगिज जारी नहीं करेंगे; उसकी कृति 'लज्जा' भी बैन कर देंगे। अंततः 11 जुलाई, 1993 को आदेश जारी कर 'लज्जा' प्रतिबंधित कर दी गई। उसकी सभी प्रतियाँ जब्त कर ली गईं और उसका प्रकाशन, वितरण, संरक्षण निषिद्ध कर दिया गया। तब तक 'लज्जा' के सात संस्करण छप चुके थे और उसकी साठ हजार प्रतियाँ बिक चुकी थीं। बाद में, तसलीमा ने 'लज्जा' का परिवर्द्धित संस्करण तैयार किया। प्रकाशन के लिए उसे चोरी-छिपे कलकत्ता भेजा गया। उसका प्रकाशन वहीं से हुआ।

'लज्जा' पर प्रतिबंध के साथ ही उसके पक्ष-विपक्ष में उत्तेजित हो राष्ट्र का राजनीतिक वातावरण गर्मा गया। विरोधी अखबार तसलीमा के विरुद्ध विषवमन करने लगे। मस्जिदों में तसलीमा-विरोधी तकरीरें होने लगीं। ये बातें तसलीमा के मकान-मालिक के कानों में भी पड़ीं। उस धर्मप्राण व्यक्ति ने तसलीमा को मकान खाली करने का नोटिस दे दिया। उन दिनों शान्तिनगर के मोड़ पर एक दस मंजिला इमारत बन रही थी। उसने उसमें नौवीं मंजिल पर अपने लिए एक फ्लैट बुक करा लिया। फ्लैट

खरीदने की खबर सुनकर उसके प्रकाशक एडवांस रुपये लेकर आ गये। उसने फ्लैट खरीद लिया और अपना सामान शांतिबाग से शांतिनगर ले गई।

उसकी परेशानियों का अभी अंत नहीं हुआ था। सरकार की ओर से उसके घर की तलाशी ली गई; कहीं 'लज्जा' की प्रतियाँ उसने छिपा तो नहीं रखी हैं। दूसरी ओर जिस फ्लैट में अभी उसने रहना शुरू ही किया था, उसमें भी उसे सोसायटी के द्वारा तंग किया जाने लगा। इस कॉम्प्लेक्स में मस्जिद बनाने की तैयारी थी। सभी से चंदा लिया जा रहा था। लेकिन तसलीमा ने धर्म के नाम पर चंदा देने से इनकार कर दिया, उसने मिलाद, इफ्तारी, शबे-बारात आदि के लिए भी चंदा नहीं दिया। इस पर सोसायटी का केयर-टेकर जुबेर उसे तरह-तरह से सताने लगा। जैसे, उसके यहाँ कैसर क्यों आता है? वह गाड़ी अमुक जगह ही पार्क क्यों करता है? आदि-आदि। लेकिन तसलीमा इन सब आपत्तियों के विरुद्ध प्रचंड आत्मविश्वास के साथ पैर जमा कर खड़ी हो गई।

सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र देने से उसका आर्थिक मेरुदंड बुरी तरह से चरमरा गया था, लेकिन उसे अपनी डॉक्टरी डिग्री पर भरोसा था। एनेस्थीसिया और गाइनी के काम का अनुभव भी उसे था। लेकिन प्राइवेट क्लिनिकों में उसे उसका नाम सुनते ही खारिज कर दिया जाता था। धर्म विरोधी डॉक्टर नहीं! नहीं!

ऐसे समय में जबकि अभी वह संकटों से घिरी हुई थी, उसमें बड़ा इजाफा किया, सिलहट की सहाबा सैनिक परिषद् ने उसके विरुद्ध फतबा जारी करके। उसके सिर की कीमत पचार हजार घोषित की गई। मस्जिदों में हर शुक्रवार उसे गाली दी जाती, उसके विरुद्ध लीफलैट बाँटे जाते, पोस्टर छापे जाते। साहित्यिक कार्यक्रमों में भी जैसे उसका अघोषित बहिष्कार किया जाने लगा। गुण्डे लोग उसके घर जाकर उसे परेशान करने लगे। उसके लेटर-बॉक्स में धमकीभरे पत्र लिखकर डाले जाने लगे। आत्मरक्षा के लिए लोगों की सलाह पर उसने पिस्तौल खरीद ली थी। अचानक यह खबर पाकर कि पुलिस घर की तलाशी लेने के लिए आ रही है, वह बगैर लाइसेंस की पिस्तौल उसकी जान की आफत बन गई। उसे कहाँ छिपाया जाय? अंततः एक शुभाकांक्षी ने उस पिस्तौल को वहाँ से हटाकर उसे राहत दी।

लोगों की सलाह पर ही, अपनी सुरक्षा के लिए उसने सरकार से पुलिस-प्रबंध की माँग की। बहुत समय तक इस माँग की कोई सुनवाई नहीं हुई। लेकिन बाद में मानवाधिकार के बड़े बैरिस्टर डॉक्टर कमाल हुसैन और अमीरुल इस्लाम की पैरवी पर अदालत ने थाने को तसलीमा की सुरक्षा के लिए पुलिस भेजने का आदेश दिया, यद्यपि अनिच्छा से।

बांग्लादेश में उसके बढ़ते हुए विरोध को देखकर एम्नेस्टी इंटरनेशनल और अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार संस्थाओं ने बांग्ला सरकार पर दबाव डाला कि वह तसलीमा को सुरक्षा प्रदान करे। बांग्लादेश के बुद्धिजीवियों के संगठन ने भी बयान जारी कर

फतवे का विरोध किया। अब तक पुलिस अदालत के आदेश का उल्लंघन करती आ रही थी। अन्ततः 14 अक्टूबर, 1993 को तसलीमा को पुलिस संरक्षण मिला। आगे चलकर, स्वीडन में उसे जो पुलिस-संरक्षण मिला, उसका स्मरण करते हुए उसने लिखा है कि बांग्लादेश में मिला संरक्षण एक प्रकार से संरक्षण का उपहास था। खैर!

अब धार्मिक नेताओं ने तसलीमा के विरोध में अपना आन्दोलन और भी ज्यादा तेज कर दिया था। तसलीमा-विरोधी अखबारों का स्वर भी तीखा हो गया था। जनसभाओं में खुले आम तसलीमा की हत्या की माँग की जाने लगी।

आम तौर पर अवामी लीग, कट्टरवादियों के विरोघ में सड़क पर उतरती रही है, लेकिन तसलीमा के मामले में उसने भी मौन धारण कर लिया था। तसलीमा चाहती थी कि लीग मेरे पक्ष में चाहे न बोले लेकिन फतवे के विरोध में तो बोले। लेकिन अवामी लीग उदासीन रही।

इसी तरह, बांग्लादेश की महिलाओं की सबसे बड़ी संस्था 'महिला परिषद्' भी मौन रही। उसकी मुख्य नेत्री मलका बेगम को तो ईर्ष्या ही हुई कि नारी-आन्दोलन तो वह करती आ रही है और मशहूर हो रही है, तसलीमा! उसका कहना तो यह भी था कि तुम्हें तो मुल्लों का शुक्रिया अदा करना चाहिए कि उन्होंने तुमको मशहूर कर दिया! वह तसलीमा के पक्ष में खड़ी होने के लिए तैयार थी बशर्ते तसलीमा उसके संगठन की सदस्यता स्वीकार कर ले! लेकिन तसलीमा ने उसकी बात स्वीकार नहीं की।

छुटपुट जुलूस तसलीमा के पक्ष में भी निकल रहे थे। एक का नेतृत्व विख्यात मूर्तिकार आर्ट-प्रोफ़ेसर शमीम सिकदार ने किया। शराब और सिगरेट से कोई परहेज नहीं करने वाली इस महिला ने तसलीमा की भरपूर हौसला अफजाही की। तसलीमा की भी इच्छा हुई, काश! वह भी शमीम की तरह ही निर्भीक और असाधारण साहसी बन पाती!

तसलीमा-विरोधी तूफान का असर उसके लेखन पर भी आया, इस अर्थ में कि अब तक जो कुछ भी लिखती थी, बांग्लादेश के अखबारों में वह सब अक्षरशः छपता था लेकिन इस आन्दोलन के बाद उसके लेखों में जहाँ भी धर्म-विरोध होता, उसे काट दिया जाता था। तसलीमा का बहिष्कार तो अखबार वाले कर नहीं पाते थे, क्योंकि उसके लेखन से अखबार की बिक्री बढ़ जाती थी। परन्तु उसके धार्मिक विचारों को उन्होंने प्रतिबंधित कर दिया था। 'भोर का अखबार' अब तक उसकी एक लेखमाला 'वेद-बाइबिल और कुरान में नारी' धारावाहिक प्रकाशित करता आ रहा था, उसने भी उसे अचानक बंद कर दिया। कुछ अखबारों ने उसके चरित्र-हनन की चटखारेदार कहानियाँ भी गढ़ कर छापीं। इनमें वहाँ का 'रविवार' अग्रणी था।

विदेशी प्रेस अवश्य ही, तसलीमा के पक्ष में था। 'न्यूयार्क टाइम्स' ने तो उसे उप-सम्पादकीय लिखने के लिए निमंत्रित किया था। वह दुविधा में पड़ गई। ''अंग्रेजी

में दो-एक बातें तो की जा सकती हैं, मगर अंग्रेजी में लिखना?'' यह उसके बस में नहीं था। पत्रकार फरीद हुसैन ने मदद की। वह बांग्ला में लिखती थी, फरीद उसे अंग्रेजी में रूपांतरित करते। इस तरह, उसने 'न्यूयार्क टाइम्स' के लिए लिखा।

बी.बी.सी. ने उसके इंटरव्यू और डॉक्यूमेन्टरी के लिए टीम भेजी। जर्मनी से भी टेलीविजन वाले आये और फ्रांस से भी। फ्रांस की 'ले-मंद' और 'लिबरेशन' पत्रिका के पत्रकार भी आये। विभिन्न देशों की सरकारें तसलीमा की रक्षा के लिए बांग्लादेश सरकार पर दबाव बनाये, इसके लिए सबसे ज्यादा प्रयत्न किये अन्तरराट्रीय लेखक संगठन 'पेन' की अध्यक्ष मेरेडिथ टैक्स ने।

भारत के 'संडे' और 'स्टेट्समैन' के पत्रकार भी इंटरव्यू लेने गये। 'पेंगुइन इंडिया' प्रकाशन ने 'लज्जा' का अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित किया। पत्रकरों ने मत व्यक्त किया कि जैसे 'सैटनिक वर्सेज' की वजह से रश्दी के विरुद्ध फतवा जारी हुआ, वैसे ही तसलीमा के खिलाफ भी किसी न किसी किताब की वजह से ही फतवा जारी हुआ है। उनके अनुमान से वह किताब 'लज्जा' ही थी। लेकिन तसलीमा ने लिखा है कि ऐसा बिलकुल नहीं है, लोग पहले से ही नाराज थे और लज्जा पर प्रतिबंध ने 'आग में घी' का काम किया है।

वास्तव में लोगों की नाराजगी तसलीमा की पत्रकारी लेखन में किये जा रहे इस्लाम-विरोध के कारण थी। 'निर्वाचित कलाम' (या उसका हिन्दी अनुवाद 'औरत के हक में') पढ़ने से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। लेकिन फ्रैंच व जर्मन प्रकाशक 'लज्जा' का अनुवाद छापने के लिए मचल रहे थे। उन्हें यह गलतफहमी भी थी कि तसलीमा ने 'लज्जा' में सीधे इस्लाम पर आक्रमण किया है। इसलिए वे 'लज्जा' का अनुवाद छापने के लिए मुँहमाँगी रकम देने के लिए भी तत्पर थे। लेकिन वास्तव में 'लज्जा' में इस्लाम का सीधे कोई विरोध नहीं है। इधर, बांग्लादेश में तसलीमा का प्रचंड विरोध हो ही रहा था, उधर इस बीच उसे धक्का लगा अपनी माँ की ओर से भी। माँ जब मैमनसिंह रहती थी, तब पीरकोठी उनका बड़ा सहारा थी। घर में पति और पुत्रवधू हसीना से जो अपमान उन्हें सहना पड़ता था, उसे पीरकोठी जाकर वे भुला देती थीं। लेकिन जब से तसलीमा के विरुद्ध फतवे का देश में प्रचार हुआ, तब से तसलीमा नाम की काफिर बेटी को जन्म देने के कारण, पीरकोठी में उसकी माँ का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया। काफिर बेटी से रिश्ता नहीं तोड़ लेने के कारण माँ भी काफिर! अपने फतवे से ज्यादा माँ के विरुद्ध इस फतवे से उसे दुख हुआ। विशेष दुख इसलिए कि माँ को अब अकेलेपन का नरक भोगना पड़ेगा, बेटी के कारण।

इस बीच फ्रांसीसी मीडिया ने तसलीमा को फ्रांस आमंत्रित किया। फ्रांस की 'रिपोर्ट्र्स सां फ्रंटियर्स' और 'आर्ते' टेलीविजन की ओर से टेलीविजन में 'प्रेस की आज़ादी' विषयक कार्यक्रम में भाग लेने के लिए उसे बुलाया गया। इस पर तसलीमा

ने उनको सूचित कर दिया कि मेरा पासपोर्ट मेरे पास नहीं है। अतः मेरा आना मुमकिन नहीं है। उधर विदेशों में फतवे की खबर प्रचारित होने के बाद वहाँ तसलीमा के पक्ष में आन्दोलन शुरू हो गये थे। उसका सम्मिलित प्रभाव यह हुआ कि बांग्लादेश सरकार को तसलीमा का पासपोर्ट लौटाना पड़ा। पासपोर्ट पाकर वह खुशी से झूम उठी। देश के बाहर कहीं जाने की खुशी से नहीं, अपना नागरिक अधिकार पा लेने की खुशी से। उसने अकुंठित भाव से स्वीकार किया है कि यदि विदेशों में मानवाधिकार संगठन अपनी-अपनी सरकारों पर यह दबाव न डालते कि वे बांग्लादेश सरकार पर तसलीमा की सुरक्षा और स्वतन्त्रता के लिए दबाव डालें, तो उसे उसका पासपोर्ट कभी वापस नहीं मिलता। इस वापसी में 'न्यूयार्क टाइम्स' में लिखे गये उसके उप-संपादकीय ने भी भूमिका निभायी। उससे अमेरिकी सरकार पर दबाव पड़ा। अमेरिकी राजदूत ने ही उसका पासपोर्ट वापस दिलवाने का काम किया था। पैन संगठन की भी इसमें जबरदस्त भूमिका रही, उसी ने अन्तरराष्ट्रीय जगत् को झकझोरा।

पेरिस हवाई अड्डे और पेरिस शहर का सौन्दर्य और समृद्धि देखकर वह आश्चर्यचकित रह गई। जिल ने उसे 'बेलाविल' नाम का गरीब इलाका भी दिखाया लेकिन वहाँ किसी गरीब को देखने के लिए उसकी आँखें तरस गईं। उसे कहना पड़ा कि ''दरिद्रता को मेरी नजर से देखने और फ्रांसीसियों की निगाह से देखने में जमीन-आसमान का फर्क है।'' इसी तरह, जिल के जीवन को जानकर भी वह चकित थी। जिल और उसकी बहन डोमेनिक हिप्पी परिवार में जन्मे थे। उनके माता-पिता ने कभी विवाह नहीं किया! बच्चे उन्हें नाम से ही बुलाते थे। उन्होंने बच्चों को किसी किस्म का अनुशासन नहीं सिखाया। फिर भी भाई-बहन में प्यार था।

पेरिस में उसे मर्सेलियर ऑपेरा (मासेई अपेया) होटल में ठहराया गया। पहला इंटरव्यू उसने जिल के साथ जाकर रेडियो फ्रांस को दिया। 29 अप्रैल को उसने 'प्रेस की आज़ादी' विषयक कार्यक्रम में भाग लिया।

वाक् स्वाधीनता पश्चिम में ज्यादा नहीं है। वहाँ अखबारों के विज्ञापनदाताओं की अनुमति हासिल किये बिना, समाज में प्रचलित अन्याय या अत्याचार के ख़िलाफ़ जुबान नहीं खोली जा सकती। इस स्थिति की अपने देश से तुलना करके उसे जब टिप्पणी करने को कहा गया तो उसने कहा कि तीसरी दुनिया के देशों में रेडियो-टेलीविजन जैसे प्रचार माध्यम सरकारी दखल में हैं इसलिए वहाँ इनका इस्तेमाल सरकारी प्रचार के लिए किया जाता है। गैर-सरकारी अखबार भी सरकारी विज्ञापनों पर ही जिन्दा रहते हैं। इसलिए विज्ञापन पाने के लोभ में वे भी सरकार के विरोध में नहीं लिख पाते। इस तरह, प्रचार माध्यमों की आजादी वहाँ और भी कम है। इस बीच उसने और भी कई कार्यक्रमों में भाग लिया। उसका इंटरव्यू लेने वाले पत्रकारों और उसके फोटो खींचने वाले फोटो-पत्रकारों की तो मानो बाढ़-सी आई हुई थी।

इस फ्रांस यात्रा में तसलीमा को अनेक अनूठे अनुभव हुए और फ्रांसीसी जीवन की कई विलक्षणताएँ भी उसके पर्यवेक्षण में आईं—

- फ्रांसीसियों का 'फ्रेंच किस' देखकर वह सकुचा गई। वे व्यक्ति को चूमते कम हैं, उसे आलिंगनबद्ध करके उसके गालों पर ताबड़तोड़ चुंबन लेते हैं। इसके लिए यह सर्वथा नई बात थी। इसी तरह रेस्त्राँ में, सड़क पर और पार्कों में लड़के-लड़कियों की लिपटा-लिपटी भी उसे चकित करने वाली थी। बांग्लादेश में लोग ऐसे दृश्य देखें तो प्रेमियों के हाथ-पैरों की हड्डियाँ तोड़ डालें।
- फ्रांसीसियों को तीन चीजें बेहद पसंद हैं, कॉफी, चॉकलेट और चीज़। और ये तीनों ही चीज़ें तसलीमा को सख्त नापसन्द हैं। वह इन्हें छूना भी नहीं चाहती।
- फ्रांसीसी लोग जब बात करते हैं तो उनका हाथ-पैर-मुँह-सिर सारा कुछ नाचता रहता है। यह शायद उनकी जातीय आदत है।
- व्यावसायिकता वहाँ के जीवन में प्रधान है। व्यावसायिक कारणों से प्रकाशक किताबों के नाम तक बदल देते हैं। व्यावसायिक शब्द उच्चारण करते हुए वहाँ किसी को ग्लानि नहीं होती। वहाँ साहित्य भी एक व्यवसाय है।

फ्रांस से लौटते हुए तसलीमा कलकत्ता ठहरी। उसके ठहरने का प्रबन्ध 'आनन्द बाजार पत्रिका' की ओर से किया गया था। बांग्लादेश में उसके विरुद्ध चल रहे आन्दोलन के मद्देनजर, कलकत्ता में भी उसके लिए पुलिस-सुरक्षा का प्रबंध किया गया था। कलकत्ता में उसका इंटरव्यू लेने के लिए दूर-दूर से पत्रकार आये हुए थे। 9 मई '94 के 'स्टेट्समैन' में उसका इंटरव्यू छपा। तसलीमा ने और बातों के अलावा यह बात भी कही कि कुरान में संशोधन होना चाहिए। यह पढ़कर निखिल सरकार चिंतित हो उठे। उन्होंने तसलीमा को फोन किया; तुमने यह क्या कहा है? इससे भयंकर बावेला मचेगा। लेकिन उसने प्रतिवाद किया कि मैंने कुरान में संशोधन की कोई माँग नहीं की है। अलबत्ता, शरीयत कानून खत्म करने की बात अवश्य कही है क्योंकि उसमें औरत-मर्द को बराबरी का हक नहीं है। निखिल सरकार के सुझाने पर उसने खंडन जारी कर दिया। 11 मई '94 के स्टेट्समैन में उसका भेजा हुआ खंडन छप गया।

तसलीमा ने सोचा तो यह था कि वह फ्रांस से स्वदेश लौटेगी, तब तक 'लज्जा' से लगी आग मंद पड़ चुकी होगी लेकिन देखती क्या है कि 'स्टेट्समैन' का इंटरव्यू बांग्लादेश के अख़बारों में भी छप चुका था और उससे विरोध की आग और भी धधक उठी थी। उसका जारी किया गया खंडन, विरोध के शोर में दब गया।

इधर, उसकी आर्थिक स्थिति चरमरा गई थी। उसकी आय का प्रमुख जरिया

पत्रकारी-लेखन था लेकिन सरकार और धर्म के विरुद्ध जो लेखन वह करती आई थी, उसे छापने का जोखिम लेने को अब कोई तैयार नहीं था। सरकार का विरोध करने पर सरकारी विज्ञापन बंद होने का खतरा था और धर्म-विरोधी लेखन छापने से कट्टरवादियों के हमले का डर था। अतः लेखन से होने वाली आय एकदम कम पड़ गई थी। उसके नाम क्रिश्चियन ने जो धनादेश फ्रांस से रजिस्ट्री से भेजा था, वह भी किसी ने चोरी कर लिया था। वह उस विकट स्थिति से जूझ रही थी कि 4 जून, 1994 को उसे सूचना मिली कि उसके खिलाफ गैर-जमानती गिरफ्तारी वारंट जारी हो चुका है। अतः वह गिरफ्तारी से बचने के लिए घर छोड़ कर किसी सुरक्षित जगह चली जाये। बांग्लादेश के नामी वकील डॉ. कमाल हुसैन की बेटी सारा हुसैन से जब उसने तथ्य जानना चाहा तो उसने इसकी पुष्टि की कि वारण्ट निकल चुका है। मोतीझील थाने के अफसर नूरुल आलम ने उसके विरुद्ध मुकदमा दायर किया है इसलिए गिरफ्तारी वारण्ट जारी हुआ है। अतः घर छोड़ने के अलावा और कोई उपाय नहीं है। अन्ततः इच्छा नहीं होते हुए भी तसलीमा ने घर छोड़ दिया।

समाचार-पत्रों में तसलीमा के खिलाफ वारण्ट जारी होने की खबर छपने से तसलीमा के शुभचिंतकों के लिए उसे किसी घर में छिपाकर रखना और भी मुश्किल हो गया। उसे एक-एक, दो-दो दिन करके कई घर बदल-बदलकर तब तक अपने दिन गुजारने पड़े जब तक कि उसे जमानत नहीं मिल गई। किसी-किसी घर में तो उसे खौलती गर्मी में बिना पंखे, बिना पानी, बिना हवा, बिना रोशनी के रहना पड़ा। दाना-पानी कई बार जुटता, कई बार नहीं भी जुटता। मकान-मालिकों को शरणागत तसलीमा को नौकरों की और बाजेवक्त अपने ही बच्चों की नजर से भी छिपाकर रखना पड़ता था क्योंकि नौकर लोग भी अखबार पढ़ते थे और इस खबर से वाकिफ थे।

तसलीमा की जमानत के लिए प्रयत्नशील वकीलों का मत था कि तसलीमा के पक्ष में विदेशी-सपोर्ट तो है लेकिन देश में भी जनमत जुटाया जा सके तो जमानत मिलना ज्यादा संभव होगा। तसलीमा हैरान थी। अवामी लीग, वामपंथी पार्टियाँ, बुद्धिजीवी संगी-साथी, सबके सब लोगों के मुँह पर ताले क्यों पड़ गये हैं? कोई भी गण्यमान्य लेखक, नामी-दामी बुद्धिजीवी, साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाएँ सामने क्यों नहीं आ रही हैं। बावन वकीलों ने जरूर बयान पर दस्तखत दिये लेकिन ज्यादा लोग नहीं जुटने से अन्यायपूर्ण मुकदमे का प्रतिवाद नहीं किया जा सका। बाद में, वाक्-स्वाधीनता के पक्ष में तो फिर कुछ बुद्धिजीवियों ने बयान जारी किये, लेकिन उनमें से किसी में भी तसलीमा की तरफदारी तो दूर, उसका नाम भी नहीं था। प्रगतिशील खेमे ने तो उसकी प्रगतिशीलता को ही नकार दिया। यह उसकी ग़लतफहमी ही थी कि लोग उसके पक्ष में खड़े होंगे।

कोढ़ में खाज यह हुई कि कुछ अखबारों में छपा कि उसने 'लज्जा' लिखने के लिए भारत की बीजेपी से 45 लाख रुपया लिया है, आदि-आदि।

कट्टरवादियों ने 30 जून, 94 को देशव्यापी हड़ताल का आह्वान किया और उसे सफल बनाने के लिए सभी गुटों ने अपनी सम्मिलित ताकत झोंक दी थी। कट्टरवाद-विरोधी लोगों ने उसका विरोध करने का फैसला किया। सर्वहारा पार्टी ने इसके लिए कमर कस ली थी लेकिन इस पक्ष की सभी शक्तियों में वैसी एकता और वैसी तैयारियाँ भी नहीं थीं। अन्ततः 30 जून, 1994 को हड़ताल हुई, यह अभूतपूर्व सफल हड़ताल थी। आशंका थी कि कट्टरवादियों और विरोधियों की मुठभेड़ होगी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। भारी संख्या में लोग घायल अवश्य हुए। विस्मयकारी बात यह रही कि जिन छात्र-नेताओं ने कट्टरवादियों का विरोध किया था, उन्होंने तसलीमा-समर्थकों के प्लेकार्ड, बैनर आदि फाड़ दिये, यह कहते हुए कि 'कट्टरवाद-विरोधी आन्दोलन पर उतरने का मतलब तसलीमा के समर्थन में उतरना नहीं है।'

लेकिन इस सारी अवधि में विदेशी मानवाधिकारी एवं नारीवादी संगठन तसलीमा के पक्ष में आवाज उठाते रहे और विदेशी सरकारें एवं प्रचार माध्यम तसलीमा का पक्ष लेकर बांग्लादेश सरकार पर दबाव डालते रहे।

इधर तसलीमा के संरक्षकों का एक मानस यह बना कि तसलीमा को वेश बदलवाकर देश के बाहर सुरक्षित भेज दिया जाय। लेकिन उसने चोर की तरह मुँह छिपाकर भागने से साफ इनकार कर दिया। नजरकैद में वह नारकीय जीवन गुजार रही थी, कभी-कभी वह आत्महत्या करने का विचार भी करने लगती थी लेकिन इस यातना से मुक्ति के लिए चोरी-छिपे देश से भागने का प्रस्ताव उसने स्वीकार नहीं किया। 30 जून '94 की हड़ताल की सफलता के बाद 'कट्टरवादियों' के हौसले और भी बुलंद हो गये। वे अमेरिका और यूरोपीय देशों के विरुद्ध विष-वमन करने लगे थे। यंग मुस्लिम सोसायटी ने 29 जुलाई '94 को 'लाँग मार्च' का आयोजन रखा और घोषणा की कि यदि इस दिन तसलीमा की गिरफ्तारी नहीं हुई तो ढाका के घर-घर में तलाशी ली जायेगी। धीरे-धीरे कट्टरपंथियों के अन्यान्य दल भी इससे जुड़ गये। इस्लामी जिहाद नाम के जिस संगठन ने तसलीमा की हत्या के लिए एक स्क्वाड का गठन किया था, वह भी इस मार्च से जुड़ गया। इससे तसलीमा भयभीत हो उठी। एक माह पूर्व हुई हड़ताल की तरह, यह 'लाँग मार्च' भी अद्‌भुत रूप से सफल मार्च था। इससे उत्साहित होकर यदि घर-घर उसकी तलाशी का अभियान चला तो वह कैसे बच पायेगी?

एक दिन तसलीमा को अपने पिता की खूब याद आती रही। वह बैठी हुई मन-ही-मन उनसे बातें करती रही और उन्हें आश्वस्त भी करती रही। अब्बू! तुम टूटना मत। जैसे सीधे तनकर खड़े होना तुमने मुझे सिखाया है, वैसे ही तुम भी

खड़े रहना। तांडव मचाने वाले मेरी देह के तो टुकड़े-टुकड़े कर देंगे लेकिन मेरा विश्वास तो नहीं मरेगा जो मैं हजारों-हजारों लोगों में छितराये जा रही हूँ।

उसी रात उसके संरक्षकों ने प्रबंध करके अचानक उसे अपने अब्बू, छोटू दा और भाभी से मिलवाया। पिता और भाई उसे हिम्मत बँधाते रहे। उन्होंने उसे आश्वस्त किया कि उसके कम्प्यूटर का हार्ड-डिस्क उन्होंने अन्यत्र सुरक्षित रखवा दिया है। उसकी अम्मी ने उसकी पसंद का खाना बनाकर भेजा था; उन्होंने वह उसे खिलाया। ज्यादा रुकना संभव नहीं था। वे लोग उसे हिम्मत बँधाते और आशीषते हुए लौट गये। परिजनों के जाने के बाद उसे एक आशंका ने घेर लिया। क्या परिजनों से इसलिए उसे मिलवाया गया है कि कहीं डर है कि मेरा जीवन खतरे में है।

तसलीमा विरोधी अखबार 'इन्कलाब' ने एक लेख में यह सूचना दी थी कि 'लज्जा' के अंग्रेजी संस्करण की एक ही दिन में बीस हजार प्रतियाँ बिक गईं!

एक दिन तसलीमा को सूचना दी गई कि कोर्ट गये बिना उसकी जमानत नहीं होगी। वकील के भरपूर प्रयत्न के बाद भी कोर्ट इस पर अडिग रहा है कि जमानत के लिए उसे कोर्ट में उपस्थित होना ही पड़ेगा।

आखिर, 4 अगस्त '94 को उसे जमानत के लिए कोर्ट जाना पड़ा। बहस पूरी होने पर जमानत की कार्यवाही हुई। अदालत ने असामी को घर तक जाने की सुरक्षा और घर पर भी सुरक्षा का आदेश दिया। भारी भीड़ में से पुलिस ने उसे बाहर गाड़ी तक ही नहीं, घर तक पहुँचाया।

घर पर दरवाजा खोलते ही अम्मी उससे लिपट गईं और जोर-जोर से रो उठीं, मानो हज़ारों साल पहले गुम हो गई बेटी उन्हें वापस मिली हो! घर के सभी सदस्यों को एकजुट हुआ देखकर तसलीमा को लगा कि मेरी विपत्ति ने ही सबको एकजुट कर दिया है। घरवालों के प्यार से वह अभिभूत हो गई। अब तक स्वयं द्वारा की गई उनकी उपेक्षा के लिए उसे पश्चात्ताप हुआ।

उसके अज्ञातवास की प्रमुख संरक्षक ने उसे उसका पासपोर्ट और नॉर्वे और स्वीडन का वीसा और स्वीडन का टिकट लाकर थमा दिया। उसे देश छोड़कर जाना ही होगा। जिंदा रहने की एकमात्र यही राह है। यही सरकारी फैसला है। यही जमानत की अलिखित शर्त है। यही विदेशी सलाह है। हर हालत में जाना ही होगा। बैंकाक, एम्स्टरडम होकर स्वीडन।

यह खबर सुनकर घर में एक बार तो मौत का-सा सन्नाटा पसर गया। बेमन उसने जाने की तैयारी की। रुपये-पैसे और कोर्ट कार्यवाही के लिए पॉवर ऑफ एटॉर्नी छोटू के नाम की। छोटू ने बताया 'कमाल हुसैन ने तेरे केस में रुपये-पैसे नहीं लिये अन्यथा, उनसे बात करने की फीस एक लाख टका है।'

जाने का दिन आ गया। 8 अगस्त '94 रात में 1:30 बजे प्रस्थान होगा।

दिन में पुलिसवाले कड़ी पूछताछ करने आये। कहाँ रही दो महीने? लेकिन तसलीमा ने जबान नहीं खोली। धमकी। नहीं बताओगी तो हवाई अड्डे तक के लिए पुलिस-संरक्षण नहीं मिलेगा। लेकिन तसलीमा अज्ञातवास के समय का नाम-पता नहीं बताने पर अडिग रही।

अम्मी दीवार से सिर टकराकर पछाड़ खा-खाकर रोती रहीं। बिट्टि मत जा। धर्म के ख़िलाफ़ मत लिखना। माफी माँग ले। लेकिन उसने साफ कह दिया—''यह नहीं होने का। मैं मर जाऊँगी, मगर माफी नहीं माँगूँगी।'' आखिर जाने की घड़ी आ पहुँची। वह अपने मन में यह सपना लिये रवाना हुई, ''जिस तरह अपना चेहरा ढँक कर, सिर झुकाकर, चरम असम्मान के साथ, अपना नाम-परिचय छिपाकर, देश से निकलना पड़ रहा है, मैं उस तरह नहीं लौटूँगी। अब मैं जब लौटूँगी तो सिर ऊँचा करके, अपने नाम-परिचय के साथ। मैं लौटूँगी, जरूर लौटूँगी।''

बहरहाल, रोती हुई अम्मी को छोड़कर वह चली गई। अब्बू, बड़े भाई, छोटे भाई और जीजा उसे हवाई अड्डे तक छोड़ने आये। पुलिस संरक्षण में वह हवाई जहाज में पहुँचा दी गई। हवाई जहाज ने उड़ान भरी। उसका बेहद प्रिय देश उसके देखते-देखते अदृश्य हो गया।

ढाका से तसलीमा को स्वीडन ले जाया गया। उसे वहाँ राजकीय अतिथि के रूप में अभूतपूर्व सुरक्षा में इयुक्तेरो द्वीप में रक्खा गया। द्वीप जीवन की घोर निर्जनता और डिब्बेबन्द मांस-मछली की गंध ने उसे बोर कर दिया। पैन के गैबी को उसकी देखरेख का जिम्मा सौंपा गया, जैसा कि अनजाने विदेश में स्वाभाविक है, वह सहायक की बजाय उसका अभिभावक ही बन बैठा। कौन उससे मिले, कौन न मिले, किस प्रकाशक को वह अपनी कौन पुस्तक अनुवाद के लिए दे आदि वही तय करने लगा। स्वीडन सरकार ने उसे देश का सर्वोच्च सम्मान 'कूर्ट तुखालस्की' प्रदान किया। स्वीडन में स्त्रियों का शोषण नहीं होता। संसद में पचास प्रतिशत स्त्रियाँ हैं। स्टॉकहोम उसे बहुत सुन्दर और साफ-सुथरा शहर लगा। स्वीडन से वह नार्वे गयी। ओस्लो शहर में पचास हजार पाकिस्तानी श्रमिक हैं। उसके सम्मान में आयोजित रात्रिभोज में उसने पाया कि इस देश की प्रधानमंत्री, विदेशमंत्री, संस्कृतिमंत्री, सभी औरतें थीं। वहीं उसे पता चला कि उसकी बांग्लादेश से मुक्ति के लिए नार्वे सरकार ने एड़ी-चोटी का जोर लगाया था। विदेशमंत्री ने उससे पूछा कि नार्वे सरकार जो बांग्लादेश को तीन सौ मिलियन क्राउन प्रतिवर्ष अनुदान देती है, क्या वह उसे बंद कर दे? तसलीमा ने निर्द्वंद्व उत्तर दिया कि नहीं वह ऐसा न करे, क्योंकि इससे वहाँ के वंचित वर्गों की ही क्षति होगी। स्विटजरलैण्ड में भी कुछ ऐसे ही प्रश्न के उत्तर में उसने कहा कि मेरी मदद करने के बजाय वे लोग बांग्लादेश की उन गरीब औरतों की मदद जारी रखें, जो शिक्षा, स्वास्थ्य और अन्न-वस्त्र के लिए तरसती हैं। फिर वह

'इन्टरनेशनल पार्लियामेंट ऑफ राइटर्स' में सम्मिलित होने पुर्तगाल गयी। इस लेखक संघ का गठन 1993 में तब हुआ जब अलजीरिया के कट्टरवादियों ने वहाँ के लेखकों और बुद्धिजीवियों को एक सुनियोजित षड्यंत्र रचकर मार डाला। इस संगठन ने यह योजना बनायी कि हर देश का एक शहर एक प्रताड़ित लेखक को सुव्यवस्थित आश्रय देगा। इस सम्मेलन में तसलीमा को जैक देरिदा भी मिले, जिन्होंने उसकी मुक्ति के लिए पेरिस की सड़कों पर प्रदर्शन किया था। '94 में इस संगठन के अध्यक्ष सलमान रश्दी थे। पुर्तगाल में भिखमंगों के अलावा काँच की आलमारियों में नग्न-अर्धनग्न रूपाजीवाओं को देखकर उसे बड़ी वितृष्णा हुई। फिर वह गोथेनबर्ग के पुस्तक मेले के उद्घाटन समारोह में शामिल हुई। यहाँ उसकी भेंट भारतीय लेखक विक्रम सेठ, जर्मन लेखक, गुंटरग्रास, हंगरी के पीटर नादास, अमेरिकी गेरिलिन, फ्रेंच नार्मन मेलर और रूसी कवि येवतुशेंको से हुई। तसलीमा का अगला कार्यक्रम प्राग में अन्तरराष्ट्रीय पॅन क्लब के लेखक सम्मेलन में शामिल होना था। संगठन की अध्यक्ष मैरिडिथ जैक्स ने अपनी रिपोर्ट में संगठन की ओर से तसलीमा को बांग्लादेश से और मौत के मुँह से निकाल लाने के लिए क्या-क्या प्रयत्न किये गये, इसका विस्तृत ब्योरा प्रस्तुत किया। प्राग के बाद वह हेलसिंकी, फिनलैण्ड के लेखक सम्मेलन में गयी। अन्तरराष्ट्रीय ट्रांस्पेरेन्सी रिपोर्ट के अनुसार बांग्लादेश संसार का सबसे भ्रष्ट देश है, भारत और पाकिस्तान उसके आसपास ही हैं, और फिनलैण्ड सबसे कम भ्रष्ट देश है। महिलाओं को वोट देने का अधिकार भी विश्व में सबसे पहले 1906 में फिनलैण्ड में ही मिला। फ्रांस में भी उसका भव्य स्वागत किया गया और उसे अनेक पुरस्कारों से नवाजा गया। कई शहरों के महापौरों ने उसे सम्मान रूप में नगर की चाबी भेंट की। पेरिस के मेयर शिराक ने वाल्टेयर की किताबों का सेट उसे भेंट करते हुए कहा—एक निर्वासित मानववादी नास्तिक लेखक के ग्रंथ दूसरे निर्वासित मानववादी नास्तिक लेखक को भेंट करते हुए मैं अपने को धन्य मानता हूँ।

स्विटज़रलैण्ड में उसकी सुरक्षा का इन्तजाम और भी ज्यादा टीमटाम भरा था। 19 दिसंबर, 1994 के अन्तरराष्ट्रीय मानवाधिकार दिवस पर योरोपियन पार्लियामेंट ने उसे सोवियत भौतिक विज्ञानी सखारोब के नाम पर स्थापित पुरस्कार दिया, एक लाख पचास हज़ार फ्राँ की राशि। इतने सम्मानों और पुरस्कारों से गद्गद उसने अपनी आत्मकथा में लिखा—मैंने ज़िन्दगी में जितना भी संघर्ष किया हो, लेकिन जितना पुरस्कार मिला है, वह मेरे प्राप्य से कहीं ज्यादा है।

आगे चलकर उसने न्यूयार्क में एक अपार्टमेंट ले लिया और उसमें रहने लगी। देश में माँ बीमार हुई तो उसे बुला लिया और उसका इलाज करवाया। फिर उसने माता-पिता के साथ बांग्लादेश में कुछ दिन अज्ञातवास के इरादे से ढाका का जहाज़ पकड़ लिया और हवाई अड्डे पर इमीग्रेशन अधिकारी की लापरवाही का उपयोग करते

हुए निकल गयी। पर दूसरे ही दिन अखबारों में उसके बांग्लादेश में होने की खबर छप गयी और पुलिस उसकी तलाश करने लगी। पर वह मरणासन्न माँ की शुश्रूषा में जुट गयी। उसने अमेरिका से लायी हुई भारी धनराशि माँ के इलाज और उसकी खुशी के लिए दान में लुटा दी। आतंकवादी संगठन हूजी की हिटलिस्ट में उसका नाम पहले नंबर पर था। फ्रांस के राजदूत ने उसे वहाँ की संसद का आमंत्रण-पत्र दिया और सुझाया कि गिरफ्तार, या हत्या से पहले वह देश छोड़ दे। पेरिस में वह एक सुदर्शन फ्रांसीसी पायलट लरों से प्रेम करने लगी। उन्हीं दिनों उसे भारत का वीजा मिल गया और वह कलकत्ता के पुस्तक मेले में शामिल हो सकी, जहाँ उसकी आत्मकथा का पहला भाग 'मेरे बचपन के दिन' धड़ाधड़ बिक रहा था। पर बांग्लादेश की सरकार ने इसे भी प्रतिबंधित कर दिया था। लरों के साथ प्रेम के कटु-तिक्त अनुभवों को उसने 'फ्रांसीसी प्रेमी' उपन्यास में व्यक्त किया है।

मनीष मंजिल, रघुनाथपुरा
जोधपुर (राजस्थान)-342001
मोबाइल : 09413341441

तसलीमा भारत को अपना दूसरा घर मानती हैं और बरसों से भारत और विशेषतौर से कोलकाता में स्थायी रूप से रहना चाहती हैं। पर उनके स्थायी निवास के आवेदन पर कांग्रेस से लेकर वाममोर्चे की और भाजपाा से लेकर तृणमूल कांग्रेस की सरकारें इस्लामी कट्टरवादियों के डर से, कोई सकारात्मक निर्णय नहीं ले पायी हैं। इस पुस्तक के प्रेस में जाने (जनवरी 2015) तक स्थिति यह है कि वे अगस्त 2015 तक वैध मल्टीपल वीजा के आधार पर फिलहाल भारत में रह रही हैं।

–सम्पादक

❑ ❑ ❑